भारत की संस्कृति और कला

राधाकमल मुकर्जी
भूतपूर्व उपकुलपति लखनऊ विश्वविद्यालय
निदेशक जे० के० इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियोलॉजी ऐण्ड ह्यूमन रिलेशन्स

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६



THE CULTURE AND ART OF INDIA

by Radhakamal Mukerjee का अनुवाद

अनुवादक

रमेश वर्मा

मूल्य बारह रुपये

प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज़ कश्मीरी गेट दिल्ली

मुद्रक हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति चरैवेति
चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरं
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति चरैवेति ।

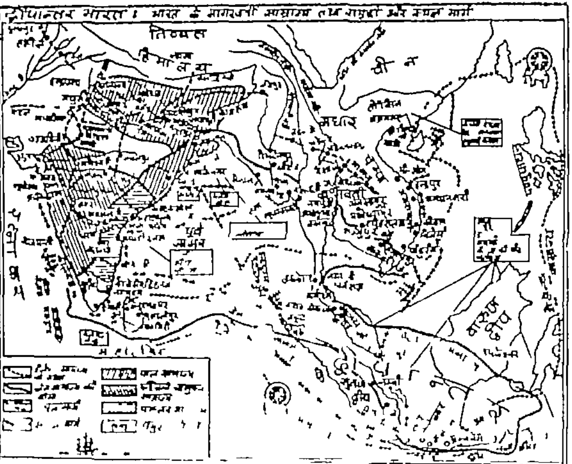
[निद्रा में पड़े रहना कलियुग में वास है, जाग जाना द्वापर में वास है, खड़े हो जाना त्रेता में वास है, आगे बढ़ना सत्य युग में वास है। इसलिए आगे बढ़ो आगे बढ़ो। गति मधुर है, गति स्वादिष्ट फल है। सूर्य का श्रम देखो कि वह कभी आराम नहीं करता। इसलिए आगे बढ़ो आगे बढ़ो।]

—ऐतरेय ब्राह्मण, ७ : १५ : ४–५ ।

अहं नारायणो ब्रह्मन् सर्वभूः सर्वनाशनः ।
अहमिन्द्रपदे शक्रो वर्षाणां परिवत्सरः ॥
अहं योगी युगाख्यश्च युगान्तावर्त एव च ।
कृतान्तः सर्वभूतानां विश्वेशो कालसंज्ञितः ॥

[मैं ब्रह्म हूँ नारायण हूँ। मैं सबका जनक और संहारकर्ता हूँ। इन्द्र के रूप में मैं देवराज शक्र हूँ। मैं कालचक्र हूँ। मैं वह योगी हूँ जो युगों को बनाता है और फिर उनका अन्त कर देता है। मैं विश्व के सभी पदार्थों को समाप्त कर देता हूँ। मेरा नाम काल है]

—मत्स्यपुराण


द्वीपान्तर भारत : भारत के सागरवर्ती साम्राज्य तथा समुद्री और स्थल मार्ग
तिब्बत
हि मा ल य
ची न

प्रस्तावना

भारतीय सभ्यता का तीन कारणों से मानव इतिहास में बहुत ही महत्त्व है। पहला, आरम्भ लगभग पाँच हजार वर्ष तक इस सभ्यता की अद्भुत अविच्छिन्नता इसकी ओजस्विता को प्रमाणित करती है। इसकी जड़ें इसकी मानवीय भावना और मूल्यों व सामाजिक विधान की विशिष्ट व्यवस्था में समाई हुई हैं और वे मानव-जाति की शक्ति और स्थायित्व के अजस्र स्रोतों पर प्रकाश डालती हैं। दूसरे, भारतीय संस्कृति ने अनेक शताब्दियों में एशियाई सभ्यता की एकता स्थापित की है। यह एकता जिस पद्धति से स्थापित की गई है वह न केवल भारत की विशिष्ट प्रतिभा की प्रतीक है बल्कि समूचे इतिहास की दिशा भी निर्देशित करती है—विशिष्ट संस्कृति से सार्वभौम संस्कृति, आदिम राष्ट्रवाद से एक एकीभूत विश्व-समाज यही मानव जाति की नियति है। तीसरे, मानव-जीवन और समाज की समस्याओं पर सभ्यता के अरुणोदय से ही भारत में जो अद्यतन चिन्तन चला उससे एक ऐसा मानसिक प्रतिमान उत्पन्न व परिपुष्ट हो गया जो पाश्चात्य तथा पूर्व-एशियाई प्रतिमान से कुछ भिन्न है। इस प्रतिमान में शांति और सामंजस्य की खोज के लिए अगाध निष्ठा का प्रमुख स्थान है, जिसमें मनुष्य-समाज उसका पोषण किए बिना नहीं रह सकता।

भारत में राज्य, राजनीति और विजय को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता जितना कि अध्यात्म, धर्म, कल्पना और कला को सामाजिक समन्वय के घटकों के रूप में दिया जाता है। संसार में शायद ही कोई ऐसी जाति हो जो भारतीयों की तरह राजनीतिक घटनाओं—शासन, लड़ाई या युद्ध—से इतनी कम शासित रही हो और आध्यात्मिक तथा धार्मिक आन्दोलनों से, सामान्य कल्पनाओं, मानदण्डों और सामाजिक परम्पराओं की पांडित्यपूर्ण स्थापनाओं से इतनी अधिक शासित रही हो। मध्य, पूर्व और दक्षिण पूर्व एशिया इन्हीं के द्वारा अनेक शताब्दियों तक एक धार्मिक समाज के रूप में संगठित रहा है।

अनेक विदेशी लेखकों ने भारत की धर्मान्धता का उल्लेख किया है। परन्तु भारतीय संस्कृति में प्रधान स्वर वस्तुतः धर्म और धर्मशास्त्रों का नहीं बल्कि पुराणों, अध्यात्म और सौन्दर्य-बोध का है। देवताओं के असंख्य नाम और रूप—पुराणों के तैंतीस करोड़ देवी देवता जिनमें से बहुत-से अनार्य जातियों के सम्प्रदायों और विश्वासों में से धारण कर लिए गए हैं एक भारतीय के लिए कोई झंझट नहीं है क्योंकि वे सब समान रूप से उसी के आध्यात्मिक और सौन्दर्यात्मक गुणों का मूर्तरूप हैं। बेलूर मैसूर राज्य के वैष्णव मन्दिर में निम्नलिखित सार्वभौम प्रार्थना अंकित है

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिना
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव कर्तेति नैयायिका।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

विभिन्न धर्मशास्त्रों में देवताओं उनकी पूजा की पद्धतियों और कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में चाहे कितना ही विशद विवेचन हो परन्तु वेदान्त और उसके तीन प्रस्थानों—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता—के धार्मिक अध्यात्म के आगे वे सब शांत हो जाते हैं। "वन में शोर मचानेवाले शृगाल जिस प्रकार सिंह को सामने देखकर मौन धारण कर लेते हैं उसी प्रकार वेदान्त रूपी सिंह के सामने सभी शास्त्र मूक हो जाते हैं।"

भारतीय संस्कृति में जो लचक और उदारता मिलती है और उसे देश के भीतर व बाहर विदेशी व पिछड़ी नस्लों और जातियों को आत्मसात् करने में जो इतनी अधिक सफलता मिली उसका कारण यह है कि भारत में जोर धर्मशास्त्रीय मतों और रूढ़ियों पर नहीं रहा, बल्कि विपुल बौद्धिक और आध्यात्मिक परम्पराओं पर रहा है और उन्हीं से उनका विश्व-विज्ञान तथा सामाजिक मूल्यों और संस्थाओं की व्यवस्था विकसित हुई है। निम्न स्तर की, और विदेशी असभ्य नस्लों के लिए अपना द्वार खोलने को भारत ने जिस तरह विस्तृत रूप में वर्णसंकर की कल्पना रची उस तरह और कोई जाति नहीं रच सकती थी। उपनिषदों ने दया संयम और दान के गुणों पर और बुद्ध ने संयम के मध्यांगिक मार्ग पर जोर दिया और तब से धर्म के भारतीय विधान में मित्रता करुणा और अहिंसा पर ही जोर रहा है और भारत ने इन गुणों द्वारा बहुत-सी जातियों को बिना तलवार और बंदूक के विनम्र और सभ्य बना दिया।

अतः भारतीय इतिहास के प्रति केवल राजनीतिक नहीं बल्कि धर्मदर्शन का और सांस्कृतिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। आधारभूत सक्रिय विचारों कल्पनाओं और मूल्यों पर दृष्टि एकाग्र करके ही इस प्राचीन जाति के जीवन और विकास के अध्ययन में पूर्वापरक्रम और व्यवस्था लाई जा सकती है। अन्यथा लड़ाइयों और विजयों तथा भारत के विभिन्न भागों में विविध राज्यों और साम्राज्यों के उत्थान और विघटन से जो चित्र सामने आएगा वह विशृंखलता का या संकटों और विप्लवों के सिलसिले का एक अवास्तविक चित्र होगा।

इस ग्रंथ को पादटिप्पणियों और सन्दर्भों से मुक्त रखा गया है, जो भी उद्धरण हैं वे मूलपाठ के ही अंतर्गत हैं। इस प्रकार एक बुद्धिमान सामान्य पाठक उनमें उलझे बिना इस ग्रंथ का अध्ययन कर सकेगा। परन्तु छात्रों की सुविधा के लिए पुस्तक के अन्त में सन्दर्भग्रन्थों की विस्तृत सूची दे दी गई है। विषय को स्पष्ट करने के लिए साहित्यिक कृतियों पुराणों मंत्रों और अभिलेखों के उद्धरण तथा भारतीय कला, विशेषकर मूर्तिकला के प्रधान लक्षणों और प्रतीकों के उदाहरण दिए गए हैं। जीवन के प्रति अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण भारतीय सभ्यता की प्रामाणिक और सहज अभिव्यक्ति मूर्तिकला में होती है, जो मानव के शाश्वत और अलौकिक मूल्यों को लिपिबद्ध करने के लिए सबसे उपयुक्त माध्यम है। प्रमुख घटनाओं कालों और आन्दोलनों की जो समय-सारणी दी गई है वह आशा है उपयोगी सिद्ध होगी।

—लेखक

क्रम



भारतीय सभ्यता की आत्मा

भारतीय सभ्यता की अविच्छिन्नता

भारत की सभ्यता संसार के अन्य देशों की सभ्यता से अधिक प्राचीन और प्राणवान है। यह तथ्य अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि बहुत कम देशों में विदेशी जातियों की ऐसी चढ़ाइयाँ और विजयें हो सकी हैं, इसके भी कम देशों में प्राकृतिक दशाओं, रीति रिवाजों और भाषाओं का इतना वैविध्य है। भारतीय सभ्यता की अविच्छिन्नता के दो कारण हैं। एक कारण है कल्पना और यथार्थ का समन्वय रूप आदर्श तथा दूसरा कारण है पाँच हजार वर्षों के संघर्ष क्रमिक परिपाक और समन्वय के बल पर विकसित एक सामाजिक व्यवस्था। इस विशाल भूभाग पर आक्रमणों युद्धों अथवा विजयों ने राज्यों और साम्राज्यों को संघटित अथवा विघटित तो किया है किन्तु निवासियों का व्यापक सम्पत्तिहरण अथवा एक संस्कृति के स्थान पर दूसरी संस्कृति को प्रतिष्ठापित नहीं किया। भारतीयों के स्वभाव और चरित्र पर भी इसका आन्तरिक प्रभाव नहीं पड़ा।

भारतीय जीवन और विकास का रहस्य है आचार-व्यवहारों की किसी सीमा तक सुव्यवस्था विश्वास तथा जीवन के चार उद्देश्यों—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष—के संतुलित उपक्रम की जातीय विशेषता। कुल मिलाकर, भारतीय सभ्यता की अनन्य देन है प्रत्येक व्यक्ति, जाति वर्ग और व्यवसाय के लिए धर्म की भावना प्रत्येक को जीवन की चार अवस्थाओं के अनुसार कुछ कर्तव्यों का पालन और समापन करके उनसे परे पहुँच जाना चाहिए। यही धर्म है। महाभारत में कृष्ण ने धर्म को रक्षक अथवा पालक कहा है

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजा ।
एतदन्यच्चो वाक्यो नियोपुरुषो वृकोदर ॥

(महाभारत उद्योग पर्व १३७ ९)

धर्म ही सामाजिक जीवन के कार्यों और व्यक्ति के उद्देश्यों का निर्धारण एवं नियंत्रण करता है। शताब्दियों के दौरान धर्म की व्याख्याएं की गई हैं। इसे सामाजिक सम्बन्धों का मर्यादित प्रसार तथा अन्याभ्यागम और ऐक्यभाव से उत्पन्न स्वातन्त्र्य माना गया है। व्यक्ति का लक्ष्य है प्रवीणता की प्राप्ति तथा समाज का लक्ष्य है संस्कृति की उपलब्धि। दोनों लक्ष्य एक ही—शुभ सन्तुलित और व्यावहारिक—हैं। यह लक्ष्य है विश्वजनीन आत्म' और 'विश्वजनीन समाज' की सिद्धि। भारत में इन्हें 'परमात्मन्' और 'नारायण' मानकर पूजा तथा सेवा को अभिन्न समझा जाता है।

संस्कृति का भारतीय दर्शन

✓ संस्कृति के भारतीय दर्शन की सर्वाधिक तर्कसंगत सक्षम और पावन अभिव्यक्ति एलीफेण्टा की गुफा (आठवीं शताब्दी ईस्वी) में शिव-महेश्वर की विख्यात आध्यात्मिक त्रिमूर्ति में हुई है। इस प्रतिमा में बीच का मुख स्वयं-प्रभासित, निरपेक्ष और पारलौकिक 'तत्पुरुष सदाशिव' का है दाहिना मुख उग्र भृकुटी ताने हुए तथा वैराग्य व विनाश की भावना से उद्धत 'अघोरभैरव' का है और बायां मुख है शिव की संगिनी परम सौंदर्य मयी आभूषणयुक्त उमा का जो अपनी अपार सृजनशीलता प्रेम और करुणा के बल पर लास्यमयी है। भारतीय संस्कृति में उमा अथवा शक्ति जिनके हाथ में सदैव कमल रहता है अर्थ और काम अर्थात् सम्पत्ति सौंदर्य और जीवन-सौख्य की देवी हैं। अपनी अंगुलियों में सांप लपेटे अघोर भैरव धर्म और मोक्ष के प्रतीक हैं। और आत्मलीन तत्पुरुष के लिए सृजन और संहार क्रिया और अशान्ति का सतत गतिशील चक्र केवल क्षणिक माया है जो जन्मती बढ़ती और अन्य सभी मायावी आकारों की भांति तत्पुरुष में ही विलीन हो जाती है। इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूपों में प्रशान्त योगी की भांति सदा शिव तो मध्य में ही हैं किन्तु दाहिनी ओर खप्पर से रक्तपान करते हुए महाकाल तथा बायीं ओर एक दर्पण में प्रतिबिम्बित ब्रह्माण्ड के रूप में अपने सौंदर्य का अवलोकन करती हुई महामाया। संस्कृति के भारतीय दर्शन में व्यक्ति और समाज दोनों के लिए धर्म अर्थ काम और मोक्ष (चतुर्वर्ग) का सम्मिलन और ऐक्य है जो आत्मा और माया की यथार्थ प्रकृति पर आधारित है। इसका प्रतीक है शिव की त्रिमूर्ति में एक विशाल मुकुट का निर्भीक और मौलिक प्रयोग जिसके बल पर शिव के तीनों शिरों में अन्यतम सन्तुलन और ऐक्य उत्पन्न हो जाता है। गहरी गुफा की प्रकाश और छाया की झिलमिलाहट में शिव के भावमय पार्श्व-मुख अपेक्षाकृत अस्पष्ट और अवास्तविक-से दीखते हैं तथा बीच में विराजित सदाशिव की भव्य आकृति और मृदु आभा के सामने धुंधले पड़ जाते हैं। बीच में परमात्मन् संसार के सुख-दुख के शाश्वत सर्वज्ञ तटस्थ साक्षी हैं ये सुख-दुःख उस 'एक' के अनेकानेक गुणों नामों और रूपों से अधिक यथार्थ नहीं हैं जो स्वयं निर्गुण अनाम अरूप है तथा जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति में ही आविर्भाव और अनाविर्भाव क्रिया रमणता और अभिन्नता की एकता निहित है। परमात्मन् सम्पूर्ण और अविभाज्य है। वह स्त्री और पुरुष के रूपों तथा उनके द्वारा अभिव्यक्त जीवन अस्तित्व और आत्मा की विरोधी प्रक्रियाओं के पीछे छिप जाता है। मायालिप्त व्यक्ति को दोलनकारी विश्वरूपी नाटक की सृष्टि इन्हीं प्रक्रियाओं से होती है। सदाशिव में कुछ होता नहीं सब कुछ अत निष्ट रहता है। शिव सर्वतुष्ट सर्वसन्तुलित और सममौन हैं। शिव के अन्य दो मुख—अनुभूत अथवा निम्नतर आत्म—निरन्तर सक्रिय और निश्चयात्मक हैं मायावी संसार का सृजन रूपान्तरण और अनुभव करते रहते हैं। फिर भी ये आत्म के उच्चतर शाश्वत एकान्त सत्य सनातिव के ही अंग हैं और उसीसे उद्भूत भी। अतः, सत्य शाश्वत और अनन्त के कारण ही असत्य नश्वर और सीमित का बोध होता है। यह है शिवत्व की विराट् कल्पना जिसके अनुसार जीवन और मृत्यु ब्रह्माण्ड के सृजन और रूपान्तरण की शाश्वत गति को परमात्मन का ही स्पन्दन है।

एलीफेण्टा की त्रिमूर्ति एक समय भारत तथा गंधार, तुर्किस्तान और कम्बोडिया में सुपरिचित थी। चीन की तुन ह्वाङ गुफा में इसे पाया गया है तथा जापान की 'दाई इतोकू' यही है। यह शिव-त्रिमूर्ति भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विषयवस्तु का अद्वितीय और व्यापक प्रतीक है तथा यह विषयवस्तु है— 'अस्ति' अथवा शिव-आत्मन् की प्रभुता तथा चेतना का ऐक्य अथवा 'अस्ति' और 'भाति' ब्रह्म और माया का ऐक्य भारतीय दर्शन में जिसका प्रतीक और व्याख्या है पुरुष और स्त्री का द्वैत सिद्धान्त। एलीफेण्टा की मूर्तियाँ भारत के गम्भीर सन्देश की भव्य और सुनिश्चित उद्घोषणाएं हैं "प्रत्येक कार्य सदाशिव के लिए किया जाए तो क्रियात्मकता ही सच्ची पूजा है आत्मन् का परमात्मन् में लीन करने का संकल्प कर लिया जाए तो सच्ची पूजा मौन है।" यह मूर्ति पुरुष और प्रकृति के शाश्वत्कालीन तीन रूपों को व्यक्त तो करती है फिर भी यह किसी आराध्य देवता की मूर्ति नहीं है। यह तो धर्म और सामाजिक परम्परा से परे एक अगाधीय प्रक्रिया मानवीय आत्मा के रूपान्तरण का प्रतीक और आवाहन है। इसकी भाषा सार्वभौम है और किसी भी देश के विचारवान व्यक्ति इसे देखकर ध्यानलीन हो सकते हैं, यह निस्सन्देह संसार की भव्यतम कलाकृतियों में से एक है। ✓

भारतीय कला की प्रकृति एवं भूमिका

भारत के दर्शन और धर्म की भांति, भारतीय कला भी विश्लेषणात्मक नहीं वरन् कल्पनाप्रधान और आध्यात्मिक तथा व्यक्तिपरक नहीं वरन् जातिपरक और सामाजिक है। भारत में शिल्प ज्ञान है तथा कल्पना और काव्य (विद्या) शिल्प है। आध्यात्मिक यथार्थ ही अपने कल्पनापरक रूप अथवा मूर्ति में मानव को उपलब्ध होता है ताकि वह ध्यान पूजा तथा कलात्मक निरूपण कर सके। इसीके अनुसार भारतीय कला मायावी संसार की अनेकरूपता में, जीवन के समस्त स्तरों सीमाओं और विस्तारों म एक पारलौकिक यथार्थ का ही उद्घाटन करती है। इसमें जीवन की पुष्पित बहुलता और विलासिता अमूर्त और अगाध तत्त्व के रूप में मौजूद है। यह कायिक और मानसिक बहुल और सम्पुंजित साथ-साथ है। भारतीय मूर्तिकला और चित्रकृति में पुरुष के गौरव और विभव, ईश्वर की वैचारिकता और सक्षमता तथा नारी की मृण्मयता और सुनम्यता सभी मर्यादित और संयत हैं यह मर्यादा और संयम अलौकिक कल्पना-प्रवणता और आध्यात्मिकताजन्य निर्मलता और समष्टि की देन है। भारतीय दर्शन के अनुसार, सम्पूर्ण ब्रह्मांड और मानव-मस्तिष्क की सभी प्रक्रियाओं के पुरुष और नारी दो पक्ष हैं, यही द्वैतता भारत में जीवन के प्रति पौराणिक और क्रियात्मक दृष्टिकोण में निहित है तथा प्रकृति के स्थायित्व और परिवर्तन व मानव-स्वभाव की कठोरता और कोमलता को सत्ता की लय के रूप में प्रस्तुत करनेवाले भारतीय शिल्प और साहित्य में भी यही द्वैतता अन्तर्हित है। वस्तुतः भारतीय मूर्तिशिल्प काव्य और नाटक सभी में विपर्ययों का चिर प्रतिष्ठित अनुभव और ऐक्य के साथ भव्यता और स्वच्छन्दता का, विचित्र संयोग का भी कारण यही है। भारत, जावा स्याम और कम्बोडिया में भारतीय मूर्तिशिल्प ने भावसंदीप्त, सात्त्विक किन्तु रोमांचकारी मूर्तियों की सृष्टि की है, जिनमें पुरुष के गौरव

और ओज तथा नारी की मांसलता और कोमलता का आश्चर्यजनक संयोजन है और जिसमें मानव के व्यक्तिपरक गुणों (जिनमें यौन भी सम्मिलित है) को एक अमूर्त और अलौकिक प्रकार—शिव विष्णु बुद्ध बोधिसत्व, और देवी—के अधीन कर दिया गया है। अनेक विभिन्न एशियाई जातियों और संस्कृतियों ने इन मूर्तियों को पुनर्निर्मित किया है किन्तु उनपर भी इसी प्रकार के आध्यात्मिक यथार्थ की छाप स्पष्ट है—यह आध्यात्मिक यथार्थ इतना सरल और सार्वभौम है अतः अधिक विशुद्ध है।

अपनी मूर्तिकला के गांभीर्य सौंदर्य और वैविध्य के कारण भारतीय कला विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार प्रभावपूर्ण और समीचीन ढंग से कर सकी है। जातकों अवदानों रामायण हरिवंश और महाभारत के दृश्य यदि सभी लोगों को स्वीकार्य मायणिक और आध्यात्मिक घटनाक्रम न होते तो जावा बर्मा और कम्बोडिया में विदेशियों ने उन्हें हजारों पाटों पर इतने धैर्यपूर्वक और उत्कृष्ट ढंग से कदापि न उकेरा होता। बोरोबुदुर अंगकोर और पगान मन्दिरों के नक्शे ब्रह्मांड की लाक्षणिक प्रतिकृतियां हैं जिनमें भारतभूमि के संसृति-विज्ञान की धारणाओं के अनुसार सतहों और जीवन के स्तरों का नैयमिक और निश्चित अंगों-विभाजन है। कम्बुज और द्वारावती के मन्दिरों में गर्भगृह अन्तराल मंडप और शिखर का प्रबन्ध भारतभूमि के मन्दिरों के समान है उनमें मन्दिर निर्माण के एक जैसे शास्त्रीय सिद्धान्त प्रयुक्त हैं जो मानव की बलि अथवा ब्रह्म के साथ पुनर्मिलन के प्रतीक हैं। कुषाणी बौद्ध और गुप्तकालीन कला तथा मध्ययुगीन दक्षिणी पल्लव और पाल कला की शक्तिमती धाराएं उत्तर और पूर्व में पर्वतीय मार्गों तथा दक्षिण में समुद्री मार्गों द्वारा पूर्वानुपर तरंगों के रूप में मध्य एशिया चीन नेपाल तिब्बत बृहत्तर भारत और इंडोनेशिया में प्रवाहित हुईं। भारत की कला ने ही भारतीय पुराण अध्यात्म और धर्म का प्रसार किया तथा पगान द्वारावती चम्पा अंगकोर और पूर्वी जावा की क्षेत्रीय शैलियों को विकसित अथवा समृद्ध किया।

सांस्कृतिक प्रसार में सार्वभौम कल्पनाओं और मानदण्डों की भूमिका

मूर्तिकला के बिम्बों लक्षणों और अभिप्रायों (मोटिफ) के अतिरिक्त अनेक भारतीय धर्मग्रन्थों ने भी एशियाई संस्कृति का रूप-निर्धारण किया। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं महाकाव्य जातक पुराण आगम और तन्त्र तथा 'सद्धर्मपुण्डरीक', प्रज्ञापारमिता 'ललितविस्तर' यशोतार' 'अभिधर्मकोष और 'सूत्रालंकार जैसे ग्रन्थ। धर्म और शास्त्रीयता तथा साहित्य और कला द्वारा ही भारत की आत्मा उसके इतिहास के निर्माणाधीन युगों की अन्तर्हित प्रेरणा तथा बाह्य जीवन के साथ उसके सम्बन्ध को जाना जा सकता है। मौर्य कुषाण गुप्त पाल प्रतिहार, पल्लव अथवा चोल राज्यों या साम्राज्यों में राजनीतिक एकीकरण हुआ। किन्तु इसका महत्व केवल इतना ही नहीं है। इन्हीं युगों में शास्त्रीय अध्ययन द्वारा कुछ सार्वभौम कल्पनाओं मूल्यों और मानदण्डों की स्थापना हुई तथा परिष्कार किया गया। ये राज्य अथवा साम्राज्य अमोघ कड़ सिद्धान्तों दैवी चमत्कारपूर्ण मतों और उद्विग्न कथाओं के जाल में नहीं फंसे। यही कारण

है कि अनेक विदेशी अथवा देश के भीतर या बाहर के पहले के शत्रु इसकी ओर आकर्षित हुए तथा इसके पक्षधर बन गए।

उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त कलिंग और दक्षिण को युद्ध में पराजित करके तथा 'मानव धर्मशास्त्र' और 'अर्थशास्त्र' जैसे पालि धर्मग्रन्थों के व्यवस्थापन 'रामायण' और 'महाभारत' के सारतत्त्व की संरचना तथा शिलाभिलेखों द्वारा 'सद्धर्म' के प्रचालन द्वारा मौर्य साम्राज्य ने समान उपलब्धियां प्राप्त कीं। उत्तर के कुषाण साम्राज्य की समाप्ति के पश्चात् अनेक लम्बी शताब्दियों तक पश्चिमी एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया में 'सद्धर्मपुण्डरीक' 'ललितविस्तर' और 'दिव्यावदान' लाखों लोगों को चमत्कृत किए रहे। 'सद्धर्मपुण्डरीक' धर्म अध्यात्म और काव्य का विलक्षण मिश्रण है। इसकी रचना दूसरी शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में कुषाण साम्राज्य में कहीं पर हुई थी तथा २६५-३१६ ईस्वी के बीच कभी इसका अनुवाद चीनी भाषा में हुआ। आधे एशिया में इसने बौद्ध 'बाइबिल' का दर्जा पा लिया। इसके अनेक महत्त्वपूर्ण पन्नों पर 'भगवद्गीता' का प्रभाव है तथा 'भगवद्गीता' के समान यह महान् धर्मग्रन्थ भी एशिया को भारत की देन है और संसार भर में सबसे अधिक पढ़े जानेवाले ग्रन्थों में से एक तो यह है ही। एशिया की दो अत्यधिक लोकप्रिय पुस्तकों—अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित' तथा आर्यशूर कृत 'जातकमाला'—की प्रेरणा से ही अजन्ता गंधार तुन्-हुआंग और बोरोबुदुर का अमरत्व भरी मूर्तियों तथा प्रतिमाओं में संसारव्यापी मानवीय करुणा और कोमलता के कुछ सुन्दरतम रूप अंकित किए गए हैं।

चौथी से आठवीं शताब्दी ईस्वी तक प्रसरित स्वर्णयुग को लाने का श्रेय गुप्त साम्राज्य को था। इस युग में गुप्त साम्राज्य ने यवनों शकों कुषाणों मुरुडों पल्लवों और हूणों के विरुद्ध भारत की रक्षा की। किन्तु इस युग की महिमा इतनी ही नहीं। इसी युग में महाकाव्यों और पुराणों का रूपरंजन हुआ स्मृतियां धार्मिक संस्कारों और पूजा प्रणालियों का व्यवस्थापन हुआ भिक्षु-धार्मिकों और विद्वानों ने धर्म के खोज में दूरस्थ देशों की यात्राएं कीं तथा मथुरा बनारस और अजन्ता की कला ने नवप्रेरणाएं दीं। पूर्व के बौद्ध पाल साम्राज्य के तान्त्रिक पुराण, धर्म और अध्यात्म आज भी नेपाल तिब्बत मंगोलिया बृहत्तर भारत और इंडोनेशिया को भारत से बांधे हुए हैं। तिब्बती भाषा में लगभग पांच हजार कृतियों के विशाल 'कंजूर और तंजूर' संग्रह की परिसमाप्ति मंगोलिया में १०४८ में हुई थी। बर्मा से कम्बोडिया और जावा से बालि तक फैले हुए हिन्दू राज्य अनेक शताब्दियों तक प्रशान्त के हिन्दूकरण की दीर्घ प्रक्रिया के साक्षी रह चुके हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया का अधिकांश 'भारतवर्ष' में सम्मिलित था और 'द्वीपान्तर' कहा जाता था। द्वीपान्तर का शाब्दिक अर्थ है भारत (अन्तर) और चीन के बीच द्वीपों (संस्कृत व्याकरण के अनुसार द्वीप और अन्तर्द्वीप दोनों ही द्वीप हैं) का समूह। प्रवासियों के—भारतीय वैश्य व्यापारियों क्षत्रिय अभिजात्यों ब्राह्मण पुजारियों और बौद्ध भिक्षुओं के—निरन्तर प्रवाह ने अर्ध-बर्बर देशों में आरम्भिक उपनिवेशों की नींव डाली, इन्हीं से शताब्दियों के दौरान सुवर्णद्वीप यवद्वीप द्वीपस्थ चम्पा, फनान, ताम्रलिंग, श्रीक्षेत्र द्वारावती, श्रीविजय और शैलेन्द्र जैसे महान

हिन्दू साम्राज्यों का उद्भव हुआ। भारत से इन्डोनेशिया जानेवाले प्रवासियों का प्रवाह जिसने भारत और चीन के भूखण्डों के बीच एक द्वितीय भारत का निर्माण किया और दूसरी शताब्दी के अन्त तक जारी रहा। तब पन्द्रहवीं शताब्दी में मुसलमान व्यापारियों ने मलयेशिया में प्रवेश किया तथा बीस राज्यों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया साथ ही पुर्तगालियों और ओलन्देजों ने भारतीय वाणिज्य और मौपनिवेशिक का विनाश कर दिया। फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिन्दूकरण की दीर्घकालीन प्रक्रिया रुक गई।

सामाजिक अनुहार की विधियां

गंधार से दक्षिण और गुजरात से गौड़ तक महान् राज्यों और साम्राज्यों की स्थापना के साथ कुछ सुधार और पुनरुत्थान अनिवार्यतः सम्बद्ध रहे हैं। इन सुधारों और पुनरुत्थानों ने सम्पूर्ण भारत को स्पन्दित और प्रभावित तो किया ही साथ ही भवसर एशियाई विकास को कुछ स्थायी और अनिवार्य तत्त्व भी प्रदान किए। इन सुधारों और पुनरुत्थानों के कारण एक नवीन सार्वभौमिकता का जन्म हुआ जिसने एक प्रक्रिया द्वारा विभिन्न पिछड़ी और विदेशी जातियों को एक सूत्र में बांध दिया। इतिहासकार टॉयनबी ने इस प्रक्रिया को 'सामाजिक अनुहार' कहा है। यूरोप में बात इसकी उलटी है। भारत की भांति यूरोप भी प्राकृतिक बाधाओं द्वारा पृथक् क्षेत्रों और राष्ट्रों में विभाजित है किन्तु वहां के इतिहास में अवसर विजय और जातिवाद जैसी बलात्कृत प्रक्रियाओं द्वारा ऐक्य स्थापित किया गया है। अतः भारतीय देश-प्रेम में जातीय अभिमान और अतिराष्ट्रीयता (जोविनिज़म) का स्थान नहीं है किन्तु धर्म-वेत्ता ऋषियों वीरों और धर्माध्यक्षों के समय से चला आ रहे कुछ सार्वभौम विश्वासों कल्पनाओं और मूल्यों के प्रति निष्ठा सन्निहित है। एक आध्यात्मिक और शास्त्रीय ढांचे में निहित भारतीय देश-प्रेम के ये अवयव अस भाग जातियों परम्पराओं और विश्वासों के ब्राह्मणीकरण के सर्वोत्तम उपाय हैं। भारतीय इतिहास की सामाजिक समस्या और भारतीय ज्ञान की शास्त्रीय समस्या परस्पर सम्बद्ध हैं। टॉयनबी के अनुसार, अनुहार म एक खतरा है सामाजिक कठोर अनुशासन अथवा यंत्रीकरण। 'असाध्य बौद्धिक क्षमता और अन्तरंग वैयक्तिक विचार-विमर्श" (प्लेटो) के द्वारा भारत के भीतर पिछड़ी जातियों में तथा भारत के बाहर नये देशों में संस्कृति संक्रमण की योजना में दोनों में ही इस खतरे को दूर कर दिया गया है।

बर्गसों का कथन है कि दो विधियों द्वारा किसी समुन्नत संस्कृति का अनुकरण कोई असाध्य समाज करता है। "शिक्षा के दो उपाय उपलब्ध हैं। एक है कठोर अनुशासन और दूसरा अध्यात्म। पहली विधि से अन्धी नतिकता में अवैयक्तिक आदतें होती हैं दूसरी विधि किसी अन्य व्यक्तित्व के अनुकरण यहां तक कि उसके साथ एक आध्यात्मिक तादात्म्य लगभग पूर्ण ऐक्य को प्रेरित करती है।" भारत ने दूसरी विधि को अपनाया है। सागरों के पार भारतीय बस्तियों उपनिवेशों और राज्यों में सामाजिक एकता को बनाए रखने का केवल एक उपाय था—पौराणिक अगस्त्य (वसिष्ठ भृगु पुलस्त्य और कौण्डिन्य) से लेकर गुणवर्मन (४२१ ईस्वी) वज्रबोधि (७११ ईस्वी) कुमारघोष (७८२ ईस्वी) और दीपंकर श्रीज्ञान (१०११ ईस्वी) तक ब्राह्मणों पुरोहितों विद्वानों और बौद्ध भिक्षुओं

तथा क्षत्रिय योद्धाओं, धर्माचार्यों और व्यापारियों का प्रवास एवं मन्दिरों, मठों और बस्तियों का निर्माण, दोनों प्रक्रियाएं शताब्दियों तक निरन्तर चलती रहीं। भारतीय सभ्यता के दक्षिण-पूर्वी एशियाई—जावा से कम्बोडिया और बर्मा से बाली तक—केन्द्रों की आत्मा और प्रकृति यथार्थतः भारतीय, ब्राह्मण, बौद्ध, अथवा शक्ति-शैव थी, इतना अवश्य है कि अधिकांश सामान्य जनता (क्रोम, स्टटरहीम तथा अन्यों ने भी इंगित किया है) अपने सर्वचेतनवादी सम्प्रदायों तथा पूर्वज-पूजा को ही मानती थी।

भारतीय संस्कृति के मूलभूत मानदण्ड और अवधारणा

सभी भारतीय जातियों ने—चाहे उनके पूर्वज पश्चिमी एशिया के घास के मैदानों के घुड़सवार खानाबदोश रहे हों, चाहे ईरान और सीरिया के समुद्र-तटों के व्यापारी और वणिक—जल्दी या देर में भारत की अनेक बातें ग्रहण कर लीं। ये बातें थीं—जीवन की नश्वरता का बोध, कर्म और पुनर्जन्म के नैतिक सिद्धान्त की सर्वव्यापिता, समाज की सम्पूर्ण अथवा आत्मिक जातीयता में विश्वास, पारिवारिक जीवन और उत्तरदायित्व की पवित्रता, मानव-मात्र के बन्धुत्व और सभी प्राणियों के प्रति करुणा का भाव तथा जीवन के प्रति सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण जिसमें रसों का अमूर्त और इसलिए घनीभूत, निरूपण है। ये हैं एक *अनिवार्यतः आध्यात्मिक और मानवतावादी* सभ्यता के सार्वभौम सामाजिक मानदण्ड—इस सभ्यता के ऐक्य और विकास के व्यापक मूलभूत अवधारण। साम्राज्यों की स्थापना और पुनरुत्थान के युगों में बार-बार यही मानदण्ड और अवधारण आधार बने तथा दासता और कष्ट के समय में लोगों की सभ्यता को बनाए रखने में भी इनका योग था।

इनका व्यवस्थापन धर्मसूत्रों में हुआ। धर्मसूत्र प्राचीन साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है जिसमें व्यक्ति और व्यावसायिक संघ के सदस्यों, अधिकारों और कर्तव्यों तथा इनकी सत्ता और परम्परागत सम्बन्धों में आन्तरिक सन्तुलन के निर्देशक नियमों और परम्पराओं का प्रतिपादन है। धर्मसूत्रों ने धर्मशास्त्रों (अर्थात् प्रामाणिक ग्रन्थों के भाष्यों) को जन्म दिया। धर्मशास्त्र संकीर्ण प्रभावों से मुक्त थे तथा इन्होंने लगभग एक हजार वर्ष तक सभ्यता को उसकी आध्यात्मिक रूपरेखा प्रदान की। पुराण (जिनका शाब्दिक अर्थ है—प्राचीन जनश्रुतियां) विशेषरूप से जनसामान्य के लिए हैं और इन्हें अक्सर पांचवां वेद कहा जाता है। ये संस्कृति-विज्ञान और इतिहास दोनों हैं। इतिहासों में प्राचीन योद्धाओं और वीरांगनाओं के आख्यान—मानवता की आदिकालिक घटनाओं की जनश्रुतियां और कथाएं हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ये जनश्रुतियां और कथाएं सार्वभौम हैं तथा मानवता के इतिहास में इनकी पुनरावृत्ति होती है। इस अर्थ में इतिहास स्वयं को दोहराता है—उदाहरणतः सत् और असत् का, देवों और असुरों का तथा पाण्डवों और कौरवों का संघर्ष। इसी प्रकार का एक अन्य शब्द है 'इतिवृत्त'। इसकी आवृत्ति भी दैवी विजय की प्रसन्नता और आशा तथा पराजय के दुःख और आतंक के अनन्त संघर्ष के दौरान बार-बार होती है।

पुनर्जागरणों और धर्मसुधारों की विशिष्टताएं

भारत में यूरोप से अधिक संख्या में रक्तपातहीन पुनर्जागरण और धर्मसुधार हुए हैं। साथ ही जिस प्रकार यूरोप में बर्बर आक्रमणों के कारण पांचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक सांस्कृतिक ग्रहण लग गया था (इसे 'अंधा युग' कहा जाता है), उस प्रकार भारत में अधिक समय के लिए सांस्कृतिक ग्रहण कभी नहीं लगा। भारत में प्रत्येक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पुराण विद्या धार्मिक संस्कार, धर्म की धारणा और धर्म का मानदण्ड पृथक था। प्रत्येक पुनर्जागरण में ज्ञान और सदाचार को एक माना गया तथा व्यक्ति और समाज दोनों को ईश्वर तक पहुंचने का उपाय बताया गया—सार्वभौम मूल्यों का पालन करके व्यक्ति तथा एक सर्व-ग्रहणशील समाज की स्थापना करके मानव-समुदाय ईश्वर तक पहुंचने में सफल हो सकते हैं। फलस्वरूप प्रत्येक पुनर्जागरण जन और संस्कृति की नवीन सार्वभौमिकता में एक निश्चित मोड़ था तथा मानवात्मा की नवीन उपलब्धियों का अग्रदूत भी। यदि इतिहासों का उचित कथ्य विश्वजनीन मानवीयता है—इतिहास के आधुनिक दर्शन का यही दावा है—और यदि मानवता की सामान्य घटनाओं और परिवर्तनों के ही संदर्भ में तथा मानवता के समग्र प्रवाह के अन्तर्गत इतिहास की प्रवृत्तियों को समझना है तो भारत के विभिन्न युगों और उनकी गतिविधियों की एक कसौटी हमारे पास है—मानवीय स्वाधीनता भ्रातृत्व भावना और सार्वभौमिकता इनमें किस सीमा तक मौजूद है। भारतीय इतिहास किसी जन क्षेत्र अथवा युग को केवल एक कसौटी पर कसता है—किसी जन क्षेत्र अथवा युग ने राज्य अथवा राष्ट्र नहीं वरन मानवता के सांस्कृतिक मूल्यों और परम्पराओं के सम्मिलित कोष में क्या अवदान दिया है। यह निकष ठीक भी है।

धर्मशास्त्रों में सतत परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार परम्पराओं के अनुकूलन पर जोर दिया गया है, बशर्ते कि ये परिस्थितियां सर्दव प्रथम सिद्धान्तों के जो सामाजिक और विश्वीय दोनों व्यवस्थाओं की शाश्वत अभिव्यक्तताएं हैं अनुरूप हों। भारत में नैतिकता का अर्थ है अध्यात्म के सत्य सिद्धान्तों का सापेक्ष समस्याओं में उपयोग। वस्तुत., भारतीय संसार में ऐक्य की धारणा है—अध्यात्म आधृत तथा सभी धर्मों युगों और संस्कृतियों में अमोघ्य एक संचालक जीवन सिद्धान्त। एकता का यह आधार निश्चय ही चीनी सभ्यता में जातिगत संगठन मुसलमान संसार में इस्लाम धर्म और खलीफाई की धारणा तथा पश्चिमी सभ्यता में ईसाई जगत् व रोमी साम्राज्य और उसके नियमों व संस्थाओं के एकता के आधार से भिन्न है। सामाजिक तथ्यों तथा मानव और समाज के निर्माण विकास और परिवर्तनों के अध्ययन में भारतीय धर्मशास्त्र जिस गहराई और सूक्ष्मता को पा सके हैं वह ईसाई यहूदी और अरब की धर्मशास्त्रीय परम्परा के लिए अज्ञात है। भारतीय धर्मशास्त्रीय परम्परा के समक्ष सबसे बड़ी समस्या थी संस्कृति तथा धार्मिक विकास की सभी दशाओं में करुणा धर्म और कर्मरोह के सार्वभौम आदर्श तथा सामाजिक व्यवस्था के आध्यात्मिक विश्लेषण के बल पर, विभिन्न जातियों और धर्मों का सतत ब्राह्मणीकरण। इसी सूत्र के बल पर हम भारत की उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझ सकते हैं जिसका आरंभ उस समय हुआ जब विजेता भारतीय आर्य भारत में

निवासियों दस्युओं, दासों और असुरों को आर्य शूद्रों और आर्य वैश्यों के रूप में वैदी आर्य समाज में प्रत्योपित करने में असफल रहे।

भारतीय सभ्यता के मूलभूत आदर्शों के रूप निर्धारण का कार्य धर्म-द्रोह धर्म सुधार तथा परम्परावादी ब्राह्मण श्रमण प्रणालियों ने समान रूप से किया। ५०० वर्ष ईसापूर्व से लेकर दसवीं से अठारहवीं शताब्दी ईस्वी के समतावादी आन्दोलनों—तांत्रिक वाद और भक्ति—तक निरन्तर न जाति और पुरोहितवाद से परे रहकर विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म सिद्धान्त के भाष्य करने तथा व्यावसायिक और पिछड़े कबीलों का भारतीय धर्मसमाज में सम्मिलित करने और इन कबीलों के विश्वासों और परम्पराओं को ब्राह्मणों के प्राचीन संस्कृत बौद्धिक मानदण्डों के अनुरूप बनाने में लगे रहे। भारत की विशिष्टता शुष्क बौद्धिकता औपचारिक अध्यात्मविद्या और धार्मिक परिपाटी नहीं वरन सच्ची धार्मिक रहस्यात्मकता है जो सामाजिक प्रशोधन और एकीकरण के लिए शक्तिमान बल है। भारतीय सभ्यता में कायाकल्प करने का काम धर्म के अनिवार्य सत्य और शाश्वत सम्भूमन ने किया है, सामाजिक मर्यादानुकूमन उत्थान अथवा समतलन में धार्मिक हेतुवाद नहीं वरन् उस रहस्यात्मकता का योग रहा है। भारत में धर्मशास्त्रों ने (महाभारत के अनुसार) "वेदों, स्मृतियों ऋषियों के सिद्धान्तों आचार-व्यवहारों और विधियों की विविधता के बीच परम्पराप्रियता को बढ़ावा दिया किन्तु रहस्यात्मकता योग और भक्ति ने, जिन्हें भारत की आद्य सभ्यता के मतों और परम्पराओं से निरन्तर शक्ति प्राप्त होती रहती थी धर्मशास्त्रों का साधारणीकरण किया। धर्मशास्त्रीयता ने दार्शनिक सत्य धर्म और नैतिकता का एकीकरण किया और इन्हें कुछ आध्यात्मिक बार यात्रों के अधीनस्थ किया तथा विभिन्न वर्गों में ऐक्य-स्थापना व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करनेवाले व्यापक मान्यताओं और कल्पनाओं कला के अभिप्रायों और प्रतीकों को जन्म दिया इसी कारण प्रत्येक युग में भारतीय संस्कृति का विपुल संश्लेषण संभव हो सका। यथार्थ इतिहास का निर्माण पुंजीभूत धर्मिकता से होता है जिसमें एक व्यवस्था मर्यादा और नैयमिकता होती है तथा ये आध्यात्मिक धारणाएं ही इस धर्मिकता को अनिवार्य अर्थ प्रदान करती हैं।

एशिया का हिन्दूकरण

पुनरुत्थ कोई भी पुनर्जागरण अथवा धर्मसुधार भारतीय उप महाद्वीप तक ही सीमित नहीं रहा। हीनयान और महायान बौद्धधर्म पौराणिक ब्राह्मण धर्म वैष्णव धर्म शैव धर्म तांत्रिक धर्म नाथ सम्प्रदाय और सहज सम्प्रदाय अपने-अपने समय में भारत की सीमाओं से बाहर प्रसरित हुए। श्रीक्षेत्र से कम्बोडिया और जापान से जावा तक समस्त एशिया महाद्वीप पर भारतीय दर्शन और कला की धर्मिक धाराओं का स्पष्ट प्रभाव मौजूद है। उत्तर-पश्चिमी स्थल मार्गों के द्वारा अफगानिस्तान होकर और असम मणिपुर व उत्तरी बर्मा होकर अथवा हिमालय के दर्रों से होकर चीन और तिब्बत में भारतीय संस्कृति के प्रभाव दो हजार वर्षों तक निरन्तर भारत से शेष एशिया को प्रवाहित होते रहे। पाणिनि जिन्हें सामान्यतः पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व का माना जाता है के

अनुसार भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं में प्रकण्व (आधुनिक फरगना), कम्बोज (आधुनिक बदख्शां-पामीर) कापिश (आधुनिक काफिरिस्तान) और गन्धार अथवा काबुल नदी की घाटी सम्मिलित थे। लगभग एक हजार वर्ष तक भारत के समस्त उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती प्रदेश—जिसमें बैक्ट्रिया, फरगना, बदख्शां, अफगानिस्तान, सीस्तान और बलूचिस्तान सम्मिलित थे—को भारत का ही एक भाग (यूनानवासियों के अनुसार 'श्वेत भारत') माना जाता था। परन्तु मुसलमानों के आधिपत्य में भी 'श्वेत भारत', कम से कम चौदहवीं शताब्दी तक ईरानी से अधिक भारतीय बना रहा। लगभग १०३० ईस्वी में अल-बरूनी ने लिखा था कि खुरासान, ईरान, ईराक, मोसुल और सीरिया की सीमा तक सम्पूर्ण प्रदेश बौद्ध धर्मानुयायी था।

भारतीय संस्कृति हिन्दुकुश और पामीर को भी पार करके तारिम अथवा सीता नदी के कांठे तक फैल गई। पहले खोतन का नाम कुस्तान, यारकन्द का नाम चोक्कुक, काशगर का नाम शैलदेश, कुच का नाम कचार, कड़ा शहर का नाम अग्निदेश और तुरफान का नाम तुरपन्नि था। प्राचीन मध्य-एशियाई कारवां-मार्गों पर स्थित इन नखलिस्तानी नगरों में भारतीय अथवा भारतीयकृत बस्तियां थीं और यहां शिव, गणेश तथा बुद्ध की पूजा होती थी। भारत के समान यहां भी ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक बौद्ध विहार खूब फूले-फले। तारिम कांठे से आगे सुदूर खान-खान और तातार देशों में भी भारतीय संस्कृत ग्रन्थों का विस्तृत उपयोग होता था। मध्य एशिया भूभाग एशिया में अनेक युद्धों का स्थल था तथा काबुल-कांठे से लेकर वक्षु तक गंधार क्षेत्र एशियाई व्यापार-मार्गों का मिलन-स्थल और पश्चिमी एशिया की अस्थिर व आक्रामक जातियों के स्थानान्तरण पथ पर भारत का बाहरी कक्ष था। इन दोनों भूभागों में अनेक राजनीतिक आन्दोलन हुए। श्वेत हूणों ने पांचवीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध में काबुल-कांठे पर अधिकार करके कुषाण सभ्यता का विनाश किया। छठी शताब्दी के मध्य से सातवीं शताब्दी के मध्यकाल तक शान्ति रही। तब मुसलमान अरबों ने गन्धार क्षेत्र में प्रवेश किया और ६५२ से ६६४ ईस्वी तक उन्होंने कलाकृतियों का विनाश किया। फलस्वरूप बौद्धधर्म की द्वितीय पवित्र भूमि जहां से महायान बौद्धधर्म की शक्तिशाली धाराएं शताब्दियों तक मध्य एशिया और चीन की ओर प्रवाहित होती रही थीं की समृद्ध कला और संस्कृति का सर्वनाश हो गया। बौद्धधर्म का आकर्षण इतना दुर्निवार था कि सातवीं शताब्दी में जब ह्वेन सांग (६३०-६४४ ईस्वी) कापिश पहुंचा तो उसने पाया कि वहां का तुर्क राजा परम निष्ठावान महायान बौद्ध था। हूण और तुर्क शासन के दौरान भी शताब्दियों तक भारतीय-ईरानी सीमावर्ती प्रदेश बौद्ध धर्मानुयायी रहे।

दक्षिणी महासागर में द्वीपान्तर में बृहत्तर भारत और इण्डोनेशिया सम्मिलित थे। पुराणों में द्वीपान्तर को "धन, युद्ध, व्यापार तथा अन्य विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों द्वारा परिपुष्ट भारतवर्ष के 'नव भेद'" कहा गया है। द्वीपान्तर भारत में मन्दिरों, संघारामों, विद्यापीठों, चिकित्सालयों और तीर्थस्थानों का बाहुल्य था। वस्तुतः सीता (तारिम) कांठे की भांति द्वीपान्तर भारत भी द्वितीय भारत था जहां भारत और चीन समुद्र-पथ से आगे बढ़ कर मिलते थे।

अकसर लोग यह भूल जाते हैं कि ब्राह्मण बौद्ध और उनकी कला के कारण ही मध्य और दक्षिण-पूर्वी एशिया का सस्वर एवं दर्शनीय भारतीयकरण सम्भव हो सका था। अल्प विकसित लोगों के बीच जब भी किसी नवीन धर्म का प्रचार किया गया, तो कला ने ही उस धर्म की कल्पना और सिद्धान्तों को विलक्षण सुन्दरता एवं संवेदनीयता प्रदान की। मध्य एशिया की विख्यात बामियान प्रतिमा की कलात्मक भव्यता पर कई शताब्दियों पूर्व की ('सियुकी' में उल्लिखित) मगध के सिन्धु-तीर की बुद्ध प्रतिमा की विलक्षण भव्यता का प्रभाव स्पष्ट है। मानवता के इतिहास में नये देशों में संस्कृति के प्रसार का सस्वरतम व अमोघ वाहन कला ही है। ब्राह्मण व बौद्धधर्मों के व्यापक प्रसार के दौरान धर्मग्रन्थों और साहित्यिक कृतियों के साथ-साथ अनेक भारतीय प्रतिमाएं चित्र तथा रेखाचित्र और मन्दिरों के नमूने भी पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में पहुंचे थे।

भारतीय संस्कृति द्वारा विधायित एशियाई एकता का युग

भारतीयता ने एशियाई सभ्यता को एक ऐक्य प्रदान किया (ठीक यही काम ईसाई धर्म ने यूरोप में किया था)। शताब्दियों के दौरान एशियाई एकता कुछ स्पष्ट अवस्थाओं में से होकर गुजरी थी। एशियाई एकता का प्रथम युग गान्धार कश्मीर और कन्धार से तारिम-घाटी को पार करते हुए बौद्धधर्म के प्रसार का (१० ईसापूर्व ३०० ईस्वी) है। एशियाई एकता का दूसरा युग गुप्त-संस्कृति के स्वर्णयुग के काल (लगभग चौथी से आठवीं शताब्दी ईस्वी तक) में हुआ। गुप्त-संस्कृति के स्वर्णयुग की सुषमा यूनान के पेरिक्लीज युग और इंग्लैंड के एलिजाबेथ प्रथम के युग से की जा सकती है। यही वह विशिष्ट युग था जिसमें मध्य एशिया में महायान बौद्धधर्म का प्रसार हुआ, भारतीय सांस्कृतिक दल चीन और इंडोनेशिया गए तथा संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हुए, चीनी यात्रियों ने पवित्र भारतभूमि की यात्राएं कीं, नालन्दा ओदन्तपुरी-विहार, विक्रमशिला, जगद्दल, रत्नगिरि और द्वारावती में विश्वविख्यात बौद्ध विश्वविद्यालयों का वैभव रहा, दीपान्तर भारत में हिन्दू उपनिवेशों और राज्यों का उदय हुआ, संस्कृत साहित्य का विकास और सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया में उसका प्रसार हुआ तथा मथुरा, अजन्ता, गंधार, मीरान, तुन-ह्वांग, युन-कांग, लुंगमेन, तुन-हुआंग, दंदान-उइलिक, होरियूजी, सिगिरिया, बोरोबुदुर और अंगकोर में भव्य मूर्तिकला विकसित हुई।

यह एकता बुद्धप्रिय अरब मुसलमान संस्कृति के उद्भव और आकस्मिक प्रसार— मुसलमान आंधी के समान विशाल भूभागों को पदाक्रान्त करते चले गए—तक कायम रही। यह संस्कृति मिस्र और स्पेन में एकसाथ (७११ ईस्वी) पहुंची। इस्लाम के विस्तृत विनाशकारी धर्मान्ध अभियानों के समक्ष एशियाई और यूरोपीय दोनों एकताएं टूटकर रह गई। टूर्स की निर्णायक विजय (७३२ ईस्वी) के पश्चात् यूरोपीय सभ्यता इस्लाम के आघात से उबर सकी फिर भी स्पेन में आगामी सात शताब्दियों (१४९२ ईस्वी) तक पश्चिमी मुसलमान अथवा मूर साम्राज्य कायम रहा। इस प्रकार यूरोपीय एकता को एक भीषण आघात पहुंचा, ऐसा ही आघात तेरहवीं शताब्दी में जब मंगोलों ने पूर्वी यूरोप को जीतकर गोल्डन होर्ड को एक मंगोल राज्य के रूप में सुस्थापित किया

अनुसार भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं में प्रकण्व (आधुनिक फरगना) कम्बोज (आधुनिक बदख्शां-पामीर) कापिश (आधुनिक काफिरिस्तान) और गन्धार अथवा काबुल नदी की घाटी सम्मिलित थे। लगभग एक हजार वर्ष तक भारत के समस्त उत्तर पश्चिमी सीमावर्ती प्रदेश—जिसमें बैक्ट्रिया फरगना बदख्शां अफ़गानिस्तान, सीस्तान और बलूचिस्तान सम्मिलित थे—को भारत का ही एक भाग (यूनानवादियों के अनुसार 'श्वेत भारत')माना जाता था। अरब मुसलमानों के आधिपत्य में भी 'श्वेत भारत' कम से कम चौदहवीं शताब्दी तक ईरानी से अधिक भारतीय बना रहा। लगभग १०३० ईस्वी में अल-बरूनी ने लिखा था कि खुरासान ईरान ईराक मोसुल और सीरिया की सीमा तक सम्पूर्ण प्रदेश बौद्ध धर्मानुयायी था।

भारतीय संस्कृति हिन्दुकुश और पामीर को भी पार करके तारिम अथवा सीता नदी के कांठे तक फैल गई। पहले खोतन का नाम कुस्तान यारकन्द का नाम चोकुक, कासगर का नाम शैलदेश कुच का नाम कचार कड़ा शहर का नाम अग्निदेश और तुरफान का नाम तुरपन्नि था। प्राचीन मध्य-एशियाई कारवां-मार्गों पर स्थित इन नखलिस्तानी नगरों में भारतीय अथवा भारतीयकृत बस्तियां थीं और यहां शिव गणेश तथा बुद्ध की पूजा होती थी भारत के समान यहां भी ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक बौद्ध विहार खूब फूले-फले। तारिम कांठे से आगे सुदूर खान-चान और तातार देशों में भी भारतीय संस्कृत ग्रन्थों का विस्तृत उपयोग होता था। मध्य एशिया भूभाग एशिया में अनेक युद्धों का स्थल था तथा काबुल-कांठे से लेकर बल्ख तक गंधार क्षेत्र एशियाई व्यापार-मार्गों का मिलन-स्थल और पश्चिमी एशिया की अस्थिर व लड़ाकू जातियों के स्थानान्तरण पथ पर भारत का बाहरी कक्ष था इन दोनों भूभागों में अनेक राजनीतिक आन्दोलन हुए। श्वेत हूणों ने पांचवीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध में काबुल-कांठे पर अधिकार करके कुषाण सभ्यता का विनाश किया। छठी शताब्दी के मध्य से सातवीं शताब्दी के मध्यकाल तक शान्ति रही। तब मुसलमान अरबों ने गन्धार क्षेत्र में प्रवेश किया और ६२२ से ६६४ ईस्वी तक उन्होंने कलाकृतियों का विनाश किया। फलस्वरूप बौद्धधर्म की द्वितीय पवित्र भूमि जहां से महायान बौद्धधर्म की शक्तिशाली धाराएं शताब्दियों तक मध्य एशिया और चीन की ओर प्रवाहित होती रही थीं की समृद्ध कला और संस्कृति का सर्वनाश हो गया। बौद्धधर्म का आकर्षण इतना दुर्निवार था कि सातवीं शताब्दी में जब ह्वेन सांग (६३०-६४३ ईस्वी) कापिश पहुंचा तो उसने पाया कि वहां का तुर्क राजा परम निष्ठावान महायान बौद्ध था। हूण और तुर्क शासन के दौरान भी शताब्दियों तक भारतीय ईरानी सीमावर्ती प्रदेश बौद्ध धर्मानुयायी रहे।

दक्षिणी महासागर में द्वीपान्तर में बृहत्तर भारत और इण्डोनेशिया सम्मिलित थे। पुराणों में द्वीपान्तर का धर्म युद्ध व्यापार तथा अन्य विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों द्वारा परिपुष्ट भारतवर्ष के नवम खण्ड कहा गया है। द्वीपान्तर भारत में मन्दिरों गधारामों विद्यापीठों चिकित्सालयों और तीर्थस्थानों का बाहुल्य था। वस्तुतः सीता (तारिम) कांठे की भांति द्वीपान्तर भारत भी द्वितीय भारत था जहां भारत और चीन समुद्र-तट से आगे रास्ते चल कर मिलते थे।

पूरे देश की राजकीय भाषा बनी तथा देश में वह ग्रामीण शासन-व्यवस्था और वे भूमि कर प्रशासन लागू हुए जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने भी अपनाया। मुगलकालीन शान्ति (जिसकी और अंग्रेजकालीन शान्ति की अवधि एक समान थी) में आध्यात्मिक भक्ति-वाद की विशाल, सर्वव्यापी लहर को बढ़ावा मिला। भक्ति की यह भावना समाज के निम्न स्तरों में सर्वाधिक थी। इस भक्तिवाद के साथ अनेक समतावादी आन्दोलन सम्बद्ध थे और इसके कारण एक गम्भीर धार्मिक और सामाजिक संश्लेषण हो रहा था। इसके फलस्वरूप सम्भव था कि स्वाभाविक भारतीय रीति के अनुसार इस्लाम का भी अव-शोषण हो जाता, किन्तु औरंगजेब की जिसकी नीति अकबर ही नहीं बल्कि तैमूरी परम्परा की नीति से भी बिलकुल अलग थी कट्टरता और मूर्तिविरोधी भावना के कारण वैसा हो न सका। फिर भी अठारहवीं शताब्दी के देशव्यापी युद्ध भी सुन्दरता मधुरता और शान्ति के उन स्वप्नों को मिटा न सके जो राजस्थान और हिमाचल की चित्रकला में परिलक्षित हैं और न अद्वितीय धार्मिक संश्लेषण को रोका जा सका इस संश्लेषण के अनगन्त उदाहरण हैं—हिन्दू-मुसलमान पन्थिप्रवर्तकों के प्रति बहुसंख्यक हिन्दुओं की निष्ठा, तथा कुछ मुसलमानों (बंगाल में यवन हरिदास और महाराष्ट्र में शेख मुहम्मद तथा सुल्तान और शाह मुनि) का वैष्णव सन्त बन जाना। इस समन्वय युग में साहित्यिक पुनर्जागरण भी हुआ। इसके स्रोत थे पद्मावत सूरसागर, रामचरितमानस भक्तमाल चैतन्य-चरितामृत, कवि कंकन चंडी और रामविजय। इन महान् ग्रन्थों ने विशृंखलता और युद्धों के बीच भारतीय आत्मा को शान्ति प्रदान की। किन्तु यदि कदाचित औरंगजेब की अनुदार नीति तथा मराठा राज की स्थापना के प्रति मराठों और सिखों की विद्रोह भावना ने सैनिक प्रवृत्ति ग्रहण कर ली जिसके फलस्वरूप राजनीतिक और सामाजिक विशृंखलता की स्थिति पैदा हो गई। परिणामतः हिन्दूधर्म और इस्लाम का ऐक्य तथा जातिहीन व पुरोहितहीन समाज का विकास सम्भव न हो सका।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में हिन्दूधर्म और इस्लाम

भारत में पड़ जमाने में इस्लाम को कठिनाई तो हुई ही साथ ही वह दक्षिण पूर्वी एशिया में हिन्दूकरण के बढ़ते कदमों को रोकने में सफल न हो सका। गुप्त और पाल पुनर्जागरणों के प्रभाव में चरमोत्कर्ष की प्राप्ति के पश्चात् एशियाई एकता के तीसरे युग का सूत्रपात पाल साम्राज्य के अन्तर्गत पूर्वी भारत में संस्कृति और कला के तान्त्रिक पुनर्जागरण तथा कैलाश शिखर बृहत्तर भारत और इंडोनेशिया में इसकी धार्मिक अभिव्यक्तियों से हुआ। इस पुनर्जागरण का विस्तार आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के अन्त तक था तथा बंगाल में ओदन्तपुरी जगद्दल विक्रमपुरी, फुल्लैरा, देवीकोट और पंडित विश्वविद्यालय के केन्द्र थे जिनसे इसका प्रसार विदेशों में हुआ। वज्रयान और सहजयान बौद्धधर्म वैष्णवधर्म और तान्त्रिक शिव-शक्ति सम्प्रदाय के जिनमें लिंगम् की पूजा प्रचलित थी विविध रूपों में भारतीय धर्म को दक्षिण-पूर्वी एशिया में नये अन्वेषण और अभिव्यक्ति के रूप उपलब्ध हुए। साथ ही बोरोबुदुर, प्रम्बनन, अंकोर थोम (नगर धाम) और चम्पा (अरिमर्दनपुर) के भव्य और विशाल

फिर पहुंचा। सातवीं शताब्दी में कुछ तुर्क कबीले मध्य एशिया में आ पहुंचे और कुछ समय तक उन्होंने भारत-चीन के कारवां मार्गों के लिए खतरा पैदा कर दिया। किन्तु ताङ वंश (६१८ ९०७ ईस्वी) ने जिसका विशाल साम्राज्य कोरिया से कैस्पियन सागर तक फैला था मुसलमान अरबों के पूर्वोन्मुख सफल प्रयाण को रोक लिया तथा तीन शताब्दियों के लिए शान्ति की स्थापना की। इन तीन शताब्दियों में चीन और भारत के बीच भिक्षुयात्रियों धर्मग्रन्थों और विक्रय-वस्तुओं का खुला आदान प्रदान होता रहा। दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण म सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी (९९२ ११८६ ईस्वी) इस क्षेत्र म आए। महमूद मध्य एशिया के इतिहास में एक बहुत बड़ा व्यक्तित्व है। उसने खुरासान को पराजित तथा भारत पर कई बार आक्रमण किया। फिर भी मध्य एशिया से बौद्धधर्म के विलोप होने में पांच शताब्दियां और लग गई तथा विनाश से पूर्व तेरहवी शताब्दी में प्रसिद्ध कुब्लाई खां (१२१४ १२६४ ईस्वी) के शासनकाल म बौद्धधम का रूप केवल लामाई रह गया था। इसी बीच मध्य एशिया के मरुनिस्तानी नगरों के स्थान पर चीन के पूर्वी तट के बन्दरगाह बौद्धधर्म के प्रसार के प्रवेश द्वार के रूप में काम करने लगे। ब्रह्मपुत्र की घाटी से उत्तरी बर्मा और टोनकिन होते हुए स्थल-मार्ग तथा चीनी भारतीय पूर्वी समुद्री-मार्ग इन बन्दरगाहों तक पहुचते थे। आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक पूर्वी भारत और कुमंडल तट से महायान वज्रयान वैष्णव और शिव धर्मित मत और दर्शन प्रसरित होते तथा मैयाम व विजय से मलाया व इन्डोनेशिया और स्याम व कम्बोडिया से चीन तक एशियाई संस्कृति का निर्माण करते रहे।

इस्लाम की चुनौती को भारत का उत्तर

यूरोप के समान भारत में भी इस्लाम अपनी जड़ें स्थायी रूप से नहीं जमा सका। एक ओर तो सीरिया फारस आर्मीनिया मिस्र सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका तथा स्पेन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में अरब मुसलमानों को केवल अस्सी वर्ष लगे किन्तु दूसरी ओर सिन्ध और काठियावाड़ की पराजय (७१२ ईस्वी) के बाद हिन्दुस्तान में उत्तर और दक्षिण को पराजित करने में मुसलमान साम्राज्य को छः सौ वर्ष से अधिक समय लग गया। मुहम्मदबिन-तुगलक (१३२५ १३५१ ईस्वी) के शासनकाल में अलाउद्दीन खिलजी (१२९६ १३१६ ईस्वी) की विजयों के बाद ही यह सम्भव हो सका। किन्तु उसकी मृत्यु के फौरन बाद साम्राज्य तेजी से डगमगाया। तनाव और संघर्ष की इन शताब्दियों के दौरान हिन्दूधम और इस्लाम के बीच आदान-प्रदान हुआ जिसके फल स्वरूप नवीन आध्यात्मिक शक्तियों का उदय तथा दोनों धर्मों में समतावादी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। इन्होंने हिन्दू पुरोहितवाद और पृथकत्व भावना तथा सामी जातीयता वाद और कट्टर एकेश्वरवाद दोनों का विरोध किया।

पांच शताब्दियों तक उदार वैचारिकता का प्राधान्य रहा और इस दौरान भक्ति व सूफी आन्दोलनों ने हिन्दूधम और इस्लाम के बीच एक आध्यात्मिक सम्पर्कता की स्थापना की। इसका सुपरिणाम महान् मुगलों के काल में मिला। अकबर के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय साम्राज्य में विभिन्न जातियों धर्मों और मतों की एकता स्थापित हुई पारसी

पूरे देश की राजकीय भाषा बनी तथा देश में वह ग्रामीण शासन-व्यवस्था और वे भूमि कर प्रशासन लागू हुए जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने भी अपनाया। मुगलकालीन शान्ति (जिसकी और मध्यकालीन शान्ति की अवधि एक समान थी) में आध्यात्मिक भक्ति-भाव की विशाल शक्तिशाली लहर को बढ़ावा मिला। भक्ति की यह भावना समाज के निम्न स्तरों में सर्वाधिक थी। इस भक्तिवाद के साथ अनेक समतावादी आन्दोलन सम्बद्ध थे और इसके कारण एक गम्भीर धार्मिक और सामाजिक संश्लेषण हो रहा था। इसके फलस्वरूप सम्भव था कि स्वाभाविक भारतीय रीति के अनुसार इस्लाम का भी अवशोषण हो जाता किन्तु औरंगजेब की जिसकी नीति अकबर ही नहीं बल्कि तैमूरी परम्परा की नीति से भी बिलकुल अलग थी कट्टरता और मूर्तिविरोधी भावना के कारण ऐसा हो न सका। फिर भी अठारहवीं शताब्दी के देशव्यापी युद्ध भी सुन्दरता मधुरता और शान्ति के उन स्वप्नों को मिटा न सके जो राजस्थान और हिमाचल की चित्रकला में परिलक्षित हैं और न अद्वितीय धार्मिक संश्लेषण को रोका जा सका इस संश्लेषण के ज्वलन्त उदाहरण हैं—हिन्दू-मुसलमान पन्थ-सम्प्रदायों के प्रति बहुसंख्यक हिन्दुओं की निष्ठा तथा कुछ मुसलमानों (बंगाल में जवन हरिदास और महाराष्ट्र में शेख मुहम्मद शाह मुल्तान और शाह मुनि) का बन्धन सन्त बन जाना। इस संघर्षमय दु खद युग में साहित्यिक पुनर्जागरण भी हुआ। इसके फल थे पद्मावत सूरसागर रामचरितमानस भक्तमाल चैतन्य-चरितामृत कवि कंकन चण्डी और रामविजय। इन महान् ग्रन्थों ने विशृंखलता और दुःखों के बीच भारतीय आत्मा को शान्ति प्रदान की। किन्तु अधिकांश औरंगजेब की अनुदार नीति तथा अंग्रेजी राज की स्थापना के प्रति मराठों और सिखों की विद्रोह भावना ने सैनिक प्रवृत्ति ग्रहण कर ली जिसके फलस्वरूप राजनीतिक और सामाजिक विशृंखलता की स्थिति पैदा हो गई। परिणामतः हिन्दूधर्म और इस्लाम का ऐक्य तथा जातिहीन व पुरोहितहीन समाज का विकास सम्भव न हो सका।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में हिन्दूधर्म और इस्लाम

भारत में जड़ जमाने में इस्लाम को कठिनाई तो हुई ही साथ ही वह दक्षिण पूर्वी एशिया में हिन्दूकरण के बढ़ते कदमों को रोकने में सक्षम न हो सका। गुप्त और गाङ पुनर्जागरणों के प्रभाव में चरमोत्कर्ष की प्राप्ति के पश्चात् एशियाई एकता के तीसरे युग का सूत्रपात पाल साम्राज्य के अन्तर्गत पूर्वी भारत में संस्कृति और कला के तान्त्रिक पुनर्जागरण तथा नेपाल तिब्बत बृहत्तर भारत और इण्डोनेशिया में इसकी धार्मिक गतिविधियों से हुआ। इस पुनर्जागरण का विस्तार आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के अन्त तक था तथा बंगाल में ओदन्तपुरी जगद्दल विक्रमपुरी फुल्लहरी देवीकोट और पंडित विश्वविद्यालय के केन्द्र थे जिनसे इसका प्रसार विदेशों में हुआ। वज्रयान और सहजयान बौद्धधर्म वैष्णवधर्म और तान्त्रिक शिव-शक्ति सम्प्रदाय के जिनमें निगम् की पूजा प्रचलित थी विविध रूपों में भारतीय धर्म को दक्षिण-पूर्वी एशिया में नये संश्लेषण और अभिव्यक्ति के रूप उपलब्ध हुए। साथ ही बोरोबुदुर, प्रम्बनन अङ्कोर थोम (नगर ...) और चम्पा (अमरावतीपुर) के भव्य और विशाल

बौद्ध और ब्राह्मण मन्दिरों में भारतीय कला और वस्तु ने उन दीपों को स्पर्श किया जो वह भारतभूमि में भी नहीं कर पाई थी। वस्तुतः, संसार के सर्वोत्कृष्ट मन्दिर-नगरों का मानव की इंजीनियरिंग की विलक्षण कृतियों का निर्माण एशियाई एकता के तीसरे युग में ही हुआ, जबकि सोमनाथ से कन्नौज तक तुर्क-अफगानों की विध्वंस लीला चल रही थी तथा उत्तर भारत में *मुसलमान अपनी शक्ति को सुदृढ़ बना रहे थे। फिर पन्द्रहवीं शताब्दी* में मुसलमानों ने मलक्का बन्दरगाह से मलय में प्रवेश किया और वहां की जनता ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी एशिया में धार्मिक ऐक्य की दिशा में जारी प्रवाह रुक गया। इस धार्मिक ऐक्य के उदाहरण हैं जावा सुमात्रा और बाली में प्रचलित शिव-बुद्ध की एक प्रकार की सम्मिलित पूजा में शैवधर्म और बौद्धधर्म का मिश्रण स्याम में प्रचलित शंकर-नारायण की पूजा में वैष्णवधर्म और शैवधर्म का मिश्रण तथा कम्बोडिया में प्रचलित देवराज तथा अन्य सम्प्रदायों में बौद्ध और पौराणिक शाक्त धर्मों का मिश्रण इनके अतिरिक्त ब्रह्मा विष्णु और महेश की भारतीय *त्रयी तो है ही—कम्बुज के एक अभिलेख में वृक्षराज अश्वत्थ की पूजा की बात लिखी है* जिसकी जड़ को ब्रह्मा तने को शिव और शाखाओं को विष्णु माना गया है।

धर्म और भारत की अभिन्नता

भौगोलिक दृष्टि से इतने विस्तृत उपमहाद्वीप में कोई भी विजय स्थायी नहीं हो सकती। भारत कभी भी जनसंख्याविहीन नहीं रहा। द्रविड़ों और भारतीय आर्यों के आगमन से पहले भी देश में एक जनसख्या और एक सभ्यता थी। संस्कृति की विभिन्न अवस्थाओं में भारतभूमि पर अनेक जातियों और जनों का अधिकार था इसलिए आर्य आक्रमणकारियों के समक्ष सर्वप्रथम जो समस्या आई वह आज भी वैसी ही है भारतीय इतिहास की यह मूल समस्या है—भूभागों जातियों और परम्पराओं की स्वाभाविक विभिन्नता के बीच एकता की स्थापना कैसे हो। भारत की विशिष्ट प्रज्ञा है धर्म और देश की अभिन्नता स्वीकार करना यह भावना सर्वप्रथम वाल्मीकि संस्कृति में उदित हुई थी। धर्म और भारत की अभिन्नता की जिसमे स्वधर्म की भावना भी सम्मिलित है उत्कृष्ट अभिव्यक्ति गुप्तकाल में विरचित 'विष्णु पुराण' के राष्ट्रीय गान में हुई है "भारत जम्बूद्वीप का सर्वश्रेष्ठ विभाग है क्योंकि यह पुण्य देश है। अन्य देशों को केवल सुखोपभोग की कामना रहती है। इस पुण्य देश के निवासी ही सुखी हैं जो अपने कार्यों के फलों को परमात्मा पर छोड़कर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। परमात्मा की अनुभूति की उनकी यही विधि है। देवता स्वयं कहते हैं 'देवताओं तक की तुलना में व लोग सुखी हैं जो भारतवर्ष में मनुष्य-रूप में जन्म लेते हैं क्योंकि स्वर्ग के सुखों तथा मोक्ष के उपरान्त प्राप्त आनन्द का यही एक मार्ग है।"

उत्तर भारत में 'विष्णु पुराण' की रचना से २०० वर्षों पश्चात् नवीं या दसवीं शताब्दी के बीच कभी कावेरी की घाटी में 'भागवत' की रचना हुई। इसमें भी भारतवर्ष की स्तुति करते हुए कहा गया है कि पवित्र नदियों पर्वतों और पावन तीर्थस्थलों तथा अवतारों साधुप्रकृति राजाओं भक्तों और धर्मप्राण पुरुषों का यह देश महान् है।

यहां ईश्वर स्वयं कृपा करके मानवयोनि में अवतीर्ण हुआ है ताकि नश्वर प्राणी उसकी भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकें। अर्थात् देवगण बहुत त्याग तप और दान के पश्चात् मिलनेवाले स्वर्ग-सुख से अधिक श्रेय इस पवित्र भूमि पर जन्म लेने को देते हैं (भागवत ५ २ १९ २१)। भारतवर्ष भौगोलिक इकाई नहीं वरन् पूजा और श्रद्धा की वस्तु है, ईश्वर के प्रति स्पृहा और उसकी अनुभूति का प्रतीक है।

भारत, अर्थात् संस्कृति

यूरोपीय इतिहास से प्राप्त तर्कों के आधार पर युद्ध राजनीति और आर्थिक संघर्ष को भारतीय विकास का स्रोत मानकर हम भारत और संस्कृति (नैतिक और धार्मिक संस्कृति) के ऐक्य के सिद्धान्त को भली भांति नहीं समझ सकते। सम्पूर्ण संसार में यूरोप ही एक ऐसा महाद्वीप है जहां युद्ध की मंत्रणाएं सर्वाधिक रही हैं और जो सदैव युद्ध के लिए तैयार रहा है—यूनानी-रोमी विरासत अथवा ईसाई धर्म शालमेन अथवा नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षाएं कोई भी यूरोप में एकता स्थापित करने में सफल न हुआ। इसके विपरीत विभिन्न जातियों भाषाओं परम्पराओं और विश्वासोंवाले भारत देश के इतिहास का प्रमुख स्वर ही सांस्कृतिक समन्वय का रहा है। अक्सर लोग यह भूल जाते हैं कि भारत अपने विकास के पांच हजार वर्षों के काल में से सैंतीस सौ वर्षों तक स्वाधीन रहा है, यह समय भारत की दासता के समय से (मध्य और आधुनिक युगों मे दासता का काल केवल साढ़े छ सौ वर्ष है) बहुत अधिक है—और फिर दासता के समय में भी शक्तिशाली और स्वाधीन भारतीय राज्य जैसे बहमनी और विजयनगर राज्य मराठा साम्राज्य और सिख साम्राज्य, पुनरुत्थान के केन्द्र बने। अफ्रीका से प्रशान्त महासागर और ईरान से कोरिया तक के पड़ोसी देशों में भारत के सम्मीकरण और मानवतावादी कार्य को भी इसी प्रकार उपेक्षित कर दिया जाता है। मानव की समानता जीवन की अविच्छिन्नता और मानव-मात्र की मुक्ति जैसे अनिवार्यतः आध्यात्मिक मानदण्डों पर आधारित एकीकरण के सिद्धान्तों का उपयोग भारत ने अपनी भूमि पर विभिन्न जातियों अथवा कबीलों की एकता-स्थापना में किया था इन्हीं सिद्धान्तों को लगभग दो हजार वर्षों तक 'अखिल भारतीयतावादी शान्तिपूर्ण धर्मप्रचार' का आधार बनाया गया जिसकी तुलना विश्व-इतिहास में नहीं है। भारतीय इतिहास अधिकांशतः कल्पनाओं धर्मों और नैतिकता का इतिहास है तथा राजनीतिक नहीं आदर्शवादी है और यही कारण है कि सभ्यता के इतिहास में इसका अभूतपूर्व महत्त्व है। एक प्रकार से भारतवासियों के पास एक सच्चा इतिहास है जो अन्य किसी देश के वासियों के पास नहीं है और भारत ही सभ्यता या संस्कृति है जिसने अपनी सीमाओं से परे अनेक एशियाई जातियों और विभिन्न देशों के वासियों को एकता का आध्यात्मिक एवं नैतिक आधार प्रदान किया है।

सत्य इतिहास मानवता की प्रगति

इतिहास की संयोगात्मक समाजशास्त्रीय विधि की प्रवृत्ति बहुसांस्कृतिक है। यह पुराणकथाओं धर्मों नैतिकता और कला के आदर्शों को प्रतिमान मानकर व्यापक

आन्दोलनों की व्याख्या प्रस्तुत करती है। राजनीति अथवा राज्य के कर्तव्य पर अधिक ज़ोर देने से इस विधि के समावेशन और सामर्थ्य में बाधा उपस्थित होती है। किन्तु यही विधि भारतीय विकास में सुव्यवस्था और निरन्तरता की स्थापना कर सकी है इसी तर्क में वह एकीकारक 'इतिहास का धागा' है जिसमें विभिन्न युग और आन्दोलन पिरोए हुए हैं। अपने आध्यात्म कला और धर्म के आदर्शों की सार्वभौमिकता तथा सामाजिक व्यवस्था की आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण भारत अनेक शताब्दियों के दौरान अपनी भूमि और संस्कृति की अनिवार्य एकता को बनाए रखने में सफल हुआ है। ईसाई-मुसलमान सभ्यता के यूनानी रोमी धाम से सर्वथा भिन्न भारत का विशिष्ट सांस्कृतिक धाम, आज की विश्वीय परिस्थितियों में भारतवर्ष की गम्भीर एकता और सुदृढ़ता को दृढ़ रखने तथा इतिहास-प्रदत्त उच्च उद्देश्य को प्राप्त करने में किस सीमा तक सफल होगा, इसका निर्णय तो भविष्य ही करेगा।

पश्चिम में ईसाई संसार तथा मुसलमान संसार की पूर्ववर्ती एकताओं की अनेक युगों लगभग एकसमान सभ्यताओं में उदित राष्ट्रीयताओं धार्मिक स्वामित्व और उन्नयन की शक्तियों द्वारा उत्पन्न संघर्षों तथा धर्म और अध्यात्म द्वारा व्युत्पन्न पारस्परिक बन्धनों के विनाश ने आधुनिक इतिहास लेखन की अनेक हलचलों के ज़रिए दो सिद्धान्तों का अतिरंजन किया है। वे हैं (प्रथम) कल्पित 'विशुद्ध जाति' का सिद्धान्त (द्वितीय) संस्कृति की कृत्रिम और भौतिक इकाई—'राष्ट्र' का सिद्धान्त। फलस्वरूप इतिहास किसी सीमा तक वर्णवादी हो गया है जिसमें पृथक वर्गों और संस्कृतियों के उत्थान-पतन का ही ज़िक्र रहता है। सही मानें में इतिहास यह नहीं है। सत्य इतिहास में तो एक विश्व व्यापी गति का सर्वसामान्य मूल्यों और उपलब्धियों के समुच्चय पर आधृत मानवता के व्यापक प्रवाह का उद्घाटन होता है। प्रथम इतिहास का आधुनिकतावाद जो उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय प्रसार और साम्राज्य के लिए पारस्परिक संघर्ष का परिणाम है जातीयता और राष्ट्रीयता के प्रति पूर्वग्रह युक्त है। इस सन्दर्भ में लॉर्ड ऐक्टन का विवेकपूर्ण कथन कितना अनिवार्य है 'तीन हज़ार वर्षों को नज़रअंदाज़ करके केवल चार सौ वर्षों के अध्ययन के बल पर किसी दर्शन की स्थापना नहीं हो सकती। ऐसा करना दोषपूर्ण और भ्रमात्मक होगा।' दूसरे एक समय में एक ही राष्ट्र पर ज़ोर देना हीगेल के ऐतिहासिक विचारवाद के सर्वथा अनुरूप भी है तथा उसके द्वारा समर्थनप्राप्त भी। इतिहास की भौतिकवादी धारणा तथा मार्क्सवादी आर्थिक नियमवाद दोनों हीगेल के विचारवाद से अनुप्रेरित हैं—दोनों ही मानवीय विकास के भव्य किन्तु *उन्मोदारक सरलीकरण हैं। मानव-जीवन और उसकी घटनाएं बहुमुखी हैं अतः इतिहास* भी निश्चय ही बहुआयामात्मक—एकसाथ वैचारिक धार्मिक राजनीतिक सैनिक और नैतिक—होगा।

पुराणकथाएं या कल्पनाएं, इतिहास की इकाइयां

बहुआयामात्मक दृष्टिकोण के लिए मानवीय इतिहास की मूल इकाइयां, जिनमें किसी जन के विकास के प्रत्यावर्ती आदर्श निहित हों उसकी महान् पुराणकथाएं या

कल्पनाएं अर्थात् 'व्यवहार एवं विचार' ही हैं जिन्हें रिकर्ट ने 'मूल्य-विन्यास' कहा है। प्रत्येक पीढ़ी के साथ ये कल्पनाएं बढ़ती जाती हैं तथा एकम परम्पराओं और नियमों की निरन्तरता इनमें निहित होती है। निश्चय ही सभ्यता में परिव्याप्त व्यापक अथवा दूरगामी प्रतिमान ये ही हैं। एक प्रकार से इतिहास कल्पनाओं का सृजन है तथा कल्पनाओं के पक्ष होते हैं। भारतीय कल्पनाओं की विशिष्टता इस तथ्य में है कि उनके सर्जक अनाम हैं अतः व्यक्ति विशेष की विशिष्ट मनोवृत्तियां और विलक्षणताएं इनमें नहीं हैं। विशिष्ट वर्गों द्वारा आविष्कृत कोई नया धर्म अध्यात्मवाद अथवा सम्प्रदाय जनसाधारण को कोई सन्देश देता है साधारण जन धर्म अध्यात्मवाद अथवा सम्प्रदाय की विचारात्मकता और घटनाओं विख्यात ऋषियों और सन्तों से प्रेरित और अनुप्राणित होते हैं। कल्पनाएं दैनिक अनुष्ठानों और धर्मसंस्कारों त्योहारों और तीर्थयात्राओं में व्याप्त हो जाती हैं तथा भारत में सत्य शिव और न्याय की नवीन अनुरूप व्यवस्था कायम करती हैं जो दृष्टिगत ऋतुचक्र से सम्बद्ध है। ये काल-सीमा के परे और अन्तगत दोनों होती हैं अक्सर इनमें पीढ़ी दर पीढ़ी के अनुभव और प्रज्ञा का सार निहित रहता है तथा इतिहास से अधिक सत्यता होती है। ऐतिहासिक महत्त्व की भारतीय पुराण-कथाएं या कल्पनाएं हैं यज्ञ और धर्म अर्थ और काम की वैदिक कल्पनाएं सांसारिक क्लेश और अष्टमार्ग की बौद्ध कल्पनाएं सार्वभौम करुणा और सार्वभौम निर्वाण की महायान कल्पनाएं वर्ण-संकर, कलियुग और मात्स्यन्याय की पौराणिक कल्पनाएं भक्ति तथा जातिविहीन पौरोहित्यविहीन समाज की मध्ययुगीन कल्पनाएं तथा उत्तर मध्यकालीन तांत्रिक कल्पनाएं जिनमें मायावी संसार के विविध रूपों और इन्द्रियों वासनाओं व संवेगों के संस्कार को भारतीय अद्वैत के परमात्मन् के गत्यात्मक पक्ष 'शक्ति' का क्रियाशील एवं रूप माना गया है। इस प्रकार के विचारों ने कई-कई शताब्दियों में फैले युगों और आन्दोलनों को संचालित किया है और इनकी सहिष्णुता क्रमशः बढ़ती हो गई है तथा पीढ़ी दर पीढ़ी उत्तराधिकार में प्राप्त सामाजिक प्रथाओं और जीवन-पद्धति की गहरी व दृढ़ नींव डाली है।

काल विभाजन की समस्या

कुछ विशिष्ट विचार अथवा इतिहास के धारे भारतीयजन के जीवन और गति को निर्धारित अथवा प्रभावित करते हैं। कोई विशिष्ट परिवर्तन अथवा क्रान्ति आने के पश्चात् ये समग्र सांस्कृतिक दाय में कुछ स्थायी तत्त्वों का समावेश कर देते हैं। इन्हींपर ध्यान केन्द्रित करें तो भारतीय इतिहास के काल-विभाजन की समस्या सरल हो जाती है। व्यक्तियों की भांति किसी देश के निवासियों के इतिहास में कुछ महत्त्वपूर्ण युग होते हैं। वैदिक युग ध्यान-धर्म युग अशोक युग एशियाई एकता का पहला युग अथ बाह्मण काल व द्वितीय एशियाई एकता का युग वेदान्त युग तान्त्रिकवाद युग और भक्ति युग भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग हैं तथा भारतीय सभ्यता के प्रवाह का निर्देश देते हैं। प्रत्येक स्वर्ण युग के अपने विशिष्ट विचार मूल्य और नियम हैं जिन्होंने भारत का निर्माण किया है। साम्राज्यों और जनों का आवागमन लगा रहता है किन्तु विचार

और संस्कृति स्थायी हैं। विचारों, धर्म और संस्कृति की निरन्तरता ही भारत में सामाजिक स्थायित्व का कारण है। प्रायः विदेशी आक्रमणों तथा वर्तमान रूपों और आदर्शों से असम्बद्ध परिवर्तनों के कारण एक प्रकार की विशृंखलता फैल जाती है किन्तु धर्म और संस्कृति की निरन्तरता ने भारत में ऐसा नहीं होने दिया।

इतिहास के प्रति धार्मिक अथवा अमूर्त दृष्टिकोण रखने पर प्राचीन भारतीय और चीनी सभ्यताओं के महान सृजनात्मक उपादान उपेक्षित रह जाते हैं। भारतीय सभ्यता की एकता आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की एकता से भिन्न प्रकार की तथा अधिक गम्भीर एवं सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित है। आजकल मानवीय संस्कृति की एकता की नियामक शक्तियों के रूप में राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों तथा राजाओं और राजवंशों युद्धों और विजयों के अध्ययन पर अधिक ज़ोर दिया जाता है, जो गलत है भारतीय सभ्यता की एकता के कारणों पर ध्यान दिया जाए तो यह गलती सुधर सकती है।

इतिहास में मस्तिष्क और आत्मा की लय

भारतीय इतिहास का आधुनिक युग 'पाश्चात्य युग' है। पश्चिम से व्यापक और परस्पर-विरोधी प्रवर्तक प्रवृत्तियां आ रही हैं। ऐसे समय में भारत की सभ्यता और जीवन-पद्धति को स्थायित्व प्रदान करनेवाले मानदण्डों व मूल्यों पर ध्यान देना अनिवार्य है। अपने पांच हज़ार वर्ष के इतिहास के पश्चात् भारत में पुन: एक नवीन और निर्णायक पुनर्जागरण हो रहा है। विश्व-इतिहास के संदर्भ में किसी राष्ट्र की प्रगति का आधार उसकी राजनीतिक अथवा आर्थिक शक्ति नहीं वरन् एक विश्व-समाज का निर्माण कर सकने में सक्षम सभ्यता के कुछ सर्वमान्य मापदण्डों की ग्राह्यता और प्रसार-क्षमता है। भारत के लिए 'धर्म' असम्बद्ध परिकल्पना नहीं वरन् भगवद्गीता के अनुसार 'योग कर्मसु कौशलम्' है यही भारतीय व्यक्ति और भारतीय समाज का लक्ष्य है। चिन्तन का सत्य या जीवन विधि का आधार है व्यष्टि और समष्टि के लिए समान रूप से मान्य है। ब्राह्मण और बौद्ध तान्त्रिकवाद का समन्वय संसार का अन्तिम गम्भीर भारतीय भाष्य है और आधुनिक भारत के मन-मस्तिष्क तथा पूजा-संस्कार पर इसका प्रभाव वैदिक चिन्तन के प्रभाव से अधिक है इस समन्वय में जीवन-विधि अथवा 'शक्ति' में निरन्तर होनेवाले परस्पर विरोधी परिवर्तनों और रूपान्तरों को महामाया और महाशक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विश्व-संबंधी तान्त्रिक दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक है। सृजन और संहार के अस्थायी अनिश्चित दोनों—प्राकृतिक विकास और इतिहास की घटनावली—की शाश्वत परयात्मकता को तान्त्रिक दृष्टिकोण द्वारा एक नवीन निर्भीक और सुदृढ़ समर्थन प्राप्त हुआ है। मनुष्य समाज युग और इतिहास सभी महामाया के विभिन्न निरन्तर परिवर्तनशील स्वरूप हैं। महामाया ही ब्रह्मांड और संसार मनुष्य का मोह और बन्ध तथा प्रज्ञा और मुक्ति सब कुछ है। शक्ति मानव का नारी और माता का रूप है जो मानवात्मा के दृष्टिकोण से सबसे बड़ी समस्या और खोज तथा अन्तिम चेतना और सिद्धि है। शक्ति का दीप्तिदेनेवाला युग है उसकी समस्त सीमा—प्रकृति जीवन

और सभ्यता की विशाल रूपावली किन्तु इसके पीछे उसका छिपा हुआ मूल है—परात्पर, गूढ़ रहस्य। इस प्रकार, भारतीय मन और मस्तिष्क परात्परता व सर्वव्यापिता के दो छोरों के बीच गतिशील रहते हैं तथा इतिहास की उथल-पुथल और विशृंखलता के बीच भी प्रसन्नता और निर्मलता की प्राप्ति करते हैं। भारतीय इतिहास मानव मस्तिष्क और प्रकृति की शक्तियों के विलक्षण समतुलन और लयबद्धता का एक उदाहरण है तथा इन्होंने बार-बार सार्वभौम और परात्पर मूल्यों को संघर्षों और विरोधों तथा जीवन के दुर्गम पथ से अधिक श्रेष्ठ और मुक्तिदायी शक्ति से सम्पन्न सिद्ध किया है।

इतिहास का भारतीय दर्शन

पश्चिमी घाट में भाजा स्थित एक बौद्ध विहार में एक प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई है, जो उत्तर-मौर्य अथवा शुंग-पुनर्जागरण (दूसरी अथवा पहली शताब्दी ईसापूर्व) की है। इसमें इतिहास की भारतीय धारणा अत्यन्त कौशलपूर्ण ढंग से निहित है। वैदिक आर्य संस्कृति ने धर्मानुसार शासन करनेवाले चक्रवर्ती सम्राट का भारतीय राजनीतिक आदर्श प्रस्तुत किया था। इसीसे बौद्धधर्म ने संसार के आध्यात्मिक सम्राट (धार्मिक धर्मराज) का आदर्श स्थापित किया। पालि-साहित्य में इस प्रकार सर्वजयी पार्थिव सम्राट के मूला दश हैं कथाओं में वर्णित दल्हनेमि और महासुदस्सन तथा ऐतिहासिक अशोक। असंभव नहीं है कि अशोक (२७३–२३२ ईसापूर्व) ने अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण कराया। उल्लेख है कि 'दिव्यावदान' में मौर्य-साम्राज्य को 'चतुर्भागचक्रवर्ती धार्मिकधर्मराज' कहा गया है। ब्राह्मण-साहित्य में इन्द्र और मान्धाता सर्वजयी पार्थिव शासक के मूलादर्श हैं। भाजा की उभरी उकेरी मूर्ति में बुद्ध अथवा उनके पार्थिव प्रतिरूप दल्हनेमि महासुदस्सन अथवा धर्माशोक एक हाथी पर आरूढ़ हैं और एक मंत्री साथ है (हाथी और मंत्री दोनों परम्परानुसार राजकीय सम्पत्ति अथवा 'चक्ररत्न' हैं), यह पृथ्वी पर धर्म के निबाह के लिए धर्मराज की राजकीय शक्ति का प्रतीक है। आगे बढ़ते हुए हाथी ने एक विशाल वृक्ष को उखाड़ दिया है जिसके नीचे कुछ मानव दब गए हैं इसके फलस्वरूप मूर्ति के ऊपरी बायें कोने पर काफी अशान्ति है। बुद्ध और उनके वाहन के विशाल आकार तथा गति की उग्रता उनकी आध्यात्मिक और पार्थिव शक्ति के प्रतीक हैं। नीचे भारतीय आर्यों का प्रारम्भिक आवास तथा बाद में महान विजेता का अन्तिम आनन्दधाम उत्तरकुरु प्रदर्शित है जहाँ पूर्ण सुख सौन्दर्य और तृष्णा-मुक्ति है। यहाँ सुखी स्त्री पुरुष मोद-मग्न हैं राजा का दरबार व छोटीलकार और अनेक हैं तथा विलास वनसमूह है और सबके मध्य में कल्पद्रुम है—पार्थिव जीवन के इस जीवन्त और सहज दृश्य में सारी आकृतियाँ अत्यन्त लघु और तुच्छ हैं। नीचे बायें ओर नरभक्षी नदी पशुमुखी मूर्ति-सी खड़ी है, क्योंकि दयावान शासक ने उसे परास्त कर दिया है।

भाजा की मूर्ति से अधर्म पर धर्म की विजय रूप और माया के संसार के मिथ्यात्व तथा धर्म और कालातीत के शाश्वत साम्राज्य (स्वर्ग) में सुख की मूल तात्त्विक धारणाओं का स्पष्ट वर्णन है। भारतीय दर्शन के अनुसार धर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते

पाले जीवन के सभी स्तर—वनस्पति, पशुआत्मा, वैताल, मानव राजा और देवता सभी यहां प्रदर्शित हैं। अगणित छोटी-छोटी जीवित आकृतियां इस प्रकार उकेरी गई हैं कि मायावी संसार की जननेन्द्रिय की प्रतीक आकारहीन सामान्य शिला से क्षीण और क्षणिक बुलबुलों के रूप में ऊपर उठती और अपनी सम्पापूर्ति करती-सी मालूम पड़ती हैं तथा इस प्रकार सृजन की रहस्यात्मकता और इतिहास के प्रवाह को संकेतित करती हैं। वैदिक, उपनिषदिक और बौद्ध कल्पनाएं यहां संयुक्त होकर मानव-जीवन की एक नैतिक, और अलौकिक व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। जीवन में निहित विभिन्न स्तरों वर्गों और रूपों के सुख और दुःख के निरन्तर गतिशील चक्र का सक्षम पार्थिव और प्रखर अंकन यहां हुआ है। यह दक्षिण के मूल और प्राचीन द्राविड़ शिला-मूर्तिशिल्प की प्रभावशाली पार्थिवता व शक्ति तथा उत्तर के भारतीय—आर्यमन्दिर—मूर्तिशिल्प की संयति व मर्यादा के प्रारम्भिक समन्वय का प्रथम उदाहरण है।

इतिहास के भारतीय दर्शन में युगों और मनु अथवा मानव की कल्पना की गई है। वे स्वयं एक विश्वीय व्यवस्था के अनुरूप अपने उचित नियमों का निर्धारण करते तथा अनन्त देश और काल में निरन्तर एक-दूसरे के पीछे चलते हैं। पुराणों के अनुसार, ये चक्रीय तरंग धर्मशास्त्रों के कुछ मानदण्डों के अनुसार उठती हैं और मानदण्डों के समान ही सत्य हैं। विश्व-व्यवस्था की इस अनन्त चक्रीय प्रक्रिया में भारत ने कृत त्रेता द्वापर और कलि नामक ऐतिहासिक युगों के प्रवाह की कल्पना करके एक नैतिक और सांस्कृतिक उद्देश्य का समावेश किया है। इन युगों में क्रमशः धर्म का ह्रास परिशुद्धता और पूर्णता से अव्यवस्था और विशृंखलता की ओर होता है और तब फिर नया चक्र आरम्भ हो जाता है। कृत त्रेता द्वापर और कलि वास्तव में भारतीय पासे के खेल में चार दांवों के नाम हैं। वृष-वृषभ अर्थात् आदर्श धर्म कृतयुग में अपने चारों पैरों पर दृढ़तापूर्वक खड़ा रहता है *किन्तु युगों के प्रवाह के साथ-साथ धर्म का ह्रास होता जाता है यहां तक कि कलि* युग में वह केवल एक पैर पर खड़ा गिरने गिरने को हो जाता है तथा मानव और उसकी संस्कृति पतन की गहराइयों में होते हैं। कलि का अर्थ युद्ध अथवा कलह भी है। विष्णु पुराण में की गई कलियुग के समाज की कल्पना कितनी सत्य है। समाज ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जब सम्पत्ति से पद प्राप्त होता है गुणों का एकमात्र स्रोत धन रह जाता है। पति पत्नी का एकमात्र बंधन वासना बनती है असत्य जीवन में सफलता का मार्ग धोखाधार प्रसन्नता प्राप्ति का एकमात्र साधन रह जाता है तथा आन्तरिक धर्म का स्थान बाह्य आडम्बर ग्रहण कर लेते हैं। प्राचीन धारणा के अनुसार विष्णु ने मानवता को धर्म का पाठ पढ़ाने के उद्देश्य से त्रेतायुग में रामचन्द्र का और द्वापरयुग में कृष्ण का अवतार लिया था। कलियुग में विष्णु का कल्कि अवतार अभी तक नहीं हुआ संसार की अधर्म और युद्ध से रक्षा करने के लिए यह अवतार होगा। चारों युगों के पूर्णचक्र को महायुग कहा गया है—जो ब्रह्मा के लिए केवल एक दिन एक कल्प है। प्रत्येक कल्प में एक काल्पनिक मनु होता है। प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ब्रह्मा संसार का पुनर्निर्माण करते हैं, कल्प के दौरान विष्णु संसार की रक्षा करते हैं और अन्त में शिव इसका विनाश करते हैं। ब्रह्माण्ड का सृजन नहीं होता केवल समय की गतिमत्ता और अन्तरिक्ष की अनन्तता

में परब्रह्म के प्रकटन और गोपन, उत्कर्ष और अन्तर्वर्तन के लक्षण होते हैं।

युगों की व्यापक वीथियाँ

समय की इतनी आश्चर्यजनक वीथियाँ इतिहास के पाश्चात्य दर्शन में नहीं हैं। मत्स्यपुराण में ब्रह्मा ने अपने विषय में कहा है : मैं ब्रह्मा हूँ, नारायण हूँ, मैं सबका जनक और संहारकर्ता हूँ। इन्द्र के रूप में मैं देवराज शक्र हूँ। मैं काल चक्र हूँ। मैं वह योगी हूँ जो युगों को बनाता है और फिर उनका अन्त कर देता है। मैं विश्व के सभी पदार्थों को भस्म कर देता हूँ। मेरा नाम काल है।

—मत्स्यपुराण

ब्रह्म महाकाल है। अनन्त है। ब्रह्माण्ड और ऐतिहासिक घटनाएँ आनुभविक हैं, [illegible] हैं, समय और स्थान की दृष्टि से सीमित हैं, अर्थात् मायावी हैं। किन्तु नश्वर और नैमित्तिक बातें अस्तित्वहीन अथवा मायावी नहीं होतीं, कारण यह ब्रह्म का सृजनात्मक पक्ष और इसलिए सत्य व अर्थमय है। भागवतपुराण में उद्धृत भक्ति-वचन में ब्रह्म की अद्वितीय माया का मूल तथा उसकी पार्थिव लीलाभूमि संसार की व्यवस्था का आधार उसकी लीला को माना गया है। माया का सिद्धान्त ज्ञान और अज्ञान, अविद्या और सत्य, समय और अनन्तता का अन्तर स्पष्ट करता है। इसका आशय यह नहीं है कि मानव युगों अथवा इतिहास के प्रवाह को भ्रम समझे अथवा मानव-समाज में धर्म और अधर्म के सामंजस्य के प्रति उदासीन रहे। किन्तु इसका आशय यह अवश्य है कि युगों, उनके इन्द्रों, मनुओं और महापुरुषों को असत्य क्षणिक बुलबुले समझा जाए, जो समय के अनन्त अग्रगामी प्रवाह में टूट जाएँगे। ब्रह्माण्ड और इतिहास की उथल-पुथल के पीछे अप्रकट और अपरिवर्तनीय ईश्वर है—जीवन और इतिहास के समग्र प्रवाह का अविनाशी केन्द्र ईश्वर है। माया के प्रकट पर्दे के पीछे छिपा ईश्वर अप्रकट रहता है। "हे अर्जुन, मैं अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्राणिमात्र को जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।" (भगवद्गीता ७ २४ २६)। भारतीय दर्शन में शंकराचार्य का, जो अपने अद्वैतवादी दर्शन के आधार पर इतिहास में किसी सत्य के दर्शन नहीं करते वरन् उसे केवल भ्रान्ति मानते हैं, इतिहास-विरोधी दृष्टिकोण नहीं है। पुराणों और इतिहासों में इतिवृत्त भ्रम नहीं है किन्तु वह वस्तुतः सत्य भी नहीं है।

समय में चक्रों का मानवीय रूप

इतिहास के भारतीय दर्शन के अनुसार इतिहास मानवता का जीवन चरित नहीं है और महापुरुषों का जीवन-चरित तो कतई नहीं है। ब्रह्माओं (सर्गों), इन्द्रों (जन देवताओं) और मनुओं (युगों) की परम्परा अनन्त है किन्तु इतिहास के भारतीय दर्शन में महत्त्व इनका नहीं वरन् समय के चक्र में क्रम से निरन्तर स्पन्दनों का है। अनन्तता का सर्वव्यापक पक्ष अर्थात् क्रम युग-युग तक स्पन्दित है। इस प्रकार, युगों के व्यापक हिम-शीत-प्रसार में मानव जाति के मूल्य और महत्त्व की तुच्छता भर जाती है। कारण समय और अनन्तता के इस तात्त्विक निरूपण द्वारा व्यक्ति, राष्ट्र और मानवता सभी

अपनी सांसारिक अवस्थाओं का एक विश्वास प्राप्त कर सकते हैं। मानव के संक्षिप्त इतिहास के सीमित क्षेत्र में जिसमें अनेक विलक्षण परिवर्तन हो चुके हैं यह भारतीय धारणा कि मानव उत्कर्ष से पतन और पूर्णत्व से अप्रतिष्ठा तथा पतन और अप्रतिष्ठा से उत्कर्ष और पूर्णत्व की ओर निरन्तर चलता रहता है मानव की महत्त्वाकांक्षा और उग्रता कुंठा और भ्रमणा को कुन्द कर देती है। समाज में धर्म और अधर्म सत् और असत् के निरन्तर मन्द-गतिशील चढ़ाव-उतार एक ऐसे सीमित प्राणी के पवित्र आशावाद और शान्तिपूर्ण वैराग्य से संतृप्त हो जाते हैं जो एक भव्य विश्वीय स्पन्दन के समक्ष नत है। भारतीय सभ्यता समय को मानवता और विश्व-संघटन के रूप में देखती है। यह आशावाद और निराशावाद दोनों को न मानकर वस्तुओं को सुन्दरतर बनाने की आवश्यकता तथा आशा को महत्त्वपूर्ण मानती है।

संसार और उसकी प्रगति के प्रवाह तथा सत् और असत् के चक्रों के पीछे महान शिव हैं जो आकाश और समय के अन्तर्गत प्राणियों मानवों देवताओं और दानवों को एकत्र करके अपने भीतर विनष्ट कर देते हैं। शिव के साथ सार समय और माया हैं। शिव का ताण्डवनृत्य जो रौद्र एवं सुन्दर दोनों है वास्तव में युगचक्र है इतिहास का प्रवाह है। उनके नृत्य के पदचालन में इतिहास की जय-पराजय निहित है, किन्तु इनके साथ समाधिस्थ शिव भव्य निर्विकार और सर्वशक्तिमान हैं—भारतीय आदर्श के विशेष प्रतीक। दार्शनिक धारणा की भांति शिव नटराज के कलात्मक निरूपणों में भी शिव के ताण्डव के जो ब्रह्माण्ड में पदार्थ और ऊर्जा की चक्राकार गति का प्रतीक है रौद्र तथा समाधि की शान्ति में गम्भीर विलयन है। शिव-ताण्डव भारतीय धर्म और कला का एक महान प्राचीन अभिप्राय है। हड़प्पा की नर्तकी की मूर्ति आर्यपूर्व स्थानीय देवता की जो बाद में शिव में समन्वित हो गए सक्रियता का प्रतीक थी। यदि इस मूर्ति को छोड़ दिया जाए तो संस्कृत साहित्य में शिव-ताण्डव के प्राचीनतम निर्देशों में से एक कालिदास (लगभग ४००–४१५ ईसवी) के मेघदूत (१ ३६) में मिलता है। संध्याकालीन महाकाल नृत्य के दौरान शिव के अनेक उठे हुए बाहु वेग से एक घेरे में चक्कर खा रहे थे मानो वृक्षों का कोई झुरमुट हो। शिव के भक्तों ने अपनी वैचारिकता और भक्ति के अनुसार अलग अलग युगों में अलग अलग प्रकार से शिव के विभिन्न नृत्यों—प्रदोष ताण्डव और नादान्त की व्याख्या की है किन्तु इतिहास की अतीत गति को समझ, मानवता और सभ्यताओं के उत्थान में उत्कर्षों अपकर्षों और जय पराजयों पर विचार तथा मानवता के हृदय के भीतर शिव के लयात्मक नृत्य की कल्पना-मात्र से शान्ति और निर्मलता की अनुभूति होती है। शिव की विभूति की भांति उनकी नृत्य-गति भी तत्त्वज्ञान विज्ञान और इतिहास का भव्य समन्वय है और भारत में भक्तों दार्शनिकों और कलाकारों को समानरूप से प्रभावित करती है।

शिव के नृत्य के समान ही काली अथवा चामुण्डा और भगवती का नृत्य है जो भारतीय कला में उतनी ही भव्यता और सुन्दरता के साथ उस महान शक्ति को प्रदर्शित करता है जिसके द्वारा मानवात्मा की क्रियात्मकता और विरक्ति के प्रारम्भिक और मूल-मन्त्र एवं के अनुरूप ब्रह्माण्ड का सृजन पालन और संहार होता है। इसी प्रकार, महाकाल

बौद्धधर्म में हेवज्र और हेरुक की उत्कृष्ट नृत्य मूर्तियों का सृजन हुआ। देश की जटिल और व्यापक मूर्तिकला के कारण इस प्रकार की नृत्य-मूर्तियों के अनेक प्रकार सर्जित हुए। प्रकृति और इतिहास में जीवन शक्तियों के चाक्रिक विकास और अन्तर्वलन की भारतीय धारणा की, जो मानवात्मा के प्रकाशन और पोषण की प्राथमिक चाक्रिक प्रवृत्तियों के समान है, श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति इन मूर्तियों में है। मानव सनातनत्व की प्रतिध्वनि है। काल का प्रवाह और इतिहास के परिवर्तन शिव के बुलबुले हैं, वैयक्तिक और सामूहिक सत्ताओं और प्रकाशनों के मायावी संसार के क्षणिक भ्रम हैं तथा एक निरन्तर लय या नटराज के नृत्य का उद्घाटन करते हैं। एक विशिष्ट पौराणिक आख्यान भी है जो कालिका पुराण में काव्यात्मक शैली में वर्णित है। शिव की पत्नी सती ने स्वयं अकस्मात् मृत्यु का वरण कर लिया है। शिव उनके शव को कंधे पर रखे दुःख से पागल संसार-भर में दम भरते हुए जोर-जोर से चल रहे हैं। देवगण चिन्तित हुए कि शिव यदि इसी प्रकार दम भरते रहे तो विश्व का क्या होगा। उन्होंने शव के खण्ड-खण्ड कर दिए। फलतः खण्ड एक-एक करके पृथ्वी पर गिरने लगे। शोकाकुल शिव के पग जहाँ-जहाँ पड़े वहीं पर सती के पवित्र शव का खण्ड भी गिरा और वही स्थान तीर्थस्थल बन गया। इस प्रकार निर्मित तीर्थ भारत के कोने-कोने में बलूचिस्तान में हिंगुल से असम में कामाख्या तक और हिमालय में अम्बादेवी से दक्षिण में कुमारिका तक बिखरे हैं। जहाँ-जहाँ शिव के पाँव पड़े वहाँ पृथ्वी धंस गई और वह पूर्व में आज भी काँपती है किन्तु शिव की यंत्रणा से मानवता को लाभ हुआ, कारण शिव के मार्ग पर स्थित बावन तीर्थ-स्थानों में उतरकर सती वहाँ की धरती को पवित्र करती हैं तथा सभी राष्ट्रों को अनन्त वरदान देती हैं।

एक अन्य हिन्दू पौराणिक कथा के अनुसार, आदिपुरुष विष्णु हैं। आधुनिक युग में, जिसे वाराहयुग कहा जाता है विष्णु बार-बार वाराह अवतार लेकर प्रलय और विनाश से देवी पृथ्वी की रक्षा करते हैं। स्थान और काल के अन्ध निष्ठुर प्रवाह में पृथ्वी बार बार प्रलय और विनाश में फंसती है। विष्णु बार-बार उसकी रक्षा करते हुए प्रत्येक कल्प में उबारने का वचन देते हैं 'मैं तुम्हें सदैव (अपने बाहुओं पर) इस प्रकार उठा लूंगा।

इतिहास का चाक्रिक दृष्टिकोण असत्य भ्रम को इसी प्रकार समाप्त करता है। मानव के इतिहास और ब्रह्माण्ड के पौराणिक इतिवृत्तों के मूल्य को धारणाओं एवं उत्कृष्ट निर्लिप्तता और सुदृढ़ उदासीनता में अतिरंजन पूर्वक अनुपस्थित है। ब्रह्म वैवर्तपुराण में कहा गया है "अगणित पुनर्जन्मों के चक्र में निहित जीवन स्वप्न के दृश्य के समान है। आकाश के देवता मूक वृक्ष और पाषाण भी इस स्वप्न में छायामात्र हैं। किन्तु काल समय-विधान को लागू करता है। समय द्वारा नियुक्त काल सबका स्वामी है। स्वप्न के प्राणियों के सत् और असत् बुलबुलों के समान नश्वर हैं। सत् और असत् अनन्त चक्र में बार-बार आते हैं। यही कारण है कि विवेकशील प्राणी सत् और असत् दोनों से निर्लिप्त रहते हैं। विवेकशील प्राणी प्रत्येक वस्तु से निर्लिप्त रहते हैं।" दर्शन की भाँति, इतिहास में भी परम निर्लिप्तता की शिक्षा मिलती है।

यूरेशियाई पाषाणकालीन क्षेत्र और प्रसार – मार्ग



अध्याय १

सिन्धु-संस्कृति

सिन्धुवासियों का व्यापार और ऐश्वर्य

पाँच हजार वर्ष पहले सिन्धु घाटी में एक अत्यन्त समृद्ध और विकसित सभ्यता का उदय हुआ था। इसका विस्तार शिमला की पहाड़ियों से लेकर काठियावाड़ तक था। यह भू भाग पुराने जलवायु क्षेत्र में था और पानी की कमी आज के समान न थी। तब अरब सागर का मानसून ईरान से लेकर पंजाब और गुजरात तक सारे क्षेत्र पर पानी बरसाता था। सिन्धु, मिहरान सरस्वती और दृषद्वती इन चार नदियों में यथाक्रम बाढ़ आती थी और इसी कारण अनेक आबादियों की कृषि सम्पत्ति और वाणिज्य की उन्नति होती थी। इनमें दो बड़े नगरों मोहनजोदड़ो (जिसका शाब्दिक अर्थ है मुर्दों का टीला) और हड़प्पा तथा पैंतीस छोटे शहर जमीन से खोदकर निकाले जा चुके हैं।

सिन्धु मिहरान सभ्यता ने अनेक रास्तों के जरिये दजला घाटी के साथ व्यापारिक सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित किया था। कुछ तो स्थल रास्ते थे जो आधुनिक कराची के पास के मकरान और लासबेला मुला दर्रा और बोलन दर्रे कूची झील और गाज घाटी से होकर जाते थे। इसके अलावा समुद्री रास्ता था जो फारस की खाड़ी के किनारे-किनारे जाता था। भारत उपमहाद्वीप की सीमाओं के भीतर तथा बाहर सुमेर एलाम और अक्काद के साथ खूब व्यापार होता था। कुछ विद्वान वैदिक साहित्य के असुरों को असीरियावासी या असुर ही मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार असीरियावासियों ने अपनी आबादियां पूर्व में मगध तक बसा ली जान पड़ती थीं। भारत से ऊनी और सूती कपड़े मिट्टी के कलात्मक बर्तन तथा सोने और चांदी के आभूषण भेजे जाते थे। सुमेरिया और एलाम के अनेक स्थानों पर मोहनजोदड़ो जैसी अनेक भारतीय मुहरें मिली हैं जिनसे पता चलता है कि पश्चिम के साथ भारत का व्यापार-सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से है। दूसरी ओर चान्हू-दड़ो में एक बालों की पिन मिली है जो एजियन सागर के द्वीपों में पाई गई पिनों के समान है। लगता है कि सिन्धु घाटी की स्त्रियों ने सुमेरियाई केशसज्जा का ढंग अपना लिया।

सोने चांदी हाथीदांत और पत्थर के आभूषण घरेलू तश्तरियां प्याले, बर्तन और शृंगारदान तथा बच्चों के लिए अनेक प्रकार के मिट्टी के बनाए हुए खिलौने इस बात के सबूत हैं कि सिन्धु घाटी की सभ्यता अत्यन्त विकसित और विलासमय थी। पत्थर की मूर्तियां गढ़ने और धातुओं की चीजें ढालने की कलाओं का काफी विकास हो चुका

था। मोहनजोदड़ो में मिली नर्तकी की कांस्य मूर्ति में लय और गति का अद्भुत समावेश है यह प्रभाव अंगों के छरहरेपन और तीखे मस्तक से और अधिक उजागर हो उठा है। यह शायद मेसोपोटामिया के किसी नगर की वारांगना की मूर्ति है। मोहनजोदड़ो में जल और स्थल परिवहन की विशेष सुविधाएं मौजूद थीं जिनके कारण यह एक विश्वनगर बन गया था। कम से कम प्रमुख जातियों के लोग यहां बसकर रहते थे प्रोटोआस्ट्रेलियाई, भूमध्यसागरीय मंगोल और अल्पाइनी।

सिन्धु घाटी के शासकों का क्षेत्र भारत पर प्रभुत्व किस सीमा तक था यह ज्ञात नहीं है। सिन्धु सोना और कीमती पत्थर मैसूर से आते थे और बारहसिंगे के सींग कश्मीर से। तांबा और सीसा राजपूताना से आता था। चांदी अवश्य ही भारत के बाहर—ईरान आर्मीनिया अथवा अफगानिस्तान—से आती रही होगी। सम्भव है कि आर्यों के आगमन के समय सिन्धु घाटी के निवासियों का शासन सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिम की भारत की नदी घाटियों पर रहा हो। इन्द्र ने सिन्धु के समीप रहनेवाले राक्षस वृत्र का नाश करके जलीय मार्गों को स्वतन्त्र किया था। उन्होंने बल की हत्या की और पर्वतों को पार करके सोने के खजाने को पा लिया।

सिन्धु की मुहरें

खुदाई से कुछ अत्यन्त कलापूर्ण मुहरें मिली हैं जिनपर पशुओं के चित्र अथवा चित्रात्मक लिखावट अंकित है। इनसे सिन्धु घाटी सभ्यता का एक अत्यन्त रोचक पहलू उद्घाटित हुआ है। मुहरों का उद्देश्य क्या था इसपर विद्वान एकमत नहीं हैं। उनपर अंकित लिखावट को भी नहीं पढ़ा जा सका है। फिर भी सेलखड़ी चीनी मिट्टी हाथीदांत और मिट्टी की बनी हुई हजार से अधिक मुहरें पाई गई हैं जो कला की उत्कृष्टतम नमूना है। मोहनजोदड़ो की तरह मुहरें एलाम और मेसोपोटामिया में भी प्राप्त हुई हैं। दजला घाटी की एक बालीदार लिखावट मोहनजोदड़ो में मिली है। दजला और फरात की घाटी के साथ व्यापार के फलस्वरूप विलास-सामग्रियों आभूषणों और सुसंस्कृत नगरजीवन की प्रवृत्तियों का आदान प्रदान तो हुआ ही साथ ही देवताओं और पौराणिक कथाओं का आदान प्रदान भी हुआ। सिन्धु घाटी की मुहरों से कम से कम दो मेसोपोटामियाई कथाओं अथवा देवताओं के आयात का पता लगता है। एक तो है तीन सिरोंवाला आदि-सांड जिसे पूर्वज माना जाता था। दूसरा है मेसोपोटामियाई नायक गिल्गामेश जो अपनी अति मानवीय शक्ति से जंगलों के बड़े बड़े जानवरों को आगामी से मारकर संसार को आदमी के रहने योग्य सुरक्षित बना सकता था। ऐसा मालूम होता है कि सिन्धु घाटी की मुहरों का प्रयोग व्यापार में और माल व सम्पत्ति की सुरक्षा में हुआ करता था। ईराक की एक प्रागैतिहासिक जगह पर एक सूती कपड़ा मिला है जिसपर सिन्धु घाटी की मुहर लगी हुई है। जब माल को बड़े-बड़े बण्डलों में बांध लिया जाता था तो उनपर सुरक्षा के विचार से मिट्टी के लेबिल लगा दिए जाते थे और उनपर मुहरों की छाप होती थी। इन मुहरों का उपयोग तालिया अथवा बर्तनों के मुंह बन्द करने और अमीर-गरीब सभी के घरानों के दरवाजे बन्द करने में भी किया जाता था। लगता है कि हर आदमी के पास ऐसी

मुहरें थीं और हर आदमी उनका प्रयोग करता था।

मुन्डर में मिली हुई कुछ मुहरें शाहीतुम्प में मिली हुई मुहरों के बिल्कुल समान हैं। मुहरों की बनावट और मिट्टी की किस्म से पुरातत्त्वविद् इस प्राचीन सभ्यता के विभिन्न स्तरों को लगभग ठीक-ठीक अलग कर पाए हैं। एकमत होकर वे इस सभ्यता का समय ३२५०—२७५० ईसापूर्व मानते हैं। क्वेटा, अमरी और झोब सभ्यता-केन्द्र मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता से पहले के हैं। नाल शाहीतुम्प मुन्डर और झांगर मोहनजोदड़ो-हड़प्पा सभ्यता के उत्तरकालीन केन्द्र हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता पश्चिम में उत्तरी बलूचिस्तान और सतलुज नदी के किनारे-किनारे, उत्तर में हिमालय की निचली पहाड़ियों तक और पूर्व में बहावलपुर में सरस्वती नदी के किनारे तक फैली थी।

अतिविकसित नागर समाज की सुविधाएं

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा दोनों नगर काफी बड़े थे और दोनों में सुदृढ़ किलेबन्दी की गई थी। एक राजधानी सिन्धु के तट पर थी और दूसरी रावी के तट पर और दोनों नदी-परिवहन द्वारा परस्पर संयुक्त थीं। दोनों जगहों में विशाल इमारतें या बड़े-बड़े कमरों की कतारोंवाले अन्नागार पाए गए हैं। इससे परिणाम निकाला जा सकता है कि वहां केन्द्रीय प्रशासन था। ये अन्नागार शायद शाही रोम के अन्नागारों जैसे थे जहां हजारों मजदूर अन्न को कूटने-पीसने का काम करते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा दोनों जगहों में नदियों की बाढ़ से सुरक्षा के लिए बांध बनवाए गए थे। मोहनजोदड़ो की खुदाई से पता चलता है कि शताब्दियों तक वहां जल-वितरण प्रणाली नालियों की व्यवस्था और सड़कों का सुप्रबन्ध रहा है। सड़कों पर सामने की ओर मकानों के आगे के हिस्से सुनियोजित ढंग के थे। इन सबसे पता चलता है कि वहां एक स्थायी नागर जीवन था और अत्यन्त कुशल प्रशासन था जिसपर विनाशकारी बाढ़ों का कोई प्रभाव न पड़ता था। हर मकान में एक कुआं और एक स्नानागार था जिसकी नालियां सड़कों की मुख्य नालियों तक पहुंचती थीं। शहर के विभिन्न भागों की रखवाली का भी प्रबन्ध था। वहां सार्वजनिक स्नानागार, सराय और सभाभवन थे जिनसे शायद यही पता चलता है कि व्यापारी का एक बहुत बड़ा भाग व्यापार करता था और किसी जगह पर स्थिर नहीं रहता था। सिन्धु, रावी, सतलुज और सरस्वती की घाटियों में खूब पानी था जिसकी वजह से घने जंगल उग आए थे। इन जंगलों से ईंधन प्राप्त होता था जो बड़े पैमाने पर ईंटें पकाने के काम आता था। ईंटों के बने हुए सुन्दर मकान भारत में हुए मकरान बलूचिस्तान में—जहां हजारों व्यापारी और सौदागर आया जाया करते थे—सप्रमाण आकर इसकी घाटी में प्रचलित हुए थे।

सिन्धु और स्थानिक संस्कृतियों के संस्पर्श

रावी सरस्वती और दृषद्वती नदियों की ऊपरी घाटियों में भारतीय ग्रामसंस्कृति का प्रसार था और सिन्ध-बलूचिस्तान वाले की संस्कृति ने इसे ग्रहण किया तथा कहीं-कहीं उसकी सीमाओं को लांघकर भी अपना प्रसार किया। सरस्वती और दृषद्वती (दोनों

नदियां अब सूख चुकी हैं) के बीच की घाटी में (जिसे बाद में भारतीय आर्यों ने पवित्र ब्रह्मावर्त का नाम दिया) दो अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष मौजूद हैं। गंगा-यमुना के दोआबे में स्थित कोटला निहांग और पश्चिम में सौराष्ट्र के रंगपुर व लिम्बडी नामक स्थानों में हड़प्पा संस्कृति की उपस्थिति का पता चला है। बीकानेर में सरस्वती और दृषद्वती की घाटी में अनेक नवीनतम पुरातात्त्विक खोजें हुई हैं और लगभग सौ प्रागैतिहासिक स्थानों का पता चला है। पुरातत्त्वविद् और क्षेत्र कार्यकर्ता एम० एस० वत्स ने इनको निम्नलिखित श्रेणियों में रखा है (१) प्राविकालीन बस्तियां जो हड़प्पा मोहनजोदड़ो नगर राज्यों की संस्कृति की प्रतीक हैं। (२) हड़प्पा की कई बस्तियां जिनके बर्तनों की बनावट की तुलना में थोड़ा अन्तर है। यह हड़प्पा संस्कृति की पूर्वीय अवधि है। (३) अनेक बस्तियों में चित्रित बर्तन तथा उसी प्रकार के दूसरी चीजें पाई गई हैं जो हड़प्पा संस्कृति तथा उसके बाद की संस्कृति के बर्तनों से बिल्कुल भिन्न हैं। ये जगहें दक्षिणी और पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश में हैं। पिछले दिनों में इनका महत्त्व काफी बढ़ गया है और इन्हें प्रभाव युग को जोड़नेवाली कड़ी के रूप में समझा जाने लगा है। अनुमान है कि यह संस्कृति ईसा से एक हजार वर्ष से पांच सौ वर्ष पूर्व तक फूली फली थी। (४) सबसे अन्त में अपेक्षाकृत बड़ी जगहों में एक और प्रकार की संस्कृति का पता चला है। इसकी विशेषताएं हैं तरह-तरह के मजबूत बर्तन जिनपर लाल जमीन पर काले रंग से (और कभी-कभी चटक लाल रंग से) चित्रित किया गया है। यह संस्कृति शायद ईस्वी सन् की पहली शताब्दियों में फली-फूली थी। निस्सन्देह इस क्षेत्र में और अधिक खुदाई करने पर सिन्धु घाटी और गंगा घाटी की संस्कृतियों को मिलानेवाली अन्य कड़ियां भी प्राप्त हुईं।

दोनों संस्कृतियों के क्षेत्र गंगा-यमुना के दोआबे में एक दूसरे को काटते हैं। भरत सम्राट् सुदास और दासों अथवा दस्युओं के बीच लम्बे-लम्बे समय तक लड़ाइयां हुई थीं। ऋग्वेद में दास छोटी नाक और 'काले रंग वाले' विचित्र भाषा भाषी और लिंग पूजक के रूप में वर्णित हैं। ये शायद सिन्धु घाटी के निवासी थे जो मूलतः भूमध्य-सागरीय जाति के थे और ईरान से यहां चले आए थे। दस सम्राटों का युद्ध (दाशराज्ञ) परुष्णी अथवा रावी पर हुआ था जिसके तट पर विशाल प्राचीन नगर हड़प्पा स्थित था। हड़प्पा को हरियूपिया ही समझना चाहिए, जिसमें ऋग्वेद के अनुसार वर्चिवस्त निवास करते थे जो बाद में भारतीय आर्य-जातियों द्वारा पराजित हुए। ऋग्वैदिक बस्तियां क्रमशः सिन्ध से अंग और कश्मीर से मालवा और राजपूताना तक फैल गईं। कौषीतकी उपनिषद् में विन्ध्याचल पर्वत का जिक्र है और सरयू तथा पूर्व की सदानीरा (राप्ती या गण्डक) नदियों का जिक्र बार-बार आया है। मध्यदेश वैदिक साम्राज्य का केन्द्र था जहां कुरु और पांचाल शासन था। निरन्तर दुस्साहस की प्रवृत्ति के कारण आर्य आक्रामकों या पर्यटकों का सम्पर्क और कभी कभी तो रक्तपातमय संघर्ष लगातार यहां के मूल निवासियों—दास-दस्युओं और निषादों के साथ होता रहता था।

वैदिक देवों के मूल रूप

सिन्धुनिवासियों और आर्यों के बीच रक्तपातमय युद्धों के बावजूद शान्तिपूर्ण समागम अवश्य स्थापित होता रहा होगा। इसी कारण भारतीय सभ्यता ने सिन्धु निवासियों के पशुओं द्वारा घिरे तीन चेहरोंवाले निराकार देवता शिव पशुपति अथवा शिव-योगीश्वर की पूजा करना सीख लिया। सिन्धु सभ्यता के पशुपति को ऋग्वैदिक संस्कृति में सबसे पहले भयंकर देवता रुद्र के रूप में माना गया। प्राचीनतम ब्राह्मणों में इन्हें विदेशी माना गया है और आर्य यज्ञकर्त्ताओं को चेतावनी दी गई है कि वे पशुपति का आवाहन न करें और उसका नाम तक न लें। पशुपति को परोक्षतया 'मह देवता' या 'देवता' जिसके नाम में पशु या भूत शब्द आता है (अर्थात् पशुपति भूतपति पशुओं का स्वामी)। मोहनजोदड़ो के एक चित्र में पशुपति योगासन लगाए, हाथी चीता, भैंसा और हिरन द्वारा घिरे बैठे हैं। हड़प्पा की एक मूर्ति में, जिसका नाम नर्तक है शिव को नृत्य की मुद्रा में दिखलाया गया है। मोहनजोदड़ो मूर्ति और हड़प्पा में पाए गए पट्टों में से एक में शिव का लिंग ऊपर उठा दिखलाया गया है। भारतीय मूर्ति कला में यह सबसे पहले उत्तर-कुषाण-काल में मथुरा में आया और गुप्तकाल में बंगाल के पहाड़पुर और उड़ीसा के चौदुआ नामक जगहों में भी इस प्रकार की मूर्तियां प्राप्त हैं। पशुपति के सिर पर दो सींग हैं और तीन चेहरे तथा आंखें हैं जो स्पष्टतः ईश्वरत्व के प्रतीक हैं। सिर के ऊपर तीन नोकोंवाला एक अस्त्र है—जो हिन्दू और बौद्ध त्रिशूल का मूलरूप है। सिन्धु घाटी की एक तांबे की मुहर पर एक योगी बैठे हैं जिनके दोनों ओर एक-एक भक्त हैं और सामने कुण्डली मारकर बैठे हुए सांप। आर्य परम्परा में शिव सांपों की माला पहनते हैं और त्र्यम्बक अर्थात् तीन मुखवाले हैं। दक्षिण की पल्लव मूर्तियों में शिव की मूर्ति में मोहनजोदड़ो की मूर्ति के समान दो सींग हैं। इस प्रकार सिन्धु घाटी की मूलाकृति और भारतीय आद्य शिव या रुद्र के अनेक लक्षण और शैलीगत आकार समान हैं। शिव लिंग भी सिन्धु घाटी में पाया गया है शंकु अथवा वर्तुल के आकार के पत्थरों के रूप में।

सिन्धु घाटी में एशिया माइनर और एशियन सागरीय क्षेत्रों के समान आदि मां देवी की पूजा प्रचलित थी। मां देवी और स्त्री-योनि नदियों, वृक्षों, बैल और सांप जैसे जानवरों की पूजा की परम्परा भी शायद सिन्धु घाटी संस्कृति की देन है। ऋग्वैदिक अदिति और पृथ्वी देवियों का मूलरूप सिन्धु घाटी संस्कृति में ही सम्भवतः मौजूद है। ऋग्वैदिक मां देवी भीमा अथवा श्रीलक्ष्मी (गुप्तकालीन, उत्तरप्रदेश में प्राप्त) को नग्न दिखलाया गया है और उसके शरीर से एक कमल का फूल निकला हुआ है। निश्चित रूप से इसका मूलरूप हड़प्पा की वह देवी है जिसके पांव फैले हैं और गर्भाशय से एक पौधा निकल रहा है। एशियन सागरीय क्षेत्रों में मां देवी केवल मनुष्यों और पशुओं की ही मां नहीं है बल्कि समस्त वनस्पति जगत् की भी जननी है।

लोक-धर्म और तंत्र-विद्या में सिन्धु घाटी का योग

सिन्धु घाटी का बैल जिसके सामने एक वेदी या नांद है शिव के नन्दी का मूल

रूप है। किन्तु सिन्धु घाटी की कला ने उसकी मांसपेशियों, धमनियों और त्वचा की परतों को एक समन्त सांचे में ढाल दिया है इससे उसकी विशालता और शक्ति का उद्घाटन ऐसे ढंग से होता है जो विश्व की प्रतिमूर्तिकला में अद्वितीय है। सिन्धु घाटी संस्कृति में पेड़ों पर बैठी हुई वृक्षवासी स्त्री-आकृतियां हैं जो अथर्ववेद की वृक्ष आत्माओं और मौर्य तथा शुंग कालीन यक्षियों की मूलरूप हैं। वृक्ष देवी अथवा वृक्ष आत्मा का मंदिर मात्र नहीं है बल्कि कभी-कभी वह एक चहारदीवारी से घिरा अकेला वृक्ष भी दिखलाया गया है। वह शायद बौद्धधर्म के बोधि-वृक्ष का पूर्वरूप है। सिन्धु सभ्यता ने ही शायद हिन्दूधर्म को जल की पवित्रता की भावना प्रदान की है यह मोहनजोदड़ो के सार्वजनिक स्नानागार और सम्पूर्ण नगर में स्नान की सुविधाओं का ही प्रतीक माना जा सकता है। सिन्धु और सरस्वती घाटियों की संस्कृतियों में धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक तांत्रिक और उपासना सम्बन्धी तत्त्वों का सम्मिश्रण खूब हुआ है। इसके अतिरिक्त एक और समानता भी उल्लेखनीय है। अथर्ववेद में उल्लिखित देवियों के वक्ष पर लम्बी-लम्बी ओढ़नियां डाली गई हैं। कुली और हड़प्पा और सारी ढेरी तथा बाद के युगों में अहिच्छत्र कौशाम्बी और मथुरा में प्राप्त मिट्टी की पकाई हुई मूर्तियों में भी यही ओढ़नियां मौजूद हैं।

अथर्ववेद में व्रात अथवा व्रात्य नामक सम्प्रदाय का जिक्र है जिसके अनुयायी बलि नहीं देते थे किन्तु तंत्र-विद्या और इन्द्रजाल में विश्वास करते थे। पाणिनि के अनुसार व्रात्य लोग हिंसा और लूट-मार के बल पर अपना जीवन-यापन करते थे। ये सम्भवतः सिन्धुनिवासी थे। सिन्धु सभ्यता की स्थायी देनों में से सम्भवतः कुछ और ये हैं हाथ करघे से कपड़ा बुनने की कला बैलगाड़ी बनाना नक्काशी करना शहरों और गांवों को सुनियोजित ढंग से बसाना। आर्य लोग १ ईसापूर्व के कुछ ही समय बाद पंजाब में आए। वे युद्ध में तलवार और घोड़े का प्रयोग करना जानते थे। इसलिए आसानी से सिन्धु क्षेत्र की शान्तिप्रिय नागर व्यावसायिक सभ्यता को पराजित करके अन्त में नेस्तनाबूद कर सके। इन्द्र (जिन्हें किलों और नगरों को ध्वस्त करनेवाला अर्थात् पुरन्दर और पुरभिद् भी कहा जाता है) ने अपने मजबूत लड़ाकू साथियों के साथ सिन्धुवासियों के नगरों और किलों पर हमला किया और स्पष्ट है कि उन्हें ध्वस्त कर दिया और उनके ऐश्वर्य को मिट्टी में मिला दिया।

"अग्नि की लपटों में उसने उनके सारे अस्त्रों को जला दिया
और गायों और रथों और घोड़ों को लूट लिया।

अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन शान्तिप्रिय और समृद्धिशाली सभ्यता निश्चय ही सहसा समाप्त हो गई होगी लेकिन उसने अपने विजेताओं को अपने देवता धार्मिक पूजा विधियां और जीने की कलाएं अवश्य सौंप दीं।

यमुना घाटी में नागजाति

बहुत सम्भव है कि दोनों जातियों में समझौता सिन्धु अथवा पंजाब में नहीं बल्कि गंगा-यमुना के द्वाबे में हुआ। दोनों जातियों ने अपनी बस्तियां गंगा की समृद्धिशाली घाटी तक बढ़ा ली थीं और उस क्षेत्र के द्वाबे में वे एक-दूसरे के सम्पर्क में आ गए थे। भारतीय

महाकाव्य महाभारत में वर्णित दो घटनाएं शायद भारतीय आर्यों और हड़प्पावासियों के युद्ध की कुछ अन्तिम घटनाओं को व्यक्त करती हैं जो गंगा के मैदान में घटित हुई थीं। पहली घटना है यमुना की घाटी के खाण्डव वन का अग्निकाण्ड, और दूसरी घटना है नाग जाति को उनके शासक तक्षक के साथ देश-निकाला जिससे उन्हें पहाड़ों पर जाकर शरण लेनी पड़ी। इससे शायद यह परिणाम निकाला जा सकता है कि गंगा-यमुना द्वाबे में ही दो महान जातियों का भीषण युद्ध हुआ था। इसके विपरीत नागराजा वासुकि की पुत्री उलूपी के साथ अर्जुन का विवाह इस बात का प्रतीक है कि गंगा-यमुना द्वाबे में जातीय सम्मिश्रण का महत्त्वपूर्ण काम शुरू हो गया था। हड़प्पा में प्राप्त मिट्टी की एक तख्ती पर सांप प्रदर्शित है। इसमें एक देवता के पास फन फैलाए नाग बैठा है और घुटनों के बल बैठे हुए लोग उसकी पूजा कर रहे हैं। मिट्टी की एक ताबीज पर एक चित्र है जिसमें एक सांप को पूजा के तौर पर दूध पिलाया जा रहा है। हड़प्पा एलाम और मैसोपोटामिया में नाग-सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण था। आर्यों ने भारत के युद्ध में कौरवों और पाण्डवों दोनों की ओर से भाग लिया था। यह जाति काल्पनिक नहीं है बल्कि शायद सिन्धु घाटी के बचे-खुचे निवासी ही थे जो अन्त में गंगा के मैदान से खदेड़ दिए गए और नर्मदा के आसपास जा बसे। पुराणों में नाग जाति को इसी क्षेत्र का वासी बताया गया है।

अध्याय २

सरस्वती की संस्कृति

मध्य एशिया से सरस्वती के मैदान की ओर प्रयाण

ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पहले किसी समय मध्य एशिया से चले हुए आर्य सिन्धु और सरस्वती नदियों के मैदानों में प्रकट हुए। वे गोरे रंग, नीली आँखों और मुड़ी हुई नाक वाले थे और मजबूत फुर्तीले घोड़ों तथा पहियों वाली सवारियों पर यात्रा करते थे। उन्होंने इस क्षेत्र को सप्त सरस्वती अथवा 'सात नदियों की भूमि' का नाम दिया। विन्टरनित्ज के अनुसार यह धारणा प्रशंसनीय है कि वैदिक साहित्य का प्रारम्भ ईसा से तीन हजार से दो हजार वर्ष पहले के काल में और प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ ईसा से पहले चार हजार वर्ष से तीन हजार वर्ष के काल में हुआ। अधिकांश भारतविद् इस धारणा को सही मानते हैं। एशिया माइनर और अनातोलिया में अनेक मृदुशिलाएं और अभिलेख पाए गए हैं जिनमें इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्यद्वय आदि ऋग्वैदिक देवताओं का जिक्र है। इनसे वैदिक भारतीयों और ईरानियों की अनुरूपता का पता चलता है। इन्द्र निःसन्देह सबसे बड़ा देवता था—विजयी सेनाओं का नायक और दुर्ग विध्वंसक। एक ऋग्वैदिक ऋचा में कहा गया है: "तुम अपनी शक्ति से एक के बाद दूसरे दुर्ग का ध्वंस करते हुए लगातार एक के बाद दूसरे युद्ध जीतते जाते हो।" इन्द्र ने शत्रु के कुछ 'शरत्कालीन किलों' को भी ध्वस्त किया था। ये किले शायद हड़प्पा सभ्यता के नगरों की सुरक्षा करनेवालों ने बांधे थे। इन्द्र वृष्टिदाता और 'नदियों का प्रवाह रोकनेवाले असुर वृत्र के संहारक भी हैं। वेद 'नदियों की धाराओं को मुक्त करते हैं और समस्त नदीतट उनके पौरुष के सामने हार मान जाते हैं। प्राचीनतर हड़प्पा सभ्यता के नगर और कस्बे तथा समस्त क्षेत्र की नदियों को नियंत्रित करनेवाले विशाल बांध पंजाब के मैदानों की समुचित सिंचाई करने में बाधक थे। इन्द्र ने इन सब दुर्भर बाधाओं को समाप्त कर दिया।

धरती माता आज भूखी और बंजर है किन्तु जल्दी ही वह किसान की हरी ओढ़नी ओढ़ेगी।"

इस तरह आर्य पंजाब की धरती पर स्थापित हो गए। अपने पूर्व इतिहास में वे न तो नगर निवासी थे और न कृषक लेकिन अब वे खेती और सिंचाई दोनों करने लगे। वे गेहूं, जौ, चावल और मक्के की पैदावार करने लगे। उनके हलों में तीन, चार या कभी-कभी छः जोड़े बैल जोते जाते थे और उन्होंने प्रत्येक परिवार के मुखिया के साथ जमीन के अलग अलग हिस्से निश्चित किए थे। सम्पन्न और सम्पुष्ट इन्द्र इस बात का ध्यान रखते थे कि नदियों की वार्षिक बाढ़ों और उनके द्वारा लाई गई नई चिकनी मिट्टी का पूर्ण उपयोग हो सके।

समाज का वैदिक आदर्श

समाज चार वर्णों में विभाजित था ब्राह्मण अथवा पुजारी, राजन्य या क्षत्रिय अथवा योद्धा, खेती और व्यापार करनेवाले वैश्य और काली चमड़ीवाले स्थानीय निवासी शूद्र जो शिकार करते और मछली मारते थे तथा घरेलू दास थे। इन वर्णों ने जातियों का रूप धारण नहीं किया था तथा उनमें सामाजिक समुदायों में अक्सर व्यवसाय-परिवर्तन अथवा परस्पर विवाह हुआ करते थे। सामाजिक स्तरों का विभाजन करनेवाली चातुर्वर्ण्य प्रणाली वैदिक काल के अन्तिम समय से आज तक भारतीय सभ्यता का अनिवार्य अंग है। तभी से स्त्रियों और शूद्रों समाज का वह अंग जिसकी परिशुद्धि अभी तक आर्य संस्कारों द्वारा नहीं हुई थी के बीच विभेद भी चला आ रहा है।

सामाजिक वर्गों की सीमाएं अधिकांशतः अस्थिर थीं। फिर भी वैदिक आर्य समाज में चातुर्वर्ण्य विभाजन प्रचलित था तथा आर्य वर्ण और दस्यु वर्ण का अन्तर भी मान्य था। इस अन्तर का कारण था जाति वर्ण और जीवन-यापन की विधि की विभिन्नता। बृहदारण्यक उपनिषद् में भारतीय आर्यों को गोरे, भेहुए और सांवले रंग का बताया गया है। सभी वेदों का अध्ययन करते थे किन्तु श्यामवर्णवाले अर्थात् शूद्र सर्वाधिक बुद्धिमान और तीनों वेदों में पारंगत थे। इसके विपरीत भेहुए और गोरे रंगवाले केवल एक या दो वेदों के ज्ञाता थे। वैदिक धर्मों और संस्कारों ने दस्युओं अथवा अनार्यों के लिए आर्य बनने का मार्ग प्रशस्त कर दिया और उन्होंने वैदिक सामाजिक संगठन में शूद्रों की हैसियत से प्रवेश पाया। शूद्र, जिन्हें आर्य-शूद्र कहना अधिक उपयुक्त है उच्चतम ज्ञान का अध्ययन कर सकते थे यह सत्यकाम जाबाल और जानश्रुति की कथाओं से स्पष्ट है। वे यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित कर सकते थे और सोमयज्ञ में भाग ले सकने के अधिकारी भी थे। शतपथ ब्राह्मण में शूद्रों के सोमयज्ञ में भाग लेने का जिक्र है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वह नियमावली दी हुई है जिसके अनुसार शूद्र रथकार यज्ञ कर सकते हैं। फलतः भारत के मूल निवासी दास दस्यु और निषाद लगातार आर्य-शूद्र वर्ग में प्रवेश करते रहे। सच तो यह है कि सभी पिछड़ी जातियों के लोग यज्ञ और विद्याध्ययन द्वारा आर्य धर्म में प्रवेश करने के इच्छुक रहते थे। निरुक्त के अनुसार वैदिक साहित्य में उल्लिखित 'पंचजना' वास्तव में चतुर्वर्ण और निषाद थे। समाज की चातुर्वर्ण्य प्रणाली भारतीय संस्कृति को वैदिक युग की देन है। यहां पर वर्ण का अर्थ शरीर का रंग नहीं वरन् आध्यात्मिक गुण है ('वरणीय' का अर्थ है विशिष्ट)। धर्म-व्यवस्था के अनुसार सजातीय और विजातीय विवाहों के नियमों ने वर्ण-व्यवस्था के विकास में योग दिया।

प्रत्येक भारतीय आर्य ग्राम का एक मुखिया होता था और गांव अपने में एक स्वतंत्र और स्वशासित इकाई था। प्रत्येक भारतीय आर्य परिवार पितृसत्तात्मक और संयुक्त था तथा उसपर परिवार के बुजुर्ग का कठोर नियन्त्रण होता था। भारत में प्रचलित समाज रचना का यही प्रारम्भ था। गांवों के निवासियों के बीच जमीन का बंटवारा भी इस तरह हुआ करता था कि गांव के पास की जमीन के हिस्से लोगों को अलग-अलग दे दिए जाते थे और बीच-बीच में कुछ जमीन और चरागाह सामूहिक होते थे। किसानों

के बीच ज़मीन के बटवारे का यही ढंग आज भी प्रचलित है। भारतीय गाँवों और शहरों को बसाने की योजना भी हज़ारों वर्षों से वैदिक आर्य-बस्तियों के नमूने पर ही चली आ रही है। वैदिक काल में ही ग्रामसभा का जन्म हुआ वास्तव में यही संस्था भारतीय सभ्यता के स्थायित्व का एक मुख्य कारण है। ग्रामसभाएं और समितियां सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के कर्तव्यों का पालन करती थीं तथा राजाओं अथवा मुखियाओं के अधिकारों की सीमाएं निर्धारित करती थीं। ऋग्वेद की एक अभिभाषक ऋचा में समाज के ऐक्य का आवाहन किया गया है "एक जगह एकत्रित होकर आपस में बोलो एक ही तरह से विचार करो जगह सबकी है, समिति सबकी है मस्तिष्क सबका है इसलिए अपने विचारों को एक जैसा बनाओ सभी का संकल्प एक हो और एक ही प्रकार के विचार हों जिससे कि सभी प्रसन्नतापूर्वक एक हो सकें।"

देवता यज्ञ और धार्मिक संस्कार

वैदिक काल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आराध्य देवता हैं इन्द्र वरुण अग्नि और सोम। इन्द्र युद्ध के और वरुण नैतिकता के देवता थे तथा अग्नि और सोम आनुष्ठानिक देवता थे। अग्नि का दूसरा नाम है वाक्। उसके तीन और प्रतिरूप हैं जो सभी देवियां हैं—पृथ्वी पर इला अथवा इड़ा आकाश में भारती और स्वर्ग में सरस्वती। सरस्वती शायद प्रारंभ में गंगा के समान नदियों की देवी थी यद्यपि उसकी प्रसिद्धि अधिक न थी। लेकिन उसका सम्बन्ध सम्पत्ति प्रदायिनी अग्नि को प्रज्वलित करने और नदियों के तटों पर मंत्रोच्चारण करने के साथ था इसलिए *शीघ्र ही वह वाणी (वाक्) और आध्यात्मिक* ज्ञान का प्रतीक बन गई। ऋग्वेद के अनुसार सरस्वती सभी दिशाओं में जल का वितरण करती है तथा सम्पत्ति-जीविकाप्रदायक व प्रज्ञा-प्रकाशक यज्ञों को सहारा देती है। (१ ३ १२)। वैदिककालीन नदियों में सरस्वती प्रमुख है। वह अब लुप्त घग्घर-हाकरा-नीरा नदियों के रास्ते पर बहती हुई समुद्र से जा मिलती थी। भारती नाम का *आधार है भारतीय आर्यों का भरत गोत्र जिसके नाम पर ही हमारे देश का नाम भी* पड़ा है। वैदिक युग में भूमि आराध्य देवता और संस्कृति एक थे और बाद में भारती तो भारतीय आर्य संस्कृति का प्रतीक ही बन गई। कालान्तर में भारतीय आर्य संस्कृति का विस्तार हुआ जिसका अर्थ बहुत हद तक था भारत साम्राज्य का उसकी मूल सीमाओं—सरस्वती दृषद्वती और यमुना नदियों के मैदान के बाहर प्रसार जिसे बाद में ब्रह्मावर्त *नाम दिया गया।*

ऋग्वैदिक संस्कृति क्रमशः सरयू वरुणा और सदानीरा (अथवा गण्डक) के काँठे में फैल गई। पुराने कबीले कबायली राज्य विजय अथवा सम्मिलन के कारण आकार में बड़े हो गए। राजाओं ने 'एकराट' और 'सार्वभौम' जैसी पदवियां ग्रहण कर लीं तथा वे अश्वमेध और राजसूय यज्ञों का आयोजन करने लगे। इस प्रकार वैदिक राजनीतिक सम्मिलन और साम्राज्यवादी शक्तियों के विकास न बाद के हिन्दू साम्राज्यवाद के सिद्धान्त और आदर्श को उपस्थित किया।

वैदिक काल में अधिकांश प्राकृतिक शक्तियों को आराध्य देवता मानकर पूजा

जाता था। यह दृष्टिकोण व्यावहारिक और उपयोगितावादी था यद्यपि उपनिषद् काल में उसकी आध्यात्मिक व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी गई। स्वयं जीवन को एक महान् यज्ञ समझा जाता था। अग्नि यज्ञकर्ता और यज्ञ-सामग्री सभी को पुरुष ब्रह्म के साथ एकाकार माना जाता था। भारत में काफी धार्मिक अनुष्ठान और संस्कार हजारों वर्षों से वैदिक दार्शनिक प्रतीकों और आदर्शों के आधार पर नियोजित हैं और उनमें पारलौकिक सार्थकता एवं मूल्यवत्ता है। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध विवाह-मन्त्र में पुरुष और स्त्री की साझेदारी को पृथ्वी और आकाश ऋक् और सामन् के विवाह का प्रतीक माना गया है। वधू के पूर्व पति एक के बाद एक उसे वर को सौंपते हैं सर्वप्रथम सोम (ब्रह्मतेज नियमों के स्थापक आदि देवता) तब गन्धर्व (वाणी और सौन्दर्य की मधुरता प्रदान करनेवाले देवता) और अन्त में अग्नि (सात्त्विकता प्रदान करनेवाले देवता)। अपने ब्रह्मचर्य-पालन और नियम के बाद वधू विवाहोपरान्त अपने पति के साथ यज्ञों में भाग लेने की अधिकारिणी बन जाती है और पति में इस प्रकार मिली हुई समझी जाती है जैसे समुद्र में नदी। इस प्रकार वैदिक विधि के अनुसार सम्पन्न भारतीय विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। मनुष्य की दैहिक निरन्तरता को उस एक की पारलौकिक शक्ति का उद्घाटन समझा जाता है जो प्रकृति की शक्तियों का सर्जक है। इसी प्रकार मनुष्य की सामाजिक निरन्तरता की कल्पना ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के रूप में की गई है। इसके अनुसार समाज के व्यावसायिक वर्ग 'पुरुष' के विभिन्न अंग—मुंह बांह, जांघ और पैर हैं। इसी 'पुरुष' से आकाश सूर्य चन्द्रमा पृथ्वी और सम्पूर्ण विश्व का सृजन हुआ है। एक अनेक में बदल जाता है। "स्वाराध्य देवता की महानता के कारण एक आत्मा को अनेक नाम दिए गए हैं। विभिन्न देवता एक ही आत्मा के अलग-अलग रूप हैं।" भारतीय आध्यात्मिक चेतना का यही आधारभूत विचार है और शताब्दियों से भारत के मानस में व्याप्त है।

भारत की कल्पना और सत्यज्ञान की निरन्तरता

स्वर्गिक और पृथ्वी के देवताओं के प्रति यद्यपि सर्वथा व्यावहारिक और उपयोगितावादी ऋचाओं से आरम्भ होकर ऋग्वेद का दर्शन आध्यात्मिक चिन्तन की ऊंचाई तक जा पहुंचा। दसवें मण्डल की दार्शनिक ऋचाओं में सत् और असत् रूप और माया की धारणाओं का जन्म हुआ। ऋग्वेदिक ऋचाओं में बार-बार अनेक देवताओं के स्थान पर एक अविभाज्य सर्वव्यापी ब्रह्म (परब्रह्म) के चिन्तन पर जोर दिया गया है। ऋग्वेदी वल्लरी १, २० में जीवात्मन् और परमात्मन् को एक पेड़ पर अवस्थित एक ही प्रकार के दो पक्षी माना गया है एक पेड़ के मीठे फल खाता है और दूसरा केवल देखता रहता है। वल्लरी ३ ६२ १० में विख्यात गायत्री मन्त्र है जिसके जन्मदाता ऋषि विश्वामित्र कहे जाते हैं। इस मन्त्र में कहा गया है "मैं उस सर्वसम्पन्न की आराधना करता हूं जिसने तीनों लोकों का निर्माण किया है। वही मेरे सारे विचारों इच्छाओं और क्रियाओं का निर्धारण करे।" मंत्र में उल्लिखित 'वह' परमात्मन् है और परमात्मन् ही तो हजारों वर्षों से तत्त्वज्ञान तथा धर्म का लक्ष्य है।

उपनिषद् का धार्मिक मर्म है गुरु-शिष्यों की अन्तरंग बैठक। उपनिषदों की रचना निस्सन्देह विश्व-संस्कृति की महानतम् बौद्धिक उपलब्धियों में से एक है। याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी तथा याज्ञवल्क्य और गार्गी वाचक्नवी के सुप्रसिद्ध संवादों से स्पष्ट है कि इस उपलब्धि में स्त्रियों का भी हाथ था। वेदों और उपनिषदों से ही भारत की कल्पनाएं, तत्वज्ञान और नैतिकता उद्भूत है। ब्रह्म आत्म और ब्रह्माण्ड की एकात्मकता की धारणा का निरूपण उपनिषदों में किया गया है। यह धारणा कालान्तर में हिन्दू धर्म का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त बन गई। आत्मा और ब्रह्माण्ड की एकात्मता के सिद्धान्त का निरूपण याज्ञवल्क्य और उनकी विदुषी पत्नी के संवाद में हुआ है यह भी एक विशेष बात है।

कठोपनिषद् के यम और नचिकेता के विख्यात संवाद में जीवन और मृत्यु के गम्भीर रहस्य का अन्वेषण है। याज्ञवल्क्य ने आत्म और ब्रह्माण्ड की एकात्मकता का विचार प्रतिपादित किया और मोक्ष को ही सबका सार बताया। प्रवाहण जैवालि ने ॐ अक्षर का रहस्य बताया। विदेह के दार्शनिक राजा जनक ने अमरत्व प्रदायी गायत्री की परात्परक प्रकृति का निरूपण किया। अश्वपति कैकेय ने वैश्वानर के रहस्य का उद्घाटन किया। देव-क्षत्रिय सनत्कुमार ने नारद को बताया कि समग्रता की धारणा ठोस सर्वव्यापी और परात्पर है। प्रजापति ने चेतना की तीन अवस्थाओं—जागृत अवस्था सुप्तावस्था और स्वप्नावस्था में अन्तर बताया। ये सभी सिद्धान्त और विचार आज भी भारत में गंभीर चिन्तन के प्रारम्भ बिन्दु हैं।

नैतिक व्यवस्था और सत्य के रूप में धर्म की धारणा

उपनिषदकालीन दार्शनिक जिन परिणामों पर पहुंच चुके थे वे प्राचीन यूनान और मध्ययुगीन यूरोप के दार्शनिकों के निष्कर्षों से कहीं आगे थे। भारतीय दार्शनिकों के निष्कर्षों में ही सद्ज्ञान का सार मौजूद है और वे अमरत्व की ओर ले जाते हैं। इन्हें पराविद्या अथवा ब्रह्मविद्या कहा गया है। न मालूम कितनी शताब्दियों से इन्होंने ही मानव का दिशानिर्देशन किया और सान्त्वना दी है। अपरिवर्तनीय और सार्वभौम ऋत व्रत और धर्म (ब्रह्मांड और नैतिकता की व्यवस्था और नियमावली) की धारणा का भी विकास हुआ। जो ब्रह्माण्डीय नियम सूर्य और चन्द्रमा के पर्वों और दिन और रात के घटनाक्रम से निहित है वही मानव और देवताओं को भी जोड़ता है। ऋत की अवज्ञा का अर्थ है पाप करना और ऐसे व्यक्ति को वरुण की पूजा करके प्रायश्चित करना पड़ता है। ऋत अथवा धर्म की इस वैदिक धारणा में कि वह एक पारलौकिक और नैतिक व्यवस्था है कर्म-सिद्धान्त के विकास के बीज निहित हैं। जो आदमी जैसा काम करता है और जिस प्रकार का जीवन बिताता है उसीके अनुसार वह बन जाता है। अच्छे काम करनेवाला आदमी पुनः अच्छे आदमी के रूप में जन्म लेता है बुरे काम करनेवाले आदमी का जन्म फिर बुरे आत्मा के रूप में होता है। मनुष्य अच्छे कामों से अच्छा और बुरे कामों से बुरा हो जाता है। इसीलिए कहा गया है मनुष्य स्वयं इच्छानुसार अपना निर्माण करता है और उसकी इच्छा के अनुसार ही उसका निश्चय होता है तथा अपने

निश्चय के अनुसार वह कार्य करता है एवं उसके कार्यों के अनुसार ही उसका प्रारब्ध होता है। यह उक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् की है। इसके विपरीत सर्वोच्च सत्य के अन्वेषी व्यक्ति के लिए अच्छे और बुरे कार्यों तथा उच्च और निम्न जन्म के सारे अन्तर नगण्य हो जाते हैं क्योंकि वह नश्वर मानवों को बांधे रहनेवाली जीवन की पार्थिव वस्तुओं को त्याग चुका होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ही धर्म को सत्य माना गया है और परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट तथा अन्तिम कृति माना गया है। धर्म से ऊंचा कुछ भी नहीं। "धर्म के बल पर कमजोर आदमी भी अपने से बलशाली आदमी पर शासन करता है मानो उसे किसी राजा का सहारा हो।" इस प्रकार समाज के स्थायित्व और राज्य की सत्ता के मूल में धर्म ही है। ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के सर्वोच्च सिद्धान्त के रूप में सत्य की यह तात्त्विक धारणा हमारे सामाजिक सम्बन्धों में भी प्रविष्ट है। धर्म को शक्ति (क्षत्र) से बड़ा मान लिया गया है। इसे सामाजिक और राजनीतिक जीवन तथा नियमों का महान् दिशा-निर्देशक नैतिक बल माना जाता है। सच तो यह है कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन और नियम धर्माचरण के ही उपकरण हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त ऋत सत्य ब्रह्म और धर्म के सिद्धान्तों का एकीकरण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसने भारतीय नीतिशास्त्र और राजनीति को शताब्दियों के दौरान स्थायी रखा है।

चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य

अथर्ववेद (१२,१) में ब्रह्माण्ड को सहारा देनेवाली सत्य ब्रह्म और धर्म की धारणाओं में यज्ञ और तप को भी जोड़ लिया गया है। वैदिक युग में ही माया के सिद्धान्त का भी निरूपण हुआ। माया वह अज्ञेय सृजनात्मक शक्ति है जो मनुष्य के मस्तिष्क और इन्द्रियों को भुलावे में डाल देती है तथा संसार को महत्त्वाकांक्षा और संघर्ष का अखाड़ा बना देती है इसे केवल परम ज्ञान द्वारा ही पराजित किया जा सकता है। उपनिषदों में परम ज्ञान को मुक्ति का उपाय बतलाया गया है। दूसरी ओर यज्ञ-विधियों के नियामक श्रौत और 'गृह्य' सूत्रों में मानव के चतुर्मुख उद्देश्यों का निरूपण है। ये उद्देश्य हैं धर्म अथवा परात्पर व्यवस्था की अनुरूपता अर्थ अथवा व्यवसाय या जीविका काम अर्थात् इच्छापूर्ति और मोक्ष अर्थात् बन्धन-मुक्ति। भारतीय जीवन प्रणाली के यही चार सुस्पष्ट उद्देश्य हैं जिन्होंने भारतीय सभ्यता को सन्तुलित और सुगठित बनाए रखा है।

वैदिक युग में ही मानव के त्रिमुख सामाजिक कर्तव्यों और यज्ञ की अनिवार्यता की धारणा का विकास हो चुका था। यजुर्वेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण दोनों में लिखा है कि मानव तीन ऋण लेकर पैदा होता है—पितृ ऋण ऋषि ऋण और देव ऋण। पितृत्व ज्ञानार्जन तथा यज्ञ द्वारा ही इनसे उऋण होना सम्भव है। इन्हें दोनों में पितृ ब्रह्मचारी और यज्ञ कहा गया है। बाद में दो और ऋण अथवा कर्तव्य जोड़ दिए गए—अपने सह योनियों के प्रति (नृयज्ञ) और पशुओं के प्रति (भूतयज्ञ)। इस प्रकार भारतीयों के पास ब्रह्माण्ड अपनी संस्कृति और देवताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने का आदर्श भी है और इस आदर्श को प्राप्त करने की व्यावहारिक विधि भी।

सामाजिक अन्तर्संयम और सांस्कृतिक परिपाक के फलस्वरूप वैदिक युग के अन्तिम चरणों में जिस वैदिक जीवन-प्रणाली का विकास हुआ उसमें चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य की महत्ता थी। चातुर्वर्ण्य का अर्थ है समाज की चतुर्मुख कार्यकारी अथवा तात्त्विक व्यवस्था अर्थात् चार सामाजिक स्तरों में विभाजन जिनमें से प्रत्येक स्तर के अपने विशेष लक्षण मूल्य और गुण हैं। चातुराश्रम्य का अर्थ है व्यक्ति के जीवन की चार अवस्थाएं। सामाजिक विभाजन की वर्ण प्रणाली सुगठित और आध्यात्मिक है और वंशानुक्रमजन्य रूढ़ि का उसमें कोई स्थान नहीं है। ईश्वरप्रदत्त वैदिक समाज म किसी व्यक्ति की स्थिति शक्ति और सम्मान का निर्धारण उसकी वंशावली अथवा *पारिवारिक परम्परा के बल पर नहीं वरन् उसकी संस्कृति सामाजिकता और नैतिक* दायित्व के बल पर होता था। वर्ण को तैत्तिरीय उपनिषद् (१ २) में चारों वर्णों के विशेष सामाजिक कर्तव्यों के सम्पादन से सम्बन्धित माना गया है और छान्दोग्य उपनिषद् *(२ २१) मे व्यक्ति के आश्रमों से सम्बन्धित। व्यक्ति के वर्ण और आश्रम को एक* सुव्यवस्थित श्रेणी-विभाजन में प्रस्तुत करके श्रम के इस रूप ने तब से लेकर अब तक भारतीय सामाजिक नियमों का रूप सजाया-संवारा है। भारत के सभी दर्शनों धर्मों और सामाजिक नियमों का उद्गम वेद और उपनिषद् ही हैं। हर ओर से हम सरस्वती के आवासों और ऋषि आश्रमों तक पहुंचते हैं जहां प्रत्येक परिवार की अपनी पवित्र अग्नि जला करती थी और पीढ़ी दर पीढ़ी उसे प्रज्वलित रखा जाता था।

मध्यकालीन उत्तराधिकार

वैदिक दर्शन में अग्नि सर्वव्यापी ब्रह्मांडीय ऊर्जा का प्रतीक है। वह आकाश में सूर्य बनकर चमकता है और सम्पूर्ण जीवन वृद्धि और मोक्ष का प्रदाता है। आदमी सुबह शाम अपनी प्रिय और मूल्यवान वस्तुओं का दान अग्नि को करता है ताकि उसका अंतर शुद्ध और पवित्र हो सके। भारत में वेदी का निर्माण विराट पुरुष के प्रति साधारण व्यक्ति के उत्सर्ग का प्रतीक है विराट पुरुष या सृजन की इच्छा होने पर ब्रह्मांड में व्याप्त हो जाता है। अग्नि के उत्सर्ग से अथवा 'पुरुष' के साथ संयोग से पुरुष का खंड-खंड शरीर संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार पहला भारतीय आर्य सृजनात्मक कार्य अर्थात् वेदी का निर्माण एक आत्मिक कार्य था। वेदी ब्रह्मांड के ऐक्य का प्रतीक है। अग्नि-वेदी को ग्रंथों में चैत्य कहा गया है। ईश्वर का मन्दिर यज्ञ का मन्दिर पवित्र वृक्ष अथवा चबूतरा युक्त वृक्ष अभीष्ट उद्गम यहां वैदिककालीन वेदी है। भारतीय मन्दिरों का नीचे का भाग और शिखर दोनों को ही वेदी कहा जाता है क्योंकि दोनों ही मन्दिर के शिखर में अवस्थित सुवर्ण-पात्र में रखे प्रकाश पुरुष को सहारा देते हैं। इस प्रकार वैदिक मानसिकता ने मन्दिर-निर्माण अथवा किसी भी वास्तुकृति के सृजन को एक धार्मिक संस्कार का रूप दे दिया है। वैदिककालीन वनों में स्थित ऋषि-कुटियों में प्राप्त तात्त्विक धारणाओं और प्रतीकों ने ही धर्म नैतिकता चातुर्वर्ण्य प्रणाली विवाह धार्मिक संस्कार तथा सम्पूर्ण *साहित्य के स्वरूपों कला के अभिप्रायों अर्थात् वेदियों मन्दिरों और प्रासादों की निर्माण* भावना को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है।

अध्याय ३

महाभारत

महाद्वीप, संस्कृति और साहित्य

प्राचीन वीर-स्तुतियां में महाकाव्यों का प्रारम्भ

मानव-मात्र का स्वभाव है कि अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में वह कल्पनाएं करता और कहानियां कहता है और सौभाग्य की बात है कि ऐसा है। कारण वीरतापूर्ण कथाओं और महान् घटनाओं को जीवित रखकर आख्यायिकाएं और कथाएं हमारे इतिहास की वृद्धि करती हैं। आर्य लोग सप्त-सरस्वती के तटों पर सबसे पहले बसे थे फिर वहीं दूर-दूर तक फैल गए। उन्होंने जंगलों और दलदलों को संवारा और अनार्यों के साथ जिन्हें असुर कहा गया है, तथा परस्पर युद्ध किए। परुष्णी के तट पर दस राजाओं के युद्ध से लेकर (लगभग ११०० ईसापूर्व के) भारतीय महायुद्ध तक ऋषि और कवि रक्तपातमय संघर्षों में राजाओं और योद्धाओं का साथ देते रहे। वसिष्ठ विश्वामित्र परशुराम और अगस्त्य सभीने आर्य और अनार्य जातियों के दीर्घकालीन संघर्ष में तथा भारत के आर्यीकरण में भाग लिया। भाटों और कवियों द्वारा गाई जानेवाली वीर स्तुतियों ने और जातीय इतिहासों ने धीरे-धीरे रामायण और महाभारत जैसे महान् महा काव्यों का रूप धारण कर लिया। इन दोनों महाकाव्यों के रचयिता क्रमशः वाल्मीकि और व्यास थे। उनके नाम परवर्ती वैदिक कृतियों में मिलते हैं।

रामायण में आर्य बस्तियों की स्थापना की कथा

रामायण की रचना महाभारत से पहले हुई थी। महाभारत में रामायण की कथा और उसके रचयिता वाल्मीकि दोनों के नाम आते हैं। रामचन्द्र और सीता का विवाह इस बात का प्रतीक है कि कृषि आखेट से श्रेष्ठ है। कृषि के प्रतीक रूप में भूमिजा सीता है और आखेट का प्रतीक है शिव का विशाल धनुष जिसे रामचन्द्र ने भुकाकर तोड़ डाला। ये घटनाएं कौशिक-गोत्रीय वैदिक ऋषि विश्वामित्र की प्रेरणा से हुई थीं जिन्होंने विपाश और शुतुद्री नदियों को पराजित किया था ताकि भरत की सेना उन्हें पार करके युद्ध कर सके। पर्जीटर के अनुसार हनुमान द्रविड़ों का वनवासी वानर देवता है, जिसके नाम का अनुवाद पहले वहां में वृषा-कपि किया गया जो संस्कृत में हनुमन्त हो गया। भारत में अब इस पर्जीटर को भुला दिया गया है। ऋग्वेद (१०.८६) में संकेत है कि प्रारम्भ में इस आद्य देवता के समन्वय में बड़ा विरोध हुआ था।

रावण द्वारा सीता के हरण और वानर जातियों की सहायता से राम द्वारा लंका की विजय के पश्चात् सीता की पुनर्प्राप्ति की कथा में दक्षिण में आर्य बस्तियां बसाए जाने की ध्वनि है। वाल्मीकि के अनुसार दण्डक वन उत्तर और दक्षिण के बीच में स्थित है आर्य और अनार्य संस्कृतियों के बीच का व्यवधान है और उत्तर के अवन्ति विदर्भ मत्स्य व कलिंग राज्यों तथा दक्षिण के आंध्र चेर चोल और पाण्ड्य राज्यों के मध्य स्थित है (४४१)। रामचन्द्र प्रयाग से चलकर बुन्देलखण्ड में चित्रकूट होते हुए दण्डकारण्य (मध्यप्रदेश का छत्तीसगढ़ इलाका) पहुंचे थे। यहां वे दस साल तक रहे थे। यह बीच का इलाका था जहां बस्तियां बसानी थीं। तब राम और दक्षिण में जनस्थान पहुंचे जो गोदावरी क्षेत्र के मध्य में है और भवभूति ने जिसे दण्डकारण्य के पूर्व में स्थित बताया है। यहां उन्हें राक्षसों का सामना करना पड़ा जो बस्तियों को उजाड़ते और ब्राह्मण ऋषियों के हवन-यज्ञ आदि में बाधा पहुंचाया करते थे। यहीं पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आवश्यकतानुसार अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राक्षस स्वयं धार्मिक संस्कारों और बलिदानों का आयोजन करते थे (युद्धकाण्ड सर्ग ८१)। पाणिनि ने राक्षसों की चर्चा विशेष रूप से की है और कहा है कि वे असुरों की तरह लड़ाकू लोग थे। इसके विपरीत वानर जो निम्नजाति के ही थे मैत्रीपूर्ण थे। भारत के युद्ध में राक्षसों ने नागों और पिशाचों के साथ-साथ दोनों पक्षों की ओर से युद्ध किया था। डी० आर० भण्डारकर ने बारवाड़ की वालि जाति के एक राजवंश का जिक्र किया है और उसे किष्किन्धा का शासक बताया है। किष्किन्धा बिलारी जिले में है। पम्पा सरोवर और ऋष्यमूक पर्वत भी जहां रामचन्द्र हनुमान और सुग्रीव से पहली बार मिले थे इसी जिले में हैं। इस प्रकार भारतीय आर्यों का प्रसार-मार्ग इस प्रकार था कोशल से बुन्देलखण्ड होते हुए जनस्थान (अथवा कृष्णा-गोदावरी दोआब) और वहां से किष्किन्धा जहां से लंका पहुंचना सम्भव हो सका था जिसे मूल रामायण में एक नगर-मात्र बताया गया है (जैकोबी)। वराहमिहिर के अनुसार यह उसी देशान्तर पर था जिसपर उज्जयिनी।

'सुत्त-निपात' में प्रतिष्ठान के दक्षिण में स्थित गोदावरी घाटी का विशेष जिक्र है और लिखा है कि कोशल राज्य के एक ब्राह्मण ऋषि ने अपना आश्रम यहां स्थापित किया था। 'अंगुत्तरनिकाय' में भारत को सोलह क्षेत्रों अथवा महाजनपदों में विभक्त किया गया है। इस सूची में अधिकांश महाजनपद गंगा की घाटी के हैं। दक्षिण के केवल दो क्षेत्रों के नाम हैं—गोदावरी की घाटी में अस्सक और नर्मदा की घाटी में अवन्ति। सिन्धु घाटी के गन्धार और काम्बोज को सम्मिलित किया गया है। रामायण तथा उपर्युक्त पालिग्रन्थों से आसानी से परिणाम निकाला जा सकता है कि आर्यों ने दक्षिण में अपनी बस्तियां सबसे पहले गोदावरी की घाटी में बसाई थीं। बस्तियां बसाने का काम बड़ा खतरनाक था और इक्ष्वाकुवंश के राजाओं ने इसे पूरा किया था। रामचन्द्र और लक्ष्मण की तरह अयोध्या के राजदरबार के पदस्थों व कर्मचारियों इन्हें भी देशनिकाला दे दिया गया था। राक्षस और वानर दोनों दक्षिण भारत की जातियां हैं। दक्षिण में किष्किन्धा तक पहुंचकर आर्यों की प्रगति रुक गई थी। वहीं पर रामचन्द्र ने अनार्य वानरों के साथ एक संधि की जिसके बाद उन्होंने लंका की ओर प्रस्थान और उसे विजित किया।

रावण इस सिरोंनामा कोई भयानक दानव नहीं था यह तो दक्षिण भारतीय राजाओं को एक सामान्य पदवी है।

मध्य देश में विन्ध्य क्षेत्र विदर्भ, महाराष्ट्र और किष्किन्धा में आर्य बस्तियां बसाने का काम वास्तव में संन्यासियों और ऋषियों ने शुरू किया था। वहां पहुंचकर उन्होंने अपने आश्रम स्थापित किए अनार्यों को अपने देवताओं और धार्मिक संस्कारों से परिचित कराया और अनेक प्रकार के कष्टों व व्यवधानों के बावजूद यज्ञ व अन्य संस्कार जारी रखे। ऋषियों के बाद क्षत्रिय वहां पहुंचे और उन्होंने आर्य बस्तियों को स्थायित्व प्रदान किया।

भारतीय धर्म-प्रचारकों के आधादर्श—ऋषि अगस्त्य

नर्मदा घाटी और अरबसागरीय तट पर आर्य बस्तियां बसानेवाले सबसे पहले व्यक्ति ऋषि परशुराम थे। भृगुकच्छ से लेकर कन्याकुमारी तक पश्चिमी तट के सम्पूर्ण क्षेत्र में उन्होंने कुछ न कुछ अवश्य किया। किन्तु, उनसे भी पहले अगस्त्य ने विन्ध्य को पार करके दक्षिण में प्रवेश किया था बाबा और सुमात्रा भी दक्षिण में ही सम्मिलित हैं। अगस्त्य भारतीय ऋषियों के आधादर्श हैं। वे ऋषि योद्धा और धर्म-प्रचारक सभी हैं। उन्होंने अस्त्र-शस्त्रों के बल पर नहीं वरन् धर्म के बल पर आर्य बस्तियां बसाई थीं। उनके कारनामों की प्रसिद्धि समुद्र-पार के देशों में भी है। परम्परा से कथा तो यह चली आती है कि उन्होंने एक घूंट में समुद्र का सारा पानी पी लिया था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि साहित्य में भारतीय द्वीपसमूह और दक्षिणापथ का सबसे पहला ज़िक्र 'रामायण' में आता है और अगस्त्य को 'शिव-गुरु' के रूप में दक्षिण भारत और दक्षिण पूर्व एशिया दोनों में संरक्षक सन्त के रूप में पूजा जाता है। टिनेवेली में एक अगस्त्य पर्वत है। दक्षिण में आर्य बस्तियां बसाने का अपना काम सम्पन्न करने के बाद उन्होंने इसी पर्वत पर अपना आश्रम स्थापित किया और शेष जीवन संन्यासी की तरह बिताया था। तमिल साहित्य में लिखा है कि शिव ने अपने बस्तियां बसाने के काम के लिए अगस्त्य को ही सर्वाधिक उपयुक्त पात्र समझा था। शिव की ही प्रेरणा से ताम्रपर्णी नदी के किनारे अपने आश्रम में अगस्त्य ने अपना बृहद् व्याकरण 'अगस्त्यम्' का सृजन किया था। यही व्याकरण तमिल भाषा और साहित्य का मूलाधार है। कहा जाता है कि उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र पर एक पुस्तक 'सकलाधिकारम्' भी लिखी थी। एक अन्य प्रसिद्ध कथा है कि अगस्त्य ऋषि अपने कृषक साथों को कृष्ण की जन्मभूमि से लाए थे। अगस्त्य के साथ उनकी विख्यात पत्नी सती लोपामुद्रा भी थीं।

रामचन्द्र का अभियान आक्रामक कार्य न था। पहले से ही ब्राह्मण धर्म प्रचारक मन्द गति से और शान्तिपूर्वक दक्षिण में प्रवेश कर रहे थे इस अभियान ने केवल इस प्रदेश की गति को तीव्र कर दिया। रामचन्द्र की विजय के पश्चात् वानरों और राक्षसों के क्षेत्र आर्य-शासन के अन्तर्गत संरक्षित राज्य बन गए। इस प्रकार एक 'सनातनिक साम्राज्यवाद' की नींव पड़ी। इसी साम्राज्यवाद को पहली बार 'अर्थशास्त्र' में सुव्यवस्थित रूप से नियोजित किया गया।

आर्य संस्कृति की विशेषताओं का आधार क्षत्रिय नहीं वरन् ब्राह्मण ऋषि और कवि थे। स्वयं रामायण के सृजन में यह सुस्पष्ट है। तमसा नदी के किनारे वाल्मीकि ने एक मादा क्रौंच पक्षी की करुण पुकार सुनी, जिसके नर को किसी शिकारी ने निर्दयता पूर्वक मार डाला था। महान् कवि और द्रष्टा वाल्मीकि का हृदय रोष और करुणा से भर उठा और उनके मुख से अनायास संस्कृत साहित्य का पहला श्लोक फूट पड़ा। भारतीय सभ्यता का पवित्रतम मूलमंत्र ही करुणा है—मोक्ष ज्ञान अथवा पूजा नहीं। आदिकवि ने राम द्वारा सीता के परित्याग तक रामायण लिखी थी। आनन्दवर्धन (८२० ईस्वी) ने लिखा है कि आदिकवि गहनतम करुणा की सृष्टि कर सकने में सफल हो सके थे।

रामायण का चीनी रूपान्तर भी उपलब्ध है। यह रूपान्तर मूल संस्कृत पाठ से चीनी भाषा में ४७२ ईस्वी में किया गया था। रामायण में सबसे अधिक जोर भ्रातृप्रेम और सौहार्द पर दिया गया है। राजा का नाम है दसविसाड (दस-रथ)। भरत की माता के प्रयत्नों से जब राम (चीनी अनुवाद में लोमो) को वनवास दे दिया गया तब भरत ने सम्पूर्ण श्रद्धा और आदर के साथ अग्रज राजपाट देना चाहा। किन्तु राम वनवास के पूरे बारह वर्ष बिताने पर जोर देते हैं। राम के वापस लौटने पर भरत और राम एक-दूसरे को गद्दी सौंपना चाहते हैं, किन्तु कोई स्वीकार नहीं करता। अन्त में बड़े भाई को ही झुकना पड़ता है। चीनी रामायण में भ्रातृप्रेम और पितृभक्ति की महिमा बखानी गई है। ये ही गुण प्रत्येक जम्बूद्वीपवासी को स्थायी प्रसन्नता और समृद्धि प्रदान करते हैं।

महाभारत भरतवंशियों की महान् प्रसरणशील संस्कृति

राजा पुजारी योद्धा और जनसामान्य एक सर्वमान्य धर्म के अनुसार आचरण करते थे। धर्म ने ही एकरूपात्म अनुष्ठान और संस्कार तथा तीर्थ व्यापकताबद्धता और करुणा प्रदान किए हैं। धर्म की ही प्रेरणा से उत्तर-दक्षिण का समन्वय हो पाया और धीरे-धीरे भारतीय सभ्यता की आधारभूत चारित्रिक एकता का निर्माण हुआ था। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से महाभारत का अर्थ है भरतवंशियों के युद्ध की महान कथा (इतिहास)

महाभाग्यं च नृपतेर्भारतस्य महात्मनः।
यस्येतिहासो द्युतिमान्महाभारतमुच्यते॥

(आदिपर्व ४६ ११)

अथवा 'भरतवंशियों की पवित्र पापविनाशिनी कथा'

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।
भरतानां महत्पापमितिहासो महाद्भुतः॥

(आदिपर्व ४० १२)

पहले अर्थ का सम्बन्ध भरतवंश के शौर्यपूर्ण कार्यों से है और दूसरे का सम्बन्ध कृष्ण के मुक्तिप्रदाता उपदेश से। अतः महाभारत एक मोक्षशास्त्र ('मोक्षशास्त्रमिदम्') अथवा कृष्ण का वेद ('कार्ष्णं वेदमिमम्') (आदिपर्व १८ २१ ६२), समस्त श्रुतियों का सार (अश्वमेधपर्व ११) है। भरतवंशियों की संस्कृति भाषा और विद्या भरत

और भारती अथवा सरस्वती अभिन्न है

ईरयन्तं भारतीं भारतानामभ्यर्चनीयां मधुरीं नु वचामाम्।
(उद्योगपर्व २-७१)

अतः महाभारत का अर्थ है भारतवर्ष की महान संस्कृति।

महाकाव्य में इस संस्कृति के मूर्तिमान प्रतीक हैं कृष्ण और अर्जुन के जीवन मन। वे दोनों अविभाज्य हैं और काव्य के संरक्षक देवताओं नर और नारायण के अवतार हैं। इस महाकाव्य का जिक्र सबसे पहले अष्टाध्यायी में मिलता है जिसमें वासुदेव तथा अर्जुन के प्रति भक्ति-सम्प्रदाय का जिक्र भी है (४ ३ ९८)। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि वासुदेव कृष्ण का ही नाम है। अर्थात् व कृष्ण वासुदेव हैं उन्हें सर्वोच्च देवता विष्णु का अवतार माना गया है और उनके आराधकों को वासुदेवक कहा जाता है। महाभारत का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

इस महाकाव्य में कृष्ण और अर्जुन की अविभाज्यता के समान कृष्ण और धर्म तथा धर्म और जय की अविभाज्यता की महिमा भी वर्णित है। अर्जुन द्वारा अपने सारथी के रूप में कृष्ण को चुनना तथा देवताओं की सहायता को छोड़ केवल एक कृष्ण की सहायता को स्वीकार करने का अर्थ था अर्जुन तथा सभी पाण्डवों का धर्म से बंध जाना और इस प्रकार उनकी विजय अवश्यम्भावी हो जाती है। यहां तक कि जहां-जहां अर्जुन युधिष्ठिर और भीम विजय प्राप्त करने के लिए निम्नकोटि की युक्तियों अथवा छल कपट का सहारा लेते हैं वहां भी कृष्ण प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे धैर्यहीन आचरण का समर्थन करते हैं महाकाव्य में इन सबका दायित्व बेहिचक पूरी तरह कृष्ण पर डाल दिया गया है। कारण, कृष्ण ईश्वर हैं और मानवीय घटनाक्रम का दायित्व निभाने में पूरी तरह समर्थ। एक बार धर्म को चुन लेने के बाद अन्तिम परिणाम निश्चित हो जाता है।

अन्त में, महाभारत का अर्थ वह विशाल भू भाग भी है जो महासागर के उत्तर और हिमाच्छादित पर्वतों के दक्षिण में स्थित है इसके सभी निवासी भरत के उत्तराधिकारी हैं। इस महाकाव्य में भरतवंशियों के नेतृत्व में आर्य बस्तियों के प्रसार-कार्य की प्रशंसा की गई है—वे लोग सप्त-सरस्वती-क्षेत्र के अपने मूल निवास से चलकर दक्षिण में गोदावरी के पार तक और पूर्व में लौहित्य अथवा ब्रह्मपुत्र के पार तक पहुंचे थे। इस महाकाव्य की सरिता-स्तुति ने प्राचीन ऋग्वैदिक स्तुति का स्थान ले लिया। इसमें भौगोलिक सीमाओं का विस्तार स्पष्ट है। यह स्तुति आज भी दैनिक प्रातःस्नान के समय की जाती है "गंगा यमुना गोदावरी सरस्वती नर्मदा सिन्धु कावेरी आप सब भी इस पावन जल के साथ-साथ मुझे शुद्ध करें।" महाभारत में दिखलाया गया है कि अपने निष्कासन-काल में पाण्डु राजकुमार अर्जुन और भीम भारत के दूरस्थ प्रान्तों में गए थे जहां उस समय तक आर्य नहीं पहुंच पाए थे। इसीलिए कहा जाता है 'जो कुछ महाभारत में मिलता है वह भारत में कहीं न कहीं मिल सकता है जो कुछ महाभारत

में प्राप्य नहीं, वह कहीं नहीं मिल सकता।' किन्तु आर्य सभ्यता का केन्द्र अभी भी मध्य देश का पश्चिमी भाग ही था। मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र तक का जिक्र इस महाकाव्य में नहीं है। फिर भी प्राचीनतर राजधानी गिरिव्रज का जिक्र महाभारत में अवश्य आता है जहां अनेक राजाओं को कैद करके इसलिए रखा जाता था कि उनकी हत्या की जा सके "जैसे पहाड़ों की गुफाओं में शक्तिशाली हाथियों को सिंह घेर कर रखता है। इन राजाओं की प्राणरक्षा महाभारत के नायक और स्वाराध्य देवता कृष्ण के नेतृत्व में पाण्डु राजकुमार करते हैं।

कूटनीतिज्ञ और संयुक्त भारत के निर्माता—कृष्ण

वासुदेव कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे काल्पनिक नहीं। वे लगभग १०० ईसापूर्व में जीवित थे और भारत के महानतम योद्धाओं और ऋषियों में से एक थे। एक परवर्ती अध्याय में हम कृष्ण का जिक्र योद्धा और कूटनीतिज्ञ के रूप में नहीं बल्कि ऋषि और उपदेशक के रूप में करेंगे। वे मथुरा और द्वारका के यादवों की सात्वत अथवा वृष्णि जाति के मुखिया और वृष्णि यादव अन्धक कुकुर और भोज नामक गणतांत्रिक जातियों के संघ के नेता थे। इसी संघ ने मथुरा के राजा कंस के निरंकुश शासक बनने के प्रयत्न को विफल कर दिया था। महाभारत में कृष्ण मथुरा और द्वारका के राजा पाण्डवों के मित्र और परामर्शदाता तथा एक संयुक्त भारत के निर्माता हैं—यह संयुक्त भारत था महाभारत के युद्ध में कौरवों की पराजय के बाद स्थापित पांडव साम्राज्य जिसपर युधिष्ठिर ने युद्ध के लगभग ३६ वर्ष बाद तक शासन किया था। इस युद्ध का समय विद्वान लोग लगभग ११०० ईसापूर्व बताते हैं जब भारत में आर्यों की विजय का प्रारम्भ ही हुआ था। मालवा राजपूताना गुजरात और दक्षिण में आर्य बस्तियां बसाने के कार्य में यादवों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था और ऐसा मालूम पड़ता है कि उनकी जाति पर्याप्त मिश्रित हो चुकी थी। पुराणों के अनुसार, यादव जाति की तुलना असुर जाति से की जा सकती है। यादवों के साथ कृष्ण का सम्बन्ध इसी बात का सूचक है कि यादवराज—जिन्हें कुछ कुम्भकारों ने बाह्य कहा है—ने पश्चिमी भारत और दक्षिण के असुरों के आर्यीकरण में नेतृत्व ग्रहण किया था।

किन्तु कृष्ण की महत्तम ऐतिहासिक उपलब्धि थी महाभारत युद्ध के परिणाम स्वरूप संयुक्त भारत की स्थापना। इस महाकाव्य में युद्धस्थल सतलज और यमुना नदियों के बीच के क्षेत्र में स्थित दिखाया गया है यह ध्यान देने योग्य है क्योंकि भरत वंश के आदिकालीन योद्धा शासकों के समय में वैदिक संस्कृति का मूल स्थान यही क्षेत्र था। महाकाव्य में इसे भरतवंशियों के नये साम्राज्य का केन्द्र बनाकर इस पवित्र क्षेत्र को एक बार फिर सर्वोच्च राजनीतिक महत्त्व प्रदान किया गया है। महाभारत युद्ध के वर्णन में सम्पूर्ण भारत का जिक्र है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि पूर्वी उत्तर पश्चिमी और पश्चिमी भारत के पाण्डवों के विरोध में और मध्य देश तथा गुजरात पक्ष में थे। फिर भी महाभारत में विजय अस्त्र-शस्त्रों कूटनीति अथवा छल-कपट के कारण नहीं वरन् धर्म के कारण हुई जिसके उच्चतम मूर्तिमान प्रतीक महाकाव्य में ही स्वय

कृष्ण हैं। मानव प्रारम्भ के उत्तार चढ़ाव से निर्मित महाभारत की रोमांचक कथा के लगभग प्रत्येक खण्ड में सबल कहा गया है कि अधर्म से मनुष्य का अस्थायी लाभ तो अवश्य होता है किन्तु अन्त में अवश्यंभावी विनाश ही होता है जिसका कोई समाधान नहीं है। धर्म शाश्वत है। सुख और दुख क्षणिक हैं। अतः किसी लालसा अथवा लाभ के लिए, भय के कारण अथवा भौतिक अस्तित्व की सुरक्षा या व्यक्ति विस्तृति के लिए धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। युगों युगों से यही भारत की वाणी है। धर्मपथ पर चलने से मानव की सभी आकांक्षाएं पूरी हो जाती हैं। मानवीय जीवन और ब्रह्माण्ड के धारणात्मक धर्म के सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी प्रारब्ध के प्रतीक हैं कृष्ण। महाभारत में बार-बार कहा गया है जिस पक्ष के साथ कृष्ण हैं उसी पक्ष के साथ धर्म भी है और धर्मविसम्बित पक्ष की विजय निश्चित है। भगवद्गीता के अन्तिम और शायद सबसे अधिक अर्थयुक्त श्लोक में कहा गया है

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

(अर्थात् जहां योगेश्वर कृष्ण तथा गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन हैं वहीं पर श्री विजय, विभूति और अचल नीति है।)

महाभारत के युद्ध का परिणाम

मुसलपर्व में कृष्ण की मृत्यु का वर्णन महाभारत के सर्वाधिक प्रभावशाली और नाटकीय प्रसंगों में से एक है। कृष्ण के सम्बन्धियों अर्थात् द्वारका के वृष्णियों के विनाश और स्वार्थ ने उनका अपना विनाश तो किया ही, अजित और दुखी कृष्ण और बलराम को भी इस संसार का त्याग करने पर विवश कर दिया। महाभारत युद्ध के पश्चात् सुख और विजय-मदोन्मत्त वृष्णि मदो और आमोद प्रमोद में डूब गए और उनमें आपसी कलह का सूत्रपात हुआ। अपने मदानी आवेश में उन्होंने अपना ही सर्वनाश कर लिया। यहां तक कि समुद्र के किनारे उगी हुई लम्बी पतली घास से भी मृत्यु का व्यापार करनेवाले भालों का काम लिया और विचारहीन विनाश किया। एक बार धृष्ट और मर्यादाहीन वृष्णियों ने अपने मद में चूर कुछ ऋषियों का घोर अपमान किया था और ऋषियों ने शाप दिया था कि उनका विनाश हो जाए। यह शाप सत्य हुआ। नगर में मृत्यु का साम्राज्य था। शेष सम्पूर्ण जनता का पूर्ण चारित्रिक पतन हो गया। यह देखकर बलराम धरती पर बैठ गए और उन्होंने समाधिस्थ होकर अपना प्राण त्याग दिया। कृष्ण भी वनों से भरे-पूरे सागर तट पर चले गए और जमीन पर लेटकर ध्यानस्थ हो गए। एक शिकारी को लगा कि पेड़ों के बीच कोई जंगली जानवर आराम कर रहा है और उसने अपना तीर चला दिया। तीर उनके पैर के तलवे में बिंध गया। इस प्रकार कृष्ण-वासुदेव ने अपने मानव-शरीर का त्याग किया और पृथ्वी पर अवतार रूप में उनके कार्यों का अन्त हुआ।

कृष्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर अर्जुन द्वारका आए। वहां की विनाश-लीला देखकर उनका हृदय अपार दुख से भर गया। वे कृष्ण की सोलह हजार पत्नियां

वृद्धों और बच्चों को अपने साथ लेकर द्वारका से कुरुक्षेत्र की ओर चल पड़े। रास्ते में डाकुओं ने दल पर हमला कर दिया और अनेक स्त्रियों का अपहरण कर लिया। अर्जुन को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनका पहले का शौर्य एकदम गायब हो चुका है और वे इतने कमजोर हो गए हैं कि अपना प्रसिद्ध गाण्डीव धनुष तक नहीं उठा सकते। अर्जुन की आत्मा कृष्ण हैं और कृष्ण की आत्मा अर्जुन (सभापर्व ११ ५१)। इसके अतिरिक्त अर्जुन कृष्ण के प्रदांग हैं (द्रोणपर्व १२ ७७)। फिर क्या आश्चर्य कि अपनी परम आत्मा ईश्वरावतार कृष्ण के प्रस्थान के पश्चात् अर्जुन शक्तिहीन हो गए और अपने सम्बन्धियों तक की रक्षा करने में असमर्थ रहे।

लगभग १००० ईसापूर्व भरत राजवंश के सदस्यों के बीच हुए इस क्रूर युद्ध का भारतीय जनता के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के बाद वीर प्रशस्तियां जातियों के इतिहास, कहानियां और उपदेश आपस में गुंथकर 'महाभारत' का रूप धारण कर सके और इस प्रक्रिया में लगभग १००० वर्ष लग गए। यह प्रक्रिया ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही पूरी हो सकी। पाणिनि और आश्वलायन दोनों ने 'भारत' और 'महाभारत' का जिक्र किया है। व्यास का मूलग्रन्थ 'भारत' था जिसमें २४००० छन्द थे। पीढ़ी दर पीढ़ी इसका प्रचलन चारणों द्वारा होता रहा और बाद में अनुयायियों ने इसमें अनेक आख्यायिकाएं और जनश्रुतियां तथा नैतिक एवं धार्मिक बातें जोड़कर इसे 'महाभारत' का विस्तृत रूप दिया। परम्परा के अनुसार आश्वलायन को शौनक का शिष्य कहा जाता है। महाभारत को अन्तिम रूप प्रदान करने में शौनक का भी योग था। इस महान् काव्य की प्रेरणा और रूपरेखा निःसन्देह व्यासदेव से जो अपने समय के सर्वाधिक प्रतिष्ठित कवि और ऋषि थे मिली थी।

कृष्ण-द्वैपायन एक नवीन धर्म और दर्शन के कवि एवं द्रष्टा

कवि व्यास और महावीर कृष्ण भारतीय संस्कृति के दो विशिष्ट स्तम्भ हैं। व्यास एक आदर्श द्रष्टा, तपस्वी और सिद्धपुरुष हैं। कृष्ण हैं अतिमानव और धर्मार्थ युद्ध में सर्वत्र विजयी योद्धा और नायक। महाभारत विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण में द्रष्टा और नायक दोनों की समान प्रशंसा की गई है। द्रष्टा को सम्मानजनक पदवी वेदव्यास प्रदान की गई है और कहा गया है कि उन्होंने ही मूल वेद को चार संहिताओं में विभाजित किया और प्रत्येक के शिक्षण का भार अपने चार अलग अलग शिष्यों को सौंप दिया। निस्संदेह यह कल्पना-मात्र है। किन्तु महाभारत के मूल रूप और भगवद्गीता के रचयिता व्यास अर्थात् कृष्ण-द्वैपायन निश्चित रूप से हमारी श्रद्धा के अधिकारी हैं। कारण उन्होंने ही कृष्ण भागवत् धर्म अथवा एक नवीन 'पांचरात्र' धर्म का प्रतिपादन किया था और यह भी इस ढंग से कि उनका धर्म जैन और बौद्ध धर्मों की भांति पृथक् नहीं बन गया बल्कि औपनिषदीय दर्शन में पूरी तरह घुल मिल गया। इसके अतिरिक्त व्यास ने जोर दिया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मान्यता के अनुसार धर्म का पालन करने की स्वतन्त्रता हो। उन्होंने शैव और वैष्णव धर्मों के प्रति सहिष्णुता और उदारता पर भी जोर दिया। तभी से यह सहिष्णुता और उदारता सामान्य हिन्दू धर्म का विशिष्ट गुण है। गीता में एक प्रकार

की सार्वभौमिकता और समन्वयी गुण है। यही कारण है कि उसे श्रुति के बाद पहला और ब्राह्मण धर्म में सर्वोच्च स्मृति का स्थान दिया गया है। यह उचित भी है। वैदिक साहित्य में द्रष्टा के रूप में व्यास का जिक्र कहीं नहीं है। तीनों वेदों के पुनर्गठन में भी उनका वास्तव में कोई हाथ न था। वेद तो महाभारत-युग के बहुत पहले से ही मौजूद थे। उप युक्त कथा का सूत्रपात ब्राह्मण धर्म में उनके नाम को पूज्य बनाने के विचार से ही किया गया था। इसके बावजूद भागवत धर्म के विचारक और सम्प्रेषक के रूप में वे हमारी असीम श्रद्धा के अधिकारी हैं। वे कवि थे कथाकार थे राजनीतिज्ञ थे और महर्षि थे। उन्हें पूरी तरह महसूस था कि अपराजेय विदेशी बर्बरों अर्थात् दारुण म्लेच्छों के जो गंगा की पवित्र भूमि में प्रवेश करते चले आ रहे थे आक्रमणों और विजयों से भारतीय भूमि और धर्म को कितना बड़ा खतरा था। इसी कारण वे महत्तर कीर्ति के अधिकारी हैं।

एशियाई संस्कृति में भारतीय महाकाव्यों का स्थान

महाभारत एक संयुक्त भारत की महिमा का वर्णन है। इस संयुक्त भारत पर युधिष्ठिर का शासन था जिन्हें चक्रवर्ती कहा गया है। उनकी राजधानी उस पवित्र भूमि पर थी जो कभी वैदिक ज्ञान और संस्कृति के लिए प्रसिद्ध थी। किन्तु महाभारत इतना ही नहीं है। यह जीवनमय कल्पनाओं प्रेम और वीरतापूर्ण घटनाओं सत्यनिष्ठा और दुष्टता की कहानियों कहावतों और उपदेशों आत्मसंयम और तपस्या का कोष भी है। इन्होंने भारतीय जनता का ही नहीं वरन् मध्य और पश्चिमी एशिया से लेकर जावा कम्बोडिया और बाली द्वीप की जनता के आचार-व्यवहार का भी निर्धारण किया है। आज भी महाभारत की कहानियां दक्षिणी और पूर्वी एशिया के अनेक देशों में आधुनिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुसार कही जाती हैं और उनका नाटकीकरण तथा रूपान्तरण किया जाता है जैसे अतीत में शिलालेखों में चर्चित और कलाकृतियों में अंकित किया जाता था। महाभारत अनिवार्यतः भारतीय संस्कृति है। यह तथ्य भारत देश तथा मध्य और दक्षिणी एशिया के हिन्दू उपनिवेशों और राज्यों के लिए समान रूप से सत्य है। दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रसिद्ध इतिहासकार कोडीज का कथन है "बृहत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक दर्शक राम और सीता के कष्टों पर आज भी आंसू बहाते हैं।" इसी प्रकार इण्डोनेशिया में आज भी कुरुओं और पाण्डवों की कहानी के आधार पर अनेक नाटक कठपुतली के तमाशे और लीलाएं प्रस्तुत की जाती हैं। जावा में भारतीय महाभारत के आदि, विराट और भीष्मपर्वों का कवि भाषा में संक्षिप्तीकरण कर लिया गया है जिसका पठन-पाठन बड़े पैमाने पर होता है। जावाई लेखक ने गीता के अधिकांश का संक्षिप्तीकरण कर लिया है और उसके श्लोकों को उद्धृत करते हुए टिप्पणियां की हैं। इण्डोनेशिया बर्मा स्याम और कम्बोडिया के साहित्यों ने अपना कच्चा माल रामायण और महाभारत से प्राप्त किया है। भारत के समान इन देशों में भी हनुमान सुग्रीव और अंगद ने मानव-चरित्र को सांचे में ढाला है। इस महाकाव्य में इतना सार्वभौम आकर्षण इसलिए है चूंकि यह तत्कालीन ब्राह्मण के व्यापक धर्मों में एक इतिहास है—सार्वकालिक और सार्वदेशीय मूलभूत घटनाओं का वृत्तान्त है। इसकी मूल कथावस्तु है वेदों और

असुरों का प्राचीन काल्पनिक संघर्ष जिन्हें पाण्डवों और कौरवों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इसमें मानवता की अच्छाई और कुटिलता दोनों का वर्णन है और वे दोनों विशिष्टताएं मानव की हर पीढ़ी में और हर देश में मौजूद हैं।

अर्जुन की भक्तिपरता और अभ्यस्त विनय, भीष्म की सात्विकता और विवेक युधिष्ठिर का शान्त स्वभाव और न्यायप्रियता तथा सावित्री, द्रौपदी तथा दमयन्ती के माधुर्य और सतीत्व ने करोड़ों व्यक्तियों के चरित्र और स्वभाव का निर्माण किया है— और वह भी इस सीमा तक कि किसी भी दूसरे देश की कथाओं अथवा अनुभूतियों में इसका समकक्ष ढूंढना मुश्किल है। अतीत के बड़े-बड़े राजा महाभारत के योद्धाओं के अनुकरण का प्रयास करते थे। श्री पुलुमायि के नासिक शिलालेख में लिखा है कि 'उसका शौर्य महाभारत के नायकों के समान था।' अर्जुन और युधिष्ठिर को, जिनके जीवन की नाटकीय घटनाओं को अनेक व्यक्ति इस महाकाव्य का मुख्य प्रसंग मानते हैं अब भी भारतीय पुरुष के आचार-व्यवहार के आदर्श हैं। आज भी देश के कोने-कोने में विवाहित स्त्रियां सावित्री के सम्मान में व्रत रखती हैं और त्योहार मनाती हैं ताकि उनका वैवाहिक जीवन सुदीर्घ और सुखी हो सके।

फिर भी महाभारत का वैभव केवल उसके विधात आख्यान में नहीं है। इसने भारत के लिए एक नया जीवनदर्शन प्रदान किया है जो कृष्ण भागवत् धर्म के भक्ति सम्प्रदाय पर आधारित है और भगवद्गीता तथा नारायणीय खण्ड में जिसकी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। भगवद्गीता में ईश्वर के विराट् रूप का वर्णन है और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है ईश्वर की मानवता की चेतना—सभी मानवों और सभी मानवीय सम्बन्धों में ईश्वर की खोज। भारतीय संस्कृति के इस नये तत्त्व का विवेचन बाद के एक अध्याय में किया जाएगा।

समाज के संगठन के बारे में भी महाभारत प्रामाणिक है। इसकी उद्घोषणा है कि 'चारों वर्णों में विभाजन का आधार जन्म नहीं कर्म है। पहले सम्पूर्ण संसार का एक ही वर्ण था। बाद में मनुष्य के आचार व्यवहार और व्यवसाय के कारण चार वर्णों में विभाजन हुआ।' इसमें कहा गया है कि चरित्रबल ही ब्राह्मणत्व की पहली शर्त है और वर्णों में एक सुव्यवस्थित अथवा आध्यात्मिक धर्म-परम्परा विद्यमान है। विभिन्न वर्ण अलग अलग अपने विशिष्ट कार्यों (स्वधर्म) का प्रतिपादन करते हैं और साथ ही वे आपस में संयुक्त और सहयोजित भी होते हैं। इस प्रकार वे ऋत अथवा धर्म को बनाए रखते हैं और अपने-अपने स्तर पर 'पुरुष' के आद्य उत्सर्ग के प्रतीक हैं तथा उस पुनः-पुनः प्रतिष्ठित करते हैं। समाज का यही धर्म है। इसका पालन न करना अधर्म अथवा पाप है क्योंकि ऐसा करने से सामाजिक व्यवस्था और ऋत दोनों का ही खंडन होता है। इसके अतिरिक्त "संसार की भलाई और धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने चार आश्रम बनाए हैं (शान्तिपर्व १९१)। ये चारों आश्रम हैं विद्यार्थी-जीवन (ब्रह्मचर्य) विवाह और व्यवसाय (गृहस्थ) धन-धान्यप्राप्ति और जीवन की सात्त्विक सरलता (वानप्रस्थ) तथा सम्पूर्ण त्याग (भिक्षु अथवा संन्यास)। सभी के लिए उपर्युक्त नैतिकता निम्न उक्ति में निहित है "किसी भी व्यक्ति को पीड़ा न पहुंचाकर, सत्य बोलकर, और क्रोध का दमन

करके जीवन के चारों आश्रमों में तपस्या का सुफल प्राप्त किया जा सकता है।"

महाभारत में मानव प्रकृति के अनेक रूप हमें देखने को मिलते हैं। उद्दण्डता, लोभ और वासना की मूल दुष्प्रवृत्तियां भी हैं और आत्मसंयम, ज्ञान तथा करुणा का ऐश्वर्य और पूर्णत्व भी। तब से शताब्दियां बीत चुकी हैं भारत में अनेक साम्राज्यों राजवंशों और जातियों का उत्थान और पतन हुआ है किन्तु शताब्दियों से यह महान् महाकाव्य भारतीय जनता के लिए व्यावहारिक बुद्धि और लोकप्रिय आदर्शों का एक अजस्र स्रोत है और प्रत्येक सामाजिक संकट अथवा वैयक्तिक दुर्भाग्य को नये अर्थ मूल्य और आकांक्षाएं प्रदान करता है। महाभारत आज भी उतना ही जीवन्त है जितना जनमेजय के विशाल नागयज्ञ के समय था, जब वेदव्यास के प्रथम शिष्य वैशम्पायन ने नैमिषारण्य के आश्रम में उपस्थित ऋषियों और योद्धाओं के सम्मुख सम्पूर्ण कथा का वर्णन किया था। यही कारण है कि भारत आज भी श्रद्धापूर्वक महाभारत के अमर रचयिता व्यास की पूजा करता है।

"जो ब्रह्मा है किन्तु चतुरानन नहीं
जो विष्णु है किन्तु जिसके केवल दो हाथ हैं,
जो शंकर है किन्तु जिसके तीसरा नेत्र नहीं है
विष्णु के रूप में व्यास और व्यास के रूप में विष्णु
उस वशिष्ठ के उत्तराधिकारी आत्मज्ञानी को मैं नमन करता हूं।"

अध्याय ४

प्रथम सुधार-युग

आजीविकधर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म

कर्मकाण्ड के विरुद्ध विद्रोह

वैदिक समाज के धार्मिक संस्कारों और यज्ञ ने क्रमशः एक सुनिश्चित विस्तृत और रक्त-पातमय सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। इससे लाभ केवल पुजारियों को था। जनता इससे अधिकाधिक पीड़ित होती गई। वैदिकोत्तरयुग में अनेक सुधारवादी दर्शनों और सम्प्रदायों का उदय हुआ। यह उदय विशेष रूप से मगध और विदेह के अर्द्ध-ब्राह्मण क्षेत्रों में हुआ। सच तो यह है कि वैदिक ब्राह्मण सीमाओं के भीतर ही कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो आन्दोलन चल पड़ा उसमें भारतीय तत्त्वदर्शन और चिन्तन का बहुत विकास हुआ। मुण्डक, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों के अनेक अंशों में पुजारीपन को मूढ़ता और कर्मकाण्ड को पाखण्ड बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के एक अंश में तीखे व्यंग्यात्मक लहजे में लालची कुत्तों के एक दल का वर्णन किया गया है जो ब्राह्मण पुजारियों की भांति 'ओ३म् ओ३म्' की रट लगाए थे। वास्तव में उस समय के ब्राह्मण अत्यधिक लोभी हो चुके थे और उन्होंने अनेक विशेषाधिकार हस्तगत कर लिए थे।

मूढ़ कर्मकाण्ड के विरुद्ध क्रान्ति के सामान्य बौद्धिक वातावरण में याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित प्रसिद्ध सिद्धान्तों का उदय हुआ। पहला सिद्धान्त था आत्म को ब्रह्माण्ड में लीन कर देना अर्थात् आत्मविद्या और दूसरा ब्रह्म को विशुद्ध ज्ञान और मोद मानना अर्थात् 'मधुविद्या'। इस महान् द्रष्टा का निश्चित सुधारवादी एकेश्वरवाद मानवीय दर्शन के उच्चतम शिखरों में से एक है। इसने भारतीय दर्शन की मुख्य धारा को युगों-युगों तक बादरायण और शंकर के द्वारा जीवित रखा। छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस के शिष्य कृष्ण देवकीपुत्र स्पष्टतः ब्रह्मज्ञान की पुनर्व्याख्या करनेवाले सुधारकों में से एक हैं। कृष्ण और भागवतधर्म की चर्चा हम बाद में करेंगे।

यूनान और भारत का स्वर्णयुग

ईसापूर्व पांचवीं, छठी और सातवीं शताब्दियों में भारत, ईरान, चीन और फिलिस्तीन तथा यूनान में एकमात्र दर्शन के स्वर्णयुग का सूत्रपात हुआ। फिलिस्तीन में ७५ से १०० ईसापूर्व तक महान् हिब्रू मसीहाओं (एमोस, हासिया, इसाया, मिकाह, यर्मयाह, इज़ेकियल) का बोलबाला रहा। लगभग ६६० ईसापूर्व में मीडिया में जरथुस्त्र

का जन्म हुआ। लगभग ६६०–५५० ईसापूर्व में भारत में प्राचीनतम उपनिषदों की रचना हुई इनमें ऐतरेय बृहदारण्यक और छान्दोग्य थे। बुद्ध (५६३–४८७) महावीर (५९९–५२७) और आजीविक धर्म के नेता मस्करी गोसाल समकालीन थे। चीन में कनफ्यूशस ने अपने उपदेश ५५१–४७९ ईसापूर्व में दिए थे और लाओत्से का समय पाँचवीं शताब्दी है। यूनान में ४६९–३९९ ईसापूर्व में दर्शन के क्षेत्र में सुकरात का बोलबाला था।

भारत में छठी शताब्दी में तप और त्याग का युग आ गया था। इसके उत्थान का कारण सम्भवत आरम्भिक मागध साम्राज्यवाद था। इसी शताब्दी के बाद अनेक तपस्वी-भिक्षुसम्प्रदाय बन गए थे। पाणिनि ने कुमारी श्रमणों तक का जो स्पष्टतः बौद्ध धर्म की अनुयायी थीं तथा ब्राह्मण भिक्षुओं व विधर्मी धार्मिक तपस्वियों अर्थात् श्रमणों और परिव्राजकों का जिक्र किया है। उस महान् वैयाकरण ने अपने समय के दर्शन पर भी दृष्टिपात किया था और समकालीन मतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया था (१) आस्तिक, (२) नास्तिक (३) दैष्टिक। दिष्टमत में मानव के संकल्पों और प्रयत्नों का अभाव है और नियति के प्रति पागलपन की सीमा तक विश्वास है। इस मत के प्रवर्तक मस्करी अथवा मक्खली अथवा मंखि माने जाते हैं। बौद्धग्रन्थों में मस्करी को अत्यन्त निन्दनीय मिथ्यावादी कहा गया है। बौद्धों के आचरण-ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय' में, जिसकी रचना चौथी-तीसरी शताब्दी ईसापूर्व में हुई थी कुछ भिक्षुकपन्थों का जिक्र है आजीविक निर्ग्रन्थ (जैन) मुण्डश्रावक जटिलक परिव्राजक मागण्डिक त्रैदण्डिक अविरुद्धक गौतमक (बौद्ध) और देवधार्मिक।

आजीविक-सम्प्रदाय की स्थापना नन्द वच्छ ने की थी। बाद में किस-संकिच्च और मक्खलि गोसाल इसके नेता हुए। गोसाल बुद्ध और महावीर के समकालीन थे। पाणिनि ने उन्हें परिव्राजक कहा है और उनके अनुयायियों को दैष्टिक। गोसाल की शिक्षा थी कि अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के कर्म का कोई परिणाम नहीं होता। दुष्टता से मुक्ति मनुष्य को अपने कर्मों से नहीं बल्कि जीवन और मृत्यु के अनवरत गतिशील चक्र से मिलती है। जैनधर्म और हिन्दूधर्म दोनों ने आजीविकधर्म की अवज्ञा की किन्तु उसके कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार किया और कुछ का विरोध। एक समय में आजीविकधर्म का प्रसार पश्चिम में सौराष्ट्र से लेकर पूर्व में अंग तक था इसका प्रभाव इतना बढ़ा था कि अशोक और दशरथ दोनों सम्राटों का संरक्षण प्राप्त कर सका यहाँ तक कि इस धर्म की गुफाएं भी अलग हैं। अशोक के साम्राज्य के पश्चिमी भाग के एक राज्यपाल ने तो अशोक को आजीविकधर्मानुयायी बनाने का प्रयास किया था परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली।

आजीविकधर्म जैनधर्म और बौद्धधर्म जैसे सुधारवादी भिक्षुक-सम्प्रदायों का जन्म अपवित्र गंगा-काँठे की ब्राह्मण-संस्कृति की पूर्वी सीमा पर हुआ था। इस प्रदेश में ब्राह्मणधर्म दूषित हो चुका था और बहुदेवपूजा का जिसे बुद्ध ने 'देवधर्म' कहा है प्रचलन था। इन धर्मों की एक दूसरी विशेषता यह थी कि वे क्षत्रिय-जातियों से उदित हुए थे और ब्राह्मणों की जो स्वयं को 'भू-सुर' तक मानते थे प्रधानता और श्रेष्ठता के विरुद्ध विद्रोहस्वरूप थे। द्रष्टव्य है कि उपनिषदों में प्रवाहण जावलि जनक अश्वपति

कैकेय चित्र गांग्यायनि और प्रवाहणजैबालि जैसे अनेक क्षत्रिय दार्शनिक राजाओं की उपस्थिति है। उन सभीने सुधारवादी रहस्यात्मक सिद्धान्तों का विकास किया था। इन सिद्धान्तों में, सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य के सिद्धान्तों के समान आत्म और ब्रह्म को परात्पर माना गया है, यह कल्पना प्राचीन वैदिकयज्ञकर्म के विपरीत थी। प्रारम्भ में ये सिद्धान्त क्षत्रियों में अधिक प्रचलित थे किन्तु बाद में ब्राह्मणों ने भी इन्हें ग्रहण कर लिया। इसी बौद्धिक क्रान्ति का भाष्य बृहदारण्यक उपनिषद् में है। ब्राह्मणक्षेत्रों से बाहर तथाकथित राजविद्या अर्थात् द्रष्टा राजाओं (भगवद्गीता के राजर्षियों) की विद्या का विकास हुआ। *जैनधर्म और बौद्धधर्म ने इस क्षत्रिय धार्मिक उदारता और विद्रोह की परम्परा* को और आगे बढ़ाया।

अपरिपक्व और अर्धसभ्य सम्प्रदायों की बहुलता

अनेक ऐसे सम्प्रदाय भी उदित हुए जो त्याग जिज्ञासा और नास्तिकवाद के युग में अपरिपक्व विचित्र और अर्धसभ्य तक मालूम पड़ते थे। उनकी बहुलता और व्यर्थता के बारे में बुद्ध ने 'ललितविस्तर' में कहा है "और मैं ऐसे लोगों के बीच जन्मा हूं जिनकी बौद्धिक मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। मेरे चारों ओर सत्य के उद्‌घ दर्शों का समूह है और उनकी इच्छाएं अनेकानेक हैं। मेरा जन्म ऐसे समय में हुआ है जब उनकी सामर्थ्य उनकी शारीरिक आवश्यकताओं के पंजे में कराह रही है। मूर्ख व्यक्ति पवित्रता और तप के विभिन्न उपायों से अपने शरीर के परिष्कार का प्रयत्न करते हैं और चाहते हैं कि उनके अनुयायी भी यही करें। उनमें से कुछ तो अपने मर्मों के मर्म तक नहीं समझते कुछ हाथ चाटते हैं कुछ अयत्न नग्न रहते हैं कुछ लोगों के अपने मंत्र नहीं हैं कुछ विभिन्न घाटों के पीछे भागते रहते हैं। गाय हिरन घोड़े सूअर बन्दर या हाथी की पूजा करनेवाले लोग भी हैं। कुछ लोग पैर मोड़कर एक स्थान पर चुपचाप बैठ जाते हैं और महानता प्राप्त करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक धुआं या धाम पीकर, सूर्य की ओर ताकते रहकर पञ्चाग्नि जलाकर, एक पैर पर खड़े रहकर एक हाथ सदा ऊपर उठाए रखकर या घुटनों के बल चलकर अपने तप की सम्पूर्ति करना चाहते हैं।

जैनधर्म म मानव जिन एव तीर्थंकर

जैनधर्म का प्रारम्भ गंगा की पूर्वी घाटी में एक सुधार आन्दोलन के रूप में हुआ था। इसके सूत्रधार क्षत्रिय नेता थे और प्रारम्भ में क्षत्रियों ने ही इसे स्वीकार किया। बनारस के किसी राजा के पुत्र पार्श्व जो सम्भवत: ऐतिहासिक व्यक्ति थे चार आदेशों वाले एक धर्म का पालन करते थे और दूसरों को भी इसकी शिक्षा देते थे। यह धर्म महावीर के धर्म जैसा था। इस धर्म के चार आदेश थे जीव-मात्र को पीड़ित न करना सत्य बोलना चोरी न करना और सम्पत्ति का स्वामी न बनना। उनकी मृत्यु महावीर से लगभग ढाई शताब्दी पहले बंगाल में सम्मेत पर्वत पर हुई। पार्श्व जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकरों में से एक हैं।

महावीर वर्धमान वैशाली के एक यश अथवा ज्ञात वंश के धनी क्षत्रिय के पुत्र थे और इसीलिए बौद्धों ने उन्हें निगण्ठ (बन्धनमुक्त) नातपुत्त कहा था। उनका विवाह हुआ और एक पुत्री अनोज्जा या प्रियदर्शना पैदा हुई। इसके पश्चात् तीस वर्ष की अवस्था में वे संन्यासी हो गए और घोर तप करते हुए ध्यान में मग्न रहने लगे। बारह वर्ष की तपस्या के बाद उन्हें जृम्भिकग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर एक शालवृक्ष के नीचे दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई। तब उन्होंने तीर्थंकर के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया। नगर-नगर घूमकर वे एक नये धर्म का प्रचार करने लगे और अनेक भिक्षु तथा सामान्य व्यक्ति विशेषरूप से चम्पा वैशाली राजगृह मिथिला और श्रावस्ती नगरों के निवासी उनके धर्म के अनुयायी बन गए।

महावीर के अनुसार मानव सतत निर्माणशील (वर्धमान) है और पूर्णता की ओर सर्वदा गतिशील है, यहाँ तक कि वह केवलिन बनकर इस पार्थिव संसार से ऊपर उठकर आलोक में पहुँच जाता है जहाँ से फिर कोई वापस नहीं आता। वहाँ वह सम्पूर्ण सुख ज्ञान और धर्म का भागी बनकर चमकता है। जैनधर्म में मानव को जिन और तीर्थंकर माना गया है। उसकी नियति है कि वह पतनकारी सांसारिक कर्मों के बंधन से स्वयं को मुक्त करे। पवित्रता और तप के बल पर ही वह अपनी आत्मा को पूरे ब्रह्माण्ड और सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त कर्म के नियम से मुक्त कर सकता है। जैनधर्म को न तो ईश्वर पर विश्वास है और न उसकी कृपा पर। मानव स्वयं अपनी स्वाधीनता या पराधीनता का विधाता है। सम्पूर्ण संसार जीव जानवर और मानव जीवों के रूप हैं। सभी पर कर्म और पुनर्जन्म का नियम लागू होता है और सभी पवित्रता और तप से स्वयं को बंधन-मुक्त कर सकते हैं। भगवती वियहपण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) के निम्नलिखित अंशों से मुक्ति और बंधन-सम्बन्धी जैन उपदेश स्पष्ट हो जाते हैं। सम्भव है कि ये अंश महावीर द्वारा प्रथम उपदेशों में प्रयुक्त दृष्टान्त ही हों।

किसी जाली का कोई छेद अनेक छेदों की कतार में होता है और उनके बीच कोई जगह खाली नहीं रहती। तथा दूसरे छेदों के साथ-साथ उसकी एक सुनिश्चित और सुव्यवस्थित स्थिति होती है। जाली के वजन भारीपन खिंचाव और कसाव में प्रत्येक छेद का योग होता है। यही बात हजारों पुनर्जन्मों के बीच प्रत्येक आत्मा के लिए भी सही है। हजारों प्रकार की जीवात्माओं के वजन भारीपन खिंचाव और कसाव का प्रभाव हर अपने जन्म पर पड़ता है।

“जैसे आदमी अच्छी तरह पका हुआ सुस्वादु भोजन जिसमें अट्ठारहों मुख्य तत्वों की उचित मात्रा तो हो किन्तु विष का कुछ अंश भी मौजूद हो करने के बाद अच्छे स्वाद के बावजूद परिवर्तित होता है (यह परिवर्तन उसे ऐसी स्थिति में ले जाता है जो प्रत्येक दशा में दुखद होती है) इसी प्रकार हे कालोदायिन आत्माएं परिवर्तित होती हैं (यह परिवर्तन आत्माओं को ऐसी स्थिति में ले जाता है जो हर दशा में बुरी होती है) आत्माओं की ऐसी दशा तब होती है जब वे जीवों को दुख पहुँचाने असत्य बोलने गबन करने अवांछित रति करने सम्पत्ति जोड़ने कोप व गर्व करने धोखा और लालच प्रेम और घृणा लड़ाई झगड़ा व परनिन्दा गप्प मारने चुगली करने असन्तोष और मायाचरी झूठ

बोलने और धोखा देने और सबसे बढ़कर झूठा विश्वास पालने के कारण होता है। कामो दाइ इसका अर्थ यह है कि आत्माएं बुरे काम करती हैं, जिनसे दुष्परिणामों की सृष्टि होती है। किन्तु यदि आदमी स्वादिष्ट और तत्वयुक्त भोजन करे तो उसे खाकर स्वास्थ्य बहुत अच्छा न होने पर भी उसमें परिवर्तन होता है (ऐसी दशा की और जो हर तरह से अच्छी होती है) "इसी प्रकार कालोदाइ आत्माएं जब प्राणिमात्र को दुःख पहुंचाने झूठे विश्वास पालने से विरत रहती हैं तब अच्छी स्थिति की ओर उनमें परिवर्तन होता है। इसका अर्थ यह हुआ कालोदाइ, कि आत्माएं अच्छे काम करती हैं जिनके परिणाम भी अच्छे होते हैं।" (५ १ ७ १०)

जनसाधारण के लिए जैनधर्म की नैतिक आचारसंहिता निम्नलिखित है यथि सदा पाप स्वीकारोक्ति सार्वभौम करुणा अहिंसा और मानवीय कुटिलता के प्रति विरक्ति। इस नवीन सिद्धान्त को जल्दी ही लिच्छवि और मल्ल जैसी जनतंत्रीय जातियों तथा मगध के सम्राट् बिम्बिसार और अजातशत्रु एवं काशी कोशल सौवीर, अंग वत्स और अवन्ति के शासकों का सहयोग प्राप्त हुआ।

सुधारवादी धर्मों का अनीश्वरवादी एवं नैतिक दृष्टिकोण

जैनधर्म बौद्धधर्म और मस्करी गोशाल (जो छः वर्ष तक महावीर के साथ रहे थे) के उपदेशों ने सांख्य और योग दर्शनों से बहुत कुछ ग्रहण किया था। इनमें से प्रमुख हैं कुछ प्राचीन मूल विचारधाराएं जो परम्परागत ब्राह्मणधर्म में नहीं थीं किन्तु जिनकी जड़ें भारत की मिट्टी में ही थीं। तीनों ही धर्मों का निराशाजनक दर्शन है कि मानव जीवन एक यंत्रणा है। उदाहरणतः बौद्धधर्म में कहा गया है कि संसार के प्रारम्भ से अब तक मानव-मात्र ने जितने दुःख के आंसू बहाए हैं यदि उन सबको एकत्र कर लिया जाए तो उनका परिमाण समस्त सागरों के जल के परिमाण से कहीं अधिक होगा। यह निराशावाद वैदिक-धाय आशावाद के और इस विश्वास के सर्वथा विरोध में है कि धार्मिक संस्कारों और यज्ञों द्वारा मनुष्य को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आजीविक और निग्रन्थ सम्प्रदायों ने अनेक भाग्यवादी सिद्धान्तों और मतों का प्रचार किया जिनकी मुख्य धारणाएं थी आत्मा का अनस्तित्व अन्तिम अदृष्टीमता कर्म की निरंकुशता और विषयासक्ति। अजित केशकम्बलिन् ने एक अनात्मवाद का निरूपण किया जिसे बाद में लोकायतों ने अपना लिया। पूरणकस्सप ने एक अहेतुवाद प्रतिपादित किया। अहेतुवादियों ने अनायास जन्म का सिद्धान्त बनाया। मस्करी गोशाल ने भाग्यवाद पर जोर दिया। इनमें से कुछ सम्प्रदायों ने बौद्ध और जैन धर्मों के लिए रास्ता तैयार कर दिया और उनमें ऐसी दरारें डाल दीं जो लगभग दो शताब्दियों तक कायम रहीं। यह भय भाग समाप्त किया अशोक ने। वे बौद्धसंघ की एकता को कायम रखने के पक्ष में थे उन्होंने अपने अधिकारियों को आज्ञा दी कि वे संघ भेद को दण्डित करें।

जैनधर्म बौद्धधर्म और सांख्ययोग दर्शन की एक विशेषता और थी। उन्होंने ब्रह्माण्ड की एक वैज्ञानिक अनीश्वरवादी व्याख्या प्रस्तुत की। इसका आधार है एक

प्राचीन ब्रह्मवादी विचार कि पौधों पशुओं मानव अथवा ईश्वर में पाया जानेवाला जीवन एक है, किन्तु विभिन्न प्राणियों में विभिन्न रूप धारण कर लेता है। जीवन की यह इकाई विभिन्न स्तरों पर चलती हुई जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति अथवा मोक्ष को प्राप्त करने के अपने उद्देश्य की ओर निरन्तर बढ़ती है। इसीसे पुनर्जन्म का सिद्धान्त पैदा हुआ है। प्रारम्भिक ब्राह्मणों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त बिल्कुल नहीं है, किन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् में एकाएक इसे अत्यन्त व्यवस्थित रूप प्राप्त हो गया है। इस सिद्धान्त में जब सम्पूरक कर्मवाद-सिद्धान्त और मिल गया तो जैनधर्म बौद्धधर्म तथा जीवन के प्रति भारत के सामान्य दृष्टिकोण को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त हो गया।

जैनधर्म बौद्धधर्म और वैदिकधर्म में कुछ बातें एक जैसी थीं। उनका दृष्टिकोण सामान्यतः लौकिक और लगभग अनीश्वरवादी था। ब्रह्माण्ड की उनकी व्याख्या में पदार्थ और शक्ति के द्वैत को अनादि और अनन्त तथा कर्म और पुनर्जन्म के चक्र को अस्तित्व की अन्तहीन शृंखला का रूप समझा गया है। इन बातों को छोड़कर वैदिक साहित्य और वैदिक सामाजिक संगठन को जैन और बौद्ध दोनों धर्मों ने अमान्य ठहराया है। उन्होंने चातुर्वर्ण्य स्वीकार करके उसकी एक तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत की। ब्राह्मणों के पुजारीपन और इस विचार का विरोध किया कि मानव की श्रेष्ठता उसके जन्म और परम्परा के आधार पर होती है चरित्र और ज्ञान के आधार पर नहीं यह ब्राह्मणों के विरुद्ध क्षत्रियों का विद्रोह था। छान्दोग्य उपनिषद् में इस विषय पर एक मनोरंजक कथा है। एक बालक सत्यकाम गौतम ऋषि के आश्रम में अन्तिम सत्य को समझने आया किन्तु शिष्यत्व प्राप्त करने से पहले उसे अपने वंश और जाति का नाम गुरु को बताना आवश्यक था। इसलिए घर लौटकर उसने अपनी माँ से अपने पिता का नाम पूछा। माँ ने पुचकारकर कहा 'अपने यौवनकाल में मैं नौकरानी थी तभी तुम मेरे गर्भ में आए। मैं तुम्हारी पैतृक परम्परा को नहीं जानती। मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा सत्यकाम इसलिए तुम अपने को सत्यकाम जाबाल कहो।" बालक पुनः गौतम ऋषि के पास पहुँचा और माँ की कही हुई बातें उन्हें बता दीं। गौतम ऋषि ने अपने आसन से उठकर लड़के को गले से लगा लिया और कहा 'तुम सच्चे ब्राह्मण हो मेरे बच्चे। सबसे बड़ी सम्पत्ति सत्य, तुम्हारे पास है।

इसके अतिरिक्त जैन और बौद्ध दोनों धर्मों ने जीवन को चातुराश्रम्य व्यवस्था को अस्वीकार किया और बेघर-बार भिक्षु के जीवन को ही सर्वोच्च बताया। महाभारत के बारहवें और तेरहवें खण्डों में अधिकांशतः भीष्म के उपदेश निहित हैं। उनमें वैराग्यपूर्ण जीवन को ब्राह्मणों की चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य प्रणाली से श्रेष्ठतर माना गया है। यह जैन बौद्ध और आजीविक धर्मों की सांसारिक माया-मोह के त्याग की भावना की प्रतिध्वनि है। पूर्वी गंगा घाटी के बौद्धिक वातावरण की विशेषताएँ थीं सांसारिकता का परित्याग आत्मानुशासन अथवा आत्मपीड़न और अहिंसा। इनके कारण जैन और बौद्ध दोनों धर्मों ने एक उच्चतर नैतिक संहिता के आधार पर सामान्य व्यक्ति के जीवन को अनुशासित करने का बीड़ा उठाया। इस प्रकार संसार की निवृत्ति को प्रारम्भिक रूप माना जाने लगा। वैदिक संस्कृति के इस मनोयोग की अपेक्षा पूर्व

देश में भाषा, जाति और संस्कृति भिन्न थीं। पूर्व की धर्मविरोधिता की अपनी महत्त्वपूर्ण सामाजिक उपलब्धियां थीं। भारतीय सभ्यता को जैन और बौद्ध धर्मों की स्थायी देन हैं : वर्ण-प्रणाली की पुनर्व्यवस्था, अनुशासनिक नियमों द्वारा संघों का परस्पर सम्बन्ध, समाज का उच्च नैतिक स्तर तथा व्यक्ति की गरिमा और श्रेष्ठता की भावना।

तथागत गौतम का जीवन

भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक युग के सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं सिद्धार्थ अर्थात् गौतम अर्थात् (अशोककालीन शिलालेखों में) बुद्ध शाक्यसिंह अथवा (पालि-साहित्य में) तथागत। सिद्धार्थ के बारे में हमें उनके उपदेशों और वार्ताओं द्वारा विस्तृत ज्ञान प्राप्त है। लगभग ५६३ ईसापूर्व में उनका जन्म नेपाल की सीमा पर लुम्बिनी वन में हुआ था। उनका विवाह यशोधरा से हुआ। इसके फलस्वरूप उन्हें एक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया। उन्होंने अपने यौवन में ही सांसारिक माया मोह का त्याग कर दिया। उनके सर्वप्रथम गुरु थे दो महान् ब्राह्मण तपस्वी—वैशाली के आलार कालाम और राजगृह के उद्रक रामपुत्र। पहले गुरु से उन्होंने सांख्य दर्शन की शिक्षा पाई। किन्तु कालाम या श्रेष्ठ ऋषि रामपुत्र दोनों में से कोई भी गौतम की आध्यात्मिक जिज्ञासाओं को शान्त नहीं कर सके। गौतम ने तब इतना घोर तप किया कि मरणासन्न हो गए। इसपर भी असन्तुष्ट रहे तो उरुवेला पहुंचकर एक पीपल के पेड़ के नीचे तपलीन हो गए और अन्त में वहीं उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। उन्होंने अपना पहला उपदेश ऋषिपत्तन (बनारस के समीप सारनाथ) में दिया। पालि-साहित्य में इसे 'धर्मचक्र प्रवर्तन' कहा गया है। बुद्ध ने पूर्व में कजंगल से लेकर पश्चिम में मथुरा के समीप वेरंज तक खूब यात्राएं कीं और उपदेश दिए। वे वर्षा के दिनों में किसी बड़े शहर के विहार (विश्रामगृह) में पहुंच जाते और राजा व जनसामान्य ब्राह्मण और व्यापारी सभी से मिलते। वे अस्सी वर्ष तक जीवित रहे और चौवालीस वर्ष तक उपदेश देते रहे।

बौद्धधर्म के अनुयायियों में मगध के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु, कोशल के राजा प्रसेनजित् और उनकी रानी मल्लिका, धनिक व्यापारी अनाथपिण्डिक जिसने उन्हें जेतवन को भेंट में दिया और प्रसिद्ध वैद्य जीवक थे। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन (मोग्गल्लान) उनके प्रमुख शिष्य थे। सारिपुत्र शास्त्रार्थ में निपुण थे और संघ के ज्येष्ठ पुत्र कहे जाते थे। मौद्गल्यायन की रहस्यात्मकता अत्यन्त चमत्कारी थी। किन्तु बुद्ध के सबसे प्रिय शिष्य का नाम था आनन्द। बुद्ध आनन्द को बहुत चाहते थे और उनकी यात्राओं में आनन्द उनके साथ रहकर उनके शरीर की सेवा तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था।

बुद्ध और ईसा

बुद्ध और ईसा के उपदेशों में आश्चर्यजनक समानताएं और विभिन्नताएं हैं। ईसा के समान बुद्ध भी अक्सर दृष्टान्तों के रूप में अपने उपदेश दिया करते थे ताकि उनका सन्देश सभी प्रकार श्रोताओं तक पहुंच जाए। दोनों महापुरुषों में एक समान मृदुता और

घृणा से वर्ण-प्रणाली को निन्दनीय ठहराया है। दोनों शक्ति और सम्पत्ति के गर्व को समान रूप से गर्हित मानते हैं। और दोनों पवित्रता, नैतिक जागरूकता, करुणा और मानवीय सेवाओं के हामी हैं। किन्तु समानता यहीं तक है। भारत के बौद्धिक वातावरण में दुखी स्त्री-पुरुषों को सान्त्वना ईसा की भांति पारलौकिक स्वर्ग अथवा नरक स्थानों द्वारा नहीं दी जा सकती थी। इसके लिए आवश्यक था कि विवेक को प्रभावित किया जाए और बताया जाए कि सम्पूर्ण संसार की व्यथा और पीड़ा के सामने एक व्यक्ति की व्यथा और पीड़ा का अधिक महत्त्व नहीं होता। बुद्ध ने यही विधा अपनाई। अपने एकमात्र पुत्र के मृत्यु-शोक में दुखी किसा गौतमी से बुद्ध कहते हैं : "जाओ और सरसों के कुछ दाने एकत्र करो। ये दाने ऐसे ही घरों से मांगना जहां किसीकी मृत्यु न हुई हो।" गौतमी घर घर जाती है और अन्त में उसे यही पता लगता है कि मृत्यु और दुःख तो हर जगह व्याप्त है। वह सोचती है : "अपने ही शोक में दुखी मैं कितनी स्वार्थी हूं! मृत्यु तो हर एक के लिए आवश्यक है, किन्तु विनाश की इस घाटी में भी एक पथ ऐसा है जो अमरत्व की ओर ले जाता है और उस पथ पर निःस्वार्थ व्यक्ति ही चल सकता है।" इस विचार से गौतमी को कुछ शान्ति मिलती है। फिर भी बुद्ध और ईसा में समान रूप से असीम सद्भावना व्याप्त है। ईसा ने अपने अनुयायियों से कहा था कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। बुद्ध के आरेवाले दृष्टान्त में ईसा के उपर्युक्त उपदेश के साथ पूर्ण समानता है। 'इसलिए भाइयो, डाकू चाहे एक बड़े आरे से तुम्हारे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालें लेकिन अगर तुममें से किसीको भी इस बात पर क्रोध आया तो मैं समझूंगा कि वह मेरे सिद्धान्तों का पालक नहीं है।'

ईसा की शिष्याएं भी थीं जैसे मेरी, मार्था और मैगडलीन। बुद्ध के अनुयायियों में भी स्त्रियां शामिल थीं। विशाखा, सुप्रिया और अम्बपाली। इन शिष्याओं की ही प्रमाणित दानशीलता और उदारता के कारण नवजात धर्म का निर्वाह सम्भव हो सका। बुद्ध पहले स्त्रियों को संघ में सम्मिलित करने में हिचकिचाए थे किन्तु बाद में अपनी धर्म-माता महाप्रजापती के जोर देने पर मान गए थे। स्त्रियों के धार्मिक उत्साह और दानशीलता का ही प्रभाव था कि बौद्धधर्म अपने प्रारम्भिक काल में इतना प्रसार पा सका। बुद्ध श्रावस्ति की विशाखा की जिस भेंट को स्वीकार करते हैं वह है : "श्रीमन्, मैं चाहती हूं कि जब तक जीवित रहूं, वर्षा ऋतु में साधुओं को भाई मानकर वस्त्र देती रहूं, यहां आनेवाले अतिथि भिक्षुओं को भोजन कराती रहूं, यहां से गुजरनेवाले भिक्षुओं को भोजन दूं, बीमार भाइयों को खाना देती रहूं, बीमारों की परिचर्या करनेवालों को भोजन तथा बीमारों को औषधि देती रहूं, प्रतिदिन भात बांटती रहूं और भिक्षुणियों को वस्त्र देती रहूं।"

इस नवीन धर्म को स्वीकार करनेवाले स्त्री-पुरुषों को आज्ञा थी कि वे अपने परिवार के साथ रहें और भेंट व दान द्वारा संघ की सहायता करें। फिर भी अनेक व्यक्ति सांसारिक बन्धन त्यागकर भिक्षु भिक्षुणियां बन जाते थे और सम्पूर्ण पीड़ा के विनाश के लिए पवित्र जीवन व्यतीत करने लगते थे। कोशल के राजा प्रसेनजित् अपने समय के सर्वाधिक शक्तिशाली शासक थे। उनके राज्य की सीमा उत्तर में हिमालय, पश्चिम में यमुना और पूर्व में गण्डक तक थी। बुद्ध और प्रसेनजित् के बीच अविस्मरणीय विचार में

हम पाते हैं कि बुद्ध ने राजा को सलाह दी थी कि वे संसार का त्याग न करें बल्कि धर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करें और अपनी प्रजा का कल्याण करें।

ईसा के विपरीत राज्याधिकारियों के साथ बुद्ध के सम्बन्ध अच्छे और सुखद थे। राजाओं के साथ बुद्ध की बातचीत में कहीं भय अथवा चाटुकारिता लेशमात्र भी नहीं है। फिर भी वे किसी सामान्य श्रमण की भाँति रहते थे, पैदल यात्रा करते थे और भीख माँगते थे, नगरों और ग्रामों में द्वार-द्वार जाते थे और भोजन तभी करते थे जब कोई गृहस्थ उनके भिक्षा-पात्र में अन्न डाल देता था। अपने शिष्यों की प्रशंसा से वे अधीर और कभी-कभी तो नाराज हो उठते थे तथा अपनी यौगिक शक्तियों का प्रदर्शन तो भूलकर भी नहीं करते थे। उनका कहना है "मैं यौगिक चमत्कारों में एक तरह का खतरा देखता हूँ, इसीलिए मुझे इनसे घृणा है, मैं इन्हें निन्दनीय समझता हूँ और इनके लिए लज्जित हूँ।" इस तरह की चमत्कारिक बातों, भविष्यवाणियों को वे निम्न कलाएं (ब्रह्मजालसुत्त) मानकर गर्हित समझते हैं। बुद्ध अतिशय नम्र थे और अपने शिष्यों के साथ बैठकर अपनी गलतियों और दोषों पर बातचीत करते थे। ईसा के समान वे समझते थे कि मानवीय प्रयत्नों की अपनी सीमाएं होती हैं, इसलिए वे दुष्टों और पापियों को क्षमा करने के पक्ष में थे। अपने शिष्यों से एक बार उन्होंने कहा था "हम लोग अर्थात् मैं और तुम दोनों अब तक संसार के नीरस माया-मोह में पड़े रहे हैं। इसका कारण, मेरे भाइयो, केवल यही है कि हम चार पवित्र सत्यों को पूरी तरह समझ नहीं पाए।" संसार के किसी विश्वव्यापी धर्म के प्रवर्तक ने इससे अधिक आदर्श बात कभी नहीं कही।

आत्मदीपो भव'

बुद्ध का व्यक्तित्व अत्यन्त निर्मल और ओजस्वी था। वे मानव की क्षमता के भीतर आध्यात्मिक चिन्तन और मौन के सर्वोच्च शिखर तक पहुँच चुके थे और फिर भी उनमें तीक्ष्ण यथार्थ ज्ञान था। वे अपने धर्म के नेता थे और अनेक राजा, अभिजात्य तथा सत्ताधीश उनकी पूजा करते थे। फिर भी वे सभी मानवों में सर्वाधिक नम्र थे। बुद्ध पृथ्वी पर जन्मे शायद महानतम मानव थे। उनके जीवन की प्रमुख विशेषता थी—अपने भीतर मौन और मानव मात्र के प्रति करुणा। बुद्ध का कथन है "मैं बीमारों के लिए वैद्य और मानव-मात्र का मित्र और सर्वाधिक दीन हूँ।" सन्देहों से व्याकुल होने पर उनके भीतर गम्भीर संघर्ष हुआ, तब कहीं जाकर वे यह निश्चय कर पाए कि अपने सिद्धान्त का स्वयं प्रचार करेंगे, क्योंकि सिद्धान्त इतना [illegible] और कठिन था कि सामान्य व्यक्ति की समझ में नहीं आ पाता था। "जीवों के लिए मेरे मन में करुणा है, इसलिए मैंने अपनी बुद्ध दृष्टि से संसार का निरीक्षण किया और पाया कि शुद्धहृदय व्यक्ति कम नहीं हैं।" उनका विचार था कि ऐसे ही व्यक्तियों को वे अपने सिद्धान्त का उपदेश दे सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों की उन्होंने पानी में उगनेवाले कमल से उपमा दी जो पानी में रहते हुए भी उससे ऊपर होता है। अब उन्होंने घोषणा की, "अमरत्व का द्वार उनके लिए खुला है।"

बुद्ध की मृत्यु के समय उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने जानना चाहा कि संघ की व्यवस्था किस तरह सुरक्षित रखी जाए। बुद्ध ने उत्तर दिया "तथागत का विचार है कि

उन्हें मार्ग-प्रदर्शन नहीं करना चाहिए और संघ किसी भी तरह उनपर निर्भर नहीं है। इसलिए संघ के बारे में तथागत कोई सलाह क्यों दे?" इसके पश्चात् उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध प्रवचन दिया — अत्त दीपा विहरथ अत्त सरणा अनञ्ञ सरणा। तुम स्वयं अपने को शरण दो। किसी बाह्य शरण की खोज में मत भटको। सत्य को दीपक समझकर ग्रहण किए रहो। सत्य को आश्रय समझकर ग्रहण किए रहो। अपने अतिरिक्त किसी और आश्रय की खोज मत करो।"

तथागत के औपनिषदिक उपदेश

बौद्धधर्म का सार मृगदाव में सुप्रसिद्ध मृगदाव प्रवचन में निहित है। मानव को सर्वप्रथम चार आर्यसत्यों का पालन करके मध्यमार्ग अपनाना चाहिए। वे आर्यसत्य हैं (१) जन्म जरा रोग मृत्यु शोक अभीष्ट आकांक्षा और नैराश्य से स्पष्ट है कि जीवन दुःखों से परिपूर्ण है (२) सांसारिक जीवन का कारण तृष्णा है (३) तृष्णा का विनाश करके जीवन की दुःखातीत अवस्था अथवा निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है और (४) तृष्णा के विनाश का मार्ग सभी विषयों के जिनके प्रति हमारी तृष्णा होती है यथार्थ ज्ञान पर आधारित है। यह है विख्यात अष्टांगमार्ग अथवा अष्टमार्ग। इसके आठ अंग हैं सम्यक् वाक् सम्यक् कर्मान्त सम्यक् आजीव सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति सम्यक् समाधि सम्यक् संकल्प और सम्यक् दृष्टि। पहले तीन से शारीरिक नियन्त्रण होता है (शील) दूसरे तीन से मानसिक नियन्त्रण (चित्त) और अन्तिम दो से विवेक का निय न्त्रण (प्रज्ञा)। इसे मध्यमार्ग (मज्झिम पटिपदा) कहा गया है क्योंकि यह आत्मभर्त्सना और आत्मसंयम दोनों अन्तों के बीच का मार्ग है।

अष्टमार्ग के क्रम में जो नया विकास हुआ उसका वास्तविक कारण अन्तिम स्थिति अर्थात् सम्यक् दृष्टि अर्थात् तथागत का तात्त्विक दृष्टिकोण था। तथागत का कथन है "हे ब्राह्मण मैं वेदी की अग्नि के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी नहीं करता, अग्नि मैं अपने भीतर जगाए रखता हूँ।" प्राचीन वैदिकधर्म से पृथक् यह बात सारकप में औपनिषदिक थी। बौद्धधर्म का प्रारम्भ जीवन की एकता कर्म-सिद्धान्त और मानव के अपने नैतिक उत्तर दायित्व के मूलभूत हिन्दू विचारों से होता है। इसी कारण यह धर्म के क्षेत्र में एक सुधार है। बौद्धधर्म प्रमुख उपनिषदों की अनिवार्य शिक्षाओं के अनुरूप है और उनके ही समान यज्ञ की प्राचीन वैदिक प्रथा को व्यर्थ समझता है। तथागत ने उपनिषत्कालीन ऋषियों के उपदेशों और अपने समय की धार्मिक क्रियाओं को ग्रहण किया। यद्यपि सामान्य जन का ध्यान देते हुए उन्होंने नैतिक अनुशासन और दानशीलता पर ही बल दिया है बौद्धिक जटिलता पर नहीं।

मज्झिमनिकाय का कथन है कि बुद्ध के अपना कोई सिद्धान्त नहीं है। वह मात्र इस दृष्टि से नहीं है कि बौद्धधर्म के समय तीन प्रकार सम्प्रदायों से अपरिचित था ... और नित्य मध्यमार्ग पर बहुत जोर दिया था। इनकी तुलना में बौद्ध उपदेश जीवन का कथा (अनित्यता अर्थात् आत्मा, देवता और ... का सिद्धान्त) के लिए आवश्यक है। इस प्रकार बौद्धधर्म के पारम्परिक ... ...

पर अधिक ज़ोर दिया गया है जिसका आधार है संसार का अस्थायित्व। किन्तु अपने समकालीन परम्परावादी और परम्पराविरोधी अनेकानेक सम्प्रदायों और मतों के साथ संघर्ष के कारण बौद्धधर्म में एक समुचित दर्शन और तत्त्वज्ञान का विकास हो सका।

बौद्ध और औपनिषदिक निर्वाण

पालिपाटलिक सूत्रों में एक बात ध्यान देने योग्य है कि बुद्ध के निर्वाण और *उपनिषदों के ब्रह्म-ऐक्य की परिभाषाओं में कितनी समरूपता है।* "इस लोक में स्वस या जल प्रकाश या वायु यह संसार अथवा अन्य संसार सूर्य और चन्द्रमा दोनों अन्तरिक्ष अथवा चेतना की अनन्तता अनस्तित्व आदि कुछ भी नहीं।' यह तो उपनिषदों के गम्भीर ग्रंथों के लगभग समान है। इसके अतिरिक्त बुद्ध का कथन यह भी है कि शान्त रम्यता भी है और सौन्दर्य भी। निर्वाण का आवास सौन्दर्य है। यह उच्चतम सौख्य *भी है, जैसे स्वास्थ्य उच्चतम लाभ है (मज्झिमनिकाय)। इसका क्षय नहीं होता* इसे रोग नहीं होता और मृत्यु का इसपर प्रभाव नहीं पड़ता (अमृत)। यह दुःख और अपवित्रता से परे है। अरियपरियेसनसुत्त के अनुसार यह अतुलनीय (अनुत्तर) और उच्चतम लक्ष्य (योगक्खेम) है।

फिर भी बौद्ध निर्वाण और उपनिषदों के ब्रह्म निर्वाण में अन्तर है। मज्झिम निकाय' में इस अन्तर को स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म निर्वाण की भाँति बौद्ध निर्वाण में भी निषेधात्मक वाक्यों (नेति नेति) का समावेश है। बौद्ध निर्वाण एक गतिशील प्रक्रिया (पटिच्च-समुप्पाद) है, अनेक औपनिषदिक द्रष्टाओं की अचल इकाई नहीं किन्तु अभि *सम्बोधि की इस अवस्था में मौन ही श्रेयस्कर है। यहाँ पर भी हमें याज्ञवल्क्य की* प्रतिध्वनि मिलती है। याज्ञवल्क्य ने राजा जनक के साथ वार्तालाप में कहा था कि सर्वोच्च ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाने का मानव का प्रयास एक प्रगतिशील प्रक्रिया है। इसे 'प्राचीन सुदीर्घ और सूक्ष्म पथ' कहा गया है (पंथा माग अथवा मान से आरमलीन बृहदारण्यक उपनिषद् ४ ४ ८)। बुद्ध ने अपने को एक पुरातन पथ का अन्वेषी और पुनराविष्कर्ता कहा है। और 'इस पथ पर अतीत में अनेक बुद्ध चल चुके हैं और इस पथ का अनुसरण करके मैं जीवन को समझने लगा हूँ जीवन के प्रारम्भ और अन्त दोनों को।" बुद्ध का अपना यह वर्णन बिलकुल सही है।

बौद्धधर्म म ब्रह्म और धम

नैतिक मूल्यों के प्रति तथागत में अधिक उत्साह था। इस कारण वे ब्रह्म और कर्म की प्राचीन धारणाओं की मौलिक गहन और प्रभावशाली व्याख्या प्रस्तुत कर सके। यहीं पर वेदान्त और बौद्धधर्म में अन्तर स्पष्ट है। बुद्ध ने उपनिषदों में व्यक्त ब्रह्म की धारणा को जीवन के बन्धन में बंधे हुए समस्त चेतनप्राणियों के समूह के रूप में माना है (गुत्तक निकाय)। यही कारण है कि परोपकार पर बौद्धधम में बहुत ज़ोर दिया गया है (ब्रह्म विहार)।

कर्म का प्राचीन हिन्दू सिद्धान्त यह था कि जीव को जन्म जन्मान्तर तक पुरस्कार

अथवा दण्ड प्राप्त होते रहते हैं। बुद्ध ने इस सिद्धान्त को भी अस्वीकार कर दिया क्योंकि एक स्थायी आत्म (अनत्त) का अस्तित्व नहीं है। उनका कथन है कि कर्म के परिणाम सम्पूर्ण संसार में समय क्रम से पीढ़ी दर पीढ़ी अथवा अन्तत शाश्वत या सार्वभौम रूप को भोगने पड़ते हैं। इस अन्तिम सिद्धान्त में कर्म को समस्त जीवों के एक विशाल अव्यक्तिगत और सामूहिक नैतिक बल के रूप में पुनःप्रतिष्ठित किया गया है। इसमें कहा गया है कि एक भी व्यक्ति का दूषित विचार, कथन अथवा काम समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देता है और एक भी व्यक्ति का शुभ विचार, कथन अथवा काम पापियों तक पीड़ित मानवता को सान्त्वना प्रदान करता है अथवा उसे ऊपर उठाता है। कुल मिलाकर यह सिद्धान्त समकालीन धर्मों के विनाशकारी शून्यवाद के प्रति तथागत की प्रतिक्रिया है। बौद्धधर्म में ब्रह्मचर्य मानव-मात्र के प्रति प्रेम और करुणा का ईमानदारी के साथ प्राप्त करने पर जोर दिया गया है जिससे व्यक्तित्व अहं की दीवारें नष्ट हो जाएं। यह धारणा उस युग की रूक्ष बौद्धिकता सन्देहवाद और व्यक्तिवाद के लिए एक चुनौती थी।

बौद्धधर्म का प्रसार

बौद्ध भिक्षु अथवा अर्हत् अपने सिर और दाढ़ियाँ मुड़वा लेते थे गेरुए रंग के मोटे कपड़े (चीवर) लपेटे हुए कपड़े पहनते थे और अपना घर छोड़कर बेघर-बार का जीवन बिताने के लिए निकल पड़ते थे। ऐसे भिक्षुओं की पवित्रता आत्मसंयम और धर्मदृष्टि के कारण ही बौद्धधर्म का प्रसार अधिकांशत सम्भव हो सका। एक अर्हत् का निम्न विवरण दीघनिकाय (३ १३३) में दिया गया है।

"तो चुन्द तुम दूसरे मतावलम्बियों को अर्हत् के बारे में इस प्रकार बतलाना भिक्षो जो भाई अर्हत् हो जाता है, जिसके भीतर आस्रव नष्ट हो जाते हैं जो अपना जीवन जी चुका होता है, अपना काम कर चुका होता है, अपने उत्तरदायित्व से मुक्ति पा चुका होता है अपना कल्याण कर चुका होता है, पार्थिव अस्तित्व के प्रति मोह को बिल्कुल छोड़ चुका होता है, ज्ञान प्राप्त करके जिसकी आत्मा स्वतन्त्र हो चुकी होती है—ऐसा व्यक्ति निम्नलिखित नौ प्रकार के काम नहीं करता

जान-बूझकर जीव-हत्या नहीं करता
जो चीज दानस्वरूप नहीं मिलती उसे चोरी नहीं करता
रतिक्रिया से दूर रहता है,
जान-बूझकर झूठ नहीं बोलता
मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करता,
परिवार में रहते हुए जिस प्रकार भूख की तृप्ति के लिए भोज्यसंग्रह करता था अब नहीं करता
घृणावश गलत रास्ते पर नहीं जाता
भ्रम का शिकार होकर गलत रास्ता नहीं अपनाता,
भय के कारण गलत रास्ते पर नहीं जाता।"

पाणिनि का प्रभाव

पाणिनि ने सुधार में सीधा योग तो नहीं दिया किन्तु उनकी कृतियों ने सुधार के विचारों के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। विश्व-साहित्य में पाणिनि का नाम महानतम कृतिकारों में से एक है। उनके सुप्रसिद्ध संस्कृत-व्याकरण-ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' ने जिसकी रचना शायद पांचवीं या चौथी शताब्दी ईसापूर्व में हुई थी प्राचीन संस्कृत भाषा का रूप और आकार निश्चित किया था। मैक्डोनल के अनुसार इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण संस्कृत भाषा के समस्त रूपों और आकारों का इतना विशद वर्णन किया गया है कि इसके सम कक्ष विश्व में कोई ग्रन्थ नहीं है। यह संसार का लघुतम और पूर्णतम व्याकरणग्रन्थ है।"

पाणिनि की प्रसिद्धि ऋषि पाणिनि के रूप में थी। परम्परागत कथा है कि उन्हें पाटलिपुत्र के सम्राट् नन्द के दरबार में आमंत्रित किया गया और सम्राट् ने स्वयं उनकी कृति को मान्यता और सहमति प्रदान की। सम्राट् ने उनके व्याकरण को इतना महत्त्व दिया कि आज्ञा दी कि पूरे साम्राज्य में इस व्याकरण का पठन-पाठन होना चाहिए। यह कथा ह्वेनसांग और राजशेखर (६०० ईस्वी) द्वारा वर्णित है। राजशेखर ने तो स्पष्ट रूप से पाटलिपुत्र और वहां की शास्त्रकार-परीक्षा का वर्णन किया है।

पाणिनि ने वैदिक शब्दों और व्युत्पत्तियों को ग्रहण करके और साथ ही साथ समुचित मात्रा में उनसे विभिन्नता रखकर भी तथा उन शब्दों और व्युत्पत्तियों की विभिन्न वृत्तियों अर्थात् शब्दों का एक उचित सन्तुलन स्थापित करके अपने युग की जीवित भाषा को रूप प्रदान किया। पाणिनि-साहित्य में वैदिक साहित्य के लिए छन्दसी अथवा मंत्र का उपयोग किया गया है और 'भाषा' को अलग माना गया है। पाणिनि का ज्ञान और विद्या विशाल थी। उनके सूत्र सामाजिक और भाषिक ज्ञान के अपार भण्डार हैं। किन्तु उनका अभी तक पूरी तरह उपयोग नहीं किया जा सका है। वे काबुल और सिन्धु नदियों के संगम पर स्थित शालातुर के रहनेवाले थे और गन्धार व बाह्लीक साम्राज्य उत्तरापथ के नगरों और दुर्गों तथा यूनानी लिपि (यवनानी लिपि) से भली प्रकार परिचित थे।

पाणिनि की अनेक प्रसिद्ध टीकाएं हैं। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है कात्यायनकृत वार्तिक। कात्यायन तीसरी शताब्दी ईसापूर्व के आसपास जीवित थे। दूसरी टीका है पतंजलि (लगभग १५० ईसापूर्व में जीवित) कृत महाभाष्य। शेष पाणिनि से सम्बन्धित एक उद्धरण है जो लगभग १६०० ईस्वी में जीवित एक तिब्बती भिक्षु-लेखक तारनाथ कृत 'भारत में बौद्धधर्म का इतिहास' से लिया गया है। तारनाथ का वास्तविक नाम कुन सिन्' था। ४६५ और ५४४ ईस्वी के दौरान लिखित 'चान्द्रव्याकरण' पाणिनि पर आधारित था और एक समय में तिब्बत, नेपाल, कश्मीर और लंका में उसका खूब प्रचार था।

पाणिनि ने व्याकरण-सम्बन्धी सूत्र लिखे जिन्हें पाणिनिव्याकरण कहा जाता है। कुल मिलाकर ४००० सूत्र हैं जिनमें से ३००० सूत्र शब्दों की व्युत्पत्ति पर हैं तथा १० सूत्र व्याख्या पर। यह व्याकरण सम्पूर्ण व्याकरणों का आधार है। पाणिनि से पहले शब्दों की व्युत्पत्ति पर लिखित शास्त्र नहीं थे और न ही कोई निश्चित प्रणाली थी कि विषय पर निश्चित मत स्थापित किया जा सकता। इक्के-दुक्के वैयाकरण जो दो

और दो का सम्बन्ध मिलाकर भाषा के विशेष तथ्यों को प्रकाश में लाते थे अद्वितीय विद्वान् मान लिए जाते थे। यद्यपि तिब्बत में कहा जाता है कि इन्द्र-व्याकरण अधिक प्राचीन है फिर भी जैसाकि आगे सिद्ध हो जाएगा भारत में पाणिनि का व्याकरण प्राचीनतम है। हाँ इतना अवश्य है कि इन्द्र-व्याकरण का प्रवेश तिब्बत में पहले हुआ। पण्डितों का विचार है कि तिब्बती में अनूदित चा व्याकरण पाणिनि के अनुरूप है तथा कलाप व्याकरण इन्द्र-व्याकरण के अनुरूप है। इसके बावजूद इतना तो सर्वमान्य है कि पाणिनि के व्याकरण में व्याख्याओं का विषय अपार है किन्तु फिर भी दृष्टिकोण से सुसम्बद्ध पूर्णता है। इसी कारण पाणिनि व्याकरण वास्तव में अद्वितीय है।

अध्याय ५

मौर्य-पुनर्जागरण की लोकपरकता और सर्वार्थवाद

मागध साम्राज्य की जन्मदात्री सामाजिक परिस्थितियां

बुद्ध के समय से पहले उत्तरभारत में सोलह बड़े राज्य (महाजनपद) थे। मगध कोसल और वत्स बड़े राज्य थे तथा कुरु पांचाल शूरसेन काशी मिथिला अंग कलिंग अश्मक, गान्धार और कम्बोज छोटे राज्य। मगध काशी अंग, कोसल और गणतांत्रिक राज्यों के बीच भयानक रक्तपातमय युद्धों के दौरान ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों को असह्य कष्ट सहने पड़े और एक जगह से उखड़कर दूसरे स्थान पर शरणार्थियों की भांति जाना पड़ा। फलस्वरूप पूर्वी भारत में संन्यासवाद का उदय हुआ तथा जैनधर्म और बौद्धधर्म ने सर्व साधारण को अभिभूत कर लिया। बिम्बिसार ने (५४४ से ४९३ ईसापूर्व) अंग को युद्ध में पराजित तथा काशी को शान्तिपूर्ण उपायों से सम्मिलित करके मागध राज्य को काफी विस्तृत किया। उनके पुत्र अजातशत्रु (४९३ से ४६२ ईसापूर्व) ने सम्पूर्ण उत्तरी और पूर्वी भारत में मागध साम्राज्य को स्थापित किया तथा राजगृह और पाटलिपुत्र नामक प्राचीरों से घिरे हुए नगरों को राजधानियां बनाया। अजातशत्रु महावीर और बुद्ध के समकालीन थे। कहा जाता है कि उन्होंने सार्वजनिक रूप से महावीर को अपना गुरु माना था और कहा था कि उन्होंने ही त्याग और अहिंसा पर आधारित धर्म के सत्पथ का उद्घाटन किया था। भारहुत की एकमूर्ति (लगभग दूसरी शताब्दी ईसापूर्व) में दिखलाया गया है कि वे बुद्ध के दर्शन कर रहे हैं। इस मूर्ति पर अंकित है 'बुद्ध के चरणों में अजातशत्रु'। अजातशत्रु निर्मम योद्धा था। उसने अपने पिता की हत्या करके शासन हस्तगत किया था और बल एवं छल के प्रयोग से मागध साम्राज्य की जड़ें जमाई थीं। किन्तु इसी शासक ने अब अहिंसा का पथ अपना लिया। उसने राजगृह के एक स्तूप में बुद्ध की अस्थियों को स्थापित किया और प्रथम बौद्ध संगीति के लिए सम्पूर्ण सुविधाएं जुटाईं।

अजातशत्रु (लगभग ४९३ से ४६२ ईसापूर्व) और नन्दवंश (३६४–३२४ ईसापूर्व) के बीच लगभग एक शताब्दी का अन्तराल है। नन्द शूद्र था एक नाई का पुत्र अथवा दास। नन्द द्वारा प्रभुता प्राप्त करने से सिद्ध होता है कि प्राचीन वैदिक जीवन प्रणाली संस्कृति और शासन-व्यवस्था एकदम उलट गई। ब्राह्मणों न वर्णों के बीच स्थित धर्म पालन। में अपना प्रतिप्राचीन अध्यापन-कार्य बन्द कर दिया और अनेक प्रकार के धन्धे—उद्यम व्यापार और खेती—करने लगे। जातकों के अनुसार ऐसे ब्राह्मण कभी कभी

अत्यन्त सम्पत्तिशाली और सम्मानित भी हुए (महाशाल ब्राह्मण)। वे 'राजाओं के समान विलास और ऐश्वर्यपूर्ण ढंग से रहते थे' और निर्दयतापूर्वक दासों अथवा भृतकों का शोषण करते थे। क्षत्रियवर्ग ने भी योद्धा, मंत्री तथा राज्य के अन्य पदों का अपना प्राचीन व्यवसाय छोड़ दिया और वे सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के समर्थक बने। इन आन्दोलनों ने वैदिकधर्म को दबा दिया। सबसे अन्त में शूद्र अपने निम्नतम वर्णों को छोड़कर ऊपर उठे और अपने समय के सम्पूर्ण क्षत्रियराज्यों को पराजित एवं विनष्ट करने के बाद पूर्वी भारत में एक विशाल राज्य स्थापित किया। वैदिक सामाजिक संगठन के टूटने और एक जातिविहीन समाज की स्थापना तथा मगधकुल महापद्मनन्द के शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना का कारण था जैनधर्म और बौद्धधर्म की स्वतन्त्र वैचारिकता और मानवतावाद जिसका प्रभाव धर्म और दर्शन के क्षेत्रों से बाहर भी पड़ा। महापद्म का अर्थ है सोने की महापद्म मुहरें। अपनी विशाल सम्पत्ति के बल पर, जिसका जिक्र शताब्दियों बाद ह्वेनसांग ने किया और कथासरित्सागर में जिसका उल्लेख है सम्राट नन्द ने एक विशाल सेना का आयोजन किया और 'सम्पूर्ण धरती पर एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। यह बात पुराणों में लिखी है और उनमें नन्द के निम्नवंशीय होने की निन्दा भी है।

गंगा के पूर्वी भूभाग में बिम्बिसार, अजातशत्रु जैसे मागध सम्राट् तथा नन्द वंशीय राजा एक विशाल साम्राज्य का विकास कर सके। इस काम में भौगोलिक और सामाजिक कारण उनके सहायक हुए। गंगा की विस्तृत घाटी की जनसंख्या बढ़ गई और वहाँ के निवासी धनाढ्य और वैभवशाली थे। जैनधर्म और बौद्धधर्म के प्रसार के कारण सामाजिक बन्धन ढीले पड़ गए थे और विभिन्न वर्णों व जातियों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होने लगे थे। इससे जनसाधारण की राजनीतिक जागरूकता भी बढ़ी थी। धर्मनिरपेक्षता की ओर रुझान हो गया था। वैश्यों के पास अपरिमित सम्पत्ति इकट्ठी थी। बनारस, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत और कौशाम्बी जैसे विशाल नगर स्थापित हुए जहाँ पर करोड़पति औद्योगिक जेट्ठक और व्यापारी सेट्ठि रहते थे। सैनिक और आर्थिक संस्थाएं आपस में एक हो चुकी थीं और वे सैनिक व्यवसाय तथा शस्त्र उत्पादन दोनों की देखभाल करती थीं। इन सब कारणों से मगध प्राचीनतम और विशालतम भारतीय साम्राज्य का केन्द्र बन गया और सबकी आँखें उसी पर केन्द्रित थीं। सात पहाड़ियों से पूरी तरह सुरक्षित राजगृह और गंगा तथा सोन के संगम पर स्थित पाटलिपुत्र दोनों ही नगर प्रतिरक्षा और आक्रमण दोनों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थल थे। सच तो यह है कि मागध साम्राज्यवाद एक देन थी—गंगा की घाटी की, धार्मिक सुधारों, धर्मनिरपेक्षता की और पूर्व की समृद्धि की अपूर्व देन।

विदेशी आक्रमणों का प्रभाव

किन्तु मागध साम्राज्य की स्थापना में उत्तर पश्चिमी भारत में हुए दो विदेशी आक्रमणों ने अधिक योग दिया था—गन्धार और सिन्धु पर ईरान के सम्राट् दारा का आक्रमण और मकदूनिया के सिकन्दर द्वारा पंजाब पर विजय। साइरस ने कपिश और गन्धार को पराजित किया तथा दारा (५२२-४८६ ई० पू०) ने सिन्धु नदी के पार के

क्षत्र को जिसे हिंदु, हिन्दु अथवा सिन्धु कहा जाता था अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार ईरानी साम्राज्य का बीसवाँ और सबसे अधिक वैभवशाली सूबा बना हिन्दु। भारत का नाम 'इण्डिया' इसी हिन्दु शब्द से बना है और हम कह सकते हैं कि एक विदेशी विजेता ने यह नाम प्रदान किया। ३३० ई०पू० में दारा तृतीय को हराने के बाद सिकन्दर ने भारत पर हमला किया। उसका उद्देश्य था ईरानी साम्राज्य के पूर्वी सूबे को भी हरा कर सम्पूर्ण साम्राज्य को अपने अधिकार में कर लेना। किन्तु उसे अत्यन्त दृढ़ और वीर योद्धाओं से लोहा लेना पड़ा जिसके फलस्वरूप क्रोध में आकर उसने जनसाधारण का विनाश किया। तक्षशिला के समीप सिन्धु को पार करके एक कठिन युद्ध में पुरु को पराजित किया। इसके पश्चात् वह व्यास तक पहुँचा। यहाँ पर उसकी सेनाओं ने विद्रोह कर दिया और आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। इसलिए सिकन्दर की विजय-यात्रा यहीं समाप्त हो गई और उसे पूर्व के शक्तिशाली नन्द-साम्राज्य के साथ ताकत आजमाने का मौका नहीं मिला। मकदूनिया का आक्रमणकर्ता उत्तर-पश्चिमी भारत में अपने पीछे सात सूबेदार छोड़ गया जिनके साथ मकदूनिया की मजबूत सैनिक टुकड़ियाँ भी थीं। लेकिन जल्दी ही विद्रोह और हत्याएं होने लगीं तथा सिकन्दर स्वयं ३२३ ई० पू० में बेबिलोन में मर गया। उसकी आकस्मिक मृत्यु से उसके साम्राज्य का पतन और जल्दी हो गया।

भारत में एक नये नायक चन्द्रगुप्त का उदय हुआ। अपने ब्राह्मण मन्त्री कौटिल्य की सहायता से उसने विदेशी सेनाओं को पराजित किया तथा पंजाब और सिन्ध की योद्धा जातियों को अपने वश में कर लिया। इन जातियों की अपराजेय प्रतिरोध भावना का प्रयोग उसने स्वतन्त्रता के एक युद्ध में किया। जस्टिन का कथन है कि "सिकन्दर की मृत्यु के बाद भारत ने गुलामी का जुआ उतार फेंका और उसके सूबेदारों को मौत के घाट उतार दिया। इस स्वाधीनता का श्रेय चन्द्रगुप्त को है।" इतना कर चुकने के बाद चन्द्रगुप्त ने जिसकी सेना में शक यवन (यूनानी) किरात कम्बोज पारसीक और बाह्लीक आदि जातियों के सैनिक थे अपना रुख पूर्व की ओर किया और भारत के शूद्र शासक सम्राट् नन्द को पराजित किया।

संसार का सर्वप्रथम धर्मनिरपेक्ष कल्याणकारी राज्य

इस प्रकार भारतीय इतिहास के सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना हुई। इसका विस्तार ईरान की सीमा से मैसूर के अयन बनगाम तक और काठियावाड़ से कामरूप की सीमा तक फैला हुआ था। इसके प्रान्त और व्यवस्था प्रशंसनीय थे। शासन सुचारु रूप से एक केन्द्र द्वारा चलता था इसके बावजूद वह उदार और सहनशील था। धार्मिक तथा नैतिक सम्बन्धों में धर्म को सर्वोपरि माना जाता था। चन्द्रगुप्त और अशोक के समय का मौर्य-साम्राज्य भारत में स्थापित सबसे शक्तिशाली और विस्तृत राज्य तो था ही (इसमें हेरात कन्धार काबुल और बलूचिस्तान जैसे राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उत्तर-पश्चिमी प्रदेश सम्मिलित थे) साथ ही संसार का सर्वप्रथम धर्मनिरपेक्ष लोककल्याणकारी राज्य भी था। इसके आधार स्तम्भ थे सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता सम्पूर्ण जीवन के प्रति पवित्रता और सम्पूर्ण मानव के लिए सौहार्द

और शान्ति की अभिवृद्धि।

चन्द्रगुप्त मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक थे और उन्हीं के उदय के साथ-साथ यह विचार पनपा कि जनता के नैतिक जीवन और सुख का दायित्व राज्य पर है। इस नवीन साम्राज्य-नीति का मूर्तिमान प्रतीक था कौटिल्य का अर्थशास्त्र जिसकी मुख्य बातों का मूलरूप में चौथी शताब्दी ईसापूर्व का माना जाता है। यह शासन-व्यवस्था पर सबसे पुराना ग्रन्थ है और भारतीय समाज में इसका कितना महत्त्व है यह 'कामन्दकीय नीतिसार (जिसे चौथी शताब्दी ईस्वी में लिखा माना जाता है) के लेखक कामन्दक की सम्मति से मालूम पड़ जायगा। कामन्दक लिखते हैं कि कौटिल्य (अर्थात् चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त) ने अकेले अपनी कूटनीति के बल पर शक्तिशाली नन्द का पराजित किया चन्द्रगुप्त को देश का राजा बनाया और अर्थशास्त्र के सागर का मथकर सारतत्व में शासन-व्यवस्था पर अपना ग्रन्थ रचा। कौटिल्य के अनुसार शासनाधिकारी का परम कर्तव्य है कि वह वर्णाश्रम और चतुराश्रम को कायम रखे और देखे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित कर्तव्यों और व्यवसायों का पालन कर रहा है कि नहीं। अर्थशास्त्र में लिखा है "प्रजा का सुख ही राजा का सुख है और प्रजा का हित ही राजा का हित। राजा का हित अपने आनन्द में नहीं वरन् प्रजा के आनन्द में है।

अशोक के छठे शिलालेख में यही विचार व्यक्त है। और अशोक ने ही वास्तव में अपने मानवतावादी प्रचारकों, कानूनों और संस्थाओं द्वारा एक सार्वभौम धर्म की शिक्षा फैलाकर और शासन के अंग के रूप में शक्ति को अस्वीकार करके लोक कल्याणकारी राज्य का आवाहन किया। कलिंग को सम्मिलित करके अशोक ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया और धर्म-विजय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं प्रचलन करके उसका नैतिक उत्थान किया और ऊंचे उठाया। कलिंग की सीमा से बाहर जहां अनेक अन्य शिलालेख हैं वहां अशोक का तेरहवां शिलालेख भी है। इस शिलालेख में कलिंगविजय के पश्चात् अशोक ने अपना पश्चात्ताप व्यक्त किया है कि इस युद्ध में 'डेढ़ लाख व्यक्तियों को बन्दी बनाकर ले जाया गया, एक लाख व्यक्तियों की हत्या हुई और इससे कई गुने मर गए। इसी शिलालेख में आगे लिखा है कि वे धर्म-विजय को सबसे बड़ी विजय मानते हैं और मेरा का अन्त यूं होता है जिन लोगों के पास तक परम आदरणीय महाराज के दूत नहीं पहुंच सके उन्होंने भी धर्म के बारे में महाराज की आज्ञाओं और आदर्शों को सुना होगा। और वे धर्म का पालन अवश्य करने लग होंगे। इस प्रकार हर जगह जो विजय प्राप्त होती है वह विजय प्रेम की जननी है। प्रेम की प्राप्ति नैतिक विजय से होती है। यह प्रेम बेशक कम हो, किन्तु महाराज का विचार है कि इससे दूसरी दुनिया में सुफल प्राप्त होता है।"

आर्यराष्ट्र की मोक्षधारणा

भारतीय इतिहास में पहली बार मौर्य-साम्राज्य ने आर्य शब्द को राजनीतिक अर्थ प्रदान किया। इसका अर्थ अब धार्मिक अनुष्ठान करनेवाले द्विज तक सीमित नहीं रहा बल्कि एक समान महाद्वीप के समस्त स्वतन्त्र नागरिकों का अर्थ वहां माने गया। आरियन ने लिखा है कि "सारे भारतीय स्वतन्त्र हैं और उनमें से एक भी दास नहीं है। अर्थशास्त्र

में आर्यभाव अथवा आर्यत्व जैसे शब्दों का प्रयोग है जिससे पता चलता है कि रोमवासियों की भांति यहां पर भी एक सम्मिलित संस्कृति और नागरिकता के अधिकार थे। म्लेच्छों के लिए अपनी सन्तान को बेचना या गिरवी रखना पाप नहीं है। किन्तु कोई भी आर्य कभी भी गुलाम नहीं बनाया जा सकता।" शूद्र जन्मतः दास नहीं बल्कि आर्य थे और किसी भी शूद्र को बेचने या गिरवी रखने के अपराध में जुर्माना कैद और मृत्यु तक का दण्ड दिया जा सकता था। आर्य मौर्य-साम्राज्य का जन्मतः स्वाधीन नागरिक है और कोई भी उसे उसके अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता। किसी भी शूद्र को दास नहीं बनाया जा सकता क्योंकि उसमें भी आर्य-प्राण हैं। अपनी गुलामी के बदले में जितना धन किसी शूद्र को मिला होता है उतना वापस करके वह पुनः आर्यभाव प्राप्त कर सकता है। आर्य अथवा अदास की स्थिति को रुपया देकर अथवा जन्मतः प्राप्त करने को कौटिल्य ने आर्यकृत कहा है। यही शब्द आर्यकृत पाणिनि के सूत्र (४ १ ३) में मिलता है जिसका एक विशेष अर्थ अर्थात् आर्य की स्वतन्त्र नागरिकता है। किसी आर्य का पुत्र कभी दास नहीं बन सकता। जिस व्यक्ति ने स्वयं को दासत्व में बेच दिया है उसकी सन्तान भी आर्य ही होगी। इस प्रकार राजाज्ञा से जन्मतः दास बनानेवाली प्राचीन प्रथा का विनाश हो गया। यदि कोई आर्य किसी दास स्त्री को अपनी पत्नी बना लेता तो उसे अपने बच्चों-समेत दासता से मुक्ति मिल जाती है। दास को अपने पिता का उत्तराधिकार प्राप्त है। वह अपने मालिक के लिए निश्चित काम से अधिक काम करके अपनी स्वतन्त्रता को खरीद सकता है। किसी दास के सम्बन्धी मूल्य चुकाकर उसे दासता से मुक्त करा सकते हैं और उन्हें यही करना चाहिए। जातकों में भी लिखा है कि मूल्य चुकाकर (जातक १ २४७) अथवा दास के स्वामी की इच्छा से दासत्व को खत्म किया जा सकता है।

दासता से मुक्ति और आर्य के अधिकारों पर जोर देना (और इन अधिकारों का अतिक्रमण करना दण्डनीय है) वास्तव में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य का सुसंगठित प्रयास है कि परोक्षरूप में सबके लिए दासता समाप्त हो जाए और आर्यत्व का आधार वर्ण अथवा जन्म न होकर संस्कृति हो। निस्सन्देह यह मजदूरों दासों कर्मकारों और भृतकों के बीच प्राचीनतम महान् आन्दोलन था। ये लोग भूमिहीन थे और मजबूर देहाती किसान थे जो शाही पूंजीवादियों की जमींदारियों में बड़ी संख्या में किराये के टट्टुओं के रूप में काम करते थे। यह सामाजिक अवनति का एक लक्षण था जैसा कि जातकों से प्रमाणित होता है (१ ११६)। यह कानून के सम्मुख सभी वर्णों—क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य और शूद्र (जो जन्मतः आर्य हैं)—की समानता का प्रचार भी है।

लोकपरकता और सहिष्णुता का विकास

आजीविक जैन और बौद्ध धर्मों में संन्यास लेने पर, परिवार और सामाजिक दायित्वों के त्याग पर जोर दिया गया था। इससे समाज को बड़ी हानि हो रही थी। इसके विपरीत कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णाश्रमधर्म की नई व्याख्या प्रस्तुत की गई। इस व्याख्या का आधार था प्राचीन आध्यात्मिक सिद्धान्त जिसमें व्यक्तियों और समुदायों के आध्यात्मिक उत्तराधिकार पर जोर दिया गया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा गया

कि परिवार के निर्वाह के लिए उपयुक्त व्यवस्था किये बिना और अधिकारियों की आज्ञा
लिए बिना संन्यास ग्रहण करने का किसीको अधिकार नहीं है। "यदि कोई पुरुष अपनी
पत्नी और बच्चों की उपयुक्त व्यवस्था किए बगैर संन्यास ग्रहण करेगा तो उसे दण्डित
किया जाएगा। इसी प्रकार उस व्यक्ति को भी दण्डित किया जाएगा जो किसी स्त्री के
संन्यास लेने में सहायक होगा।" यह मौर्य-साम्राज्य-विस्तार का स्वाभाविक परिणाम था।
क्योंकि किसी भी युद्ध साम्राज्य का सैनिक कर्म यदि संन्यासी हो गया तो उस साम्राज्य
को न तो बढ़ाया जा सकता है और न स्थायी रखा जा सकता है।

साम्राज्य की शक्ति का दूसरा स्रोत था सभी प्रकार के आचार-विचारों व्यवहारों
और कानूनों के प्रति खुले दिल से सहिष्णु होना। यह सहिष्णुता मूलनिवासियों या वन
वासियों (आटवीकों) के प्रति ही नहीं थी बल्कि पराजित देशवासियों और विदेशी लोगों
के प्रति भी थी। अर्थशास्त्र में विशेषरूप से लिखा गया है कि राजा को पराजित देश के
आचार विचारों भाषा और पहनावे को मान लेना चाहिए और उनके देवताओं सामा
जिक संस्थाओं और त्योहारों का आदर करना चाहिए। प्रत्येक समाज जाति संगठन
और ग्राम को पूरी स्वतन्त्रता थी कि वह धर्म की सार्वभौम संहिता के अनुसार अपनी
संस्कृति का पालन और शांतिपूर्ण जीवन-यापन करे। ये प्रवृत्तियां एक विशाल साम्राज्य
की विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप थी। इस साम्राज्य में पारसीक यवन और
दूसरे विदेशी उत्तर-पश्चिम में रहते थे। ये प्रवृत्तियां एक सार्वभौम युग में रहनेवाले
देशवासियों के अनुरूप थीं जो बढ़ते हुए व्यवसायों एवं व्यापार और वाणिज्य में जन्म
और जाति के बन्धनों से ऊपर उठकर अपना उचित भाग पाना चाहती थी।

अशोक ने भी सभी धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता को महत्त्व दिया ताकि
सभी समानरूप से समृद्ध हों और ठोस सिद्धान्तों का विकास करें। अशोक का बारहवां
शिलाभिलेख इसी विषय पर है। अशोक का विचार था कि सहिष्णुता का आधार है वाणी
पर नियन्त्रण अर्थात् कोई अपने धर्म की अधिक प्रशंसा न करे और दूसरे के धर्मों को बिना
किसी कारण निन्दनीय न ठहराए। किसी दूसरे धर्म को अपवाद विशिष्ट आधार पर
ही कहने चाहिए। दूसरी ओर दूसरों के धर्म का किसी न किसी आधार पर सम्मान होना
चाहिए। ऐसा करने से उस व्यक्ति का धर्म तो बढ़ता ही है दूसरों के धर्म को भी लाभ
होता है। इसके विपरीत आचरण से अपने धर्म को भी क्षति पहुंचती है और दूसरों के
धर्म को भी। अतः एकमत होना ही प्रशंसनीय है इस दृष्टि से कि सभी लोगों का
दूसरों के सिद्धान्त सुनना चाहिए और सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए। वास्तव में
महाराज की यही इच्छा है।"

मौर्य-युग में सामाजिक व्यवस्था

मौर्य युग में समाज व्यवस्था के उच्च स्तरों पर जातियों के कोई चिह्न नहीं हैं।
तीनों उच्चतर जातियों—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य—के सामान्य कर्तव्य थे अध्ययन यज्ञ
और दान और उनके व्यवसाय आपस में मिश्रित होते रहते थे। एक जातक में लिखा
है कि नियमों के विपरीत ब्राह्मण कम से कम दस अनुपयुक्त व्यवसाय करते थे। ये—

व्यवसायों में सम्मिलित हैं खेती-बाड़ी छोटा व्यापार मिट्टी खोदना सेवा-कार्य और शिकार। इसी प्रकार क्षत्रिय भी कृषक और कारीगर बनने लगे तथा वैश्य भी कारीगरों का काम करने लगे। मौर्य-युग में धर्मनिरपेक्षता की इतनी प्रगति हुई कि एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरा स्वीकार कर लेने से किसीकी सामाजिक स्थिति अथवा सम्मान में कोई अन्तर नहीं आता था। केवल निम्नतम स्तरों पर, पांच हीन जातियों के बीच पांचवीं शताब्दी ईसापूर्व में छोटी-छोटी जातियों अथवा व्यापार के अनुसार समुदायों का विभाजन शुरू हुआ। यही विभाजन बाद में सामाजिक विधान के सभी अंगों में फैल गया। विनय-सुत्तविभंग में हीन जातियों को पांच बताया गया है चाण्डाल वेन निषाद रथकार और पुक्कुस। श्रौतसूत्रों में आर्य-समाज से बाहर के समुदायों को मिलक्खु (म्लेच्छ) कहा गया है। अनिर्वासित शूद्रों की तुलना में जिन्हें आर्य-समाज में स्वीकार कर लिया गया था इन्हें निर्वासित कहा जाता था। पाणिनि ने यही लिखा है (२ ४ १)। पाणिनि ने ही लिखा है (२ ४ १० १ ४७५) कि अनेक शूद्रों को घर के बर्तन छूने के निषेधों का भी अपमान हो चुका था। मानवधर्म ने निषाद चाण्डाल पौल्कस और वेन जातियों को निम्नतम जातियां कहा है (? १ २ ६)। अन्त में मौर्य-युग में जातियों का सम्मिश्रण सामान्य बात थी जिससे अनेक मिश्रित जातियां (अन्तराल) विकसित हुईं। प्रतिलोम विवाहों की सन्तानों को विशेषरूप से हीन समझा जाता था। जैसे (शूद्र पिता से उत्पन्न) आयोग व क्षत्र और चाण्डाल (वैश्य पिताओं से उत्पन्न) मागध और वैदेहिक तथा (क्षत्रिय पिताओं से उत्पन्न) सूत। पाणिनि ने अम्बष्ठ अथवा आम्बष्ठ जैसी मिश्रित जातियों का उल्लेख किया है। मौर्य-युग जातियों के सम्मिश्रण और परिपाक का युग था। इस युग में सामाजिक स्तर और व्यवसाय न तो अलग अलग हुए थे और न निश्चित थे। सबसे ऊंचा दर्जा एक ओर तो क्षत्रियवर्ग को प्राप्त था और दूसरी ओर राजा के पुजारियों मन्त्रियों राजदूतों अथवा संन्यासियों की भांति जंगलों में रहनेवाले ब्राह्मणों को (मेगास्थनीज़ के विवरण से)।

कौटिल्य के सामाजिक नियम

धर्म की सुरक्षा की आवश्यकता अथवा समाज के चार प्रमुख वर्णों की व्यवस्था को 'आर्यों की नीति के अनुसार' सुचारुरूप से चलाने के लिए कौटिल्य अर्थशास्त्र में व्यवस्था है कि सभी व्यवसायों और नौकरियों तथा मजदूरों और कारीगरों के स्तर को राज्य के नियन्त्रण में रहना चाहिए। कौटिल्य के कुछ नियमों में वे बीज मौजूद हैं जो आज के समाज में सुनियोजित धर्म व्यवस्था की सामाजिक सुरक्षा का रूप ले चुके हैं। दासों तथा अन्य प्रकार के मजदूरों (कर्मकारा) को निश्चिन्तता थी कि उन्हें उचित मजदूरी मिल जाएगी क्योंकि उनके और मालिकों के बीच एक समझौता हो जाता था जिसका पता उनके पड़ोसियों को भी रहता था। मजदूरी न देना एक अपराध था जिसके लिए जुर्माना होता था। भृत्यों का भी अपना वेतन पाने का अधिकार था और किसी प्रकार की शारीरिक अयोग्यता अथवा वर्षाधिक नौकरी अथवा किसी विपत्ति के समय उन्हें अन्य प्रकार की सहायता भी मिलती थी। अशोक ने अपने अभिलेखों में बार-बार

दासों और श्रमिकों (दास मुक्त) की सुरक्षा के लिए आदेश दिए हैं। इसका आधार कौटिल्य की ही उपर्युक्त व्यवस्था थी (१ १३, १४)।

धर्मशास्त्र में व्यवस्था है कि सभी अनाथों (बाल) वृद्धों, अपाहिजों बीमारों तथा निस्सहाय व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध राजा को करना चाहिए। राजा को ही निस्सहाय गर्भवती स्त्रियों और उनके बच्चों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करना चाहिए। वृद्धों बीमारों गर्भवती स्त्रियों और बच्चों को नदी पार करने का कर नहीं देना होगा। जिन लोगों में कर अदा करने की क्षमता नहीं रह गई है उनके प्रति राजा का व्यवहार पिता जैसा होगा।

मनु ने विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध किया था किन्तु कौटिल्य की व्यवस्था इसके विपरीत है। पुनर्विवाह के समय विधवा को वह सब सम्पत्ति मिल जाएगी जिसको उसके ससुर या पति या दोनों ने पूर्व-वैवाहिक जीवन के दौरान दिया होगा। किन्तु यदि उसने अपने ससुर की इच्छा के प्रतिकूल विवाह किया तो उस सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार न होगा।

जिन पत्नियों के पतियों का कोई पता परिस्थितियों के अनुसार एक या दो वर्ष तक नहीं लगता था उन्हें पुनर्विवाह की छूट थी।

यदि किसी स्त्री का पति दुश्चरित्र हो अथवा लम्बे समय से विदेश में हो अथवा राजद्रोही हो, अथवा उसके अपने जीवन के लिए खतरनाक हो अथवा जाति-बहिष्कृत या नपुंसक हो जाए तो पत्नी को अधिकार था कि वह अपने पति को छोड़ दे।

अन्य स्मृतिकारों के विपरीत कौटिल्य ने विवाह-विच्छेद का विधान स्वीकृत किया है। उनका कथन है कि विधिवत् विवाह हो जाने के बाद विवाह-विच्छेद पारस्परिक घृणा की स्थिति में ही सम्भव है।

यदि किसी पुरुष को अपनी पत्नी से खतरे की सम्भावना हो और वह विवाह विच्छेद करना चाहे तो उसे वह सब कुछ पत्नी को दे देना पड़ेगा जो विवाह के समय पत्नी को उपहारस्वरूप मिला था। यदि किसी स्त्री को अपने पति से खतरे का अन्देशा हो और वह उससे सम्बन्ध विच्छेद करना चाहे तो अपनी सम्पत्ति पर उसे कोई अधिकार नहीं होगा। प्रथम चार प्रकार की वैवाहिक रीतियों से किए गए विवाह टूट नहीं सकते।

न्याय की दृष्टि में सभी प्रायः समान

किसी शक्तिशाली साम्राज्य के स्थायित्व के लिए अनिवार्य था कि धर्म से अधिक महत्त्व राजशासन को प्राप्त हो। मौर्य-साम्राज्य में राजाज्ञा को धार्मिक ग्रन्थों से श्रेष्ठतर माना जाता था। इस दृष्टि से प्रचलित धर्मशास्त्रों की अपेक्षा कौटिल्य अर्थशास्त्र का मत भिन्न है। यह भिन्नता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है और किसी सीमा तक क्रान्तिकारी भी। कौटिल्य का कथन है "धर्म व्यवहार चरित्र और राजशासन कानून के चार स्तम्भ हैं और इनमें से प्रत्येक अपने से पहलेवाले से श्रेष्ठ है।" "शास्त्र और धर्मन्याय में संघर्ष उत्पन्न होने पर विवेक को ही सर्वोपरि माना जाएगा।" चौथी शताब्दी

ईसापूर्व में भारत पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए तथा कूटनीति और युद्ध के दौर चलते रहे किन्तु साथ ही साथ फारस और यूनानी संसार के साथ व्यापार का भी खूब विकास हुआ। उस युग में धर्मनिरपेक्षता की जो प्रक्रिया चल रही थी वह कौटिल्य अर्थशास्त्र की राजनीति का ही प्रतिफल थी। फारसियों और यूनानियों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने के फलस्वरूप इस प्रक्रिया पर फारस-साम्राज्य और यूनानी राज्यों का अत्यधिक प्रभाव अवश्य पड़ा होगा क्योंकि इन स्थानों पर शासक की सत्ता ही कानूनों की नियामक होती थी।

अर्थशास्त्र से पहले ब्राह्मणों को किसी भी अपराध के लिए दण्डनीय अथवा प्राणदण्ड का भागी नहीं माना जाता था। अर्थशास्त्र में ब्राह्मणों को प्राप्त इस सुविधा को छीन लिया गया। इससे मौर्य-साम्राज्य की धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया को और जोर मिला। कौटिल्य के अनुसार राजद्रोह के अपराधी ब्राह्मण को पानी में डुबाकर प्राणदण्ड देना चाहिए। मौर्य साम्राज्य का उद्देश्य था कि कानून के समक्ष सभी स्वतन्त्र नागरिक अथवा आर्य एकसमान हों फिर चाहे उनकी जाति या कुल कोई भी हो। अशोक ने अपने अभिलेखों में इसी सिद्धान्त पर जोर दिया। उनमें लिखा है कि सभी राज्याधिकारियों *को दण्ड समता और व्यवहार-समता के सिद्धान्तों का बिना हिचक पालन करना चाहिए।* साम्राज्य का शासन महामात्रों और राजुकों द्वारा होता था। और उनके काम की देख भाल भ्रमणशील न्यायाधीश किया करते थे। राजुकों (अथवा लाजुकों) का मुख्य काम था। देशवासियों के कल्याण और सुख की व्यवस्था करना (जनपदस्य हितसुखाय)। *उन्हें विशेषरूप से आदेश दिए जाते थे कि वे पूर्णतः निष्पक्ष होकर निर्णय अथवा दण्ड* दें। केन्द्रीयकरण के बावजूद न्याय-व्यवस्था का आधार अनेक स्वशासनयुक्त न्यायालयों में था। ये न्यायालय गांवों नगरों सामाजिक संस्थाओं और व्यावसायिक संघों के होते थे। कौटिल्य ने लिखा कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नगर और मुहल्ले में एक न्यायालय होना चाहिए जिसमें धर्म से परिचित तीन सदस्य (धर्मस्थ) हों और तीन राजा के मन्त्री। इस प्रकार मौर्य कल्याणकारी राज्य के ढांचे की नींव अधिक प्राचीन और लोकतन्त्रीय थी।

ग्रामीण स्वराज्य और सामूहिक कार्य

मौर्य-साम्राज्यवाद के अन्तर्गत राज्य में पूर्ण शान्ति और सुरक्षा थी। इसके फल-स्वरूप सामान्यजन का अधिकाधिक कल्याण हुआ। साथ ही गांवों में सामाजिक आर्थिक और दैनिक अनेक प्रकार के सामूहिक कार्यों का विकास हुआ। ग्रामीण स्वशासन स्थापित किया गया। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। ग्राम का शासन एक अधिकारी द्वारा होता था जिसे ग्रामणी ग्रामिक अथवा ग्रामभोजक कहा जाता था। क्रमशः १ २ १ और १००० गांवों के ऊपर जो अधिकारी होते थे उन्हें दशी विंशी शतेश और सहस्रेश कहा जाता था। इनके ऊपर जनपदों और प्रदेशों के अधिकारी स्थानिक राजुक और प्रादेशिक होते थे। गांव के स्तर पर अनेक प्रकार के लोककल्याणकारी कार्य चला करते थे जिनमें सामान्यजन उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। कुलावक जातक में लिखा है कि ग्रामवासी "गांव के बीचोबीच खड़े होकर कार्य-व्यापार करते थे वे सड़कों और नालियों

की मरम्मत करते व पुल बनाते थे, तालाब खोदते थे कमरे बनाते थे उनमें दया की भावना थी और धर्म का आदर। सार्वजनिक हाल (शाला अथवा सन्थागार) गांव की हर कार्यशीलता का केन्द्र होता था। महोम्मग्ग जातक के अनुसार प्रत्येक गांव में अपनी शाला थी, खेलने का मैदान (कीलामण्डलम्) न्यायालय (विनिच्छयम्) धार्मिक सम्मा पन के लिए सभा (धर्मसभाम्) सुन्दर चित्र १००० मोहरों और १०० महात्मे के बाटों सहित तालाब भिक्षागृह (दानमट्टम्) थे। इसके अतिरिक्त अतिथियों भिक्षुओं ब्राह्मणों विदेशी व्यापारियों और निराश्रय व्यक्तियों के लिए विशेष आवास थे। अर्थ शास्त्र और जातकों के कुछ प्रसंगों से मालूम होता है कि सामूहिक कृषि भी होती थी सिंचाई चरागाह चिता मनोरंजन दान और यज्ञ के लिए तो सामूहिक प्रबन्ध होता ही था। अर्थशास्त्र का नियम है कि यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार के सामूहिक काम से (सम्भूय सेतुबन्धाद्) अलग रहना चाहे तो उसे अपना काम जारी रखने को नौकर व बैल भजने होंगे और खर्च में उसे हिस्सा लेना पड़ेगा पर वह लाभ का अधिकारी नहीं होगा।

समुद्री व्यापार और बन्दरगाह

मौर्य-साम्राज्य का विस्तार हिन्दूकुश के पार बैक्ट्रियाना तक हो गया तो भार तीय और विदेशी व्यापार का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। कारण यह था कि ऐकेमेनिडों द्वारा बनाई हुई सारी सड़कें जो सिन्धुघाटी और पंजाब को पर्सिपोलिस और सूसा से मिलाती थीं मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत आ गइ। पश्चिमी देशों के साथ व्यापार के फल स्वरूप भारत में खूब सोना आता। उस युग के उत्तरभारत के मुख्य नगरों के सेट्ठियों क वैभव और विलास से यह स्पष्ट है। अनुमान लगाया जाता है कि इन सेट्ठियों की सम्पत्ति अस्सी करोड़ रुपयों के बराबर थी। करोड़पती महासेट्ठि अनाथपिण्डिक ने ५०० अन्य सेट्ठियों के साथ मिलकर जेतवन की सम्पूर्ण धरती पर सिक्के बिछाकर उसे खरीद लिया और बुद्ध को प्रदान कर दिया। भारत की विशाल सम्पत्ति का एक विदेशी साक्षी है हेरोडोटस। उसने लिखा है कि दारा के साम्राज्य के भारतीय भाग से वसूल होनेवाला कर अन्य सब प्रदेशों के कर से कहीं अधिक है सोने क तीन सौ साठ टैलेन्ट। इस यूनानी इतिहासकार ने यह भी लिखा है कि भारत के सोने का कुछ हिस्सा खानों से भी निकलता है। हेरोडोटस और मेगास्थनीज दोनों ने लिखा है कि भारतीय नदियों में भी सोना मिलता है। सोन नदी का 'एरोन्नोबोआस' अथवा हिरण्यबाहु अर्थात् स्वर्णवाहिन कहा जाता था। मेगास्थनीज के ही वचनों के अनुसार मौर्य-युग में भारत मे अधिक सोना और विशाल मोती टैप्रोबेन अर्थात् लंका मे पाए जाते थे। कौटिल्य ने ताम्रपर्णिक नामक मोती का जिक्र किया है जो 'ताम्रपर्णी' में पैदा हुआ था।

मौर्य-युग मे भारतीय व्यापारियों और नाविकों की व्यापार-यात्राएं पश्चिम में बवरू अथवा बैबिलोन दक्षिण में टैप्रोबेन अथवा लंका और पूर्व में सुवर्णभूमि अथवा सुमात्रा और अन्य द्वीपों तक हुआ करती थीं। लम्बी-लम्बी समुद्र-यात्राएं दिशा-काकों की मदद से हुआ करती थीं। जातकों में ऐसी समुद्र-यात्राओं का वर्णन है जिनकी अवधि छः मास तक थी वे यात्राएं नावों पर होती थी और बाढ़ की ऋतु में नावें तट पर खड़ी कर दी

जाती थीं। जब कोई नाव बन्दरगाह पर पहुंचती थी तो सैकड़ों प्रतिस्पर्धी व्यापारी माल खरीदने को तट पर ही खड़े मिलते थे। ये नावें इतनी बड़ी होती थीं कि १०० से ७०० यात्रियों को लेकर सात समुद्र पार की यात्राएं कर सकती थीं। भारत ने प्रथम बार एक सुदृढ़ नौसेना का विकास किया। यह सेना भारत के विस्तीर्ण तटीय क्षेत्रों की रक्षा करती थी और समुद्र-यात्री व्यापारियों को समुद्री डाकुओं के आक्रमणों से सुरक्षित रखती थी। विशेषतः तमिलराज्यों और लंका से उत्तरभारत आनेवाली मोतियों और अन्य रत्नों से भरी हुई नावों को समुद्री डाकुओं का बड़ा खतरा रहता था। नौसेना उनकी रक्षा करती थी। नौसेना की उचित देखभाल और निगरानी के लिए पाटलिपुत्र में एक नौ सेना-विभाग था। इसका जिक्र मेगास्थनीज ने किया है। 'सैकड़ों यात्रियों और व्यापारियों को लाए हुए' तथा 'लम्बी-लम्बी समुद्र-यात्राओं के लिए तैयार' नौकाएं भारत के सम्पूर्ण समुद्र-तट पर लगी रहती थीं और सुदूर भारुकच्छ (भड़ौच) और सुवर्णभूमि (सुमात्रा अथवा सामान्यतः पूर्वी द्वीपसमूह) तक आती-जाती थी और रास्ते में टप्रोबेन (लंका) का स्पर्श करती थीं। एक सुप्रसिद्ध प्रसंग में मिलिन्दपन्ह (लगभग पहली शताब्दी ईसापूर्व) ने लिखा है कि किसी नाव का मालिक किस तरह व्यापार चलाता था और किस तरह किसी समुद्रतटीय नगर में लगातार माल ढोते रहकर सम्पत्तिशाली हो जाता था और किस तरह समुद्र-यात्रा के लिए चल पड़ता था तथा वंग (बंगाल) तक्कोल (मलय) चीन तक पहुंचता था। या फिर सौवीर (गुजरात) सुरट्ठ (काठियावाड़) अलसन्द (सिकन्दरिया) कोलपट्टन (कोरोमण्डल तट) और सुवर्णभूमि (सुमात्रा) अथवा किसी अन्य स्थान पर जहां नावें पहुंचती थीं। भारतीय नाव भी पहुंच जाया करती थीं। मौर्य-साम्राज्य के सबसे बड़े बन्दरगाह थे पश्चिम में सिन्धु नदी के मुहाने पर बारबैरिकम नर्वदा के मुहाने पर (मालराज्य की सीमा के भीतर) भारुकच्छ शूर्पारक रौरुव अथवा रौरुक (सौवीर की राजधानी) और करम्बिया तथा बंग में ताम्रलिप्ति। इन्हीं बन्दरगाहों से व्यापारी पूर्वी द्वीपसमूह और लंका के लिए रवाना होते थे तथा तटीय व्यापार करते थे।

प्राचीन व्यापार-मार्ग और मण्डियां

इन सारे बन्दरगाहों तक बढ़िया सड़कों के द्वारा भीतरी नगरों से पहुंचा जा सकता था। जैसे पाटलिपुत्र से बनारस साकेत कौशाम्बी भारहुत विदिशा और उज्जयिनी होते हुए *मध्यभारत के विशाल वन* (कात्यायन ने जिसे कान्तारपथ कहा है) को पार करके प्रतिष्ठान और भारुकच्छ पहुंचा जा सकता था या फिर पटालिपुत्र से गंगा नदी के किनारे स्थित चम्पा होकर नदी के किनारे-किनारे ताम्रलिप्ति (आधुनिक ताम लुक) तक पहुंचा जा सकता था या फिर श्रावस्ती कपिलवस्तु पावा वैशाली और नालन्दा से राजगृह और बोधगया होकर ताम्रलिप्ति पहुंचा *जा सकता था। ताम्रलिप्ति से बोध* गया बनारस प्रयाग कौशाम्बी मथुरा हस्तिनापुर, शाकल तक्षशिला पुष्कलावती और मसकवति होते हुए कापिशी और बाह्लीक (बल्ख) पहुंचा जा सकता था। वहां से ऑक्सस नदी पर नावों के जरिये भारतीय माल यूरोप पहुंचाया जाता था—कैस्पियन सागर को पार करके कुर और फ़ासिस होते हुए काला सागर के बन्दरगाहों तक।

अथवा हेरात और कैस्पियन द्वार से टेसीफॉन और हेकैटोम्पाइलस होते हुए एन्तिओक पहुँचते थे। इनके अतिरिक्त एक और अपेक्षाकृत कठिन रास्ता था जिससे भारतीय सामान प्राचीन सड़कों के जरिये ईरान और एशिया माइनर के यूनानी नगरों तक पहुँचाया जाता था। यह रास्ता श्रावस्ती से काम्पिल्य और मथुरा होकर राजपूताना की मरुभूमि को पार करके सौवीर और बार्बरा होते हुए पोटल (पटल) जिसे सिन्धु नदी के किनारे सिकन्दर ने स्थापित किया था तक पहुँचता था। पाणिनि ने मद्र-वाणिज्य, काश्मीर वाणिज्य और गान्धार-वाणिज्य का जिक्र किया है जिससे इन सुदूर क्षेत्रों के साथ व्यापार का महत्व मालूम होता है। पाणिनि ने प्रकण्व (यूनानी परिकल्पोइ अथवा करसामा) और कुक्कर अथवा कुश का भी जिक्र किया है। पाटलिपुत्र से बाह्लीक तक की सड़क को पाणिनि ने उत्तरापथ कहा है। यह पथ नगरों से खाली था और आवागमन रुद्ध होता था। उपर्युक्त नगरों में से प्रमुख हैं साकेत हस्तिनापुर संगम सुवास्तु वर्णु और वरणा। एक जातक में लिखा है कि विद्यार्थी इकट्ठे होकर तक्षशिला की यात्रा करते थे किन्तु न उनकी रक्षा के लिए सिपाही होते थे और न वे स्वयं शस्त्र रखते थे। अशोक के अभिलेखों में लिखा है कि राजमार्गों पर आवसथागार (विश्रामालय) और कूप होते थे।

पाटलिपुत्र वैशाली चम्पा बनारस कौशाम्बी साकेत (अयोध्या) श्रावस्ती मथुरा और तक्षशिला बड़ी मण्डियाँ थीं जहाँ सम्पूर्ण मध्य बाजार से आया हुआ माल इकट्ठा होता था। राइसडविड्स ने लिखा है "व्यापारी निम्नलिखित प्रमुख वस्तुओं का व्यापार करते थे—रेशम, मलमल, अच्छी किस्म के कपड़े बर्तन, कवच, कीमखाब कढ़े हुए कपड़े, कालीन, इत्र ओषधियाँ हाथीदांत हाथीदांत की वस्तुएं आभूषण और सोना (कभी-कभी चाँदी भी)। दक्षिण में प्राप्त होनेवाले मोती हीरे कीमती पत्थर और चन्दन की लकड़ी उत्तरभारत तथा पश्चिमी और मध्य एशिया की मण्डियों में बिकती थीं। ईरान और गान्धार के मार्गों पर बालू के टीलों और रेगिस्तानों को पार करके चलनेवाले काफिलों का मार्गदर्शन रात की शीतलता में तारे करते थे। काफिलों का दिशा-निर्देश थलनिर्यामक द्वारा होता था और मुखिया को सार्थवाह कहा जाता था। यूनानी लेखकों के अनुसार मिस्र को भारत से आयात होनेवाली चीजों में हाथीदांत कछए की पीठ मोती रंग (विशेषतः नील) जटामांसी कपड़े तथा कम मिलनेवाली लकड़ियाँ शामिल थीं। अर्थशास्त्र और जातकों के अनुसार कपड़ा उद्योग के निम्नलिखित प्रमुख केन्द्र थे। रेशमी कपड़ा उद्योग बनारस बंग पुण्ड्र और सुवर्णकुड्य सूती कपड़ा उद्योग बनारस और बंगाल में सबसे अच्छा कपड़ा। इनके अतिरिक्त दूसरे केन्द्र थे दक्षिण में मथुरा अपरान्त (पश्चिमी भारत), कलिंग वत्स (कौशाम्बी) और महिष (माहिष्मती), चमड़ा गन्धार उद्दियान नेपाल और वंग, रंग पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल) सुवर्णकुड्य (कामरूप में) मगध और बाह्लीक।

पश्चिमी एशिया और चीन के साथ मौर्य भारत का सम्पर्क

मौर्यकाल में भारत ने एक ओर पश्चिमी एशिया और भूमध्यसागरीय देशों के साथ तथा दूसरी ओर चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किए थे। सेल्यूकस की पुत्री

के साथ चन्द्रगुप्त का विवाह शायद ऐतिहासिक तथ्य नहीं है किन्तु मौर्य-दरबार में सेल्यूकस के दूत मेगास्थनीज और डेमाकस तथा मिस्र के टालेमी फिलाडलफस के दूत डायोनीसियस आए थे। मौर्य-सम्राटों ने निश्चय ही भारतीय दूत भी विदेशों में भेजे होंगे। पाटलिपुत्र में इतने अधिक विदेशी रहते थे कि उनके हितों की रक्षा के लिए एक अलग विभाग स्थापित किया गया था। लालसागर के तट पर बर्निस और मायोस हर्मस नामक दो प्रमुख बन्दरगाह थे। यहां तक भारतीय व्यापारिक माल समुद्री मार्गों द्वारा पहुंचता था और वहां से नील नदी के तट पर स्थित कॉप्टस मण्डी के जरिये मिस्र तथा भूमध्यसागरीय देशों तक पहुंचता था या फिर भारतीय सामान प्राचीन काफिलों के रास्ते पर जिसे पाणिनि ने उत्तरापथ कहा था और जो तक्षशिला व प्यूकेलाउटिस से कन्धार होकर पर्सिपोलिस और सूसा तक पहुंचता था अथवा ऑक्सस नदी पर नावों के जरिये कैस्पियन और काले सागरों तक पहुंचता था। इस प्रकार भारत का सम्बन्ध यूनानी संसार के साथ जुड़ गया था। पाणिनि संसार के निवासी थे जो बल्ख (बाह्लीक) ईरान (पर्स) प्रकण्व (फरगाना) कम्बोज (बदख्शां-पामीर) और तुषार (कुच) से भली प्रकार परिचित थे। वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि पर अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में उन शब्दों का जिक्र किया है जिन्हें पाणिनि ने प्रयुक्त किया था और जिन्हें भारत ने अपने पड़ोसी देशों से ले लिया था। उदाहरणतः यवन (आयोनियन) परशु (बहिस्तान अभिलेख का पर्सु) बुक (नक्शेरुस्तम अभिलेख का बर्क) और कन्थ (नगर जैसे कि समरकन्थ में) बाबाल (बकरियों का झुण्ड) और हुवाहुम (विष)। चौथी और तीसरी शताब्दी ईसापूर्व की या शायद इससे भी पहले की दो चीनी कृतियों 'यु येनस्यू चुआन और शुई वा' में शुक्रिय ने संस्कृत शब्द सिंह (चीनी भाषा में सेङ्-ऐ) का उपयोग हुआ है।

भारतीय संस्कृति का प्रभाव यूनानी संसार पर पड़ा था। इसका एक बहुत बड़ा साक्षी अशोक का तेरहवां शिलाभिलेख भी है। इस अभिलेख में लिखा है कि भारतीय धर्मप्रसारकों की सक्रियता के फलस्वरूप निम्नलिखित यूनानी शासकों के राज्यों में धम्म के अनुयायी थे सीरिया के एन्तियोकस मकदूनिया के अन्तिगोनस गोनातस एपिरस अथवा कारिन्थ के सिकन्दर, मिस्र के टालेमी और साइरीन के मागास। बौद्धधर्म से बहुत पहले ही उपनिषद् और सांख्यदर्शन व्यापारिक सामानों और व्यापारियों के साथ साथ यूनानी संसार में पहुंच गया था। कुछ विद्वानों का विचार है कि इन दर्शनों का प्रभाव पाइथागोरस और प्लेटो पर, और विशेषरूप से बाद के ईसाई बुद्धिवादियों व नवप्लेटोवादियों पर बहुत पड़ा था।

हिमालय के पार कन्धार और बैक्ट्रिया में मौर्य काल में ब्राह्मणधर्म और बौद्ध धर्म का खूब प्रचार था। जेम्स डारमस्टेटर का कथन है 'हिन्दू सभ्यता उन भागों (काबुल और सीस्तान) में फैली थी। सच तो यह है कि ईसा से दो शताब्दी पहले और बाद तक वे भाग 'श्वेत भारत' के नाम से जाने जाते थे। वे प्रदेश मुसलमानों की विजय से पहले तक ईरानी से अधिक भारतीय थे।" मौर्य-संस्कृति का प्रसार पामीर के पार प्रदेशों में भी हो गया था। यह इस तथ्य से भी जाना जाता है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी के सलानियाई बैक्ट्रिया को परोक्षरूप से भारत का अंग मानते थे और ऑक्सस को ब्राह्मणों और बौद्धों

की गयी। यह सम्पूर्ण क्षेत्र जिसमें हेलमन्द, काबुल, ऑक्सस तारिम नदियों की घाटियाँ भी सम्मिलित थीं ईसा के तुरन्त पहले और बाद के समय में वैदिक संस्कृति को मानता था। यह दृष्टिकोण एफ० डब्ल्यू० टॉमस का है। टॉमस ने लिखा है "सम्भव है कि उत्तरी अफगानिस्तान के निवासियों का हाथ प्रारम्भ से ही वैदिक सभ्यता के विकास में रहा हो, क्योंकि यूनानियों को वे भारतीयों जैसे ही मालूम पड़ते थे और उनकी सेनाओं में हाथी थे।"

भारत का राष्ट्रीय चिह्न—सारनाथ में अशोक-स्तम्भ का सिंहशीर्ष

मौर्य-साम्राज्य ३२२ से १८५ ईसापूर्व तक रहा। मौर्य-सम्राटों के सन्देश कई उपायों से प्रसारित किए जाते थे। एक उपाय था प्रस्तर-स्तम्भों पर खुदे हुए अभिलेख जिनके बारे में पहले ही कहा जा चुका है कि इन स्मारक-स्तम्भों की विशेषताएँ थीं इनका अद्वितीय शिल्पकौशल द्वारा निर्माण और गहन प्राचीन प्रतीकवाद। प्रारम्भिक सम्राटों ने एकेमेनिडों की नकल करके इनका निर्माण करवाना सीखा था और अशोक ने अपने नैतिक और धार्मिक उद्देश्यों के लिए इनका प्रयोग प्रारम्भ किया। सारनाथ का अशोक स्तम्भ का विशाल सिंहशीर्ष जो चार स्वतन्त्र प्रकार हरिण-उद्यान में बुद्ध के प्रथम प्रवचन का प्रतीक है भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय मुहर अथवा चिह्न के रूप में स्वीकार किया गया है। किसी समय यह एक ऊँचे और प्रभावशाली स्तम्भ का शीर्ष था जिसपर सम्राट् अशोक ने विभिन्न धर्मों के पारस्परिक मतभेद की निन्दा करनेवाला अभिलेख खुदवाया था। एक दूसरे से पीठ सटाए हुए बैठे चार शानदार सिंह शाक्यसिंह बुद्ध की चतुर्दिशाओं और आध्यात्मिक शक्ति के प्रतीक हैं। पश्चिमी एशिया और वैदिक भारत में सिंह प्रतीक राजसत्ता के साथ सम्बन्धित है। इस प्रकार प्राचीन ब्राह्मण और बौद्ध प्रतीकवाद एक-दूसरे से मिल गए हैं और नये धर्म के लिए उनकी व्याख्या पुनः प्रस्तुत की गई है।

पालि साहित्य में अक्सर बुद्ध की सिंह और उनके प्रवचन की सिंह-गर्जन से तुलना की जाती है। सिंहों के नीचे एक गोलाकार पट्टी है जिसपर चार पशु—हाथी घोड़ा बैल और सिंह—खुदे हुए हैं। प्रारम्भिक बौद्धकृतियों और कथा में हाथी बुद्ध के स्वप्न और विचार का प्रतीक है बैल उनके जन्म का प्रतीक है (तथागत का जन्म वृषभराशि में हुआ था) घोड़ा (कन्थक जिसपर चढ़कर तथागत ने गृह-परित्याग किया था) बुद्ध के महान त्याग का प्रतीक है और सिंह उनकी सार्वभौम सत्ता का। इस प्रकार गोलाकार पट्टी का आयपक और प्राणवान् शिल्प तथागत के जीवन की प्रमुख घटनाओं को व्यक्त करता है—बोधिसत्त्व के जीवन और भाग्य के उलट फेर का व्यक्त करता है जो सार्वभौम है अनश्वर है और आध्यात्मिक है। बैठे हुए सिंह जो कभी एक पत्थर के चक्र को सहारा देते थे सिंहनाद के प्रतीक हैं—सिंहनाद जो धम्म चक्र पवत्तन सुत को संसार की चारों दिशाओं में फैला देगा। गोलाकार पट्टी एक उल्टे के आकार के खिले हुए कमल के रूप पर जिसकी पंखुड़ियाँ उभरी हैं टिकी है—यह है चिरन्तन और अनंत विस्तृत होते जाने वाले ब्रह्माण्ड का वैदिक प्रतीक और बुद्ध के दृढ़ दीक्षा आसन अथवा बोधिसत्त्व के करुणापूर्ण हृदय का बौद्ध प्रतीक। कुल मिलाकर यह धम्मचक्र के लिए बहुत सुन्दर आसन था। धम्म

चक्र आक्रमणकारियों द्वारा अपने स्थान से हटाकर नष्ट कर दिया गया। रथ का पहिया अथवा चक्र जो सम्पूर्ण संसार को सागर की सीमा तक नाप सकता है विश्व-साम्राज्य का प्राचीन वैदिक प्रतीक है। अंगुत्तरनिकाय तिकनिपात (सूत्र १४) में चक्ररत्न और बुद्ध की समानता को दिखलाया गया है। चक्रवर्ती एक न्यायप्रिय और धार्मिक सम्राट् है जो धम्म के अनुसार आचरण करता है "उसके चक्र को कोई भी मानवीय शत्रु रोक नहीं सकता। इसी प्रकार तथागत 'न्यायप्रिय और धार्मिक शासक हैं जो धम्म के अनुसार आचरण करते हैं और धम्म के बल पर अपने धम्मचक्र को (प्रत्येक दिशा मे) अबाधितरूप से चलाते हैं यह धम्मचक्र संसार के किसी भी सन्यासी ब्राह्मण देव मार अथवा ब्रह्मा द्वारा रोका नहीं जा सकता।" दूसरी शताब्दी ईसापूर्व में निर्मित जग्गयपेत के एक रिलीफ में चक्रवर्ती के रूप में बुद्ध की सभी निधियां प्रदर्शित हैं। वे निधियां हैं चक्र हाथी घोड़ा रत्न रानी कोषाध्यक्ष और मंत्री।

बुद्ध चक्रवर्ती अथवा आध्यात्मिक संसार के एकच्छत्र शासक हैं जबकि अशोक ने श्रद्धापूर्वक धर्मविजय करते हुए अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न पदार्थों और नैतिक गुणों का उपयोग किया और स्वयं को धम्मिकोधम्मराज के रूप में प्रतिष्ठापित किया। दिव्यावदान में तो उसे वास्तव में 'चतुर्भाग चक्रवर्ती धाम्मिकोधम्मराजो' कहा है। बौद्धपरम्परा में पौराणिक चरित्रों दळ्हनेमि और महासुदस्सन की दिग्विजयी धम परायण शासकों के रूप में प्रशंसा की गई है और माना गया है कि अशोक ने उन्हींका अनुसरण किया था। इस प्रकार इस सिंहशीर्ष में अत्यन्त कौशलपूर्वक कई बातों का सम्मिश्रण किया गया है। एक बात तो है बुद्ध के सत्य-नियम की सार्वभौमिकता का विचार, जिसका प्रथम प्रवचन इसिपतनमिगदाव में हुआ था। दूसरी बात है अशोक का राजाधिराजत्व जिसने बुद्ध के निर्वाण के लगभग दो शताब्दी बाद पृथ्वी पर अपना साम्राज्य अस्त्र-शस्त्रों की सहायता से नहीं बल्कि धर्म की सहायता से स्थापित किया था। इसी सम्बन्ध में हमें अशोक का यह उचित और अद्वितीय दावा याद आता है कि उसकी वास्तविक विजय धम्मविजय थी और महाराजाधिराज ने अनेक बार धम्मविजय प्राप्त की है केवल यहां (अर्थात् अपने राज्य के भीतर) ही नहीं बल्कि छः सौ योजन दूर तक के सीमान्त प्रदेशों में रहनेवाले लोगों पर भी। अर्थात् अशोक का प्रभाव उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों तक था जो उसके समकालीन यूनानी शासकों के अन्तर्गत थे। सिंहशीर्ष वास्तव में मौर्य-साम्राज्य की सहिष्णुता धर्मनिरपेक्षता और सार्वभौमिकता का उपयुक्त चिह्न है। साथ ही यह मौर्य-कला की सूक्ष्मग्राहिता और सुन्दरता का भी सुपुष्ट प्रमाण है।

ह्वेनसांग ने जो सातवीं शताब्दी ईस्वी में बनारस आए थे सारनाथ स्तम्भ का वर्णन इस प्रकार किया है 'यह प्रस्तर-स्तम्भ लगभग सत्तर फुट ऊंचा है। पत्थर जेड की तरह चमकदार है। यह प्रकाश के समान चमकता और झिलमिलाता है और सभी व्यक्ति जो पूर्ण श्रद्धा के साथ इसके सामने प्रार्थना करते हैं समय-समय पर अपनी प्रार्थनाओं के अनुसार अच्छे या बुरे चिह्नोंवाली आकृतियां देखते हैं। इसी स्थान पर बुद्धत्व प्राप्त हो जाने के बाद तथागत ने धम्म चक्र-प्रवर्तन आरम्भ किया था।" आधुनिक इंजीनियर और कारीगर अभी तक नहीं समझ पाए हैं कि अशोक-स्तम्भ की यह चमकदार

पालिश कैसे की गई।

सारनाथ में कुमारदेवी का अभिलेख है कि उसने धर्मचक्र जिन को उसी प्रकार पुनःप्रतिष्ठित किया था जिस प्रकार वह मानवों के शासक धर्माशोक के समय में था। इस अभिलेख का निर्देश बुद्ध की मूर्ति की ओर हो सकता है जो धर्माशोक के समय से चली आ रही थी। वह प्रसिद्ध मूर्ति जिसमें बुद्ध बैठे हुए अपना पहला उपदेश दे रहे हैं गुप्त-काल में सारनाथ में अंकित की गई थी। धर्म-चक्र-प्रवर्तन एक स्मरणीय अवसर था और इसे प्रतीकरूप में भली भाँति व्यक्त किया गया है—चक्र, बुद्ध के सर्वप्रथम शिष्य दो हिरन, दान देनेवाले व्यक्ति और प्रवचन की मुद्रा—जिसे धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा कहा जाता है—ये बुद्ध की अत्यन्त कौशल के साथ अंकित किया गया है।

अध्याय ६

प्रारम्भिक बौद्धकला में मानवतावाद

अध्यात्म से मानवतावाद की ओर

छठी शताब्दी से तीसरी शताब्दी ईसापूर्व तक भारत के बौद्धिक वातावरण की विशेषताएं थीं—तर्कशास्त्र, मिथ्यावाद और गहन अध्यात्मविद्या का विकास तथा अनेक संन्यासी-सम्प्रदायों और मतों का उदय जिन्हें 'श्रमण' अथवा 'परिव्राजक' कहा जाता था। इसी युग में भयानक रक्तपात के बल पर जातियां और वर्ग आपस में संयुक्त होकर राज्य और वर्ग बने तथा राज्यों और वर्गों ने प्रथम भारतीय साम्राज्य को जन्म दिया जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इस प्रक्रिया के दौरान देश में अभूतपूर्व यंत्रणाओं और विनाश-लीला का ताण्डव रहा। संन्यासी-सम्प्रदायों का उदय इसीका प्रतिफल था। बौद्धिक और राजनीतिक दोनों क्रान्तियां मध्य गंगा-घाटी में हिमालय और गंगा के बीच की धरती पर घटित हुईं। यही बाद में बौद्धधर्म की पवित्र भूमि कहलाई।

जैनधर्म की विशेषताएं थीं—वैयक्तिक विजय अथवा मोक्ष की क्षमता, भ्रम और पतन पर विवेकशील मानव की विजय तथा भक्ति पर आधारित कर्मोन्मूलन। इन्होंने जीवन और विचारों में भावना का स्थान नहीं छोड़ा था। इसी प्रकार बौद्धधर्म की विशेषताएं थीं—आत्म का निषेध एवं तर्कनीतिसंगत दृष्टिकोण। इन्होंने भी मानव की कल्पनाशीलता को बढ़ावा नहीं दिया। किन्तु भारतीय जनजीवन के साथ निकट सम्पर्क न तो आत्मा-सम्बन्धी आध्यात्मिक सिद्धान्तों का था और न जैनधर्म बौद्धधर्म के विख्यात संस्थापकों—तीर्थिकों और आजीविकों—के कर्म-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्कों का। जन जीवन को प्रभावित करनेवाली चीज थी मानव-पीड़ा के प्रति तथागत की असीम व निर्मल करुणापूर्ण चिन्ता तथा सार्वभौम करुणा एवं सद्भावना का उनका संदेश। बुद्ध और महावीर तथा अनेक रूपधारी बोधिसत्त्वों और तीर्थंकरों ने करोड़ों भावुक भारतीयों के हृदयों को वश में कर लिया। सामान्यजनविशिष्ट करुणा, धैर्य और कृपा से युक्त इन महान व्यक्तियों को 'भगवत' के उच्चासन पर बिठाकर अनेक स्मारकों और प्रतीकों के रूप में पूजा गया। इस समय तक जनसाधारण अधिकांशतः ऊंची जातियों द्वारा आयोजित अश्वमेध, पुरुषमेध, वाजपेय अथवा अन्य यज्ञों के दर्शक-मात्र थे अथवा कभी कभी उनसे मजदूरों के समान जबर्दस्ती इन यज्ञों में काम लिया जाता था। अब पहली बार कोई ऐसी चीज उन्हें मिली जो उनके दिल-दिमाग को सीधे छू सकती थी। उपदेशकों और भिक्षुओं के लिए बौद्धधर्म एक ऐसा धर्म था जिसका आधार था विवेक अथवा ज्ञान

ज्ञान अथवा आध्यात्मिक अनुभव। जनसाधारण के लिए यह एक भक्तिधर्म बन गया। सिल्वेन लेवी ने इस रूपान्तर को अत्यन्त उपयुक्त शब्दों में व्यक्त किया है। उन्होंने शब्दों में प्रस्तुत है कि रूपान्तर कैसे हुआ

स्वर्ग के निवासी देवताओं पर मानव छा गया। मिट्टी पर मानव के चरणचिह्न बने और आत्मा पर उसने अमिट प्रभाव छोड़ा। जिन जिन स्थानों पर वह गया वे सब पवित्र और पूज्य हो गए। उसका जन्म-स्थान एवं ज्ञान प्राप्ति प्रथम उपदेश तथा चमत्कारों के स्थल तथा निर्वाण-स्थल पूजे जाने लगे। उसके प्रतीकों की पूजा होने लगी। पहले पूर्व में प्रतिप्रचलित प्रथा के अनुसार आदमियों ने मिट्टी और पत्थर के टीले उठाए। उनपर प्रतीक स्थापित किए—न्याय के लिए चक्र, एकच्छत्रत्व के लिए छाता। टीले को एक बाड़े से घेर दिया जाता था। क्रमशः बाड़ की लकड़ी के स्थान पर पत्थरों का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार जन्म हुआ स्तूप के प्राचीन रूप का। सांची का स्तूप एक आदर्श उदाहरण है। भिक्षु सदैव पर्यटन करने के लिए वचनबद्ध होते थे किन्तु वर्षाऋतु के तीन महीनों में उन्हें कहीं न कहीं स्थायी रूप से रहना पड़ता था। अपने प्रभु के उदाहरण के अनुसार भिक्षु भी यथासम्भव गुफाओं और कन्दराओं जैसे प्राकृतिक स्थानों में शरण लेते थे। फिर भी जन-संघ बढ़ता गया और धनवान हो गया। पर्यटक भिक्षुओं के लिए विश्रामगृह बनाए गए जिन्होंने मठों का रूप धारण कर लिया। इस काम के लिए कन्दराओं को व्यवस्थित किया गया उन्हें और गहरा करके कोठरियों में बांटा और सजाया गया। यह स्पष्टतः परम्परा के प्रति उनके आदर का प्रतिफल था। प्रारम्भिक पूजा-विधि का भी विकास हुआ। बौद्धधर्म की अपनी पूजन विधि तथा अपने सामूहिक संस्कार हो गए। संयुक्त जीवन के लिए मठ आवश्यक था और मठ के लिए अनिवार्य था पूजागृह मन्दिर।

यही वह दिशा थी जिसके द्वारा बौद्धधर्म ने प्रारम्भिक भारतीय कला को वह प्रबल प्रेरणा दी जिसके स्वर में आत्मा का संस्पर्श करने की क्षमता मानवीयता और वीतात्मकता थी।

कला और नैतिकता में अशोक का अंशदान

मेगास्थनीज और कटियस ने लिखा है कि जनसाधारण को वासुदेव अथवा कृष्ण की मूर्तियों के दर्शन का अभ्यास था और वे खूब ठाट-बाट से सर्कर्षण की पूजा करते थे तथा रथयात्रा निकालते थे। अशोक के नवें शिलाभिलेख में लिखा है कि लोग बीमारी विवाह सन्तानोत्पत्ति तथा यात्रारम्भ के समय अनेक प्रकार के मंगल करते थे तथा इनमें सम्बद्ध क्षुद्रता अथवा पशुओं के प्रति क्रूरता का निन्दनीय ठहराया गया है। अशोक ने इन क्षुद्र एवं निरर्थक संस्कारों का तिरस्कार किया और आज्ञा दी कि प्रजाजन इन्हें कम से कम मनाएं और वास्तविक मंगल अथवा धर्मशासन की ओर अधिक से अधिक ध्यान दें जो धर्म की रीति है। चौथे शिलाभिलेख में धार्मिक उत्सवों का वर्णन है। इन उत्सवों में अशोक की आज्ञानुसार देवताओं की प्रतिमाएं प्रदर्शित की जाती थी और बताया जाता था कि निष्ठापूर्वक धर्मपालन से कोई भी व्यक्ति उन देवताओं के निवास तक पहुंच सकता है।

'दिव्यावदान' में स्तूपों को पहाड़ियों के शिखरों के समान ऊंचा बताया गया है। अनेक स्तूपों में बुद्ध के अवशेषों को प्रतिष्ठापित किया जा चुका था और बहुसंख्यक लोग दर्शनार्थ वहां जाते थे। महान् मौर्य-सम्राट् धर्माशोक ने स्तूपों के धर्म और बुद्ध के चिह्नों की पूजा को लोकप्रिय बनाने में स्वयं बहुत कुछ किया था। स्तूप मूलतः श्मशानभूमि था किन्तु वह बौद्धधर्म का ही विशाल स्मारक बन गया। बलबुले जैसा उसका ऊंचा और मानदार कलश इस बौद्ध-विश्वास का प्रमाण है कि सभी पार्थिव वस्तुएं नश्वर हैं। स्तूपों के अपेक्षाकृत चपटे शिखर पर एक छत्र होता है जो धर्म की एकच्छत्रता का प्रतीक है। भारहुत का स्तूप विनष्ट हो चुका है किन्तु अशोक द्वारा निर्मित चौरासी फुट ऊंचा सांची का स्तूप आज भी उपस्थित है। उसे देखकर आज भी हम समझ सकते हैं कि बुद्धप्रदत्त प्रेरणा की सम्पूर्ण सामाजिक पृष्ठभूमि क्या थी और उनकी मृत्यु के पश्चात् शताब्दियों तक उनके संदेश को किस प्रकार प्रसारित किया गया था।

अशोक मानवतावादी थे। उनका उद्देश्य था अधिकारों और कर्तव्यों की प्राचीन सहिष्णु सार्वभौम संहिता (पुराना-प्रकिती) को नष्ट होने से बचाना। ये दोनों ही बातें अनिवार्यतः प्राचीन बौद्धधर्म की करुणा और उदारता से सिक्त युग की देन थीं। अशोक स्वयं बौद्ध थे। फिर भी अपने अभिलेखों द्वारा जिन्हें वे 'धर्मलिपि' कहते थे उन्होंने किसी विशेष धर्म का नहीं वरन् जीवन को अच्छा बनाने और ऊंचा उठानेवाले उदार एवं सहिष्णु नैतिक और सामाजिक नियमों का प्रचार किया। अशोक के धर्म का सार है धर्म का यथोचित (धम्मस च दीपना)। सातवां शिलाभिलेख इस प्रकार है 'सम्राट् देवानां प्रिय प्रियदर्शी की इच्छा है कि सभी धर्मावलम्बी सब जगह रहें। इसके लिए आत्म संयम तथा मस्तिष्क की निर्विकारिता की आवश्यकता है। किन्तु मनुष्यों की लालसाएं और वासनाएं अलग-अलग होती हैं। इसलिए वे (अपने कर्तव्य का) पूर्णतः अथवा अंशतः ही पालन करेंगे।' अशोक प्रचारक थे फिर भी अपने शासन के अन्तिम दिनों में अपनी जाति के परम्परागत विवेक के अनुसार उन्होंने मानव के लिए आन्तरिक प्रकाश विचार समता और इच्छाशक्ति (पराक्रम) की आवश्यकता पर भी जोर दिया। अशोक ने प्रचलित धर्म में कई नई प्रवृत्तियां प्रारम्भ कीं उन्हें लागू करने के लिए कानून का सहारा लिया तथा महामात्रों को सोत्साह इस काम में लग जाने को कहा। ये नवीन प्रवृत्तियां थीं पशु-पक्षियों की हत्या का पूर्ण निषेध तथा 'सामान्यजन में और विशेषरूप से स्त्रियों में प्रचलित अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक संस्कारों एवं समारोहों' का तिरस्कार।

सम्राट् के इस प्रकार के आदेश स्पष्ट और नैतिक होते थे। उन्हें जनसाधारण का समर्थन भी अवश्य मिला होगा। कारण जिस समय अशोक ने बौद्धधर्म स्वीकार किया बुद्ध की मृत्यु हुए दो शताब्दियां बीत चुकी थीं फिर भी जनसाधारण ने एक मानवतावादी धर्म को स्वीकार कर लिया। इस धर्म ने पशुओं तथा कृषि से सम्बन्धित मजदूरों सामन्तों असभ्य वन्य-जातियों और पास-पड़ोस के छोटे-बड़े राज्यों के प्रति सदिच्छा और सहिष्णुता का प्रसार किया। इसके फलस्वरूप सर्वत्र शान्ति एवं सुरक्षा व्याप्त हो गई। अशोक से पूर्व बौद्धधर्म मगध का एक स्थानीय धर्म था। सामान्यजन के लिए इस धर्म का अर्थ था स्तूपों की तीर्थयात्रा करना तथा 'भगवतो' की पूजा करना। अशोक ने इसे एक

सार्वभौम धर्म में बदल दिया जिसका सारतत्त्व नैतिक था और उद्देश्य मानवतावादी। इसीलिए अशोक महान् है। किन्तु उनकी महानता का आधार इससे भी अधिक इस तथ्य में है कि उन्होंने सहिष्णुता उदारता और करुणा की सुदृढ़ नैतिक नींव पर एक धर्मनिरपेक्ष मौर्य-साम्राज्य की एकता की स्थापना की। एक ही धर्म पर आधारित साम्राज्य की स्थापना में कॉन्स्टेंटाइन अकबर अथवा शार्लमेन से कहीं अधिक सफलता अशोक को मिली थी। इसीलिए उनका यह कथन सार्थक था कि जम्बूद्वीप में पहली बार मानवों के साथ देवगण संयुक्त होने लगे हैं। उन्होंने अपने राजदूतों और संदेशवाहकों को धर्म प्रचार और शान्ति-प्रसार के लिए भेजा था। वे संसार के सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय एवं शान्तिवादी शासक थे। बाद की पीढ़ी के भारतीयों ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्हें धर्माशोक धर्माधिप की संज्ञा प्रदान की थी। एच० जी० वेल्स का यह कथन नितान्त उचित है कि अशोक 'संसार के महानतम सम्राट् थे'।

सिन्धुघाटी की कला-परम्परा

मौर्य और शुंग काल की कला की व्याख्या और समीक्षा बौद्ध और जैन धर्मों की सहिष्णुता पवित्रता और करुणा के दृष्टिकोण से ही करनी चाहिए। यह भारतीय मानववाद वास्तव में भारहुत साँची बोधगया (दूसरी से पहली शताब्दी ईसापूर्व तक) और मथुरा की कृतियों को एक सूत्र में बाँधनेवाले एक धार्मिक बंधन का प्रतीक है, किन्तु इन कृतियों की भावात्मक स्वाभाविकता तो सिन्धुघाटी की कला की ही विरासत है। सिन्धुघाटी-सभ्यता के पतन के दो हजार वर्ष बाद ही भारतीय आर्यों का प्रसार सरस्वती और दृषद्वती नदियों के तटीय भागों से होता हुआ गंगा की घाटी के मध्य तक हुआ। किन्तु इस अन्तराल के बावजूद भीतरी बंधन टूटे नहीं। मोहेन जोदड़ो की मुहर पर अंकित बैल की सघनता और कलात्मक शक्ति सारनाथ और रामपुरवा के अशोक-स्तम्भों के बैलों में भी उपस्थित है। हड़प्पा के लालपत्थरों के 'टॉर्सो' तथा (मौर्ययुगीन) पारखम पटना और बड़ौदा की यक्ष की मूर्तियों की शक्ति और कोमलता में कोई अन्तर नहीं है। मोहेन जोदड़ो की नर्तकी की कांस्यमूर्ति तथा दीदारगंज की यक्षी (तीसरी शताब्दी ईसापूर्व) और भारहुत की वेदिका (१२०-१०० ईसापूर्व) की अत्यन्त रचना में आन्तरिक सम्बन्ध है। मोहेन जोदड़ो की [illegible] और कामोद्दीपक नर्तकी के चेहरों का [illegible] प्रसार भारतीय मूर्तिकला में नारी के सम्मोहन और सौन्दर्य की एक अभिव्यक्ति बन गया है। इसी प्रकार पौरुष गम्भीरता तथा ध्यानमग्नता की प्रतीक बन गई है मोहेन जोदड़ो से प्राप्त ध्यानलीन योगी की चूनिया पत्थर की मूर्ति।

सिन्धुघाटी से प्राप्त बैल हाथी भैंसा चीता और एक काल्पनिक भयानक पशु की मूर्तियों की रचनात्मक शक्ति और सूक्ष्मता का उद्भव सीधे जादू-टोने और पशु-[illegible] या उर्वरता के प्रति आदर की भावना से हुआ है। ये सब शिल्पमूर्ति के रूप में उभर चुके हैं। इसी प्रकार, हड़प्पा के 'टॉर्सों' में हाथों और सिर के अतिरिक्त [illegible] की पृथक मूर्तियाँ बनाना और उन्हें 'टॉर्सों' में लगाना मार्शल के अनुसार लिंग-पूजा का द्योतक है। सिन्धु-संस्कृति में पशु धन और मानव के रहस्यात्मक सम्बन्ध की स्थापना एव

सर्वव्यापी जादू-टोने के कारण हो सकी थी—वृक्ष मानवीय-दैवीय हैं पशु के अनेक सिर हैं और मानव के भी एकाधिक सिर अथवा अंग हैं।

लौरिया नन्दनगढ़ में अभी कुछ दिनों पूर्व एक सुवर्ण-पट्टिका मिली है जिसपर पृथ्वी की मूर्ति खुदी है। यह मूर्ति सिन्धुघाटी और भारतीय आर्य-कला के बीच की सबसे नवीन और महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसकी निरावरणता गुह्यांगों का अतिरंजन और सरस यथार्थवादी रचना का आधार सिन्धुघाटी-परम्परा है। ब्लोख का मत है कि यह पट्टिका शायद आठवीं और सातवीं शताब्दी ईसापूर्व की रचना है। बाद के ब्राह्मणों और गृह्यसूत्रों में मूर्तियों और देव प्रतिमाओं तथा लकड़ी के मन्दिरों के अनेक विवरण हैं। मौर्य-युग में काष्ठकारों का स्थान प्रस्तर शिल्पियों ने ले लिया था। पिछली सहस्राब्दी के अन्तिम और वर्तमान सहस्राब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में कृष्ण शिव अथवा ईश्वर जयन्त एवं श्री की प्रतिमाओं की पूजा अवश्यमेव खूब प्रचलित रही होगी। पाणिनि ने प्रतिकृतियों अथवा मूर्तियों का जिक्र किया है और लिखा है कि वे जीविका का साधन थीं। अर्थशास्त्र तथा आपस्तम्बगृह्य सूत्र में संरक्षक देवताओं की उपासना की बात लिखी है। इन देवताओं में यक्ष भी शामिल थे। पाणिनि ने इन देवताओं में से कुछ का नाम लिया है जैसे महाराज अथवा वैश्रवण-कुबेर सवन सुपरि विशाख वरुण और यम। ज्ञात धर्मकथासूत्र में इन्द्र स्कन्द रुद्र शिव वैश्रवण और नाग देवताओं का वर्णन है। इसी सूत्र में सम्राट् के भूगर्भस्थित प्रासादों के लकड़ी के चौखटों पर खुदी देवियों की मूर्तियों और देवियों का भी जिक्र है। धर्मघोष पालिसुत्त विभङ्ग में दीवारों पर बने 'पोर्ट्रेट' (लेपचित्तम) और लकड़ी के स्त्री-मूर्तियों (कट्ठधीतलिका) का जिक्र है। अशोक और अशोकपूर्व युगों में लोकमान्य देवताओं की काष्ठ-मूर्तियां और लकड़ी की सजावटी तौर पर खुदाई करना खूब प्रचलित रहा होगा। प्रारम्भिक भारतीय मूर्तिकला का क्षेत्र स्तूपों के तोरणों और वेदिकाओं तक सीमित था। इन दोनों की ही रचना परम्परागत काष्ठ-आकारों में होती थी और लकड़ी पर खुदाई करनेवाले कारीगरों की इनपर अमिट छाप थी। बसाढ़ सारनाथ भीटा और मथुरा में पकाई हुई मिट्टी के सिर पाए गए हैं। इन्हें सामान्यतः मौर्ययुगीन बताया जाता है और सिन्धुघाटी की मूर्तियों के साथ इनकी समानता स्पष्ट दीखती है।

बौद्धकला में लोकमतों का परिपाक

परम्परागत ब्राह्मणधर्मों और बौद्धधर्म के नीचे-नीचे अनेक प्रकार के लोकमत प्रचलित थे। इनकी जड़ें काफी गहरी थीं। प्रागैतिहास से चली आ रही वृक्ष-पूजा का स्थान बौद्धधर्म के कारण बोधिवृक्ष-पूजा ने ले लिया। इसकी अनेक कथाएं प्रचलित हैं। सुजाता और पुन्ना जब न्यग्रोध (बरगद) वृक्ष के पास पहुंची तो उन्होंने बुद्ध को वृक्षात्मा समझ लिया। एक और कथा है। बनारस के समीप एक सघन वन में जंगली हाथियों का एक झुंड न्यग्रोध की पूजा करता था। ये कथाएं उपर्युक्त कथन की पुष्टि करती हैं। इसी प्रकार नवीन धर्म ने यक्ष नाग गंधर्व देवता वृक्षका पृथ्वी भगवती उर्वरता की देवी अप्सरा और भूतों की पूजा-परम्परा को ग्रहण कर लिया अथवा उनके साथ समझौता

कर लिया। इनमें से अनेक की मूर्तियाँ भारहुत सांची और बोधगया में स्तूपों की संरक्षिकाओं अथवा मात्र तोरणद्वार की सजावट के रूप में उपस्थित हैं। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि लोकमत और लोकविश्वास के साथ उभरता धर्म समझौता कर रहा था। सांची स्तूप के तोरणद्वार पर उन्नतवक्षी तरुणी यक्षी लापरवाही-मिश्रित प्रसन्नता से आम्र मंजरी सी झूम रही है। उसके नीचे से बौद्ध भिक्षु भिक्षुणियों के कितने ही दल शताब्दियों के दौरान गुजरे होंगे किन्तु यक्षी के रूप और यौवन की आदिम लालसा तथा भिक्षु-भिक्षुणियों के कठोर तप और अध्यात्मभावना में कितना विरोध है। इसी प्रकार भारहुत में एक रिलीफ है जिसमें अप्सराओं का एक दल नाच-गा रहा है। इनके नाम तक दिए गए हैं सुभद्रा सुदर्शना मिश्रकेशी और अलम्बुषा।

बौद्धधर्म ने जनता के पिछड़े अनार्यवर्ग के लिए अपने द्वार खोल दिए। इसके फलस्वरूप लोगों में धर्म के प्रति विशेष रुचि जागरित हुई। इसका ही प्रभाव था कि जनसाधारण के विश्वासों और मतों का नवीन धर्म में परिपाक हुआ—स्तूपों और वृक्षों यक्षों और यक्षिणियों नागों और अप्सराओं पृथ्वी आत्माओं और अन्य देवों की पूजा का बौद्ध धर्म में समावेश हुआ। इस प्रक्रिया ने भारहुत सांची और बोधगया की कला पर भी पर्याप्त प्रभाव छोड़ा। देवार्चन के प्रति उत्साह विशुद्ध लौकिक कार्यकलाप के प्रति रुचि तथा प्रारम्भिक बौद्धकला की प्रचुर भावुकता के उद्गम दो थे—जनसाधारण का उत्साह और धर्मपरायणता तथा बौद्धभिक्षुगण की करुणा और मानवीयता।

परम्परावादी ब्राह्मणधर्म ने सम्भवतः लोकप्रिय देवी श्रीमा की प्रचुरता व। देवी और शायद सुदर्शना का यक्षी को देवी के रूप में ग्रहण कर लिया था। भारहुत के रिलीफ में श्रीमा लावण्य और बहिर्मुखी है और सुदर्शना अन्तर्मुखी किन्तु सन्तुलन दोनों में है। श्रीदेवता-सम्प्रदाय का जिक्र बाद के समय में मिलिन्दपञ्ह में आता है।

कला में प्राचीन यथार्थवाद और नवीन आध्यात्मिकता का मिश्रण

दीदारगंज, बेसनगर और पटना में यक्ष और यक्षिणी की देवियों तथा पृथ्वी के यक्षों की आदिकालीन विशालकाय मूर्तियाँ मिली हैं। इनपर सिंधुघाटी की मूर्तियों के प्रति मानवीय रुचि और सामञ्जस्य का स्पष्ट प्रभाव है। इनकी रचना का कारण है जनजीवन में प्रचलित जादू-टोने की एक प्राचीन विशाल धारा जिसका आरम्भ सिंधुघाटी-संस्कृति में हो चुका था। किन्तु एक उच्चतर धर्म ने इसे स्वयं में मिला लिया और विकासशील धर्म की आवश्यकताओं के अनुसार एक नवीन शिल्पकला का विकास हुआ। फलस्वरूप नवीन शैली का रूप भी गंभीरतर हो गया। साथ ही परम्परागत पशु और बौनों के कार्यों—एक आदिम दृष्टिकोण और परम्परा के अवशेष—को भी बनाए रखा गया।

पशुओं की रचना में मौर्य और शुंग कलाएँ प्रशंसनीय हैं। इनका आधार सिंधु घाटी-परम्परा है। इसकी पुष्टि मोहेन जोदड़ो की मुहर पर अंकित हाथी तथा अशोक-काल धौली चट्टान पर तराशे गए हाथी की तुलना करके की जा सकती है। दोनों में एक-सा भावात्मक यथार्थवाद है वैसा ही प्रशस्त तथा ओज पौरुष है किन्तु धौली के हाथी पशुता के दंभ और संताप के चिह्न की कलात्मक संरचना के भीतर एक नवीन

आध्यात्मिक और सौन्दर्यात्मक दृष्टि है। इस दृष्टि का जटिल ताना-बाना विचार और भावना की दो प्रमुख प्रवृत्तियों—हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो काल तथा सारनाथ और सांची *काल के बीच की शताब्दियों की अत्यन्त प्रभावशाली प्रवृत्तियों—द्वारा बुना गया है।* पहली प्रवृत्ति है परम्परावादी ब्राह्मणधर्म में श्रेष्ठतम सत्ता या बौद्धधर्म में अनेकानेक बार जन्मे महापुरुष या बोधिसत्त्व के जीवन का अनेक स्तरों और विभागों पर अभिव्यक्तता की एक पारलौकिक भावना जिसके कारण ही पशु भी मनुष्यों की भांति विवेक गौरव और ध्यानयोगभोग के अधिकारी हो जाते हैं। और दूसरी प्रवृत्ति है सभी भौतिक जीवों के प्रति मानव की असीम सहृदयता और करुणा। बौद्धधर्म और जनधर्म ने इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों को भारतीय संसार का आधार बनाया। सृष्टि की इकाई और परम्पराधीनता की भावना तथा बुद्ध के जन्म संन्यास और मृत्यु रूपी महान चमत्कारों की शाश्वत प्रकृति ने भारतीय कला को एक आध्यात्मिक सर्वकालीन गुण प्रदान किया तथा कला के आरम्भिक श्रेष्ठ रूप का सूत्रपात किया।

भारहुत और सांची की कला के आकारी और आध्यात्मिक मूल्य

भारहुत सांची और बोधगया की कला अशोकयुगीन अथवा अशोक-युग के कुछ *बाद की है। उस काल की प्रमुख प्रवृत्तियां इन स्थानों की कला में स्पष्ट परिलक्षित हैं।* ये प्रवृत्तियां निम्न हैं प्रथम स्थापत्य-आकारों तथा सजावट के नमूनों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं है। यहीं से इस मौलिक भारतीय परम्परा का आरम्भ हुआ जिसमें स्थापत्य और मूर्तिकला दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण इकाई का निर्माण करते हैं। दूसरी प्रवृत्ति है संरचना की प्रवहमान लय। अनेक कोणों और अनेक सुनियोजित तलों पर आकृतियों पौधों जानवरों पुरुषों परियों और प्रतीकों का एक तनाव की अवस्था में यह लय वहन करती है और साथ ही एक दूरवर्ती और सचेतन गंभीरता के बल पर उनमें एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित करती है। तीसरी प्रवृत्ति है 'क्रमिक वर्णन'-शैली। इस शैली में विभिन्न आकृतियों और वस्तुओं को रिलीफ में बार बार अंकित करके कई घटनाओं के रूप म एक पूरी कहानी कह दी जाती है। इस विधि का आविष्कार बौद्धधर्म *के कर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त के आधार पर हुआ है—यह सिद्धान्त है कि कर्मानुसार अच्छे* या बुरे परिणाम समय के प्रवाह में होते हैं। इस शैली से कलात्मक अभिव्यक्ति में अत्यधिक गहराई और तीव्रता का जन्म होता है।

अधिकांश प्रारम्भिक भारतीय मूर्तियां 'रिलीफ' हैं। इसका एक लाभ यह है कि मूर्ति की चेष्टाओं को उभारने के लिए प्रकाशान्धकार तथा अपेक्षाकृत गहरे रंग की पृष्ठभूमि का उपयोग अत्यन्त कौशलपूर्वक किया जा सकता है। किन्तु निस्सन्देह भारहुत और सांची में स्पष्ट अन्तर है। सांची के कुछ पशुओं जैसे हाथियों और घोड़ों तथा यक्षिणियों की चेष्टाओं में ऐसी विशिष्ट लय और शोभा है जो भारहुत में कहीं नहीं मिलती। यहां की संरचना अधिक कसी हुई और विभिन्नतायुक्त है तथा आकृतियों की शारीरिक चेष्टाएं अधिक उन्मुक्त हैं, यहां तक कि उनमें एक खिंचाव अथवा हलचल भी है। इसके अतिरिक्त प्रकाश और छाया का अपेक्षाकृत अधिक कुशल उपयोग है। अशोक

सुनीम धार्मिक वैभव एवं प्रदर्शन सांची में पूर्णतः उपस्थित है, कई स्थलों पर तो महाकाव्यों जैसी महत्ता है। इसके विपरीत भारहुत की कला की प्रेरणा तथा अंकन की विशेषताएं हैं आदिम नाटकीय शक्ति तथा भारत के विचार और संवेदना को बौद्धधर्म प्रदत्त एक प्रकार की काव्यात्मक तीव्रता और करुणा। किन्तु भारहुत, बोधगया और सांची सभी जगह एक स्वच्छन्द उत्स्फूर्तकारी कलात्मक लय परिव्याप्त है जो किसी निश्चित आकार में नहीं बांधी जा सकती। प्रत्येक आकृति का छोटा से छोटा अंग भी बड़ी सावधानी से तराशा गया है और प्रत्येक के विशिष्ट 'पोज़' का आधार है एक समग्र परिव्याप्त लय आदि से अन्त तक अनुरूपता, एक श्रेष्ठ संतुलन जिसमें बौद्धचमत्कार सर्वत्र घटित होता दीखता है तथा पारलौकिकता जो सर्वत्र व्याप्त है। यह कलात्मक तन्मयता अनेक प्रकार की आकृतियों में छलक रही है और निश्चित आकार का बन्धन आसानी से स्वीकार नहीं करती। और इस तन्मयता का आध्यात्मिक आधार यह धारणा है कि मनुष्य के प्राण तथा पौधों अथवा पशुओं के प्राण में किसी प्रकार का अन्तर नहीं।

प्रारम्भिक बौद्ध-पशुमूर्तियों की अपूर्वता

भारहुत, बोधगया और सांची तीनों स्थानों के 'रिलीफों' की एक अद्वितीय तकनीकी उपलब्धि है मानव उसके साथी पशुओं और वनस्पति-संसार के अंकन में एक पूर्ण अनुरूपता की सिद्धि—सभी जीवन और कर्म अनवरत चक्र में परस्पर सम्बन्धित हैं तथा सभी में गौरव करुणा और भ्रातृत्व की भारतीय भावना प्रवाहित है। इस प्रकार की सर्वव्यापी अनुरूपता यूनान अथवा चीन की सर्वोत्तम प्राचीन कलाकृतियों में भी नहीं पाई जाती। सांची के पूर्वी द्वार की बीचवाली पट्टी के 'रिलीफ' में बुद्ध एक घने जंगल में बैठे हैं जंगली जानवरों शेरों भैंसों, हिरनों पक्षियों सांपों और दैत्यों के बीच अकेले। यह है समस्त चेतन प्राणियों का पवित्र भ्रातृत्व। यह दृश्य शायद बुद्ध के जीवन की एक घटना का अंकन है। कौशाम्बी में धार्मिक कलह से ऊबकर तथागत एक बार संघ का परित्याग करके पशुओं के बीच रहने चले गए थे—ठीक उसी तरह जैसे उन्होंने बोधिसत्त्व के रूप में पिछली अनेक स्थितियों में किया था। इन सबसे पशुओं के विषय में एक अर्थगौरव दिखाई पड़ने लगता है। और हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रारम्भिक भारतीय मूर्तिकला में पशुओं को अतिप्राकृतिक गुणों और क्षमताओं से युक्त अंकित किया जाता था।

इसके अतिरिक्त मनुष्य पशु पेड़ और पौधों की मूर्तियां जिस स्वाभाविकता स्वच्छन्दता और भावना की गहनता के साथ अंकित की गई हैं उसकी तुलना में यूनानी कला भी नहीं ठहर सकती। फर्ग्युसन का कथन है 'भारहुत में कुछ पशु जैसे हाथी हिरन और बन्दर संसार के किसी भी भाग की मूर्तियों से अधिक अच्छी तरह अंकित हैं। यही बात कुछ वृक्षों के लिए भी सत्य है। स्थापत्य-सम्बन्धी छोटी-छोटी नक्काशी की सुन्दरता और बारीकी प्रशंसनीय है। किसी ईमानदार, सोद्देश्य राफेल-पूर्व कला का इससे अधिक सुन्दर उदाहरण शायद और कहीं नहीं मिल सकता। प्रारम्भिक बौद्ध-पशुमूर्तिकला में कलात्मक स्वाभाविकता, अगाध भाव प्रकाशन तथा कोमलता व

भरहुत की अंतरंग मानवीय भावनाओं का जो चित्रण मौजूद है उसका समकक्ष यूरोप में 'गॉथिक' व 'चार्ट्रे' की पशुशाला के कबूतरों, घोड़ों और मेमनों में ही मिल सकता है। यूरोपीय गॉथिक कला भी बौद्धकला की भांति मानवता के प्रति उसी विश्वास और सहृदय दृष्टिकोण से प्रेरित है।

सुकुमारता, सूक्ष्मबोध तथा आन्तरिक प्रभा की दृष्टि से भारहुत और सांची के निम्न आख्यानात्मक उदाहरण विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं: 'नागपक्षदन्त' और 'सद्दन्त जातक' कथाओं को अंकित करनेवाले भारहुत के हाथी; भारहुत के ही एक अजानी कहानी को चित्रित करनेवाले जुलूस के वनमानुष और हाथी तथा 'रुरु जातक' कथा को अंकित करनेवाला शानदार सुनहरा हिरन; तथा सांची के पूर्वी और उत्तरी द्वारों पर अनेक हाथी, भेड़ें, घोड़े और वनमानुष।

प्रारम्भिक बौद्धकला में बुद्ध के प्रतीक

धारणा थी कि बुद्ध को सशरीर चित्रित नहीं करना चाहिए। इससे परोक्षरूप से बढ़ावा मिला कि बोधिसत्व को पशुओं के रूप में अंकित किया जाए। मिलिन्दपन्ह में नागसेन से राजा प्रश्न करते हैं, "एक स्तूप निर्मित करके तथागत के शरीर धातु रूपी रत्नों को श्रद्धा अथवा उपहारस्वरूप रखने से क्या लाभ है, क्योंकि तथागत का प्राणान्त हो चुका है और वे इन्हें स्वीकार तो करते नहीं?" जब बुद्ध से प्रश्न किया गया कि निर्वाणप्राप्त मानव की मृत्यु-पश्चात् अवस्था क्या होती है, तो उन्होंने गम्भीर मौन धारण कर लिया। प्राणियों के विशाल पारावार में बुद्ध की मूर्ति की अनुपस्थिति वास्तव में इसी मौन का यथार्थ कलात्मक प्रकटन है। चिन्तनशील व्यक्ति उस दीपक के समान बुझ जाते हैं जो एक बार बुझने के पश्चात् दूसरे दीपक को प्रज्वलित नहीं कर सकते। यह अस्तित्व की ऐसी अवस्था है जो अनाम और अरूप है तथा जिसके बारे में अभी अग्नि न तपाए जानेवाले व्यक्तियों को और अधिक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं है।

बुद्ध को मानव-रूप में कहीं अंकित नहीं किया गया है कि कहीं उन्हें मानव न समझ लिया जाए। कारण, बुद्ध ने कहा था कि मानवों के बीच वे न मानव हैं, न देवता और न दानव; वास्तव में वे 'बुद्ध बने ही नहीं'। 'कलिंगबोधि जातक' में बुद्ध से प्रश्न किया गया कि "उनकी अनुपस्थिति में किस प्रकार के प्रमाणांकन, समाधि अथवा प्रतीक द्वारा उचित ढंग से उनका प्रतिरूप स्थापित किया जा सकता है। इसका उत्तर मिला कि उनके जीवन-काल में अथवा प्रयाण के पश्चात् उनका सर्वोचित प्रतिरूप बोधि-वृक्ष है अथवा मृत्यु के पश्चात् शरीर-धातु। मानवरूप प्रतिमा के 'उद्देशिक' चित्रात्मक प्रकटन को निराधार, भावनाजन्य अथवा कल्पित मानकर निन्दनीय ठहराया गया है।" जहां मूर्तिकला का विषय बुद्ध के पार्थिव जीवन से सम्बन्धित है, वहीं कहानी की प्रत्येक अवस्था में उनकी उपस्थिति को उचित प्रतीक द्वारा प्रदर्शित किया गया है। भारहुत और सांची में बोधिवृक्ष, छत्र, चक्र और पाद बुद्ध के पार्थिव अस्तित्व के प्रतीक हैं जिनकी अर्चना अजातशत्रु और एरापत्र ने की थी। चित्र का शीर्षक ही है 'बुद्ध की पूजा'। फिर भी कुछ जातक-दृश्यों में बोधिसत्व की आकृति मौजूद है।

बौद्धधर्म की आरम्भिक मूर्ति-विरोधी प्रवृत्ति के कारण भारतीय—और इसलिए, प्राच्य—कला में अमूर्त प्रतीकों और चिह्नों (motifs) का बाहुल्य हो गया। इनमें से कुछ तो निस्सन्देह वैदिक और भारतीय थे किन्तु कुछ को निकटपूर्व से ग्रहण कर लिया गया था। फिर भी, जब बौद्धधर्म क्रमशः जनसाधारण का धर्म बन गया तो भारतीय कला में मानव शरीर-सम्बन्धी और अमूर्त तत्त्वों का ऐसा सम्मिश्रण हुआ जो बौद्धिक ज्ञान और भावनात्मक उत्साह दोनों की आवश्यकताओं के अनुकूल था। अमरावती की मूर्ति कला में बुद्ध की प्रतीक पादुकाओं के पास अत्यन्त सुन्दर स्त्रियां साष्टांग प्रणाम की मुद्रा में हैं और बुद्ध के प्रति जनसाधारण की अपार भक्ति को सूक्ष्मतः व्यक्त करती हैं। बौद्ध धर्म और ब्राह्मणवाद ने आपस में मूर्ति-सम्बन्धी विवाद का निर्णय जल्दी ही कर लिया और मान लिया कि पूजा में महत्त्वपूर्ण मूर्ति स्वयं नहीं किन्तु उसके द्वारा प्रदर्शित अलौकिक अस्तित्व है। सद्धर्मपुण्डरीक में स्पष्ट लिखा है कि मूर्ति का अपना कोई मूल्य नहीं है। सब कुछ उस मूर्ति के ध्यान करनेवाले के मन पर निर्भर है। वह व्यक्ति इतना चिन्तनशील होना चाहिए कि जब विशेष आकृति को देखते हो उसे ऐसा मालूम होना चाहिए मानो बुद्ध सशरीर आ उपस्थित हुए हों। वह भावनात्मक रूप से गिद्ध शिखर के अलौकिक सम्मेलन में पहुंच जाता है।"

स्वयं बुद्ध की मूर्तियां निर्मित करने का तो निषेध था किन्तु अपने पूर्वजन्म में बुद्ध ने अनेक पशुरूपों में जिस साहस करुणा और आत्मत्याग का परिचय दिया था उन पशुरूपों को मूर्तिरूप में प्रस्तुत करने की कोई मनाही न थी। अतः यही पशुरूप बुद्ध के प्रचलित स्थानापन्न बन गए। उन्हें देखकर जनसाधारण के मन में पूजा और भक्ति की भावना का जन्म होता था और उन्हींको सुन्दर सुकोमल रिलीफों के रूप में प्रस्तुत करके तथागत की निर्मलता और प्रतिष्ठा को व्यक्त और पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया गया।

कला में कथा

पशु-कथाएं मुख्यतः जातकों से उद्धृत हैं। आरम्भिक बौद्धकला की समग्र विषय वस्तु भी जातक ही है। केवल पहली शताब्दी ईसापूर्व से बुद्ध के जीवन प्रसंगों अथवा महान् चमत्कारों को चित्रित किया जाने लगा। जातकों की सृष्टि हुई ब्राह्मण सुमेध की एक प्रतिज्ञा से। ब्राह्मण सुमेध ने अगणित वर्ष पहले वैयक्तिक मोक्ष और अर्हत् बनने की संभावना को अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने लिखा है "मैं सत्य का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर चुका हूं और चाहता हूं कि सभी लोग सत्य की नौका पर आ जाएं जिससे वे परिवर्तन के सागर को सकुशल पार कर सकें। तभी मैं स्वयं निर्वाण प्राप्त करूंगा।" चुल्ल निद्देस में ५०० कथाओं के संग्रह का जिक्र है। भारहुत के रिलीफों में जातकों के ठीक नाम उत्कीर्ण हैं और एक स्थान पर तो आधा श्लोक भी लिखा है। कुछ प्राचीन कथाएं तो बौद्ध धर्म से भी पहले की हैं। प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में विशेष प्रिय वस्तुओं के रूप में इन कथाओं को चुना गया इस तथ्य से एक लाभ यह हुआ कि धर्म-सम्बन्धी कला की विकासशील परम्पराएं आदमी की कहानी कहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर हावी नहीं हो सकीं।

एक ओर पीढ़ी दर पीढ़ी मूर्तिकार शताब्दियों तक पत्थरों को तराशते रहे और दूसरी ओर भावक भिक्षु भारतीय सामाजिक जीवन के प्रसंग में सैकड़ों कथाओं का वाचन करते रहे। भारतीय जीवन अपनी समग्रता में अपनी समस्त उत्तमता और कलुषता दुष्टता और कृपालुता पुरस्कार और दण्ड जीवन और मृत्यु की भावना के सहित, पूरे मन-प्राण से कौशलपूर्वक अंकित है, और संसार की समस्त नश्वरता के ऊपर युगों-युगों तक मानवों के नेता भगवान् शाक्यमुनि बोधी का—जो देवताओं और दानवों बलात्मानों और वीरों राक्षसों तथा मूक पशुओं के भी श्रद्धापात्र हैं—शाश्वत अस्तित्व है। केवल कथा कहने का आनन्द लेने के लिए भी कथाओं—वनमानुस की चौलानी कौए का लोभ मोर की प्रसन्नता प्रकृति की भीषण क्रूरता अपने से कम सौभाग्यशाली व्यक्तियों के प्रति मानव की कठोरता पशुओं के प्रति उसकी कृतज्ञता उसकी सनक लुब्धताएं और प्रलोभन दुष्ट पत्नी का विश्वासघात अकेली स्त्री की अपवित्रता प्रेम-रोगी लुहार द्वारा अद्भुत सूइयों का आविष्कार व्यापारियों के काफिले को पथहीन मरुभूमि में सहसा पानी की प्राप्ति अथवा विशालकाय मछली द्वारा तूफान में फंसे नौका-यात्रियों की रक्षा—को बरोक-टोक अंकित किया गया है। प्रारम्भिक बौद्धकला में प्राचीन कथाओं और बोध कथाओं की इस मूल्यवान विरासत (सच तो यह है कि ये कथाएं और बोधकथाएं भारत की सीमाओं से बहुत दूर तक जा पहुंचीं और बाद के युगों में इन्होंने गेस्टा रोमानोरम तथा ईसाई बोधकथाओं का भण्डार बढ़ाया और नया रंग दिया) को तो अपनाया ही साथ ही साहित्यिक वस्तुओं को भी ग्रहण किया। यही कारण है कि साल प्लक्ष आम न्यग्रोध कदम्ब अशोक चम्पक आदि पेड़ अपनी कलियों फूलों और फलों-समेत अंकित हैं और इनको परम्परागत ढंग से नहीं स्वाभाविक ढंग से तराशा गया है। सारी कथाओं को इतनी सुन्दरतापूर्वक अंकित किया गया है और कौशलपूर्वक दोहराया गया है कि मानवीय जीवन और भाग्य की दृष्टि से ये कालातीत हैं।

हाथी और कमल के प्रतीक

मानव, पशु पक्षी सरीसृप उपदेशक और देवता का अंकन हर संभव परिस्थिति और संकटकाल में किया गया है और मानव की समग्रता तथा पूर्णता के लिए उपदेश निकाला गया है। जीवन के जटिल नाटक में हम पाते हैं कि आदमी हिरन या सांप तथा हृष्णसार, कठफोड़वा और कछुए के जीवन आपस में गुंथे हुए हैं सभी जीवित प्राणियों के बीच एक अन्तर्निर्भरता है एक महान अन्तर्निर्भरता जो बोधिसत्त्व के जीवन में मूर्तिमान उपस्थित है। मर्दन कार्यरत, अनेक जन्मधारी बोधिसत्त्व की जीवनकथा में पशु-जीवन का श्रेष्ठत्व भली प्रकार प्रदर्शित है और उसके सभी स्तरों पर अवस्थित संघर्षों और त्यागों का जिक्र किया गया है। प्रारम्भिक बौद्धकला में भारहुत बोधगया सांची और उदयगिरि में इसका प्रतीक है हाथी (गिरनार और कालसी में अशोक के शिलाभिलेख का सर्वोत्तम) भारहुत और सांची के रिलीफों में वह माया के गर्भ में है और उसके मुख से टेढ़ी मेढ़ी कमल की बेल निकली है। यह मुकुटों और कोनटों के किनारे-किनारे फली है और अनेक पग्म-कलाप, तमगे तथा फूलों की सजावट उसपर है। अगणित पत्तियों कलियों और

खिले हुए फूलों तथा बीच-बीच में बतखोंवाले कमल के पौधे का असीम विस्तार भारहुत सांची उदयगिरि और अमरावती हर जगह पाया जाता है। आभिजात्य के साथ कोमलता तथा वात्सल्य के साथ गंभीर अनुराग का सम्मिश्रण यूरोपीय बारोक की याद दिलाता है। सांची में कमल के पौधों के पकने तक की अवस्थाएं जिन्हें स्पष्ट सुकोमल रेखाओं से व्यक्त किया गया है (उदाहरणतः देखिए पूर्वी तोरण का बायां खम्भा) आसानी से पहचानी जा सकती हैं। यह टेढ़ी-मेढ़ी फूलों से लदी और खूब घनी वनस्पति अपनी रैखिक लयों और गीतात्मक समन्वय में अनन्त है तथा इसकी आत्मा मूर्तिकला के प्रत्येक तत्व में व्याप्त है। और इसके पीछे है यह स्पृहणीय प्रतीक कि कमल का पौधा बोधिसत्व की करुणा और शुभ निश्चय की अपारता है। कमल एकसाथ आकाश के ज्योतिर्मय शुभ बोधिसत्व के करुणामय हृदय और ब्रह्माण्ड की समृद्धिशील सर्वदा परिवर्तनशील प्रक्रिया का प्रतीक है। प्रवहमान रमणीक और फिर भी सुव्यवस्थित कमल का पौधा एक कामरूपी प्रतीक है तथा इसका प्रभाव शताब्दियों तक आदमियों तथा पशुओं की आकृतियों के अंगों तथा पोज तक पर भी रहा है। भारतीय कला के लिए यह प्रारम्भिक बौद्धपरम्परा की स्थायी देन है।

कला म प्रस्ति और माधि

कमल के फूलते हुए पौधे का लयात्मक ढंग से झूलना भारत में जीवन की अबाध लय का प्रतीक है। भारहुत सांची मथुरा और बोधगया के रिलीफों में पशु, मानव और प्रतीक—फिर चाहे यह कमल का पौधा हो या पत्तियां फूल या पखुड़ियां अथवा बौद्ध कथाओं के आम अथवा न्यग्रोध वृक्ष—ये वनस्पति की शान्त सर्वदा आवृत्तिशाली गति में खिंचे हुए हैं। भारहुत की मूर्तिकला में पादपों के झूलन के समान, सियारों के अयाल और बड़े या छोटे हैं ताकि वृक्ष की शाखाओं की गति की आवृत्ति हो सके। चुलकोका देवता के मकेन और गति की लय उस फलवान वृक्ष की लय के समान है जिसके सहारे वह खड़ी है। वनस्पति मानव और पशु में रूप और गति का यही साम्य देखकर उद्यान गुलहरे हिरन के शिकार, षड्दन्त जातक की कथा तथा जंगल के जानवरों के बोधिवृक्ष के पास आगमन के अंकन में है। सांची के पश्चिमी द्वार पर कमल की बेल के घने पत्तों के बीच वन्य पशुओं की प्रकृति सुन्दरतम है। प्रारम्भिक भारतीय कला में रूप और लय का उद्गम अस्तित्व अर्थात् बड़ का अपरिमित सोता है। परिणाम है एक प्रचुर कलात्मक सफलता जिसमें एक लयात्मक व्यवस्था और अनुशासन है। यह अनुशासन कभी शिथिल हो जाता है तो प्रतीकों और नमूनों का प्राचुर्य हो जाता है एक प्रकार से वे फूट पड़ते हैं। इसके विपरीत अनुशासन कड़ा पड़ जाता है तो गंभीर कलात्मक स्थिरता और शान्ति की सृष्टि होती है।

पौधा-प्रतीकों में सर्वाधिक प्रभावशाली और प्रचलित प्रतीक है कमल-लता। यह लता अमर उल्लास और प्रचुर भारतीय वनस्पति जीवन का प्रतीक है। किन्तु भारतीय संस्कृति में कमल की स्वाभाविक मधुरता का एक गंभीर पक्ष है क्योंकि कमल का जन्म काली मिट्टी और सड़े गले पदार्थ से होता है। इसके अतिरिक्त एक और कारण है।

संयुत्तनिकाय में मिलता है हे बन्धु जैसे कमल पानी में उगता है पानी में ही पलता है पानी की सतह से ऊपर उठता है और फिर भी पानी से नहीं भीगता वैसे हे बन्धु, तथागत इस संसार में जन्मे इसी संसार में बढ़े इसी संसार से ऊपर उठे और फिर भी इस संसार से अप्रभावित रहे। बौद्धकल्पना में महत्व है बुद्ध के अनेकानेक अजन्मे और अमर्त्य रूप। वे उस कमल के पौधे के डंठलों और फूलों के समान सुन्दर और शाश्वत हैं तथा सांसारिक राग द्वेष और मोह के कीचड़ और पंकमी से उगते हैं। संसार और निर्वाण अच्छाई और बुराई दुःख और सुख के चक्र यथार्थ की क्षणिक बूँदें अथवा उफान हैं। यह बुद्ध-जीवन की समग्रता है जीवन जो अपार और मात्र संसार की सीमाओं से परे एक पूर्णता की ओर सदैव गतिशील है। स्वर्गिक सफेद हाथी—जिसके मुख से कमल की बेल निकलती है और धीरे-धीरे बिना रुके लयात्मक ढंग से प्रचुरता की सृष्टि करती है—निर्वाण की शान्ति का नहीं वरन् जीवन की अबाधित हर्षोत्फुल्ल असीम आकांक्षा का प्रतीक है प्रकृति की व्यवस्था में आत्माभिव्यक्ति और आत्मपरात्परता के बोधिसत्त्व का प्रतीक है। प्रारम्भिक बौद्धकला का सार बुद्ध अथवा अस्ति नहीं वरन् ज्ञानप्राप्ति अथवा बोधिसत्त्व अथवा प्राप्ति है।

अध्याय ७

युग-पुनर्जागरण की सहिष्णुता और सार्वभौमिकता

शिव, कृष्ण और बुद्ध : भागवतवाद का उदय

ईसाई सन् के आरम्भ से तत्काल पहले की शताब्दियों के दौरान भारत के धर्मों में गंभीर रूपान्तर हुआ। सभी धर्मों में भक्ति की प्रवृत्ति जागने लगी। चार विख्यात मतों—के अतिरिक्त शिव, वासुदेव और बुद्ध को भागवत कहा जाने लगा। पाणिनि ने चार महान् दिक्पालों महाराजों के प्रति भक्ति का जिक्र किया है। भक्ति की यही प्रवृत्ति 'मज्झिमनिकाय' में भी मौजूद है। 'मज्झिमनिकाय' में कहा गया है : 'मेरे प्रति जिसमें श्रद्धा और प्रेम है, वह स्वर्ग प्राप्त करने में समर्थ होगा।' भारहुत (दूसरी शताब्दी ईसापूर्व) में अभिलेख है 'भगवतो सक मुनिनो बोधो' तथा पिपरावा के बर्तन पर अंकित है, बुद्ध भगवते। भागवतवाद का उदय वास्तव में आजीविक, जैन और बौद्ध धर्मों की प्रमुख विशेषताओं—आत्मत्याग और संन्यास के विरोध में हुआ। इसमें परिवार और समाज के प्रति दायित्वों पर जोर दिया गया तथा धार्मिक बौद्धिकता व शुष्क नैतिक विचारों से अधिक महत्वपूर्ण किसी विशेष देवता की पूजा व आध्यात्मिक आनन्द को माना गया। मौर्य-शासन-व्यवस्था में पुनः धर्म को सर्वश्रेष्ठ माना गया। कौटिल्य ने वैदिक ढंग से उसकी व्याख्या की और जीवन की वर्णाश्रम-व्यवस्था की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयास किया किन्तु मठवाद पर अशोक ने अधिक जोर दिया। अशोक का यह काम उदार एवं पक्षपात रहित था किन्तु कुल मिलाकर इससे धार्मिक कृत्यों और संस्कारों तथा ब्राह्मण-संगठन का महत्व कम तो अवश्य हुआ।

शिव और कृष्ण भागवतधर्मों को भारत की उच्च जातियों की अपेक्षा विदेशियों तथा नीची जातियों ने अधिक स्वीकार किया और विदेशियों तथा नीची जातियों दोनों ने प्रत्येक व्यक्ति को पूजा, ध्यानाभ्यास अथवा संन्यास का अधिकार प्रदान कर वर्णाश्रम-धर्म के प्रतिकूल कार्य किया। परम्परावादियों ने तत्काल भागवतधर्म का विरोध किया। प्रारम्भिक विरोध मनु के इन शब्दों में स्पष्ट है : "वैदिक साहित्य को न जाननेवाले ब्राह्मणशास्त्रों (व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि) का अध्ययन करते हैं। शास्त्रों को न जाननेवाले व्यक्ति पुराणों को पढ़ते हैं और उनका पाठ करके जीविकोपार्जन करते हैं। पुराणों के न जाननेवाले कृषक बन जाते हैं और जो कृषक भी नहीं बन पाते भागवत बन जाते हैं।" यह उक्ति कुछ विचित्र मालूम पड़ती है क्योंकि वासुदेव और अर्जुन की पूजा तो पाणिनि के समय से प्रचलित थी। हाँ इतना अवश्य है कि महाभारत-काल में अनेक कौरव चारण

वासुदेव-कृष्ण को 'शरण' कहकर निम्नलीय समझते थे। आभीरों ने एकसाथ भागवत धर्म स्वीकार कर लिया। महाभारत (भीष्मपर्व ११ २८) में लिखा है कि शक अपना धर्म-परिवर्तन करके शैव हो गए थे। लगभग पहली शताब्दी ईसापूर्व और पहली शताब्दी ईसवी के बीच रचित 'मृच्छकटिक' में शिव और कार्तिकेय गृह देवताओं तथा चौराहों पर' भगवती माँ की पूजा का उल्लेख है। गृह देवताओं और भगवती माँ को प्रतिदिन भेंटें चढ़ाई जाती थीं। उत्तर-वैदिककालीन हिन्दूधर्म के सामान्य देवी-देवताओं—ब्रह्मा विष्णु रुद्र, सूर्य और चन्द्रमा तथा शुम्भ-निशुम्भ का वध करनेवाली देवी—का उल्लेख है।

उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत पर यवनों का अधिकार

एशिया के दो शक्तिशाली साम्राज्यों—मौर्य और सीरियाई साम्राज्यों—के समकालीन विनाश के पश्चात् पंजाब और सौराष्ट्र के मैदानों में यवनों (यूनानियों अथवा बैक्ट्रियाइयों) और शकों (साइथियाइयों) के लगातार आक्रमण आरम्भ हो गए। वे खैबर और बोलन दर्रों से होकर भारत आते थे। यवनों अर्थात् यूनानियों ने मथुरा पर तो विजय प्राप्त की ही साथ ही पंजाब और सिंध के अनेक भागों पर भी अधिकार कर लिया। एक बार तो मगध की शक्ति को भी खतरा पैदा हो गया कि उत्तरभारत पर यवनों का अधिकार हो जाएगा। उस समय मगध में शुंगवंश के ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र (१८७–१५१ ईसापूर्व) शुंग का शासन था और तब तक समस्त उत्तर-पश्चिमी व पश्चिमी भारत में यवन-संस्कृति का प्रसार हो चुका था। पुष्यमित्र ने इस यवन संस्कृति तथा बौद्धधर्म के विरुद्ध ब्राह्मण-पुनरुत्थान का झण्डा ऊँचा किया। सर्वाधिक प्रसिद्ध यवन सम्राट् थे मेनाण्डर (१८ –१६० ईसापूर्व) जिन्हें बौद्धसाहित्य में मिलिन्द तथा भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में प्राप्त एक प्राकृत खरोष्ठि अभिलेख में महाराज मिनाद्र कहा गया है। उनका राज्य पंजाब से सौराष्ट्र और भारत के पश्चिमी तट तक था। अपने एक आक्रमण में उन्होंने मथुरा पर अधिकार किया राजपूताना के (चित्तौड़ के समीप) मध्यमिका और अवध के साकेत को घेर लिया तथा पाटलिपुत्र को भी खतरा पैदा कर दिया। प्रसिद्ध भिक्षु नागसेन के प्रभाव में आकर मिलिन्द ने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया। 'मिलिन्द के प्रश्न' (मिलिन्दपन्ह) सम्राट् मिलिन्द तथा भिक्षु नागसेन के बीच एक दार्शनिक वार्तालाप है जिसमें नागसेन ने मानवीय भाई की मायावी प्रकृति की व्याख्या की है। बौद्धदर्शन पर जितने ग्रंथ हमें मिले हैं यह उन सबमें सबसे प्राचीन है तथा आध्यात्मिक वाद-विवाद और तर्क-पद्धति के उपयोग का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें भारतीय दार्शनिक आदर्शवाद और सुकरात की जिज्ञासा की प्रवृत्ति तथा विधि का सामंजस्य स्थापित किया गया है। इसमें वे सारे तर्क भी मौजूद हैं जिनके द्वारा बौद्ध भिक्षुओं ने यवनों को अपने धर्म में दीक्षित किया था।

मेनाण्डर के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य यवन शासक भी थे। जैसे डैमेट्रियस। महाभारत के दत्तमित्र बेसनगर मुहर के तिमित्र और दिव्यावदान के ज्मित्र को अवसर यवन डैमेट्रियस ही माना जाता है। अनुमान है वे बैक्ट्रिया

अफगानिस्तान तथा पंजाब और सिंध के अधिकांश के शासक थे। अन्य भारतीय यूनानी शासक भी थे। जैसे यूक्रेटिडीज जिसका अधिकार आधुनिक अफगानिस्तान और सिंधु घाटी पर था तथा एण्टियालकिडास जिसके राजदूत का स्वागत लगभग ११३ ईसापूर्व में विदिशा के राजदरबार में हुआ था। अनेक स्रोतों से लगभग बत्तीस भारतीय-बैक्ट्रियाई शासकों का पता चला है। इन स्रोतों के अनुसार ये शासक डेमेट्रियस और यूक्रेटिडीज के बाद की दो शताब्दियों में हुए थे। यवन राजाओं की उपस्थिति से देश में एक व्यापक सामाजिक अशान्ति फैली थी। पुराण इसके साक्षी हैं। उनमें लिखा है 'धार्मिक भाव नहीं महत्त्वाकांक्षा अथवा लूटमार के इरादे से यवन यहाँ आएंगे। विधिपूर्वक अभिषिक्त राजा नहीं होंगे बल्कि ये युग के दूषण के कारण दूषित रीतियों का पालन करेंगे। (यवन) शासक स्त्रियों और बच्चों का वध तथा परस्पर हत्या करेंगे तथा कलियुग के अन्त में इस पृथ्वी का सुखोपभोग करेंगे।" पुष्यमित्र के पौत्र (लगभग १८७–१५१ ईसा पूर्व) के साथ यवनों का एक भयंकर संग्राम चम्बल की सहायक सिंधु नदी के तट पर हुआ। इस युद्ध में यवन अन्ततः पराजित हुए और मध्यदेश पर उनके आक्रमण होने बंद हो गए। इससे मौर्य-साम्राज्य का विनाश भी बच गया। शुंगवंश के अधीन मगध साम्राज्य का विस्तार लगभग एक शताब्दी तक विदिशा (यदि और अधिक पश्चिम नहीं) तक रहा। यवन-शासन का अन्त करने में शुंगवंश के राजा के अतिरिक्त (जिसके साहसिक कार्यों को संभवतः कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में अमर कर दिया है) दो और भारतीय शासकों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। इनमें से एक शासक थे पंजाब के मत्स्य और दूसरे थे क्षत्रिय-जाति-विनाशक गौतमीपुत्र सातकर्णी जिन्हें दाक्षिणात्य माना जाता है।

युद्ध में पराजय के फलस्वरूप विदेशियों का भारतीय समाज में विलयन

युद्ध में यवनों की पराजय से सामाजिक और धार्मिक परिपाक की प्रक्रिया में सुविधा हो गई। इसका स्पष्ट प्रमाण हमें पुष्यमित्र के समकालीन पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में मिलता है। उसमें लिखा है कि यवनों और शकों को भारतीय सामाजिक व्यवस्था में 'निर्वासितों अथवा शुद्ध शूद्रों' का स्थान प्राप्त हो गया। इसी प्रकार मनुसंहिता में लिखा है कि यवन, शक, पह्लव और पारद समाज को भारतीय सामाजिक संगठन में सम्मिलित करके 'हीन क्षत्रियों' का दर्जा दिया गया। शैव, भागवत और बौद्ध इन्हीं तीनों धर्मों के कारण इन यूनानियों और शकों को आर्य बनाया जा सका। शुंगकाल में एक राष्ट्रीय पुनरुत्थान हुआ जिसका केन्द्रबिन्दु था धर्म और कृष्ण-वासुदेव की पूजा। इस पुनरुत्थान की तुलना गुप्तकाल के उत्तरकालीन ब्राह्मण-पुनरुत्थान से की जा सकती है। शुंग-साम्राज्य के पाँच नगरों में पुनरुत्थान सर्वाधिक प्रभावपूर्ण था। दो नगर थे राजधानियाँ पाटलिपुत्र और अयोध्या। तीसरा नगर था दशार्ण की राजधानी विदिशा। इसी नगर से पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने प्रस्थान किया था और (ग्वालियर में) सिन्धु नदी के तट पर जो पुष्यमित्र के साम्राज्य तथा पश्चिमी मालवा के यवन राज्य की सीमा बनाती है यवनों को पराजित किया था। चौथा नगर था विदिशा और उज्जैन

के बीच स्थित गोनर्द (जिसे गोनर्दीय भी कहा जाता था) जहाँ उस युग के विख्यात साहित्यकार पतञ्जलि का जन्म हुआ था। और पांचवां नगर था भारहुत। यहीं पर सुप्रसिद्ध बौद्धस्तूप का निर्माण हुआ था जो शुंग-सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता का प्रभावशाली प्रमाण है। इन नगरों में से राजधानी पाटलिपुत्र को छोड़कर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नगर था उज्जयिनी। अशोक के कारण इस नगर का महत्त्व बढ़ा और शताब्दियों तक यह एक महत्त्वशाली कलाकेन्द्र के रूप में विकसित होता रहा। सांची की कुछ सर्वोत्कृष्ट द्वार-पट्टिकाओं का अंकन शुंगकाल में ही हुआ था।

सर्वदेशीय युग भागवत और पाञ्चरात्र के रूप में यवन

शुंगकाल में तक्षशिला मथुरा विदिशा और बारबरा सर्वदेशीय नगर थे। दूसरी शताब्दी ईसापूर्व में तक्षशिला के एक यवन होलियोडोरस ने वासुदेव के सम्मान में विदिशा के समीप बेसनगर (भिलसा) में एक स्तम्भ का निर्माण कराया। वह महाराजा अन्तलिकित (अर्थात् अन्तियलकिडास) के दूत के रूप में राजन काशीपुत्र भागभद्र के दरबार में आया था और स्वयं भागवत बन गया था। ब्राह्मी लिपि में अंकित है तीन अमर साधनों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है। ये साधन हैं—दम (आत्मसंयम) त्याग और अप्रमाद। इन्हीं साधनों का इसी क्रम से वर्णन भगवद्गीता और महाभारत (११ ७ २१) में है। इसी प्रकार मथुरा के समीप मोरा में प्राप्त पहली शताब्दी ईस्वी के एक अभिलेख से हमें पता चलता है कि एक विदेशी महिला तोस ने 'पंचवीरों' (संकर्षण वासुदेव प्रद्युम्न साम्ब और अनिरुद्ध) की मूर्तियों की स्थापना की थी।

द्रष्टव्य है कि कृष्ण वासुदेव की भक्ति का इतना अधिक प्रचार हुआ कि पहली और दूसरी शताब्दियों में मथुरा में जो उस समय शक-मंडलेश्वरों के अधीन था उनकी सर्वप्रिय मूर्तियां बनीं। खड़े हुए कृष्ण-वासुदेव और बुद्ध दोनों की मूर्तियों का निर्माण प्राचीन पार्खम तथा अन्य यक्ष मूर्तियों की ही शैली में हुआ था। इस प्रकार, हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म दोनों की समछाया में नये भागवतधर्म को व्यक्त करने की तत्कालीन आवश्यकता भी पूरी हो सकी। मोरा में प्राप्त (पहली शताब्दी ईस्वी) पांच वृष्णि योद्धाओं की मूर्तियों के अतिरिक्त उसी युग की संकर्षण की प्रथम प्रतिमा भी प्राप्त हुई है जिसके सिर पर सर्प की छाया है। यह मूर्ति अब मथुरा-संग्रहालय में है। मथुरा का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम में कापिश और तक्षशिला तथा समुद्रतटीय बारबरा और बैरीगाज़ा के साथ था। और इन्हीं नगरों से विदेशी यूनानी और शक प्रभाव सीधे गंगा की घाटी में पहुंचा। यह प्रभाव हगान हगामष राजुवुल शोडास तथा उनके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में पिछली सहस्राब्दी के अन्तिम वर्षों से लेकर दूसरी शताब्दी ईस्वी तक विशेषरूप से पहुंचा। वासुदेव-कृष्ण की सर्वप्रथम मूर्तियों के निर्माण तथा रूढ़िवादी ब्राह्मण-समाज में मूर्ति-पूजा की लोकप्रियता का कारण उतना अधिक यूनानी कला का प्रभाव नहीं था जितना स्वयं को भागवत अथवा पाचरात्र कहनेवाले विदेशियों की ओजस्वी भक्ति का उत्साह।

शुंगकाल में केवल भागवतधर्म ही नहीं वरन् माहेश्वर और पाशुपत सम्प्रदायों

का भी भारत में दूर-दूर तक प्रसार हुआ। और यह तो स्वाभाविक था ही कि विदेशी लोग साधुओं और श्रमणों के आध्यात्मिक चिंतन और धार्मिक विवेकवाद की अपेक्षा भागवतधर्म (फिर चाहे वह बौद्ध, वैष्णव अथवा शैव कोई भी हो) को भली प्रकार समझ और स्वीकार कर सकते थे। शक और पह्लव शासकों मोअस और गोंडोफर्नीज के तथा उज्जैन के सिक्कों से स्पष्ट है कि शिव के प्रति विदेशियों में कितनी श्रद्धा थी। मथुरा के आसपास शिवलिंग प्राप्त हुए हैं जिन्हें कुषाणयुग का बताया जाता है।

हमने देखा कि शुंग-पुनरुत्थान में शिव की पूजा पर जोर दिया गया था और इसके आधार आध्यात्मिक व भक्ति-सम्बन्धी दोनों थे। यह विदेशियों की विजय और आर्यावर्त के मध्यभाग में आक्रमणों के विरुद्ध एक शक्तिशाली विरोध था और इसी कारण ब्राह्मण-समाज और संस्कृति का बहुमुखी पुनर्विकास भी था। इस युग के विशिष्ट भक्ति आन्दोलनों ने जिनका केन्द्र था रुद्र अथवा वासुदेव की पूजा, भारत और विदेश को पास ला दिया। इसी युग में महाभारत और गीता में एक विस्तृत आधार पर आचार संहिता का निर्माण हुआ जिसके बल पर सामाजिक और धार्मिक सम्मिलन में अधिक आसानी हुई। गुप्तवंश के 'स्वर्णयुग' का आभास करानेवाले इस युग में धार्मिक, कलात्मक और साहित्यिक क्रियाशीलता में सहसा वृद्धि हुई और इस प्रकार एक सद्भावनापूर्ण सामाजिक वातावरण उत्पन्न हुआ जो विदेशियों को अपने में सम्मिलित करने के लिए आवश्यक था।

संस्कृत का पुनरुत्थान

इस पुनरुत्थान में पतंजलि का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने ब्राह्मण ज्ञान को एकत्र किया। उन्होंने पाणिनि के व्याकरण-सूत्रों की विख्यात टीका लिखी। इस टीका ने अशोक के समय की पाली के स्थान पर संस्कृत को प्रतिष्ठित करने में विशेष योग दिया। प्राचीनतम ब्राह्मी अभिलेख (एक ताम्राधार पर प्रदर्शित सूचना) तथा अशोक के अनेकानेक अभिलेखों से स्पष्ट है कि मौर्यकाल में सम्राट् का आज्ञा-पत्र लोकभाषा में लिखा जाता था। अशोक का तो प्रयास ही यह था कि संस्कृत को हटाकर पाटलिपुत्र की बोली भारत की राष्ट्रभाषा बन जाए। लोकप्रिय धर्म-निरपेक्ष साहित्य में प्राकृत का बोलबाला था और लोकप्रिय धार्मिक आन्दोलन अर्थात् बौद्धधर्म के साहित्यिक कार्यों में प्राकृत का खूब प्रयोग होता था। संस्कृत उपेक्षित थी और उसका पठन-पाठन केवल ब्राह्मणों तथा परम्परावादी ऊंची जातियों के लोग ही करते थे। महाकाव्यों में एक अलग प्रकार की संस्कृत का प्रयोग है जो पाणिनि की 'भाषा' से भिन्न है। महाभारत के शान्ति पर्व से स्पष्ट है कि संस्कृत में साहित्यिक व्याख्याओं के व्याकरणों और उद्देश्यों पर खूब ध्यान दिया जाता था "हे राजन्, भाषा सब प्रतिमान शुद्ध होनी चाहिए। अशुद्धियाँ अभिव्यक्ति और भावों को दूषित कर देती हैं। भाषा में अर्थगांभीर्य तथा अठारह गुणों का होना अनिवार्य है। भाषा के गुणों और दोषों का विवरण अत्यन्त सावधानीपूर्वक महाभारत में प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृतभाषाभाषी ब्राह्मणों ने जिन्हें पतंजलि ने 'शिष्ट' कहा है, अधिक शुद्ध

उच्चारण और उच्चतर संस्कृति से स्पष्ट है कि संस्कृत की व्यवस्था श्रेष्ठतर है। इसीलिए संस्कृत अन्य भाषाओं से सुविधाजनक थी। पतंजलि ने लिखा है कि संस्कृत साहित्यिक भाव प्रकाशन की भाषा थी तथा उसका उपयोग उच्च जातियों द्वारा लोक-जीवन में भी होता था। इसके विपरीत अनेकानेक बोलियां जिन्हें पतञ्जलि ने 'अपभ्रंश' नाम दिया था सामान्य जन द्वारा प्रयुक्त होती थीं। रामायण में ब्राह्मण तथा जनसाधारण दोनों संस्कृत का ही व्यवहार करते हैं किन्तु ब्राह्मणों की भाषा तथा जनसाधारण की अशुद्ध भाषा में बड़ा अन्तर है। मध्यमव्यायोग नाटक के भागों में जिसका रचनाकाल पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी माना जाता है, हम देखते हैं कि ब्राह्मण श्रमण तथा शासकवर्ग संस्कृत बोलता है तथा स्त्रियां और निम्न सामाजिक स्तर के पुरुष प्राकृत का व्यवहार करते हैं। तथ्य तो यह है कि विशिष्ट व्यक्तियों की बोलचाल की संस्कृत- भाषा' अथवा 'लोक –तथा जनसाधारण की प्राकृत अथवा अपभ्रंश परस्पर आधारित हैं। कीथ ने इस ओर संकेत किया है

'हमें यह नहीं मानना चाहिए कि बोली जानेवाली भाषा तथा पण्डिताऊ भाषा में कोई विरोध है। दोनों अलग अलग वर्गों की भाषाएं हैं। यह समान वक्ता से संस्कृत सिखता और बोलता था। अशोक के पदाधिकारी जिस भाषा में सरकारी काम-काज करते थे उसीका व्यवहार बोलने में करते थे। उसी युग में जनता के निम्नवर्ग के लोग बोलियों का व्यवहार करते थे जिनमें और अधिक भाषा-वैज्ञानिक परिवर्तन हो चुके थे। बुद्ध ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि उनके उपदेशों के प्रसार में केवल लोकप्रिय बोलियों का प्रयोग किया जाए। कुछ समय तक शिष्यों ने उनके आदेशों का पालन किया। इस प्रकार उत्तरभारत की अनेक बोलियों का प्रयोग स्थानीय बौद्ध धर्मानुयायियों द्वारा किया जाने लगा। एक ऐसी बोली थी पाली जो मूलतः शायद उज्जैन में बोली जाती थी। पाली का प्रसार श्रीलंका बर्मा आदि देशों तक में हुआ और उसने दक्षिणी बौद्धधर्म की धार्मिक भाषा का दर्जा अख्तियार कर लिया। इसी प्रकार की एक अन्य बोली थी जिसके मूलस्थान का पता नहीं है। कुछ समय पश्चात् स्थानीय बौद्ध-धर्मानुयायी इस बोली का रूप परिवर्तित करने लग ताकि वह संस्कृत-सी मालूम पड़ने लगे क्योंकि संस्कृत उस समय के ब्राह्मणों की भाषा थी जिसे सामाजिक सम्मान प्राप्त था। पहले तो यह संस्कृतीकरण धीमा और आंशिक था। समय के साथ साथ प्रक्रिया आगे बढ़ती गई, किन्तु कभी पूर्ण न हो सकी। प्राकृतरूपों का प्रयोग जारी रहा। अनेक रूप मिश्रित अथवा संकर बन गए, न शुद्ध प्राकृत और न प्रामाणिक संस्कृत। विशेषतः शब्दभंडार अधिकांशतः प्राकृत का रहा। हजारों ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता था जो या तो संस्कृत के न थे या संस्कृत में उन अर्थों में प्रयुक्त न होते थे। इस विचित्र भाषा का प्रसार उत्तरभारत में हुआ। फ्रेंकलिन एजर्टन ने इसे 'बौद्धसंकर संस्कृत' का नाम दिया है। बीस वर्ष से अधिक समय के शोधकार्य के पश्चात् उन्होंने १९५३ में इस भाषा का एकमात्र शब्दकोष और व्याकरण प्रस्तुत किया। इस दिशा में अन्य कोई प्रयत्न कभी नहीं हुआ।

✓ शुंगकालीन ब्राह्मण-पुनरुत्थान का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि संस्कृत का व्यवहार केवल ब्राह्मणों तक सीमित नहीं रह गया वरन् उसने एक लोकप्रिय जीवित

भाषा का रूप धारण कर लिया। सुप्रसिद्ध विद्वान और भाषाविज्ञानी एफ० डब्ल्यू० टॉमस का कथन है ... अव्यवस्थित और मिश्रित बोलियों की विशृंखलता के मध्य संस्कृत ही एक व्यवस्थित भाषा थी। इसका लाभ भी हुआ। कम से कम पहली शताब्दी ईस्वी में संस्कृत ने प्राकृत का स्थान लेना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी अनेक भागों में तीसरी या चौथी शताब्दी तक प्राकृत का प्रयोग जारी रहा। लगभग इसी समय जैनों ने संस्कृत में लिखना प्रारम्भ कर दिया। सर्वास्तिवादी बौद्धों ने संस्कृत का उपयोग बहुत पहले प्रारम्भ कर दिया था। ब्राह्मण अश्वघोष ने जिसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था बौद्ध प्रसंगों को भाषा पर अधिकार तथा काव्य की विकसित संस्कृत शैली प्रदान की। कहा जाता है कि महासांघिक प्रारम्भ से ही मिश्रित बोली—अशिक्षितों की लोकव्यवहृत संस्कृत जिसमें प्राकृत का मिश्रण था—का व्यवहार करते थे।

युग की धार्मिक ओजस्विता

सामान्य धारणा है कि शुंगकाल में ही ब्राह्मण-साहित्य के अधिकांश—जिसमें रामायण और महाभारत के अंश, कुछ पुराण और मानवधर्मशास्त्र अथवा मनुस्मृति सम्मिलित हैं—का सृजन हुआ। पुष्यमित्र ने विश्व आधिपत्य के प्रतीक के रूप में महान वैदिक यज्ञ का पुनः आयोजन किया और स्वयं पतंजलि ने समस्त धार्मिक कार्य किया (इह पुष्यमित्रं याजयामः)। पतंजलि ने राजसूय और वाजपेय जैसे विशाल यज्ञों के साथ-साथ दैनिक पंच महायज्ञों का वर्णन भी किया है और कहा है कि प्रत्येक गृहस्थ को ये पंच प्रतिदिन करने चाहिए। एक और विशिष्ट बात यह है कि इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए पशुबलि की बात भी उन्होंने लिखी है। शुंगकाल में ब्राह्मण-परम्परा कान्ति का पुनरुत्थान हुआ। इसके प्रमाण हैं—वैदिक धार्मिक कृत्यों और संस्कारों, पुरोहितवाद और ब्राह्मण आधिपत्य की पुनःप्रतिष्ठा, कृष्ण भागवतधर्म का उदय जो कंसवध तथा बलिबन्ध-सम्बन्धी नाटकों की लोकप्रियता से स्पष्ट है तथा बौद्धों को दण्डित करना।

किन्तु बौद्धधर्म और जैनधर्म का अन्त नहीं हुआ क्योंकि शुंगवंश के शासनकाल में अनेक शानदार बौद्ध और जैन स्मारकों का निर्माण हुआ। कलिंग के महाराज खारवेल जिनका शासन अनुमानतः पहली शताब्दी ईसापूर्व में था और जिन्होंने पूर्वी भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की जिसका प्रसार सुदूर दक्षिण तक था, जैनधर्मानुयायी थे। उन्हें 'भिक्षुराज' कहा जाता था। उन्होंने खण्डगिरि पर अनेक जैन गुफाएं गुम्फा- और पास ही एक मठ का निर्माण कराया। मथुरा में एक जैन मन्दिर था जिसका निर्माण १५० ईसापूर्व से पहले हुआ था। मथुरा में प्राप्त प्राचीनतम अवशेषों में उन तीर्थंकरों की मूर्तियां अर्हत् को समर्पित नक्काशीदार पत्थर तथा पूजा के अन्य उपकरण मिले हैं। पुनर्जागरण धर्म की एक विशेषता यह थी कि परम्परावादी ब्राह्मण जैन और बौद्ध सभी यक्षों और पवित्र वृक्षों तथा लोकप्रिय देवताओं परियों और छोटे देवताओं की पूजा सम्मिलित रूप से करते थे। वहाँ वेदिकाओं और प्रतीकात्मक विधियों के अतिरिक्त कलाकार और शिल्पकार अपने धर्मों की आवश्यकताओं के अनुसार इन विषयों का उपयोग भी अपनी कला में करते थे।

शकों का भारतीयकरण

इस प्रकार यमुनाघाटी तथा उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्धधर्म, जैनधर्म तथा कृष्ण विष्णु और महेश्वर सम्प्रदाय साथ-साथ फूल-फल रहे थे। फिर भी शक और कुषाण युग के अधिकांश मथुरा अभिलेख जैन और बौद्ध हैं। भागवत अभिलेख बहुत कम हैं। शक शासकों ने जो पहली शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में शकस्थान से बोलन दर्रा पार करके पंजाब और यमुनाघाटी तक आ पहुंचे थे क्रमशः भारतीय-बाख्त्रियाई शासकों का स्थान ले लिया। वे पहले काठियावाड़ और राजपूताना होते हुए मुल्तान, उज्जैन और बाद में मथुरा तक पहुंचे और शकस्थान व उसकी राजधानी मिन अथवा मिन्नगर के नाम अपने साथ ईरान से भारत लेते आए। नये वातावरण में आकर शकों ने क्षत्रिय-परिवारों में विवाह किए, भारतीय नाम अपनाए और शिव, महावीर तथा बुद्ध को अपने देवताओं के रूप में स्वीकार किया। अनेक शक वासुदेव के स्थान पर रुद्र नाम का प्रयोग करते थे।

उत्तर पश्चिमी और पश्चिमी भारत में विभिन्न स्थानों पर बौद्धगृहों के लिए शक राजाओं ने अनेक बार दान दिए थे। नासिक के एक गुफा-लेख में जिसका समय लगभग ११६ ईस्वी से १२५ ईस्वी तक है, एक शकराजा उषवदात (ऋषभदत्त) की जिन्होंने ब्राह्मणधर्म स्वीकार कर लिया था सहृदयता का वर्णन है। अभिलेख में वर्णित है कि ऋषभदत्त ने हिन्दू देवताओं और ब्राह्मणों के निर्वाह के लिए दान तो दिया ही था साथ ही बौद्धसंघ को एक गुफा दी थी तथा स्थायी धन-व्यवस्था का प्रबन्ध किया था। दान का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है और उसका रिकार्ड नियमानुसार एक स्थानीय रिकार्ड दफ्तर में दर्ज कराया गया था। उषवदात की पत्नी का नाम भी भारतीय था—दक्षमित्रा। उषवदात ने प्रभास में आठ ब्राह्मण कुमारियों के विवाह का आयोजन किया था और हिन्दूधर्म के प्रति सहृदयता के लिए उन्हें त्रिगोशतसहस्रदा (तीन लाख गायों के दाता) की पदवी प्रदान की गई थी।

विदेशियों पर भारतीय धर्मों का इतना प्रभाव पड़ा कि वे आए तो आक्रमणकारियों के समान किन्तु क्रमशः उनका सामाजिक रूप से भारतीयकरण हो गया।

भारतीय संस्कृति के अत्यन्त प्राचीन केन्द्र मथुरा पर शकशासक राजुल (लगभग २० ईसापूर्व से २२ ईस्वी) का अधिकार हुआ और राजुबल तथा उसके पुत्र शोण्डास या शोडास के समय तक यह अधिकार कायम रहा। दूसरी शताब्दी ईस्वी के दूसरे चतुर्थांश तक भारत का काफी बड़ा भाग कपिश से मथुरा और कश्मीर से दक्षिण तक शकमहाक्षत्रपों के अधीन रहा यद्यपि कुषाणसम्राट् कनिष्क ने अपनी विजययात्रा के प्रारम्भ में ही शकों को मथुरा से बाहर कर दिया था। कुछ विद्वान् शाहानुशाहियों-पार्थियनों के शकसंवत् को ५८ ईसापूर्व का विक्रम-संवत् ही मानते हैं। शकों के नामों और उपाधियों से स्पष्ट है कि उनका पूर्णरूपेण भारतीयकरण हो गया था। 'क्षत्रप' शब्द का उद्गम संस्कृत शब्द 'क्षत्रप' से हुआ है। शकशासकों के भारतीय नामों में से कुछ हैं चष्टन, रुद्रदामा, राजुल, शोडास, शिवघोष और शिवदत्त।

वैदिक संस्कार विदेशियों के लिए भी

विदेशी विजय, सम्मिलन और पश्चिमीकरण के प्रति ब्राह्मण-समाज की प्रतिक्रिया आशा और साहस से परिपूर्ण थी। महाभारत में यहां आगामी युग में शकों और उनके सहयोगी दास म्लेच्छों की लूटमार का वर्णन अत्यन्त भयोत्पादक ढंग से किया है (३-१८८) वहां यह भी लिखा है कि आर्य राजाओं के राज्यों के निवासी यवनों किरातों गंधारों तुषारों और पह्लवों को भी वैदिक संस्कारों और पूजा-विधियों में सम्मिलित किया जाए (१२, ६५ १३)। यहां तक कि बसकर लोगों अथवा विभिन्न दस्यों या जातियों के लोगों के लिए विभिन्न कर्तव्यों के बारे में स्वयं कृष्ण भीष्म से कहते हैं "चारों वर्णों की निश्चित संस्थाओं अथवा विभिन्न देशों जातियों और गोत्रों के लिए निर्दिष्ट कर्तव्यों तथा वेदों और प्रबुद्ध मुनियों द्वारा व्यवस्थित कर्तव्यों के बारे में आप सब कुछ जानते हैं।" (राजधर्म ६ पृष्ठ १६९)।

महाभारत में एक ओर तो पह्लवों शकों यवनों और कम्बोजों को पापी कहकर निन्दनीय ठहराया गया है और दूसरी ओर ब्राह्मण समाज के द्वार उनके लिए खोल दिए गए हैं तथा वैदिक संस्कृति के संस्कारों में विदेशियों को सम्मिलित करने का आदेश है। इससे विदेशियों के सामाजिक सम्मिलन में आसानी हुई। तीन नवीन समाजशास्त्रीय विचारों ने वर्णाश्रम में उदारता का समावेश किया जिससे वह युग की बदली हुई सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा कर सके। प्रथम महाभारत (शान्तिपर्व, ३८ ५ २) तथा प्रारंभिक धर्मशास्त्रों में 'आपद्धर्म' के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। इससे यह सुविधा मिली कि उच्च जातियों के लोग ऐसे काम और व्यवसाय अपनाने लगे जो उनके लिए निषिद्ध अथवा गर्हित थे। दूसरा विचार था कलियुग के सिद्धान्त का विकास जिससे सामाजिक विशृंखलता और भिन्नता जनित बुराइयां कम हो सकें। इस सिद्धान्त के अनुसार इन बुराइयों को युगचक्र के अपरिहार्य नियम का अवश्यंभावी परिणाम समझा जाने लगा। 'भविष्य में एक धर्मसम्मत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होगी'—ऐसी भविष्यवाणी करके सामाजिक पराजय भावना को दूर किया गया। तीसरा विचार था अवतारवाद। अवतारवाद का बीजारोपण तो शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में हो चुका था किन्तु इसका विकास इसी युग में हुआ। इस विकास के आधार थे कृष्ण-वासुदेव और गौतम के व्यक्तित्व और सोचा जाता था कि समय समय पर इनके अवतार से समाज में धार्मिक व्यवस्था कायम रहेगी। प्रारम्भिक ब्राह्मण-साहित्य में हम पाते हैं कि असुरों ने देवताओं से पृथ्वी को छीन लिया था और पृथ्वी को पुनः प्राप्त करने के लिए विष्णु ने अनेक अवतार लिए थे। इसी प्रकार भारहुत के शिलालेखों में हम बुद्ध के अनेक अवतार-सम्बन्धी बौद्ध सिद्धान्त का परिचय प्राप्त होता है। इन सबके ऊपर, एक साकार देवता की पूजा ने विदेशियों के मन में श्रद्धा भावना जगाई और साथ-साथ भारतीयों के मन में विश्वास जमाया कि समाज की व्यवस्था ईश्वरप्रदत्त है। इससे यह लाभ यह हुआ कि विदेशी आक्रमणों अथवा शासन के फलस्वरूप उत्पन्न प्रभावों से भारतीय बचे रह सके। आपद्धर्म कलियुग और अवतार—इन तीनों नव-विचारों ने भारतीयों

को नैतिक रूप से तयार कर दिया कि वे अपनी ईश्वरप्रदत्त सामाजिक व्यवस्था में विदेशियों को स्वीकार कर सकें। महाभारत में भारतीय संस्कृति के मानवतावाद को अत्यन्त श्रेष्ठ शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है "मैं तुम्हें परमतत्व रहस्यमय और श्रेष्ठतम सिद्धान्त बतलाता हूं। विश्व में मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ कुछ नहीं है।"

ब्राह्मण, ईरानी और यूनानी संस्कृतियों का पारस्परिक उत्कर्ष

*उस युग की सहिष्णुता के फलस्वरूप प्राचीन ब्राह्मण ईरानी और यूनानी संस्कृ*तियों ने आपस में प्रभाव ग्रहण किए और उनका विकास हुआ। इस काम में पार्थियाइयों ने मध्यस्थों का महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया। तक्षशिला क्षेत्र में पार्थियाई नगर सिरकप की खुदाई से यह बात साफ मालूम हो जाती है। मध्यदेश के भारतीय व्यापारी यात्री और विद्वान काठियावाड़ पंजाब कश्मीर और गंधार ही नहीं सीरिया और मिस्र तक जाते थे। यूनानी-बैक्ट्रियाई और शाक्-पार्थियाई दोनों युगों में भारत और पश्चिमी एशिया के बीच थल और स्थल मार्गों से खूब व्यापार होता था और तक्षशिला बारबरा पामा इरा पेट्रा और सिकन्दरिया जैसे नगर महान अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गए थे। ज्ञात है कि यूफ्रेटीज नदी के तट पर स्थित तारन में भारतीय जा बसे थे जहां दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में ही भारतीय मन्दिरों का निर्माण किया जा चुका था। इसके अतिरिक्त ११७ ईस्वी के आसपास वायो क्राइसॉस्टम ने लिखा था कि भारतीय स्थायी रूप से सिकन्दरिया में रहते थे। दूसरी शताब्दी ईसापूर्व में बैक्ट्रिया सोगडायना अफगानिस्तान और उत्तर पश्चिमी भारत पर देमेट्रियस और मेनांडर का आधिपत्य था। इस आधिपत्य के कारण *लेवेंट के साथ भारतीय व्यापार स्थलमार्ग से होता था। लगभग ११२ ईसापूर्व में* बैक्ट्रिया पर साइथियाइयों ने अधिकार कर लिया तथा रोम और पार्थिया के बीच ५१ ईसापूर्व में एक दीर्घकालीन संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। फलस्वरूप भारत और लेवेंट का व्यापार-सम्बन्ध टूट गया। किन्तु जब पार्थियाई ने सीरिया पर 'पैक्सरोमाना' लागू कर दिया और पामीरीन्स ने उत्तरी अरबी मरुभूमि के आरपार पूरा और यमिक्र के बीच एक छोटा रास्ता ढूंढ निकाला, तब यह सम्बन्ध फिर स्थापित हो गया। फिर भी ईरान के बीच से जानेवाले प्राचीन व्यापार-मार्ग से व्यापार पूरी तरह तभी संभव हो सका जब कुषाणों ने पहली शताब्दी ईस्वी में पश्चिमी एशिया के इस भाग पर, तथा बाद में सम्पूर्ण गंधार और उत्तरी-पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लिया।

टार्न ने इस युग के भारतीय लेवेंटाई व्यापार का अध्ययन किया है। *जलमार्ग से होनेवाले व्यापार के बारे में उन्होंने निम्नलिखित अवस्थाएं बतलाई हैं।* जलमार्ग से होनेवाला व्यापार दक्षिणी अरबी मध्यस्थों के नियंत्रण में लगभग १२० ईसापूर्व तक रहा। इसी वर्ष के आसपास साइजिकस के यूडोक्सस ने पहली बार मिस्र से भारत तक सीधी समुद्रयात्रा की। यूडोक्सस के समय में सारा रास्ता समुद्र के किनारे-किनारे तय किया जाता था लेकिन इसके यूनानी उत्तराधिकारियों ने धीरे धीरे, मानसून के सहारे, रमाद से रमाद खुले समुद्र में खतरा मोल लेते हुए, रास्ते की दूरी कम की। रास्ते की दूरी को कम करने का यह काम १००—८० ईसापूर्व में आरंभ और ४०—५० ईस्वी में समाप्त

हुआ। अब भारत महासागर में यात्रा करनेवाले यूनानी नाविक सोमाली तट से भारत के दक्षिणी भाग तक सीधे अरब जाए बिना पहुँचने लगे। ७०–८० ईस्वी में लिखित एरिथ्रियन सागर के पेरिप्लस में बैरीगाजा और बारबरा से अरब की खाड़ी और लालसागर की यात्राओं का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें सोकोत्रा में एक भारतीय बस्ती की बात भी लिखी है। भारत महासागर पर यूनानियों की इस विजय के कारण ही ८० ईसापूर्व में एथेन्स में काली मिर्च खूब मिलती थी। सर फ्लाइडर्स पेट्री ने सिकन्दरिया में चक्र और त्रिशूल-सहित एक बौद्ध चैत्य खोज निकाला है जिसका निर्माण टालेमी युग के अन्त से पहले हुआ था।

भारत में मौर्य-साम्राज्य की स्थापना लगभग ३२४ ईसापूर्व में हुई थी और पश्चिमी एशिया में सेल्यूसिड्स के साम्राज्य की स्थापना लगभग ३०१ ईसापूर्व में। लगभग ४५ ईसापूर्व में यूनानी नाविक हिप्पालस ने मानसून की खोज की थी। उपर्युक्त दोनों साम्राज्यों की स्थापना और मानसून की खोज के बीच की चार शताब्दियों में सीरिया और मिस्र के साथ भारत का सम्बन्ध निकट से निकटतर होता गया। भारत से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना टालेमी की नीति थी। इससे समुद्री व्यापार को बढ़ावा मिला और फलतः रोम-साम्राज्य व्यापारिक रूप से अरबों पर निर्भर नहीं रह गया। पैक्स रोमाना के अन्तर्गत ईस्वी सन् की पहली दो शताब्दियों में यही नीति कायम रही और दक्षिणभारत के प्रमुख बन्दरगाहों में रोमन और मिस्री व्यापारियों की बस्तियाँ बसीं। रोम-साम्राज्य में जिन भारतीय वस्तुओं की खपत बहुत थी उनमें से प्रमुख थे मसाले, रत्न, मोती, जवाहरात, रेशम और मलमल। भारत में आयात की जानेवाली वस्तुएँ थीं मिस्र और बैबीलोन के सन के कपड़े, लालसागर का पुखराज, लेवेंट का मूंगा तथा रोम की शराब, सोना और चाँदी। इस आयात निर्यात के बाद भुगतान भारत के पक्ष में बाकी रह जाता था। रोम-साम्राज्य को हर साल दस करोड़ सेस्टेर्सी का भुगतान भारत को करना पड़ता था। प्लाइनी ने इस आर्थिक व्यय के विरुद्ध आवाज बुलन्द की थी।

अरबसागर में मानसून हवाओं की खोज, रोम-साम्राज्य में [illegible] की वस्तुओं की माँग तथा लालसागर और अरबसागर के तट के बन्दरगाहों के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित होने से बिचौली पार्थिया-साम्राज्य के बीच से जानेवाले स्थल मार्ग की आवश्यकता न रहने के कारण भारत और पश्चिम के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित होने में बड़ी सुविधा हुई और छठी शताब्दी ईस्वी तक रोम के साथ समुद्री व्यापार खूब होता रहा। पंजाब, दक्षिणी सिंधुघाटी, सौवीर, काश्मीर और गंधार के नगर भारतीय यूनानी संस्कृति के केन्द्र बन गए। तक्षशिला और बारबरा के अतिरिक्त शाकल, मथुरा और मिन्नगर इस युग के महान सार्वभौम नगर थे।

नागर जीवन और ऐश्वर्य

मिलिन्दपञ्ह में शाकल का अत्यन्त प्रशंसापूर्ण वर्णन है :

"योनक देश में एक प्रमुख व्यापारकेन्द्र है जिसका नाम है सागल। यह पहाड़ियों के बीच बड़े रमणीक स्थान पर स्थित है जहाँ पानी खूब मिलता है। अनेकानेक

पार्कों उद्यानों कुओं झीलों और तालाबों वाला यह भूभाग वास्तव में नदियों पहाड़ों और जंगलों से भरापूरा एक स्वर्ग है। कुशल वास्तुकों ने इस नगर की योजना बनाई है और यहां के लोगों में निर्भयता का लेश नहीं है क्योंकि इसके सारे शत्रुओं और विरोधियों को पराजित किया जा चुका है। सुरक्षा के लिए इसे एक सुदृढ़ प्राचीर से घेरा गया है जिसपर अनेक मजबूत मीनारें और परकोटे हैं तथा विशाल फाटक और प्रवेशद्वार हैं। बीच में राजप्रासाद है जिसकी दीवारें सफेद हैं और जिसके चारों ओर एक गहरी खाई है। इसकी सड़कें चौराहे बस्ती के बीच खुले मैदान और बाजार सुनियोजित हैं। इसकी दूकानें अगणित कीमती सामानों से भरी पड़ी हैं जिन्हें अच्छे ढंग से सजाकर रखा गया है। अनेक प्रकार के धर्मशालाएं तथा सार्वो शानदार इमारतें इसकी शोभा बढ़ाते हैं। ये इमारतें हिमालय के शिखरों की भांति आकाश को चूम रही हैं। इसकी सड़कों पर हाथी घोड़ों रथ तथा पैदलों की बेशुमार भीड़ रहती है तथा अनेक प्रकार के अनेक अवस्थाओं वाले व्यक्ति—ब्राह्मण राजदरबारी शिल्पी और भृत्य—दीख पड़ते हैं। वे प्रत्येक धर्म के उपदेशकों का स्वागत उच्चकंठ से करते हैं और विभिन्न मतों के प्रत्येक के नेता यहां अवश्य आते हैं। बनारस की मलमल कोटम्बरा की वस्तुओं तथा अनेक अन्य प्रकार की वस्तुओं का विक्रय करनेवाली दूकानें हैं तथा बाजारों में अनेकप्रकार के फूल और इत्र रुचिपूर्वक सजाकर रखे जाते हैं जिनसे मधुर गंध निकलती रहती है। जवाहरातों का अम्बार है तथा आकाश की सारी दिशाओं में फैले बाजारों में व्यापारी-संघ अपनी वस्तुओं का आकर्षकतम ढंग से प्रदर्शन करते हैं।

दो अन्य कृतियों—वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' तथा शूद्रककृत 'मृच्छकटिक'—से उस युग का चित्र पूर्ण हो जाता है। एस० एन० दास गुप्त ने पहली कृति का समय दूसरी शताब्दी ईसापूर्व निर्धारित किया है तथा दूसरी कृति का समय पहली शताब्दी ईसापूर्व से पहली शताब्दी ईस्वी के बीच। 'कामसूत्र' में अत्यन्त श्रेष्ठ ढंग से काम-क्रियाओं को परिभाषित किया गया है तथा उनके भेदों को बताया गया है। इतना ही नहीं इसमें उस युग के सुसंस्कृत नागर जीवन का विशद वर्णन भी प्राप्त होता है। कीथ के अनुसार, प्रत्येक नगर निवासी अर्थात् 'नागरक' के घर में 'युग का सम्पूर्ण वैभव उपस्थित था—मुलायम बिछौने उद्यान में स्थित ग्रीष्मगृह फूलों से सजे हुए पर्यंक पुरुष के अवकाश के समय को अपने सहयोग से खुशनुमा बना देनेवाली रमणियों के मनोरंजनार्थ झूले। नागरक का अधिकांश समय शृंगार में बीतता है। स्नान के पश्चात् उसके शरीर पर लेप लगाया जाता है सुगन्धि छिड़की जाती है पुष्पमालाएं पहनाई जाती हैं। तब वह पिंजड़ों में बन्द पक्षियों को बोलना सिखाता है या भेड़ों अथवा मुर्गों का युद्ध देखता है। (उस युग के धनिक नौजवानों के ये दो प्रमुख मनोरंजन थे।) या फिर घर से बाहर की स्त्रियों के साथ नगर के बाहर के उद्यानों में चला जाता है और उन स्त्रियों द्वारा तोड़े हुए फूलों से आभूषित वापस आता है। नृत्य गान आदि के समारोहों अथवा नाटकों में भी वह भाग लेता है। उसके पास सर्वत्र एक सारंगी रहती है ताकि मौका आने पर बजा सके और एक पुस्तक होती है कि अवकाश के क्षणों में पढ़ सके। उसकी खुशी के लिए विट पीठमर्द और विदूषक जैसे अनेक प्रकार के चाटुकार और साथी आवश्यक हैं। मद्यपान की दावतें होती हैं

सिर्फ पीकर उत्पात मचाना मना है। नागरक का कर्तव्य है कि उसके मनोरंजन में भी सौन्दर्य संयम और किसी सीमा तक गौरव रहे। वह कभी-कभी कृपापूर्वक जनसाधारण की बोली में बातें तो कर लेता है किन्तु उसमें भी संस्कृत का पुट देता है ताकि उसकी श्रेष्ठ संस्कृति का प्रदर्शन हो सके। रखैलें उसके लिए आवश्यक हैं किन्तु रखैलें भी तुच्छ नहीं होती हैं। 'कामसूत्र' में तो लिखा है कि ऐसी स्त्रियों को अपार ज्ञानवती तथा काव्यात्मक रुचि वाली होना चाहिए। इस प्रकार की सर्वाधिक प्रसिद्ध स्त्रियाँ के पास अपार धन हो जाता था जैसाकि 'मृच्छकटिक' की नायिका के महल के विवरण से स्पष्ट है। और पेरिक्लीज-कालीन ऐथेन्स के समान यहाँ भी साहित्य संगीत और कला सम्बन्धी विचार-विमर्श में भाग लेनेवालों को बहुत आनन्द प्राप्त होता होगा जो उन्हें अपनी पत्नियों से नहीं मिल पाता था पत्नियों से तो वे सिर्फ सन्तान और घर की देखभाल की आशा करते थे।

'मृच्छकटिक' एक सामाजिक नाटक है और इसमें लेखक ने नगर उज्जयिनी की तत्कालीन प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। अपने तीव्र वेगवान कथानक तथा घटनाओं और पात्रों (अनेक पात्र तो निम्नकुल आधुनिक नगरनिवासियों जैसे हैं) की विविधता के कारण यह नाटक अनेक अर्थों में अद्वितीय है। नाटक की आत्मा वास्तव में आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक है। इसका नायक एक भूखा ब्राह्मण है और अपने समय के भारतीय सौम्य का आदर्श है—आदर्श जो हिन्दू और बौद्ध विचारों के सामंजस्य से निर्मित हुआ था। वह अपनी पत्नी को जितनी ईमानदारी से प्रेम करता है उतनी ही ईमानदारी से नाटक की नायिका एक वारांगना का भी प्रेम करता है और उस उदारयुग में इसमें कोई विरोधाभास नहीं था। वारांगना वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार गुणवती है खलनायक को अपने पास तक नहीं फटकने देती और अपने गुणों तथा प्रेमी के प्रति ईमानदारी के बल पर भग्नहृदय नायक को अपने वश में कर ही लेती है। एक राजनीतिक षड्यन्त्र के कारण शासकवर्ग के परिवर्तन के फलस्वरूप (जो नाटक का उपकथानक है) अन्त में नायक और नायिका दोनों को सम्पत्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है।

'मृच्छकटिक' नाटक नहीं प्रकरण है। नाटक में वीरों अथवा राजदरबार के जीवन का प्रदर्शन होता है और प्रकरण में जनसाधारण के जीवन का। नाटक का कथानक महाकाव्यों अथवा पुराणों पर आधारित होता है और प्रकरण का कथानक 'बृहत्कथा' पर। संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ सामाजिक नाटक निश्चय ही 'मृच्छकटिक' है। अन्य श्रेष्ठ नाटक हैं भवभूति कृत 'मालतीमाधव' और विशाखदत्त कृत देवी चन्द्रगुप्त।

भारतीय कला में यूनानी और रोमन तत्त्व

पहली शताब्दी ईसापूर्व से ही भारतीय कला पर रोमन यूनानी प्रभावों और ईरानी-पश्चिमी शैलियों का गम्भीर प्रभाव पड़ने लगा। भारतीय मूर्तिकला ने पश्चिमोत्तर के पंख वाले घोड़ों और Addorsed पशुओं को ग्रहण कर लिया था। भारहुत अथवा बोधगया और उदयगिरि की मूर्तिकला में ईरानी पशु-मूर्तियों गुम्बद की मानवियों और पुष्प

के पौधों के गुच्छों तथा सेंटार[1] ग्रिफिन[2] तथा अन्य काल्पनिक जानवरों को मनोहारी तथा शास्त्रीय दृष्टि से संरचित नमूनों में व्यक्त किया गया है। ये प्रभाव सांची होते हुए अमरावती तक जा पहुंचे (दूसरी से चौथी शताब्दी ईस्वी)। किन्तु सभी स्थानों पर जिस कला में इन प्रभावों का परिपाक हुआ उसकी आत्मा और शैली पूर्ण प्रतिष्ठित मौलिक एवं भारतीय थी। मौर्यकाल में पर्सिपोलिस के स्तम्भों घण्टा परगहों पशुओं की मूर्तियों तथा सजावट के नमूनों को भारतीय शिल्पियों और मूर्तिकारों की कल्पनाशक्ति ने एक नया रूप दे दिया था। अशोक के स्तम्भ इस काल की भारतीय वास्तुकला की कुछ ... तम उपलब्धियां हैं। इसी प्रकार बाद के समय में यूनानी एशिया के विस्तीर्ण ... का पूर्ण परिपाक एक स्पष्ट प्राणवान भारतीय शैली में हुआ। आयातित कला ... और वाह्यरूपमात्र बन जाती है मौलिक कला सदैव प्राणवान कोमल और होती है और भारत में कला अपनी लय आकार और संरचना द्वार शान्ति और समाधिता को उजागर करती है। अनेक दशकों तक बु... और यूनानी अपोलो का मिश्रण) मायादेवी (अर्धभारतीय और कुबेर (अर्धरोमक और अर्धभारतीय अथवा शककुलीन व्यक्ति)। हारीति (प्रसन्नमना रोमक माता) की मूर्तियां बनती रहीं ... एरॉस और बैकानालियाई दृश्य को अंकित किया जाता रहा ... भीतर भारतीय धार्मिक कला की प्रखर और शक्तिशाली ... हेलेनवाद को नीचे दबा दिया।

शक-कुषाण राजाओं कनिष्क वेम कदफीसेज और ... मूर्तियां पहली शताब्दी ईस्वी के अन्तिम चतुर्थांश की हैं। ... संश्लिष्ट है व्यक्ति अकड़कर खड़े हैं और उनके पोश में ... का अंकन कौशीय है जिससे पता चलता है ये कृतियां तुलन... सम्राटों और महत्तवरों ने रोम और पार्थिया के निवासियों ... जानेवाले सम्राटों की मूर्ति निर्मित करने की प्रथा को ... शासन के कड़ेपन और उद्दण्डता से सुस्पष्ट मानव को देवतु... अभारतीय है। किन्तु इन मूर्तियों के भारी वस्त्रों, जूतों ... किनारियों पर ईरानी-शक प्रभाव है। फिर भी चपटे रैखिक ... की शक-परम्परा का बाद के समय में बुद्ध-मूर्तिकला में भली ... बुद्ध-मूर्तिकला में रैखिकता और कोमलता का पूरा नाम ... चिन्तनशील आसन की सुपरिचित त्रिकोणीय रचना में ... का द्रष्टव्य है।

गंधार स्कूल की कला पहली शताब्दी ईसापूर्व ... तक अत्यन्त सशक्त और फलवती थी किन्तु आश्चर्य है कि ...

१ पौराणिक जन्तु, जिनका ऊपर से आधे का भाग घोड़े तथा ऊपरी ...
२ एक काल्पनिक जन्तु, जिसका शरीर और पंख शेर के समान तथा

गांधार हेलेनवाद का प्रभाव सीधे यूनानी-बैक्ट्रियाई और पार्थियाई शासकों के समय में नहीं वरन् उसके बाद यूनानियों के चरण-चिह्नों पर चलनेवाले शकों और कुषाणों के काल में हुआ। कला का यह चरण एक नवीन और अद्वितीय कलात्मक सृष्टि के युग में पहुंचने ही वाला था कि हूणों का आक्रमण हुआ और इसे एक गहरा आघात लगा।

संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव

इस युग में भारत की भूमि पर संस्कृतियों का अभूतपूर्व संगम हो रहा था। इसीलिए प्रश्न किया जा सकता है—यूनानी विज्ञान और दर्शन तथा फारसीधर्म का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा? विख्यात है कि मौर्य-सम्राट् ने सेल्यूकस के सामने अन्य वस्तुओं के साथ एक यूनानी विद्वान की मांग पेश की थी जो पूरी नहीं हुई। भारत में ब्राह्मणधर्म परिपक्व और संभवतः सुव्यवस्थित हो चुका था और यवनों तक का प्रभाव नहीं पड़ पाता था। समकालीन यूनान का निःस्पृह भाग्यवाद भारतीय दार्शनिकों और विद्वानों के लिए इतना विलक्षण नहीं था कि वे प्रभावित होते। इसके विपरीत पता चलता है कि ४०० ईसापूर्व से पहले एक भारतीय दार्शनिक ने सुकरात से भेंट की थी। यदि यह बात सत्य है तो उपनिषदों के परमविज्ञानवाद ने प्लेटो को अवश्य प्रभावित किया होगा। इससे भी अधिक संभाव्य है पाइथागोरस के विज्ञान और दर्शन पर सांख्य दर्शन का प्रभाव। इतना ही संभाव्य है जेनोवादियों और नवप्लेटोवादियों के 'लोगोस' सिद्धान्त पर वैदिक 'वाक्' का प्रभाव। फिर भी ज्योतिष के लिए भारत यूनान के प्रति आभारी है। भारत ने इस देन के लिए यवनों के प्रति अपना आभार उत्साहपूर्ण और स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है जैसाकि 'गार्गी-संहिता' के सुप्रसिद्ध अंश से स्पष्ट है: 'यवन वास्तव में बर्बर हैं किन्तु ज्योतिष का उद्भव उनके यहां हुआ, और इसके लिए उनका सम्मान देवताओं के समान करना चाहिए।" ज्योतिष के पांच भारतीय दर्शनों में से दो—'रोमक सिद्धान्त और पौलिश सिद्धान्त' (जिसका नामकरण सिकन्दरिया के पॉल जो लगभग ३७८ ईसवी में जीवित थे के नाम पर हुआ था)—की रचना पश्चिम के आधार पर हुई थी।

पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेशों में बौद्धधर्म-प्रचारकों को भली प्रकार पहचाना जाता था। वे सिकन्दरिया में थराप्यूटे (थरापुत्र) और फिलिस्तीन में एसीन्स कहलाते थे। फिर भी क्लीमेंट पहला यूनानी दार्शनिक था जिसने बुद्ध का नाम लिया। पश्चिमी एशिया के इन्हीं बौद्ध भिक्षुओं से ईसाईधर्म को कुछ आधारभूत विचार और कथाएं मिली थीं। अनेक ईसाई इतिहासकारों का मत है कि परम्परावादी ईसाईधर्म ने पवित्र अवशेषपूजा, जप करने को माला का प्रयोग तथा अन्य संस्कार और धार्मिक उत्सव बौद्धधर्म से ग्रहण किए थे। मिस्र के मेम्फिस में भारतीय मूर्तियों की प्राप्ति से पता चलता है कि टालमी-वंश के शासनकाल में बौद्धधर्म और बौद्ध त्योहार सुविख्यात थे। इसके अतिरिक्त चावल के अभिषेक को भारतीय शासन द्वारा भिजवाया हुआ कहा जाता है। एक आर्मीनियाई कथा के अनुसार कृष्ण वासुदेव-सम्प्रदाय सुदर्शन रूपम-नाम से आर्मीनिया पहुंचा था और दूसरी शताब्दी ईसापूर्व तक में प्रचलित था।[1]

के पौधों के गुच्छों तथा सेंटार[१] ग्रिफिन[२] तथा अन्य काल्पनिक जानवरों को मनोहारी तथा शास्त्रीय दृष्टि से संरचित नमूनों में व्यक्त किया गया है। ये प्रभाव साँची होते हुए अमरावती तक जा पहुंचे (दूसरी से चौथी शताब्दी ईस्वी)। किन्तु सभी स्थानों पर जिस कला में इन प्रभावों का परिपाक हुआ उसकी आत्मा और शैली शत-प्रतिशत मौलिक एवं भारतीय थी। मौर्यकाल में पर्सिपोलिस के स्तम्भों अष्टा परगहों पशुओं की मूर्तियों तथा सजावट के नमूनों को भारतीय शिल्पियों और मूर्तिकारों की कल्पनाशक्ति ने एक नया रूप दे दिया था। अशोक के स्तम्भ इस काल की भारतीय वास्तुकला की कुछ श्रेष्ठतम उपलब्धियां हैं। इसी प्रकार, बाद के समय में यूनानी एशिया के विस्तीर्ण प्रभावों का पूर्ण परिपाक एक स्पष्ट प्राणवान भारतीय शैली में हुआ। आयातित कला प्राणहीन और बाह्यरूपमात्र बन जाती है मौलिक कला सदैव प्राणवान कोमल और भावप्रवण होती है और भारत में कला अपनी लय आकार और संरचना द्वारा समग्र जीवन की शान्ति और समांगिता को उजागर करती है। अनेक शतकों तक बुद्ध (भारतीय ऋषि और यूनानी अपालो का मिश्रण) मायादेवी (अर्धभारतीय और अर्धयूनानी गृहिणी) कुबेर (अर्धरोमक और अर्धभारतीय अथवा शककुलीन व्यक्ति) और उसकी संगिनी हारीति (प्रसन्नमना रोमक माता) की मूर्तियां बनती रहीं तथा यूनानी रथ और वस्त्र पर्सियस और ऐकानामियाई दृश्य को अंकित किया जाता रहा किन्तु कुछ ही समय के भीतर भारतीय धार्मिक कला की प्रत्यक्ष और शक्तिशाली अभिव्यक्ति ने गांधार हेलेनवाद को नीचे दबा दिया।

शक-कुषाण राजाओं कनिष्क वेम कडफ़ीसेज और चष्टन की मथुरा की मूर्तियां पहली शताब्दी ईस्वी के अन्तिम चतुर्थांश की हैं। सभी मूर्तियों की गठन संश्लिष्ट है व्यक्ति अकड़कर खड़े हैं और उनके पोज़ में तनिक भी लचक नहीं है। वस्त्रों का अंकन कोणीय है जिससे पता चलता है ये कृतियां हेलेनीय नहीं शक हैं। कुषाण सम्राटों और मंडलेश्वरों ने रोम और पार्थिया के निवासियों की देवताओं के समान पूजे जानेवाले सम्राटों की मूर्ति निर्मित करने की प्रथा को अपना लिया था। मूर्तियों के आसन के कड़ेपन और उद्दण्डता से सुस्पष्ट मानव को देवतुल्य मानने की यह प्रथा पूर्णतः अभारतीय है। किन्तु इन मूर्तियों के भारी वस्त्रों जूतों और कपड़ों की सजावटी किनारियों पर ईरानी-शक प्रभाव है। फिर भी चपटे रैखिक और कोणीय रचना-विधान की शक-परम्परा का बाद के समय में बुद्ध-मूर्तिकला में भली भांति परिपाक हो गया। बुद्ध-मूर्तिकला में रैखिकता और कोणीयता का पूरा लाभ उठाया गया। तथागत के ध्यानलीन आसन की सुपरिचित त्रिकोणीय रचना में इस शक-परम्परा का भारतीय रूप द्रष्टव्य है।

गंधार स्कूल की कला पहली शताब्दी ईसापूर्व के मध्य से पांचवीं शताब्दी ईस्वी तक अत्यन्त उन्नत और फलवती थी किन्तु आश्चर्य है कि भारतीय कला के विकास म

१ पौराणिक जन्तु, जिनका कमर से नीचे का भाग घोड़े तथा ऊपरी भाग मनुष्य का माना जाता था।
२ एक काल्पनिक जन्तु, जिसका शरीर और पंख शेर के समान तथा चोंच और टांगें बाज पक्षी के समान माना जाता है।

गांधार हेलनवाद का प्रभाव सीधे यूनानी-बैक्ट्रियाई और पार्थियाई शासकों के समय में नहीं वरन् उसके बाद यूनानियों के चरम चिह्नों पर चलनेवाले शकों और कुषाणों के काल में हुआ। कला का यह चरण एक नवीन और अद्वितीय कलात्मक सृष्टि के युग में पहुंचने ही वाला था कि हूणों का आक्रमण हुआ और इसे एक गहरा आघात लगा।

संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव

इस युग में भारत की भूमि पर संस्कृतियों का अभूतपूर्व संगम हो रहा था। इसीलिए प्रश्न किया जा सकता है—यूनानी विज्ञान और दर्शन तथा फारसीधर्म का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा? विख्यात है कि मौर्य-सम्राट् ने सल्यूकस के सामने अन्य वस्तुओं के साथ एक यूनानी विद्वान की मांग पेश की थी जो पूरी नहीं हुई। भारत में ब्राह्मणदर्शन परिपक्व और प्रायः सुव्यवस्थित हो चुका था और धर्मों तक का प्रभाव नहीं पड़ पाता था। समकालीन यूनान का निःस्पृह साम्यवाद भारतीय दार्शनिकों और विद्वानों के लिए इतना विलक्षण नहीं था कि वे प्रभावित होते। इसके विपरीत पता चलता है कि ४ ईसापूर्व से पहले एक भारतीय दार्शनिक ने सुकरात से भेंट की थी। यदि यह बात सत्य है तो उपनिषदों के परमविज्ञानवाद ने प्लेटो को अवश्य प्रभावित किया होगा। इससे भी अधिक संभाव्य है पाइथागोरस के विज्ञान और दर्शन पर सांख्य दर्शन का प्रभाव। इतना ही संभाव्य है अफलातूनियों और नवअफलातूनियों के 'लोगोस' सिद्धान्त पर वैदिक 'वाक्' का प्रभाव। फिर भी ज्योतिष के लिए भारत यूनान के प्रति आभारी है। भारत ने इस देन के लिए यवनों के प्रति अपना आभार उत्साहपूर्ण और स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है जैसाकि 'गार्गी-संहिता' के सुप्रसिद्ध अंश से स्पष्ट है 'यवन वास्तव में बर्बर हैं किन्तु ज्योतिष का उद्भव उनके यहां हुआ और इसके लिए उनका सम्मान देवताओं के समान करना चाहिए।' ज्योतिष के पांच भारतीय ग्रंथों में से दो—'रोमक सिद्धान्त' और 'पौलिश सिद्धान्त' (जिसका नामकरण सिकन्दरिया के पॉल जो लगभग ३७० ईस्वी में जीवित थे के नाम पर हुआ था)—की रचना पश्चिम के आधार पर हुई थी।

पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेशों में बौद्धधर्म-प्रचारकों को भली प्रकार पहचाना जाता था। वे सिकन्दरिया में थराप्यूटे (थेरापुत्र) और फिलिस्तीन में एसीन्स कहलाते थे। फिर भी क्लीमेंट पहला यूनानी दार्शनिक था जिसने बुद्ध का नाम लिया। पश्चिमी एशिया के इन्हीं बौद्ध भिक्षुओं से ईसाईधर्म को कुछ आधारभूत विचार और कथाएं मिली थीं। अनेक ईसाई इतिहासकारों का मत है कि परम्परावादी ईसाईधर्म ने कठोर ब्रह्मचर्य, अवशेषपूजा, जप करने की माला का प्रयोग तथा अन्य संस्कार और धार्मिक कृत्य बौद्धधर्म से ग्रहण किए थे। मिस्र के मेम्फिस में भारतीय मूर्तियों की प्राप्ति से पता चलता है कि टालमी-वंश के शासनकाल में बौद्धधर्म और बौद्ध त्योहार सुविख्यात थे। इसके अतिरिक्त पोदेट के अभिलेख को भारतीय शासक द्वारा खुदवाया हुआ कहा जाता है। एक सीरियाई कथा के अनुसार कृष्ण वासुदेव-सम्प्रदाय सुपरिचित स्थल-मार्ग से सीरिया पहुंचा था और दूसरी शताब्दी ईसापूर्व तक में प्रचलित था।

इसी प्रकार ईरान के सीस्तान प्रदेश में हेलमन्द नदी की घाटी में एक बौद्धमठ के अवशेष पाए गए हैं। एक अज्ञात किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि दूसरी शताब्दी ईस्वी में पार्थिया के एक राजा ने अपने सिंहासन का परित्याग करके बौद्ध भिक्षु का जीवन अपना लिया था। सीस्तान, बैक्ट्रिया और अफगानिस्तान में बौद्धमठों के अनेक अवशेषों को सुरक्षित रक्खा गया है। विशेषरूप से सीस्तान में कम से कम १०० ईसापूर्व के अभिलेखों के रूप में लिखित प्रमाण पाए गए हैं। एफ० डब्ल्यू० टॉमस का कथन है कि मध्य एशिया के प्रारम्भिक शकपर तुर्कों ने बौद्ध-साहित्य का विकास किया था। खोतिनयाना में कुषाणों और तोखारियाइयों का अपना बौद्ध-साहित्य ईसा सन् के प्रारम्भ से ही अवश्य रहा होगा। अशोक के धर्मप्रचारकों के भूमध्यसागरीय प्रदेशों में पहुँचने के बाद मध्य और पश्चिमी एशिया की जनता पर बुद्ध के नाम और सन्देश का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि पश्चिम के अनेक धार्मिक नेताओं ने अपने नाम बुद्ध रख लिए। उदाहरणतः आर्केलॉस (२७८ ईस्वी) के अनुसार टेरेबिन्थस ने स्वयं को दूसरा बुद्ध घोषित कर दिया था। स्वयं बुद्ध को एक ईसाई संत स्वीकार करके संत जोसाफट 'भारत का राजकुमार' का नाम प्रदान किया गया है। बौद्धधर्म ने ही मानिकीवाद के सिद्धान्तों को रूप दिया। इसके संस्थापक मनि ने जो तीसरी शताब्दी ईस्वी में जीवित थे अपना नाम 'तथागत' रखा और बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व के प्रति अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन किया। इसके विपरीत ✓मानिकीवाद और ईसाईधर्म दोनों के पुनर्जन्म सिद्धान्त ने वैष्णवधर्म और महायान बौद्धधर्म के अनेक-अवतार सिद्धान्त को सम्भवतः प्रभावित किया होगा।✓

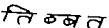
अपनी सीमाओं के भीतर भारत यवनों, शकों तथा अन्य विदेशियों को अपनी धर्मसंस्था के स्थायी तत्त्वों के रूप में सम्मिलित करता जा रहा था और उन्हें अनेक आस्तिक धर्म प्रदान कर रहा था। ईसाईधर्म भूमध्यसागरीय प्रदेश का एक नया धर्म था और कठिनता से एक स्थानीय सम्प्रदाय का दर्जा पा सका था किन्तु दूसरी शताब्दी ईस्वी के अन्त तक उसके कई गिरजे दक्षिणी भारत में स्थापित हो गए थे। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण ✓थी सूर्यदेवता की पूजा जिसे शक-पार्थियाई युग में पारसी विशिष्टरूप में अपने साथ भारत लाए थे। दूसरी शताब्दी ईसापूर्व के भाजा शिल्पों में दिखलाया गया है कि सूर्य दो परिचारिकाओं के साथ चार घोड़ों वाले एक रथ को हाँक रहे हैं और रथ दो नग्न राक्षसों पर चल रहा है। पारसी धर्म की मिथ-सम्बन्धी पौराणिक कथा में ये राक्षस अन्धकार की दुष्टात्माएं हैं। घोड़ों पर सवार आकृतियां सूर्य के अनुचर विदेशी हैं उनकी जीनें ईरानी हैं। सम्भव है कि सूर्य यहाँ विश्व-शासक बुद्ध हैं और यह आध्यात्मिक चक्रवर्ती के भारतीय विचार और 'फार्रेनह' (प्रकाश और जीवन की आत्मा) के पारसी विचार के सम्मिश्रण को व्यक्त करता है। मथुरा-संग्रहालय में सूर्यदेवता को चार घोड़ों वाले रथ पर सावधान बैठे स्थूलकाय-आकृति के रूप में दिखलाया गया है। वह कपड़े पहने हुए है और उसके कंधों पर ईरानी शैली के अनुसार छोटे-छोटे पंख लगे हैं। मूर्ति लगभग दूसरी शताब्दी ईस्वी में निर्मित हुई थी। 'भविष्यपुराण' में सूर्यपूजा को जिसका आगमन 'मगी' पुजारियों के साथ हुआ था निश्चितरूप से कुछ पारसी धर्म कर्मों के साथ सम्बन्धित माना गया है, और लिखा है कि कृष्ण के पुत्र साम्ब ने इस प्रकार

को सूर्योपासना का भारत में प्रचार किया था। पुराणों में सूर्योपासना के सर्वप्रथम और सर्वाधिक पवित्र स्थान के रूप में मूलस्थान अथवा मुलतान का नाम लिया गया है। यही वह क्षेत्र था जो बाद में शकों के अधीन हुआ। राय चौधरी महोदय ने टालेमी के कस्पीरिओई (काश्यपपुर) को मुल्तान बताया है। भारतीय-शकयुग के बाद से सूर्योपासना ने परवर्ती हिन्दूधर्म में अपना एक अप्रख्यात किन्तु सुनिश्चित स्थान बना लिया है।

भारत पार्थिया, ईरान मिस्र और रोम एक भौतिक बन्धन में आबद्ध थे मानो वे एक ही सांस्कृतिक संसार के अंग हों। भारत ने शताब्दियों के दौरान ईरानी शासन व्यवस्था के तत्त्वों हेलेनीय कला प्रतीकों अरामिया की भाषा तथा उससे व्युत्पन्न खरोष्ठी ईरानी और यूनानी तथा यूनानी रोमक सिक्कों की शैली और यूनानी ज्योतिष के सिद्धान्तों को चुनकर स्वीकार किया और अपने अनुसार ढाला। दूसरी ओर भारत का धर्म दर्शन और जीवन-पद्धति तक्षशिला पुष्कलावती बारबरा और बैरीगाजा से स्थल या जल मार्गों द्वारा भूमध्यसागरीय प्रदेश पहुँचे। कारण स्पष्ट है। प्राचीन भारतीयों में धर्मप्रचारकों का उत्साह था। इस उत्साह को सहारा और बढ़ावा मिला पश्चिम में रोम तथा पूर्व में स्याम चीन लंका और इण्डोनेशिया के साथ होनेवाले भारतीय व्यापार के लाभ से। और विद्वानों भिक्षुओं तथा व्यापारियों के साथ धीरे धीरे विदेशों में जाती रही कहानी कहने की कला। 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' में वर्णित भारत की अनेक प्राचीन लोककथाएं भूमध्यसागरीय प्रदेशों में पहुँच गई। वहां लीडिया के शासक क्रोएसस के दरबारी विख्यात ईसप ने उनका ग्रीक भाषा में अनुवाद किया। इन्हीं कहानियों का एक और अनुवाद जो बाबरियस द्वारा बताया जाता है तीसरी शताब्दी ईस्वी में निकला। दूसरी शताब्दी ईस्वी के एक यूनानी सुखान्त नाटक में जहाज डूब जाने पर एक स्त्री भारत के मलाबार तट पर आ पहुँचती है और वहां के स्थानीय निवासी नाटक में वहां की बोली में ही बात करते हैं। मानवता के रंग-बिरंगे इतिहास में एकाधिक बार ऐसे युग आए हैं जब अन्य सांस्कृतिक सम्बन्ध और कभी-कभी ज्ञान खूब तेजी से बढ़े हैं। रोम में, आगस्टस और नीरो के बीच का शाही युग और भारत में विदेशी यूनानी-बैक्ट्रियाई तथा शक आधिपत्य का युग भारत और पश्चिम दोनों में इसी प्रकार का सुविका-सनर काल था।

एशियाई पठारों पर बौद्ध धर्म का प्रसार तथा बौद्ध धर्म का द्वितीय पावन स्थल

२०० ईसापूर्व १००० ईसवी



तिब्बत

तकलामकान

भारत


प्राचीन व्यापार मार्ग


द्वितीय पावन स्थल

अध्याय ८

द्वितीय सुधार-युग

बौद्धधर्म का विश्वधर्म में रूपान्तर

महायान बौद्धधर्म का उदय

महाराज देवपुत्र कुमार कनिष्क (लगभग ७८–१०१ ईस्वी) के संरक्षण में जालन्धर अथवा कश्मीर के कुण्डलवन-विहार में आयोजित सामान्य बौद्ध-समिति का सम्मेलन एशियाई संस्कृति के इतिहास में एक अद्वितीय अवसर था। इस सम्मेलन में समस्त भारत के पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया था। कनिष्क ने इसका आयोजन बुद्ध के उपदेशों के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से किया था क्योंकि अनेक बौद्धसम्प्रदायों द्वारा उनकी अलग अलग व्याख्याएं की जा रही थीं। समिति ने बौद्ध उपदेशों और विचारों को सर्वास्तिवाद मत के अनुसार नियमित किया और बौद्धधर्म के विकास में महायान नामक एक नये रूप का प्रवर्तन किया। महायान क्रमशः आगामी पाँच शताब्दियों में मध्य एशिया चीन मंगोलिया जापान और फिलिपाइन द्वीपसमूह सहित दक्षिणपूर्वी एशिया में फैल गया। शब्द 'यान' का अर्थ है यात्रा, पथ अथवा जीवन-पद्धति और 'महायान' का शाब्दिक अर्थ है पथ अथवा महान् पथ अथवा बोधिसत्त्वों की यात्रा (बोधिसत्त्वयान)। बोधिसत्त्व पीड़ित मानवता की मुक्ति के लिए अपना बलिदान करते हैं। यह पथ श्रोताओं अथवा शिष्यों के पथ से भिन्न है जो अपनी व्यक्तिगत मुक्ति अथवा ज्ञानप्राप्ति के उपाय करते हैं। बौद्धसाहित्य में हीनयान अथवा तुच्छ छोटा पथ बहुत कम प्रयोग किया जाता है। हीनयान शब्द का प्रयोग चीनी विद्वानों और यात्रियों ने प्रचलित किया है। बौद्ध सिद्धांतों के विकास को भली प्रकार समझने के लिए आवश्यक है कि हम हीनयान शब्द को छोड़ कर और अधिक प्रचलित श्रावकयान तथा प्रत्येकबुद्धयान का प्रयोग करें जिनका प्रयोग संयुक्तरूप में अर्हत् के जीवन के सम्बन्ध में किया गया है। स्मरणीय है कि गन्धार में एक रिलीफ़ पैनेल (दूसरी से चौथी शताब्दी ईस्वी) है जिसमें बुद्ध को बकरागाड़ी पर दिखलाया गया है—यह हीनयान का चिह्न है।

विश्वधर्मों के रूप में बौद्ध और ईसाई धर्म

महासांघिकों ने अनश्वर बुद्ध के सिद्धान्त और बोधिसत्त्ववाद के गतिशील विचार का विकास किया। सर्वास्तिवादियों ने त्रिकाय-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। महासांघिकों और सर्वास्तिवादियों दोनों को महत्वपूर्ण स्थान तभी प्राप्त हो सका जब कुषाण

वसुमित्र ने इन नये विचारों को कुछ दशकों बाद महायान में सम्मिलित किया। यह वास्तव में सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय की, उन दिनों कश्मीर में जिसका खूब बोलबाला था, विजय थी। जिस समय बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी धर्म के रूप में विकसित करने के प्रयत्न चल रहे थे लगभग उसी समय एशिया के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में—जो अनेक जातियों के लोगों संस्कृतियों और धर्मों का एक अन्य संश्लेष था—एक *विश्वस्तर* धर्म के स्वरूप-निर्धारण के प्रयत्न चल रहे थे। ईसा का जन्म फिलिस्तीन में चौथी या पांचवीं शताब्दी ईसापूर्व में हुआ था और टाइबेरियस के शासनकाल में क्रूरतम ढंग से उनकी हत्या की गई। टारसस के पॉल ने ईसाईधर्म और यहूदीवाद में विभेद किया तथा एशिया माइनर ऐथेन्स कोरिन्थ और अन्ततः रोम में पहली शताब्दी ईस्वी में ईसाईधर्म का प्रचार किया। नीरो के शासनकाल में रोम के महान अग्निकाण्ड के पश्चात् ६७ ईस्वी के आसपास उन्हें भी मौत के घाट उतार दिया गया। विश्व इतिहास में यह एक विचित्र संयोग है कि महायान बौद्धधर्म को विश्वव्यापी रूप एक ही समय में प्राप्त हुआ तथा संसार भर के निवासियों की इनमें रुचि जागी। दोनों धर्मों ने प्रेम के सिद्धान्त पर जोर दिया। विश्व की तत्कालीन आवश्यकता भी यही थी। हां दोनों के ऐसा करने के कारण अलग थे। महायान बौद्धधर्म ने अर्हत् के व्यक्तिगत मोक्ष के संकीर्ण हीनयान आदर्श के *विरोध में प्रेम का नारा उठाया तथा ईसाईधर्म ने* एसेनोवादियों के *संसार-परित्याग के* सिद्धान्त के विरोध में। अनेक बाधाओं के कारण आगामी दो शताब्दियों तक ईसाईधर्म एक प्रकार से मिट-सा गया और इसी समय में महायान बौद्धधर्म एशिया के एक के बाद दूसरे देश में फैलता गया। मानवता के इतिहास में महायान बौद्धधर्म के प्रसार से अधिक सफल और विस्तृत मानवतावादी आन्दोलन दूसरा नहीं है। महायान के धर्म प्रचार-मिशन ने मध्य एशिया के सर्द पठारों और जलते हुए रेगिस्तानों तथा पूर्व के खतरनाक समुद्रों को पार करते हुए सभ्यता का जो सर्वांगीण शान्तिपूर्ण विकास किया था वैसा ईसाईधर्म तक के प्रसार से भी सम्भव नहीं हो सका।

कनिष्क और कुषाण

कनिष्क मध्य एशिया की खानाबदोश जाति येह ची की 'कुषाण' उपजाति का था। *लगभग १६५ ईसापूर्व में हूणों से त्रस्त होकर कुषाण बक्ट्रिया और गंधार पहुंचे तथा* उन्होंने उत्तरी और मध्य भारत के विशाल भू भाग जीत लिए। अपने पूर्वकालिकों अथवा समकालिकों यवनों और शकों की भांति उनका भी भारतीयकरण हो गया। कडफाइसेस द्वितीय ने शैवधर्म स्वीकार कर लिया और अपने सिक्कों पर अपना नाम संरक्षक माहेश्वर खुदवाया। उसका पिता कडफाइसेस प्रथम बौद्ध था। कनिष्क (संस्कृत में 'कनिष्ठ') भी बौद्ध था और लगभग ७८–१ १ ईस्वी तक उसने राज्य किया। उसके साम्राज्य का विस्तार काबुल से पूर्वी उत्तरप्रदेश और कश्मीर से विदिशा तक था। उसने अपनी राजधानी पुरुषपुर में बुद्ध के कुछ स्मारकचिह्नों की स्थापना के लिए १०० फुट तक ऊंचा एक सुन्दर स्तम्भ बनवाया। बाद की शताब्दियों में ह्वेन सांग से लेकर अलबरूनी तक विदेशी यात्री इस स्तम्भ की प्रशंसा करते रहे। उसके दरबार में अश्वघोष चरक

नागार्जुन, आर्यदेव, कुमारलब्ध और वसुमित्र जैसे विद्वान थे जिन्होंने ज्ञान के अपने अपने क्षेत्र में अमरता प्राप्त की। सम्राट् की उदारता उसके अनेक प्रकार के सिक्कों से स्पष्ट है। उसके सिक्कों पर हिन्दू, यूनानी, सुमेरियाई और पारसी देवताओं के चित्र हैं जो उसके विशाल साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में पूजे जाते थे। एक विवरण के अनुसार, कनिष्क ने ९० ईस्वी में एक सेना पामीर के पार तारिम नदी की घाटी में भेजी ताकि चीनी सेनापति पान चाओ को उस क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोका जा सके। इस युद्ध में कनिष्क की बुरी तरह पराजय हुई। फिर भी कुछ समय बाद ही पान का नामोनिशान नहीं रह गया। और लगता है कि तारिम नदी की घाटी के अधिकांश भाग पर कनिष्क का आधिपत्य स्थापित हो गया। इस भूभाग में रेशमी कारवां-मार्ग पर पड़नेवाले खोतान, यारकन्द और काशगर नामक नगर भी थे। उसके हाथ में अनेक लोग पड़ गए, जिन्हें उसने "शरीरबंधकों" के रूप में अपने मुख्य नगरों कापिशी और पुरुषपुर में रोक लिया। चीनी तुर्किस्तान में कुछ समय पूर्व खरोष्ठि के सरकारी कागजात मिले हैं जो वहां कुषाणों के शासन का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। रोमनों और पार्थियाइयों के संघर्षों और हूणों के दक्षिणागमन की लम्बी शताब्दियों के पश्चात् कुषाण-साम्राज्य पहली बार मध्य-एशियाई कारवां मार्गों पर पूर्ण सुरक्षा कायम करने में समर्थ हुआ। इस काल में भारत और चीन के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित होने और मध्य तथा पूर्वी एशिया में महायान के प्रसार का कारण कारवां-मार्गों की सुरक्षा ही था।

प्राचीन संस्कृत महाकाव्य और नाटक के सर्जक अश्वघोष

बुद्धवचन-सम्मेलन की अध्यक्षता सुविख्यात बौद्ध बुद्धपति वसुमित्र ने की थी और शायद अश्वघोष (जिन्हें उपाध्यक्ष चुना गया) वसुमित्र और नागार्जुन जैसे प्रसिद्ध विद्वानों और दार्शनिकों ने उसमें भाग लिया था। बौद्ध-संसार में अश्वघोष और नागार्जुन के नाम विख्यात हैं। अश्वघोष एक असाधारण बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनकी विचारक्षमता और सर्जनात्मक शक्ति असाधारण थी। विंटरनित्ज़ का मत है कि वे "कालिदास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पूर्वज तथा महाकाव्य, नाटक और गीतों के रचयिता थे। निस्सन्देह वे भारत के प्रथम श्रेष्ठतम कवि थे और शायद उन्होंने प्रथम श्रेष्ठ संस्कृतकाव्यों की रचना की। उनकी कृतियों से आभास हो जाता है कि भविष्य में काव्य और नाटक की श्रेष्ठ उपलब्धियां होंगी। वे महान दार्शनिक और बहुभाषाविद् भी थे। वे शायद अयोध्या या पाटलिपुत्र के निवासी थे और कनिष्क के दरबार में उन्हें जबरदस्ती से लाया गया था। एक तिब्बती विवरण है कि वे श्रेष्ठ संगीतकार थे और उन्होंने 'रत्नाकर' नामक वाद्ययंत्र का आविष्कार किया था। इसी विवरण के अनुसार, वे गायक-वादिकाओं की एक मंडली सहित भारत भ्रमण किया करते थे मानव जीवन की निस्सारता से सम्बन्धित उनके उपदेशों-भरे गीतों से विशाल जनसमुदाय चित्त-विभोर हो जाता था और बौद्धधर्म स्वीकार कर लेता था। ई-त्सिंग (६७१-६९५ ईस्वी) ने चौथे युग के नागार्जुन देव (आर्यदेव) और अश्वघोष की बेहद प्रशंसा की है जो भारत में देवताओं और महापुरुषों से अधिक पूजे जाते हैं। ई-त्सिंग के अनुसार, अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और

'सूत्रालंकार' की रचना की थी तथा अनेक गीत लिखे थे जो बौद्धमठों में गाये जाते थे। बुद्धचरित के बारे में उसने लिखा है कि "भारत के पाँचों विभागों में और दक्षिणी समुद्र के देशों में बहुसंख्यक लोग इसे पढ़ते या गाते हैं।"

बुद्ध-भागवतधर्म का कवि अश्वघोष

'बुद्धचरित' बुद्ध के जीवन पर प्रथम और विशिष्टतम महाकाव्य है। इसमें वाल्मीकि का ढंग अपनाया गया है किन्तु इसका कलात्मक विन्यास निर्दोष काव्य-शैली सजीवता और अलंकरणरहित संगीतात्मकता रामायण से श्रेष्ठतर है। नवीन सम्प्रदाय महायान की विशिष्टता भी बुद्ध के अतिमानवीय व्यक्तित्व के प्रति गंभीर व्यक्तिगत प्रेम और श्रद्धा तथा बुद्धचरित में इन्हीं का श्रेष्ठ चित्रण किया गया है। महाभारत और भगवद्गीता में श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किया गया है उसी प्रकार बुद्धचरित में अश्वघोष ने गौतम को 'धर्म-पुरुष' माना है। बुद्धचरित में तथागत गौतम महायान जिसका निर्माण सभी बुद्धों ने सभी जीवधारियों के कल्याण के उद्देश्य से किया था प्राप्त करने में सफल होते हैं (१९ ७१, ८१)। तथागत को महान परोपकारी पिता के समान दयालु और शरणागतों के शोकहर्ता (शोकस्य हर्ता शरणागतानाम्) माना गया है तथा उनके विशाल व्यक्तित्व के सम्मुख शरणागति और श्रद्धा निवेदित किए गए हैं। बुद्धचरित में ही नहीं वरन् अश्वघोष की अन्य कृतियों 'सूत्रालंकार' और 'महायानश्रद्धोत्पाद' में भी महायान के विशिष्ट स्वर 'भक्ति' का अत्यन्त काव्यात्मक और सजीव वर्णन किया गया है।

'सौन्दरनन्द' में अश्वघोष ने स्वयं को अर्हत् नन्द के रूप में प्रस्तुत किया है। सौन्दर्यमयी पत्नी सुन्दरी के अर्हत् नन्द द्वारा परित्याग के प्रसंग को जिस अद्भुत मृदुता और लालित्य के साथ चित्रित किया है वह बुद्धचरित तक में नहीं दीखता। भिक्षु होते हुए भी अश्वघोष को एक सच्चे भारतीय कवि की हैसियत से वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' का पूरा पूरा ज्ञान था। "अपनी माया प्रदर्शन चलने के ढंग सौन्दर्य मुस्कानों कृत्रिम क्रोध-प्रदर्शन मोहजाल और मीठी-मीठी बातों से स्त्रियाँ ईश्वरीय और राक्षसी ऋषियों तक को अपने वश में कर लेती हैं।" अश्वघोष ने स्त्री-सौन्दर्य के अद्भुत वर्णन किये हैं।

> ततः कुमारः खलु गच्छतीति श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम्।
> दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुर्जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥
>
> (३ १३)

(तब कुमार जाते हैं यह यथार्थ वृत्तान्त सेवकों से सुनकर, स्त्रियाँ मान्यजनों से आज्ञा पाकर, अटारियों पर चढ़ गईं ताकि वे कुमार को देख सकें।)

> ताः स्रस्तकाञ्चीगुणविघ्निताश्च सुप्तप्रबुद्धाकुललोचनाश्च।
> वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृताः परीयुः ॥
>
> (३ १४)

(कुछ की धीमता के कारण करधनी सरकने से विघ्न हो रहा था कुछ के नयन तत्काल सोकर जागने से व्याकुल थे, कुछ ने वृत्तान्त सुनकर शीघ्र भूषण धारण किए और

कौतूहलवश वे सब मर्यादारहित एकत्र हो गईं।)

प्रासादसोपानतलप्रणादैः काञ्चीरवैर्नूपुरनिस्वनैश्च ।
वित्रासयन्त्यो गृहपक्षिसङ्घानन्योन्यवेगांश्च समाक्षिपन्त्यः ॥

(छत और सीढ़ियों पर पद-तल की ध्वनि से करधनियों के स्वर एवं नूपुरों की झंकार से घर के पालतू पक्षिसमूह को भयभीत करती हुई एवं एक-दूसरे के वेग को तिरस्कृत करती हुई वे वहाँ गईं।) (१ १५)

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि ।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥

(परस्पर संघर्ष से जिन स्त्रियों के कुंडल हिल रहे थे उनके मुखकमल वातायनों से बाहर निकले थे। वे ऐसे लग रहे थे मानो प्रासादों में कमल खिले हों।) (१ १९)

एक स्थान पर एक सोई हुई स्त्री का वर्णन है

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना ।
ऋजुषट्पदपङ्क्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥

(एक अन्य स्त्री हाथ में बाँसुरी लिए थी उसके स्तन पर से शुभ्र वस्त्र खिसक गया था वह सोती हुई ऐसी सुन्दर लग रही थी जैसे सीधी भ्रमरपंक्ति से सेवित कमलयुक्त कमल वाली जलफेन-सी उज्ज्वलता-से हँसती हुई नदी हो।) (५ ४९)

कवि अत्यन्त स्पष्ट और सरस शब्दों में करुण दृश्य उपस्थित करता है। "बड़ी लालसाओं के साथ पीड़ा सहते हुए जिससे मुझे अपने गर्भ में धारण किया था। उसका सारा प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हो गया है। वह क्यों माँ बनी? मैं क्यों उसका पुत्र हुआ?" और वास्तव यथार्थ के वर्णन में भी कवि की सरसता और कोमलता उसका साथ नहीं छोड़ती। गौतम भ्रमणार्थ बाहर निकलते हैं तो रास्ते में एक वृद्ध दिखाई पड़ता है। उसके बाल सफेद हो गए हैं कमर झुक गई है हाथ-पाँव काँप रहे हैं और वह एक लाठी के सहारे धीरे-धीरे रेंग रहा है। गौतम के प्रश्न के उत्तर में उसका सारथि अत्यन्त मनोरम शब्दों में बुढ़ापे के आक्रमण का वर्णन करता है। गौतम पूछते हैं कि विकृति है या प्राकृतिक परिस्थिति। सारथि उत्तर देता है। (१ २८) अर्थात् यह विकृति है या प्राकृतिक परिस्थिति। सारथि उत्तर देता है।

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनिर्निधनं रतीनाम् ।
नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम ययैष भग्नः ॥

(रूप को नष्ट करनेवाली बल का विनाश करनेवाली शोक की जननी आनन्द की नाश स्मृतिविनाशिनी और इन्द्रियों की शत्रु यह जरा है इसी से यह टूट गया है।) (१ ३०)

पीतं ह्यनेनापि पयः शिशुत्वे कालेन भूयः परिसृप्तमुर्व्याम् ।
क्रमेण भूत्वा च युवा वपुष्मान् क्रमेण तेनैव जरामुपेतः ॥

(१ ३१)

(इसने भी बाल्यावस्था में दूध पिया था फिर समय आने पर पृथ्वी पर सरककर चलना सीखा था। क्रमशः स्वस्थ युवा होकर, यह उसी क्रम से बुद्धत्व को प्राप्त हुआ है।)

अश्वघोष की बुद्ध की परिभाषा उच्चकोटि की है "आँखें बन्द रहने पर भी केवल बुद्ध ही आँखें खुली रखनेवाले आदमियों से अधिक देख सकते हैं। आँखें होते हुए भी मनुष्य तब तक देख नहीं पाता जब तक उसके बुद्धि की आँखें न हों। महर्षि अथवा महाकारुणिक की पूजा में कवि का कौशल निर्विवादरूप से सर्वश्रेष्ठ है।

महायान-सिद्धान्त में बोधिसत्त्व-आदर्श का महत्त्व बहुत अधिक है। अश्वघोष ने इसका आकर्षक वर्णन इस प्रकार किया है "सर्वोच्च और अन्तिम अवस्था पर पहुँच जाने के पश्चात् भी जो व्यक्ति अपने परिश्रम को नजर-अन्दाज करते हुए अन्य लोगों को शान्ति प्राप्त करने के उपाय बतलाता है वही संसार में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति समझा जाता है। अतः अपना व्यक्तिगत काम को परे रखकर स्थायी महत्त्व के काम प्रारम्भ करो अपने साथियों का कल्याण करो और रात्रि के अन्धकार में भटकते प्राणियों को ज्ञान का प्रकाश दिखलाओ।"[7] ये शब्द 'सौन्दरनन्द' में नन्द से वार्तालाप के बीच बुद्ध के मुख से कहलाए गए हैं।

अश्वघोष ने 'सारिपुत्र प्रकरण' नामक एक नाटक की रचना भी की थी। इसमें उन्होंने बुद्ध के दो सर्वप्रसिद्ध शिष्यों—सारिपुत्र और मौद्गल्यायन—के बौद्धधर्म में दीक्षित होने का श्रेष्ठ प्रसंग उठाया है। आधुनिक विद्वानों और चीनी लेखकों का मत है कि अश्वघोष ने इन कृतियों के अतिरिक्त महायान के दो अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थों 'सूत्रालंकार' और 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' की रचना भी की थी। 'सूत्रालंकार' को कभी-कभी अश्वघोष के समकालीन किन्तु कम अवस्था के कुमारलात की रचना बताया जाता है। इस कृति के कुछ अंश ही मिलते हैं। 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' महायान बौद्धधर्म के आधारभूत विचारों को सुव्यवस्थित ढंग से रखने का प्रथम प्रयास है। इसके अतिरिक्त यह सभी महायानमतों के एक प्रमुख विद्वान का मन्तव्य तो है ही। यही कारण है कि सुजुकी इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं। बुद्ध के प्रेम को अश्वघोष ने एक काव्यात्मक रूप दिया था। अश्वघोष के इस प्रयास ने गांधार कला और महायान के परम सिद्धान्तों के फूलने-फलने में समुचित योग दिया।

गांधार कला पर अश्वघोष नागार्जुन और आर्यदेव का प्रभाव

महायान के उद्भव के साथ दो और प्रसिद्ध दार्शनिकों नागार्जुन और आर्यदेव के नाम सम्बद्ध हैं। ह्वेनसांग और आई-त्सिङ् दोनों ने उनका जिक्र किया है। ह्वेनसांग के अनुसार, अश्वघोष नागार्जुन आर्यदेव और कुमारलब्ध (कुमारलात) समकालीन थे। उसने इन चारों को 'संसार को प्रकाशित करनेवाले चार सूर्य' कहा था। नागार्जुन के जीवन और कार्यों के बारे में जिन्हें अक्सर गलती से प्रसिद्ध रसायनज्ञ और तान्त्रिक शिक्षक समझ लिया जाता है अभी कुछ निश्चित नहीं है। वे विदर्भ में जन्मे थे और ब्राह्मणशास्त्रों में पारंगत थे। उन्होंने ही 'शून्य' अथवा 'तथता' का सिद्धान्त अपने माध्यमिकशास्त्र' में प्रतिपादित किया था। इस सिद्धान्त के बल पर विश्व के दर्शन में उनका अमर स्थान है। इसी ग्रन्थ में उन्होंने दो सत्यों—परम्परागत सत्य और सर्वोच्च सत्य—में अंतर बताया। इस अंतर को जाने बिना शून्य अथवा निर्वाण दोनों में से किसीको भी

समझना सम्भव नहीं है। क्योंकि शून्य अथवा निर्वाण बुद्धिग्राह्य नहीं अपितु प्रज्ञाग्राह्य विषय है। नागार्जुन को 'पंचसाहस्त्रिकप्रज्ञापारमिता' 'दशभूमि विभाषा-शास्त्र' और 'सुहृल्लेख' का रचयिता भी कहा जाता है। आई-त्सिंग ने अंतिम कृति की बहुत प्रशंसा की है और लिखा है कि अपने समय में इसे भारत भर में खूब पढ़ा और याद किया जाता था। बाद में नागार्जुन नालंदा विश्वविद्यालय के प्रधान नियुक्त हुए। उनके बाद इस पद का भार ग्रहण किया उनके विख्यात शिष्य सिंहल में जन्मे आर्यदेव ने। उन्होंने कुछ समय तक प्रयाग में बौद्धधर्म का उपदेश दिया और त्रिवेणी-स्नान करनेवाले भोले व्यक्तियों के अंधविश्वास का साहसपूर्ण विरोध किया। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'चतुःशतक' है। विंटरनित्ज़ के अनुसार "जापान के सैनरोन सम्प्रदाय के धर्म का आधार आज भी नागार्जुनकृत 'माध्यमिकशास्त्र' तथा आर्यदेवकृत 'चतुःशतक' अथवा 'शतशास्त्र' और 'द्वादशनिकायशास्त्र' है।" अश्वघोष नागार्जुन और आर्यदेव महायान बौद्धधर्म के आरम्भिक संरक्षक थे। इस विख्यात त्रिमूर्ति ने अपने सभी ग्रन्थों में इस नए धर्म की प्रमुख मान्यता के रूप में बुद्ध की उपासना शरणागति तथा अन्य आध्यात्मिक सिद्धान्तों का सांग्राह प्रतिपादन किया है।

जिस काल में महाकारुणिक के जीवन और कार्य का विवरण 'बुद्धचरित' और 'ललितविस्तर' (दूसरी शताब्दी ईस्वी में कभी लिखित और ३०८ ईस्वी में चीनी भाषा में अनूदित) में किया जा रहा था लगभग उसी काल में गंधार की यूनानी-बौद्धकला अपने चरमबिन्दु पर थी। इस कला का जन्म ईसा के जन्म से कुछ ही पहले हुआ था तथा इसकी ने कनिष्क के शासनकाल तथा (दूसरी शताब्दी ईस्वी में) उसके बाद के कुछ समय में परिपक्वता प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार हम पाते हैं कि आरम्भिक महायान-ग्रन्थों की रचना और बुद्ध भागवतधर्म के उत्तरी उद्यान के पुष्पों गंधार और मथुरा में यूनानी बौद्धकला का चरमोत्कर्ष एक ही समय में हुआ। और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कला कारों की कलाकृतियों ने महायान-सम्प्रदाय के प्रसार में बहुत सहायता की। कनिष्क द्वारा पुरुषपुर में बुद्ध-अवशेषों के लिए निर्मित अत्यन्त आकर्षक स्तम्भ जो बाद की शताब्दियों में दर्शकों के आश्चर्य का कारण बना रहा इस बात का प्रमाण है कि गांधार कला ने महायान के प्रसार में अपना योग दिया था। महायान के प्रसार के दो कारण थे। प्रथम बढ़ती हुई बुद्ध के प्रति लोगों में बढ़ता हुआ विश्वास तथा द्वितीय बुद्ध शाक्यमुनि जिनके अन्य नाम बुद्धों और महाकारुणिकों—बोधिसत्वों—अवलोकितेश्वर, मंजुश्री वज्रपाणि और मैत्रेय की आकृतियों का मानव-रूप में मूर्ति अंकन।

महायान और सार्वभौम कुषाण

महायान के उद्भव और प्रसार को ठीक-ठीक उस समय की बौद्धिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर ही समझा जा सकता है। यह पृष्ठभूमि इस प्रकार थी। इससे भागवतधर्म तथा महासांघिक और सर्वास्तिवादी बौद्ध-सम्प्रदायों में आध्यात्मिक आन्दोलन चल रहे थे। लगभग चार शताब्दियों के दौरान यूनानियों पार्थियनों और शकों को भारतीयों में मिला लिया गया था। उन्होंने भारतीय धर्म को स्वीकार कर लिये थे विष्णु

पश्चिमी और मध्य एशिया के साथ अपने निकट सम्बन्ध कायम रखते थे। कुषाणों के नगर-व्यापारिक और सार्वभौम काल में यह विशेषरूप से सम्भव हो सका था। विदेशियों के इस विलयन के फलस्वरूप उत्तरी भारत में अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए थे। एक प्रारम्भिक महायान-ग्रन्थ 'अष्टसाहस्रिकप्रज्ञापारमिता' के अनुसार निष्कर्ष निकाला गया है कि महायान का जन्म दक्षिणापथ (दक्षिणभारत) में हुआ प्रसारपूर्व देशों में हुआ तथा वहां से यह उत्तर पहुंचा। और उत्तर में कापिश से मथुरा तक कुषाणों के शासन काल में 'चातुदिक संघ' के प्रसार के लिए स्थान और समय सर्वथा अनुकूल थे। विदेश जाने वाले भिक्षुओं, विद्वानों कलाकारों व व्यापारियों तथा स्वदेश आनेवाले यात्रियों व्यापारियों और तीर्थयात्रियों के साथ लगातार सम्पर्क स्थापित किया जा सकता था। यहीं विभिन्न जातियों लोगों और धर्मों के संघात के फलस्वरूप बौद्धधर्म क्रमशः एक विश्वधर्म का रूप ग्रहण कर सका।

कुषाण-साम्राज्य की सार्वभौम प्रकृति का प्रतीक है कनिष्क की राजसी पदवियों के चार प्रकार—भारत का 'महाराज' चीन का 'देवपुत्र' ईरान का 'षाओनानो षाओ' तथा हेलेनीय एशिया का 'कैसर' (सीजर)। कुषाण-सिक्कों पर अनेक धर्मों के बहुसंख्यक देवी-देवताओं के चित्र खुदे हैं *जिनसे स्पष्ट पता चलता है कि उस काल में कितने* विभिन्न धर्म फूल-फल रहे थे। इन सिक्कों पर ब्राह्मण बौद्ध, पारसी एलामी सुमेरियाई, यूनानी और रोमक सभी देवता अंकित हैं। सर्वधर्ममन्दिर में निम्नलिखित देवगण हैं सैबीलोनियाई देवगण—नन अथवा ननइया (उरुक की प्रमुख देवी भारतीय नना) और हीरो (सीरिया की प्रमुख देवी हेरा) यूनानी और रोमक देवगण—समवबागो (मिनर्वा) अवमस्पो (अरेस) हेराकिलो (हेराक्लीज अथवा हरक्युलीज) हीलियोस (सूर्यदेव) सेलीन चन्द्रदेवी) और रायम (रोम) ईरानी देवगण—अवइषुमानो (मज्दा) ओरलाग्नो (वेरेथ्रघ्न) मिह्रो (मिथ्राज या मिथ्रा वैदिक मित्र सूर्य) मीरो (मिहिर अथवा सूर्यदेव) माओ (मह अथवा चन्द्रदेव) ओनिन्दो (वोराइन्टी) अम्दो (प्रातः अथवा अग्नि अग्नि देव) फार्रो (फार्र अग्निदेव) षाओरियोरो (शहरेवार) और अर्दोक्षो (अर्दिवहिस्त अथवा अशवहिस्त) हिन्दू देवगण—शिव (महेश्वर और नन्दी) आएशो (ईश) ओम्मो (उमा) ओरलम्नो (बृहद्रथ) मिथ्र (मित्र) ओरन (वरुण) ओआदो (वात अथवा वायु) अरदोस (यम) स्कन्दो कुमारो विजगो (स्कन्दकुमार विशाख) विजगो (विशाख) महासेनो (महासेना अथवा कार्तिकेय) और गणष (केवल नाम दिया गया है) और सबसे अन्त में बौद्ध देवगण—बोद्दो (बुद्ध) और शोकुमोबोउ सकमानो (शाक्य-बुद्ध शाक्यमुनि)। महायान बौद्धधर्म में प्रभावित होने से पूर्व अनेक अल्प-सभ्य विदेशियों को बौद्ध-अर्हतवाद से अधिक आकर्षक हिन्दूधर्म के अनेक आस्तिक सम्प्रदाय मालूम पड़े। ये सम्प्रदाय थे (पाणिनि और पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट) वासुदेव-कृष्ण अर्जुन शिव स्कन्द और विशाख तथा (मुल्तान और काश्मीर में) मिहिर अथवा आदित्य की पूजा।

वास्तव में सैद्धान्तिक विकास के साथ ही बौद्धधर्म का आकर्षण इतना अधिक हो सका। आध्यात्मिक दृष्टि से हीनयान के यथार्थवाद की तुलना में महायान का 'एक मस्तिष्क' का सिद्धान्त विश्वधर्म की स्थिति के अधिक अनुकूल था। सामाजिक दृष्टि से

अर्हत् के निषेधात्मक आत्मकेन्द्रित सीमित गुणों की तुलना में बोधिसत्व की स्वर्ग को छूती रहनेवाली पारमिताएं एक समृद्ध विस्तारशील अनेक विभिन्न तत्वों से निर्मित साम्राज्य की आवश्यकताओं को अधिक अच्छी तरह पूरा करती थीं। नैतिक दृष्टि से, महायान में आशा और विश्वास दिलाया गया था कि 'तुम स्वयं बुद्ध बन सकते हो' 'गंगा के बालुका-कणों के समान अगणित' सभी इन्द्रियग्राह्य प्राणी चाहे कितने ही निम्न प्रकार्मी और दुष्ट क्या न हों करुणा के नेता के समान महाकरुणा के बल पर बुद्ध बन सकते हैं और सार्वभौम निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं और महायान का यह सिद्धान्त कुषाण युग की उदारता आशावादिता तथा प्रगतिशीलता के सर्वथा अनुकूल था।

एक सामान्य आदिम धर्म का विश्वधर्म में सैद्धान्तिक रूपान्तर

हीनयान और महायान में अन्तर केवल इतना है कि दोनों में अलग-अलग बातों पर जोर दिया गया है। महायान के प्रमुख प्रकार पाली-निकायों में प्राप्त हैं, किन्तु उनमें परस्पर एक सम्पूर्ण युग और पृथक् सामाजिक व बौद्धिक वातावरण का अन्तर है। इलियट ने ठीक लिखा है "धर्म के इतिहास में ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि नये और पुराने मतों में इतना अलगाव हो किन्तु फिर भी दोनों अपने को एक ही धर्म-संस्थापक का उत्तराधिकारी बताएं।" हीनयान और हिन्दू भागवत धर्म के साथ महायान की तुलना करने पर कुछ अन्तर स्पष्ट दीखते हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं

(१) हीनयान में बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व गौतम शाक्यमुनि हैं। महायान में उनका स्वरूप आध्यात्मिक हो जाता है—शाश्वत और परम सभी दार्शनिक धर्मों अथवा आध्यात्मिक विचारों वाले व्यक्तियों द्वारा स्वीकार्य धर्मों में इस प्रकार का सुधार हो जाता है। यह सुधार ब्राह्मणधर्म बौद्धधर्म और ईसाईधर्म सभी में देखा गया है। ब्राह्मणधर्म में महायान के समानान्तर भागवत कृष्ण-वासुदेव-सम्प्रदाय का विकास है। पांडवों के मित्र और गुरु तथा वृष्णि जाति के नायक कृष्ण को एक आदर्श देवतुल्य व्यक्तित्व मान लिया गया है और वासुदेव विष्णु नामक आध्यात्मिक-धार्मिक देवता बना दिया गया है। बौद्धधर्म में आध्यात्मिक बुद्ध के विचार को विकसित करने में महायानिक सम्प्रदाय का बड़ा हाथ रहा।

(२) उपर्युक्त सैद्धान्तिक परिवर्तनों के साथ-साथ भक्ति करुणा और शरणागति पर जोर दिया गया है। ब्राह्मणधर्म में इसके समानान्तर विकास सम्पूर्ण पांचरात्र साहित्य और भगवद्गीता में मिल सकता है। इसके अनुसार किसी अन्य धर्म को मानना या स्वीकार करना आवश्यक नहीं है केवल कृष्ण की एकान्त भक्ति ही मुक्तिदायिनी है। कई शताब्दियों के दौरान जिन विरोधियों को भाव बनाया जाता रहा, उन्हें भारतीय दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों में अधिक सम्मान कृष्ण और बुद्ध भागवत धर्म की शरणागति में मिलता रहा है। 'भगवद्गीता' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' (इसकी रचना तीसरी शताब्दी ईस्वी में हुई थी और चीनी अनुवाद २६५–३१६ ईस्वी में हुआ था) क्रमशः कृष्ण और बुद्ध भागवत धर्म के धर्मग्रन्थ हैं और दोनों ही भक्ति तथा आध्यात्मिक विचारों से परिपूर्ण हैं। दोनों का मत है कि आध्यात्मिक जीवन में श्रद्धा का स्थान ज्ञान से पहले है। गीता

में लिखा है 'जो व्यक्ति श्रद्धावान्, धैर्यपूर्वक प्रयत्नशील और इन्द्रियजित् है उसे ज्ञानप्राप्ति होती है और वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है।' इसी प्रकार पुण्डरीक का मत है 'तर्क से सद्धर्म की प्राप्ति नहीं होती यह तर्क से परे है और केवल तथागत से इसे सीखा जा सकता है।' 'सद्धर्मपुण्डरीक' और 'महायानश्रद्धोत्पाद' जैसे महायानग्रन्थों पर, जिनसे चीन जापान और बर्मिनी एशिया के करोड़ों बौद्धों ने प्रेरणा ग्रहण की है भगवद्गीता का स्पष्ट प्रभाव है। ठीक उसीप्रकार, जैसे भागवतधर्म में विष्णु-पाद की पूजा से ही गंधार, अमरावती और बारोबोदुर में बुद्ध की पाद-पूजा का प्रचलन हुआ था।

(३) हीनयान से महायान को पृथक् करनेवाली एक अन्य बात है *त्रिकायसिद्धांत*। इसके अनुसार बुद्ध की तीन 'कायाएं' अथवा 'स्वरूप' हैं (अ) धर्मकाय जो अविभाजित और सभी बुद्धों में समानरूप से उपस्थित है। *यह परम पारलौकिक अथवा तथता है; (आ)* सम्भोगकाय जो विभिन्न बुद्धों के स्तरों के अनुसार बदलता है। यह ब्रह्म का अतिमानवीय शरीर है जो स्वर्गिक सत्तों देवताओं अथवा ईश्वर के समान आनन्द विवेक और प्रसिद्धि का रसास्वादन करता है (इ) निर्माणकाय अर्थात् बुद्ध के अवतार, प्रेम और सेवा करने वाले मानव बुद्ध। ये परमात्मा के मानव-शरीर हैं जितने अधिक स्पष्ट वे अपूर्व प्राणियों में दीख सकते हैं। त्रिकाय सिद्धान्त में भी हमें वैसी आध्यात्मिक स्थिति दिखलाई पड़ती है जैसी भागवतधर्म में। धर्मकाय का समतुल्य है ब्रह्म अद्रत शाश्वत और अवस्था रहित सम्भोगकाय का समतुल्य है ईश्वर और निर्माणकाय का समतुल्य है प्रत्येक मानव की आत्मा अथवा प्रत्येक मानव में प्रत्यक्ष अवतार। किन्तु सद्धर्मपुण्डरीक' में व्यक्त महायान-आस्तिकता में ज़ोर दिया गया है कि जिन त्रिकायों की सहायता से निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है वे केवल बाह्यरूप हैं। अर्थात् मानवमात्र की काया प्रत्येकबुद्ध की काया और बोधिसत्त्व की काया। बुद्ध की पारलौकिक अतिमानवीय महाकरुणा के बल पर ही 'गंगा की बालू के कणों के समान' अगणित प्राणी ज्ञान प्राप्त करके बुद्ध बन जाते हैं। महायान बौद्धधर्म के त्रिकाय-सिद्धान्त का उद्देश्य था—बुद्धत्व और सांसारिकता के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करना। और इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में शायद हिन्दू जैन ईसाई, नेस्टर, मज्दा और मानीकी सभी धर्मों का योगदान था और शायद सभी ने संसार के दुःखों से मुक्ति से सम्बन्धित धार्मिक उत्साह को बढ़ावा दिया है। इस विश्वास को भी *शायद सभी धर्मों ने स्वीकारा है कि बुद्ध और बोधिसत्त्वों की ईश्वरीय कृपा सारी* मानवता पर बरसती है। महायान के त्रिकाय-सिद्धान्त में पारलौकिकता अवतारवाद व ईश्वरीय कृपा के विचारों का बड़ी कुशलता से सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है। इसमें बोधिसत्त्व का परमात्मक विचार भी है कि वे मानवता के दुःखों और कष्टों का निवारण महाकरुणा के बल पर करते हैं और मानवता को परमात्मा की ओर अग्रसर करते हैं।

(४) *महायान में असंख्य बोधिसत्त्वों की कल्पना की गई है* और प्रत्येक बोधिसत्त्व ने सर्वव्यापी होने तथा सभी लौकिक प्राणियों के उद्धार का प्रण किया है। इसके विपरीत हीनयान के अनुसार बोधिसत्त्व केवल एक गौतम शाक्यमुनि हैं। महाकारुणिक बोधिसत्त्वों के पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, मंजुश्री भैषज्यराज तथा अन्य अवतारों ने और अनेक ग्रंथों में वर्णित जन्मकथाओं ने (जिनमें से एक ग्रन्थ है आर्यशूरकृत 'जातक-माला' जिसकी रचना

माकपक काव्यमय शैली में तीसरी शताब्दी ईस्वी में हुई थी) शताब्दियों तक एशियाई कला को प्रेरणा दी। 'सद्धर्मपुण्डरीक' के सुप्रसिद्ध पचीसवें अध्याय में बोधिसत्त्व अवलोकि तेश्वर का गुणगान किया गया है। इसमें लिखा है कि मानवता की सेवा के लिए उन्होंने बत्तीस शरीरों में प्रवेश किया था ताकि उनकी पूजा करके प्राणी गुणवान हो सकें। धर्म और कला दोनों के विकास के लिए इस सिद्धान्त के विकास का बड़ा महत्त्व था। महा सांघिक सम्प्रदाय ने प्रारम्भ में बोधिसत्त्व-यान शब्द का ही प्रयोग किया था जो बाद में बदलकर महायान हो गया। इस प्रकार विचारधारा का केन्द्र बुद्ध न रहकर बोधिसत्त्व हो गया। फलस्वरूप बौद्धकला के स्वर्णयुग का प्रारम्भ हुआ और सम्प्रदाय की परम्परा न उत्साहहीन प्रतिमा में गतिशील आध्यात्मिक एवं प्रतिप्रारम्भिक तत्त्व पैदा हुए।

(५) ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अवतार-सिद्धान्त का जन्म एकाधिक धर्मों हो चुका था किन्तु इसकी सबसे स्पष्ट प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति महायान में हो हुई। महा भारत और भगवद्गीता में भागवतधर्म के अवतारवाद का प्रतिपादन हुआ। दूसरी और पहली शताब्दी ईसापूर्व में व्यूह का पाँचरात्र सिद्धान्त प्रचलित था जिसके अनुसार पर मात्मा के तीन रूपों—वासुदेव संकर्षण और प्रद्युम्न—की पूजा की व्यवस्था थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि चेतना की अवस्थाओं के अनुसार ईश्वर के तीन या चार रूपों की पूजा के प्रति विशेषिया का जो यहाँ आकर भाव हो गए थे आकर्षण अधिक था। चार व्यूहों और कृष्ण-वासुदेव की पूजा लगभग पाँच या छः शताब्दी पुरानी है। फिर अध्यव स्थित अधार्मिक विश्व के कष्ट निवारण के लिए विष्णु के अवतारवाद का जन्म हुआ। पारसीधर्म में बेरेथ्रघ्न के जिन्हें कभी-कभी वृत्रघ्न या इन्द्र भी माना जाता है अवतारों का सिद्धान्त है। ईसाईधर्म में इस विचार का विकास हुआ कि ईसा का शरीर स्वर्गिक था जिसका अवतार हुआ था। कुषाण-साम्राज्य में और विशेषतः उसके उत्तर-पश्चिमी भाग में विभिन्न धर्मों और मतों के अनुयायी बहुसंख्यक विदेशी रहते थे। इसमें सन्देह नहीं है कि इस समय भारत तथा पश्चिम में प्रचलित अवतारवाद ने महायान बौद्धधर्म को अवश्य प्रभावित किया था। फिर आदिम अथवा नैसर्गिक बुद्ध के असंख्य अवतारों की जो उन्होंने संसार के कष्ट निवारणार्थ ग्रहण किए थे एक गंभीर सार्थक व्याख्या की। हीनयान में भी निश्चय ही बुद्ध के अन्य जन्मों का विचार उपस्थित है। बुद्ध रूपों की पूजा भी तीसरी शताब्दी ईसापूर्व के स्तूपों में की जाती थी। किन्तु भविष्य के बुद्धों और पुण्डरीक के मानवत्राण के प्रण का विचार केवल महायान का है। भागवत शैव और दैवी धर्मों में अनेकानेक अवतारों के सिद्धान्त तो अवश्य थे किन्तु उनमें महायान के महान अवतारवाद का लेशमात्र भी नहीं है। महायान के अनुसार गत वर्तमान और अनागत बुद्ध के अनेक अवतार एक कल्पना से परे रहस्यमय ढंग से विचरण करते हैं। बुद्ध कभी अज्ञानी प्राणी के रूप में कभी साधु-संन्यासी के रूप में कभी संसार के बीच और कभी निर्वाण की अवस्था में अवतरित होते हैं एक सत्य की धारणा करते हैं और एक ही स्थान पर सम्पूर्ण विश्व का उद्घाटन करते हैं। (अवतंसकसूत्र)।

(६) महायान में भिक्षु या अर्हत् के आदर्श पर नहीं अपितु सामान्य व्यक्ति अथवा बोधिसत्त्व के आदर्श पर जोर दिया गया है। महायान के अनुसार यह संसार एक अपाप

स्वर्ग है जहां बोधिसत्त्व अपने साथियों को जिनमें पापी दुराचारी और पतित भी शामिल हैं आध्यात्मिक ज्ञान स्वार्थरहित उपदेश और करुणा का पाठ पढ़ाते हैं। बुरी लालसाओं की समाप्ति के पश्चात् ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार 'निर्वाण ही संसार है और संसार ही निर्वाण'। 'तथता' में संसार और निर्वाण दोनों अपने-अपने सही काम करते हैं। हीनयान के अनुसार निर्वाण मृत्यु के पश्चात् प्राप्त एक निश्चित घटना है किन्तु महायान में शाश्वत अस्तित्व। पहले बौद्धधर्म में गृहत्याग और संन्यास पर जोर दिया जाता था अब समाज में रहनेवाले मानव के व्यावहारिक और परोपकारी जीवन पर जोर दिया जाने लगा कि मानव बोधिसत्त्वों की भांति महाकरुणा और अपने को भूलने का अभ्यास करे। नये सिद्धान्तों के अनुसार समाज का सम्बन्ध मनुष्य की लालसा और पीड़ा से नहीं वरन् निर्वाण से जोड़ा जाने लगा। समाज अर्थात् भौतिक सम्भाव्य बुद्धों और बोधिसत्त्वों की भूमि। संसार को अब भी नश्वर और मायावी समझा जाता था किन्तु मानव का नवीन लक्ष्य बन गया था अपने व्यक्तित्व का लोप और आत्म का मनात्म में विलयन। पीड़ा के अवरोध के निषेधात्मक उद्देश्य का स्थान आध्यात्मिक सौन्दर्य ने ले लिया तथा करुणा और परोपकार जैसे सामाजिक गुणों ने गम्भीर आध्यात्मिक आधार प्राप्त किया।

(७) सबसे बढ़कर, हीनयान के विपरीत महायान में सार्वभौम निर्वाण पर जोर दिया गया। इसका आधार था सार्वभौम मस्तिष्क का सिद्धान्त। इसका परिणाम हुआ एक अद्वितीय नैतिक आदर्श कि सभी जीवित प्राणियों के प्रति करुणा रहे। हीनयान और पारमि की सम्पूर्ण व्यवस्था का रुख नई पारमिताओं की ओर हो गया तथा उद्देश्य केवल संसार के दुःखों और कष्टों का निवारण नहीं वरन् एक विश्व-बन्धुत्व की स्थापना हो गया। इस दृष्टिकोण ने पहली शताब्दी ईस्वी से सातवीं शताब्दी ईस्वी तक विदेशियों—बैक्ट्रियाई यूनानियों ईरानियों कूचियों खोतानियों और चीनियों—को आकर्षित किए रखा। संसार के सर्वाधिक विलक्षण और गम्भीर धार्मिक ग्रन्थों में से एक है 'अवतंसकसूत्र'। इसमें लिखा है 'बोधिसत्त्व की महाकरुणा दस प्रकार से जागती है अशरण प्राणियों को देखकर, प्राणियों को कुमार्गों पर देखकर गरीब और अयोग्य देखकर, संसार के साथ लिप्त देखकर, बुरी आदतों में फंसे देखकर लालसाओं से बंधे देखकर, संसार-समुद्र में डूबते पाकर, असाध्य रोगों से पीड़ित देखकर भलाई करने का इच्छुक न पाकर और सभी बुद्धों के धर्म से बिलकुल अलग पाकर। महाकरुणा और करुणा से भरे हृदय को ही 'बुद्धप्रकृति' कहा गया है। करुणा तथागत है तथागत करुणा। मूल बौद्धधर्म अथवा हिन्दूधर्म में भावना की यह बहुलता न थी। महायान बौद्धधर्म में नई व्याख्या का विचार बिन्दु ही करुणा बन गया था। इसी विचार ने बौद्धधर्म को नया बल दिया जिसके कारण वह पर्वतों रेगिस्तानों और सागरों को पार करके सुदूर देशों और वहां के निवासियों को प्रभावित करने में समर्थ हो सका।

मध्य एशिया पर कुषाण-पुनर्जागरण का प्रभाव

कुषाण-साम्राज्य ने अपनी सत्ता उत्तरापथ में कम से कम तीन शताब्दियों तक कुजुल कदफाइसेज (१५–६५ ईस्वी) से लेकर वासुदेव और उसके उत्तराधिकारियों

(चौथी शताब्दी ईस्वी के मध्य) तक कायम रक्खी। अधिक सम्भावना इस बात की है कि उत्तरी और दक्षिणी दोनों कारवाँ-मार्ग उनके नियंत्रण में थे। दक्षिणी भाग तो निश्चित रूप से था। इन मार्गों के कारण मध्यएशिया चीन एशिया माइनर, मिस्र यूनान और रोम के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो सके थे। कुषाण-साम्राज्य में हेलेनीय सेमेटिक ईरानी और चीनी संस्कृतियों की धाराओं का स्वागत था तथा उनका परिपाक किया जाता था। अशोक के सम्राट् और मठा तथा पहले की शताब्दियों में यूनानी बैक्ट्रियाइयों की धार्मिक समदर्शिता के कारण कापिश गन्धार और काश्मीर में अनेक बौद्ध स्तूप और मठ स्थापित हो गए थे। कनिष्क ने जिसे स्मिथसाहब ने बौद्धधर्म में सद्य दीक्षित कहा है अवश्य ही अशोक का उदाहरण अपनाया होगा कि बौद्धधर्म का प्रचार साम्राज्य की सीमाओं से बाहर किया जाए। लगभग १६० ईसापूर्व में बौद्धधर्म पहली बार खोतान पहुंचा और लगभग ६५ ईस्वी में धर्मरत्न और कश्यप मातंग इसे चीन ले गए। चीन में ही उन्होंने पांच छोटे सूत्रों का अनुवाद किया। ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दियों में कूची के अनेक भिक्षु धर्मपरिवर्तन कराने चीन गए। उनमें से एक था धर्मरक्ष (२८४ ईस्वी)। वह चीन में तीस साल रहा और उसने २११ संस्कृत कृतियों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उस समय काश्मीर उत्तरभारत में बौद्धज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था और सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय का तो जन्म ही वहां हुआ था। इसके सबसे पुराने और प्रसिद्ध मठ जालन्धर और प्रवरपुर में थे। इन स्थानों में तथा काश्मीर के अन्य ज्ञानकेन्द्रों में कुछ खोतान काशगर और यारकन्द के विद्वान बौद्धधर्म का ज्ञान प्राप्त करने आया करते थे। शीघ्र ही खोतान में गोमती-विहार नामक एक महान मठ का निर्माण हुआ। यहां सम्पूर्ण मध्यएशिया और चीन के यात्री आया करते थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन कारवाँ-मार्गों के संगम पर स्थित बैक्ट्रियाना अथवा बलख में नव-संघाराम की स्थापना हुई। यह सब उस समय हुआ जब पूर्व में बौद्धज्ञान के केन्द्र नालंदा की स्थापना नहीं हुई थी। रोमन साम्राज्य ने दो शताब्दियों तक (४४ ईसापूर्व से १६७ ईस्वी तक) पश्चिम में शान्ति कायम रखी। इसीका समकालीन और इसीके समान विस्तृत था कुषाण साम्राज्य जिसका प्रसार उत्तर में हिन्दूकुश और तारिम नदी की घाटी से लेकर पूर्व में गंगा की घाटी तक था। इस विशाल भूभाग में जो उस समय विश्व की संस्कृतियों का अभिगमन-स्थान था शान्ति और समृद्धि स्थापित करने का श्रेय कुषाण-साम्राज्य को ही है।

कुषाणकाल भारतीय इतिहास के शान्तिपूर्ण समृद्धिशाली और गतिशील कालों में से एक है। इस काल की विशेषता थी सम्पूर्ण राजनीतिक बौद्धिक धार्मिक और कलात्मक सक्रियता। यह बौद्धिक पुनर्जागरण का काल था और इस जागरण के लिए उत्तरदायी थे अश्वघोष चरक नागार्जुन पार्श्व वसुमित्र संघरक्ष कुमारलात और [illegible] जैसे विद्वान। इस काल में सैकड़ों स्तूप निर्मित और मठ स्थापित हुए। इसी काल में पुरुषपुर का प्रसिद्ध स्तूप बना जिसका निर्माण यूनानी इंजीनियर अगेसिलास ने किया था। इसी काल में उत्तर के अनेक नगरों—कापिश पुष्कल, नगरहार, तक्षशिला और मथुरा—ने नया सौन्दर्य पाया और वहां समृद्धि तथा वैभव बढ़े। यह प्रभाव था पाश्चात्य संसार के साथ घनिष्ठ सम्पर्क का। बेग्राम (प्राचीन कापिश) से प्राप्त अनेक प्रकार के

सीरियाई कांच के बर्तनों और चीन के पालिशदार बक्सों की प्राप्ति तथा गन्धार की कुछ वारांगना जैसी स्त्रियों के केशविन्यास और फैशन रोमक प्रभाव के प्रमाण हैं। इसी काल में जनसाधारण में धार्मिक अभूतपूर्व चेतना आयी। अनेक प्रकार के देवताओं की पूजा की जाती थी। कुछ हैं—बोधिसत्त्व शिव कृष्ण-वासुदेव कार्तिकेय कुबेर और मिहिर। इसी युग में भारत की प्राकृत बोली तथा ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ तारिम की घाटी में पहुँचीं। इसी घाटी में शिव कुबेर और गणपति जैसे हिन्दू देवताओं की पूजा होती थी और बौद्धधर्म का प्रसार तो था ही। प्राकृत बोली दोनों लिपियाँ बौद्धधर्म और हिन्दू देवताओं की पूजा—इनके फलस्वरूप वहाँ के विभिन्न प्रकार के धर्मवर्बर कालाबदोश एक होत सके। उन्होंने भारतीय नाम अपनाए और साथ-साथ भारतीय शासनपद्धति भी। इसके अतिरिक्त वे एक विस्तृत कुच और तोखारी साहित्य के विकास में जुट गए इस साहित्य का आधार निश्चय ही संस्कृत था। यह राजनीतिक दूतों के आवागमन तथा कूटनीतिक सन्धियों का काल था। इसी काल में पार्थिया के राजकुमार लोकोत्तम ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया और बौद्धग्रंथों के संस्कृत अनुवाद किए। इसी युग में धर्मरत्न और कश्यप मातंग का पहला भारतीय मिशन चीन की राजधानी पहुँचा जहाँ के नवस्थापित 'श्वेत अश्व मठ' में अनेक चीनी प्रशासकों ने उनके उपदेश सुने। इसी कुषाण-काल में बौद्ध विद्वान और यात्री एक ओर काश्मीर, उड्डीयान कापिश और बामियान तथा दूसरी ओर खोतान कुच और काशगर आते-जाते थे। इस गमनागमन के फलस्वरूप तारिम घाटी का मार्गी-करण हो गया और बाद के दशकों में भारतीय संस्कृति का पूर्वी देशों में प्रसार इसी घाटी म होकर सम्भव हुआ। खोतान और कुच की भारतीय बस्तियों मन्दिरों और मठों ने पूर्वी एशिया में भारतीय सभ्यता के प्रसार का पथ प्रशस्त किया यद्यपि महायान-ग्रन्थों के प्रथम और सर्वश्रेष्ठ चीनी अनुवादक कुमारजीव (३८१ से ४१३ ईस्वी) का मिशन अभी प्रारम्भ नहीं हुआ था। कुषाण-सम्राट् वासुदेव द्वितीय ने चीन में अपना दूत २३ ईस्वी में भेजा था, इसके लगभग डेढ़ शताब्दी बाद ही कुमारजीव का मिशन प्रारम्भ हो सका। तीसरी शताब्दी ईस्वी के अन्त तक चीन में १८१ बौद्धमठ निर्मित हो चुके थे और ३७० भारतीय भिक्षु कामरत थे।

बौद्धधर्म की द्वितीय पवित्र भूमि

कापिश और गंधार में यूनानी-बैक्ट्रियाई लोगों का आगमन सर्वप्रथम दूसरी शताब्दी ईसापूर्व में हुआ था। एफ्थैलाइट हूणों का आक्रमण लगभग ४५० ईस्वी में हुआ था। दोनों के बीच का समय लगभग छः शताब्दियों का है। इस समय के दौरान इस क्षेत्र में अनेकानेक स्तूपों मन्दिरों और मठों का निर्माण हुआ तथा मठों में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ स्थापित की गईं। इस प्रकार यह क्षेत्र मगध में गौतम शाक्यमुनि की प्राचीन पवित्र भूमि की तुलना में एक द्वितीय बौद्ध पवित्र भूमि में परिवर्तित हो गया। अनेक पवित्र अवशेष गंगा की पुण्यभूमि से यहाँ आ पहुँचे और यहाँ स्तूपों में जिनका निर्माण राजाओं और प्रजा के स्वास्थ्य शान्ति और आदर के लिए हुआ था उन्हें रख दिया गया। अनेक कथाएं प्रचलित हुईं, जिनमें कहा गया कि बुद्ध स्वयं चमत्कार करते आ गए हैं।

अनेक उत्तर-पश्चिमी स्थानों को बोधिसत्वों की जीवन घटनाओं से सम्बन्धित मान लिया गया। गंधार और मथुरा में बुद्ध की सर्वप्रथम मूर्तियां बनीं। उत्तर-पश्चिम में वे पहले अपोलो जैसी थीं। उनका सौन्दर्य शिथिल और निस्तेज है। उनके सौन्दर्य का आदर्श और अंकन हेलेनीय और रोमक है। दूसरी ओर मथुरा में बुद्ध की मूर्तियों का अंकन प्राचीन संन्यासियों तथा पारखम यक्ष की मूर्तियों जैसा किया गया। इन सर्वश्रेष्ठ मूर्तियों में सौन्दर्य और स्निग्धता, कोमलता और सन्तुलन का अद्भुत सम्मिश्रण है। वास्तव में बुद्ध की मूर्ति के अंकन से ही मथुरा की मूर्तिकला के स्वर्णयुग का आरम्भ हुआ। गंधार और मथुरा के कारखानों में बुद्ध की सैकड़ों मूर्तियों तथा बोधिसत्व के जीवन की अनेक घटनाओं का अंकन किया गया। ये मूर्तियां जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धर्म-मूर्तियों का स्मरण दिलाती हैं स्तूपों और मठों में स्थापित की गईं। क्रमशः मथुरा की मूर्तियों की धर्मनिष्ठा और सन्तुलन ने गंधार की मूर्तियों के हेलेनीय तत्त्वों रूप और सज्जा का दमन किया। फिर भी हेलेनीय रूप ने सम्पूर्ण उत्तरभारत में बुद्ध की मूर्तियों को एक चीज प्रदान की। यह चीज थी—एक लगभग सर्वव्यापी पारदर्शी वस्त्र।

उत्तर-पश्चिम की गौथिक-बौद्धकला

कुछ दशकों के भीतर ही यह भारतीयकृत गांधार मूर्तिकला फूली फली और इसका ग्राउसेट के अनुसार, एक शानदार गौथिक काल प्रारम्भ हुआ। इस काल के केन्द्र विशेषतः प्राचीन नगरहार, हड्डा और तक्षशिला थे। तीसरी शताब्दी ईस्वी के पश्चात् काबुलघाटी की यह गौथिक-बौद्धकला खूब प्रचलित रही। यह कला एकमात्र दो धाराओं का प्रभाव है। प्रथम है यूनानी रोमक ईरानी और भारतीय परम्पराओं और शैलियों का अत्यन्त सफल मिश्रण तथा दूसरी है भावधारणा की आध्यात्मिक अभिव्यंजना। यह कला रोमक-सीरियाई और पार्थीय कला की समकालीन तथा काबुल और पंजाब की यूनानी रोमककला की उत्तराधिकारिणी थी। इसका प्रारम्भ एक नये आधार पर हुआ और इसने एक नये क्रम का सूत्रपात किया। फ्रांसीसी लेखक ने अत्यन्त उत्साहपूर्वक इसका वर्णन किया है, "किसी गंभीर और दाढ़ी वाले साधु के सिर को देखकर 'अमीन्स' के 'बो दियू' की याद आती है। 'बर्बरों' के सिर रीम्स के उत्तर-पश्चिम के मन्दिरों की याद दिलाते हैं। मार की सेना के कुछ सिर जिनका अंकन विलक्षण ढंग से हुआ है यूनानी कला के अनुरूप नहीं वरन् हमारे मन्दिरों के टेढ़े-मेढ़े 'कैरीकेचर' जैसे हैं और तेरहवीं शताब्दी के मजाकिए सिरों और पशुओं जैसे हैं। अन्य दाढ़ी वाले देवों के सिर किसी 'किंग हेरोड' के तुल्य हैं। चूने की बनी हुई मानुषों की छोटी मूर्तियों के मुख पर 'रीम्स' की तरह मजाकिया मुस्कान खेल पड़ती है। और एक बार फिर, वह लम्बी मूर्ति जो अपने वस्त्र के दामन में फूल लिए हुए है जिन्हें वह बुद्ध के पैरों पर चढ़ाएगी 'रीम्स' के एक फरिश्ते की मूर्ति जैसी मालूम पड़ती है और यूनानी रोमन देवताओं की किसी भी अवस्था से उसका मेल नहीं है।" हड्डा के बहुत साधु के सिर और 'अमीन्स' गिरजा के प्रसिद्ध 'बो दियू' के बीच तथा देवता के चूने के बने सिर (जो अब बोस्टन के 'म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स' में है) और चार्ट्रे की अनेक मूर्तियों के बीच समता का कारण पाना मुश्किल नहीं है। यूरोप की

गिरजों की मूर्तिकला के स्वर्णयुग और कुषाणयुग के बीच एक हज़ार साल का अन्तराल था लेकिन दोनों में कुछ समानताएं थीं। महायान बौद्धधर्म और ईसाईधर्म दोनों की आध्यात्मिक गतियों में ऊंची श्रेणी की एकता और सन्तुलन की मांग थी लेकिन दोनों जगहों में मानवीय सहृदयता पर जोर दिया गया तथा आन्तरिक शक्ति और तनाव को व्यक्त किया गया। इससे एक ताजी प्रभावान मानवीय शैली का आविर्भाव हुआ। गंधार और उत्तरी फ्रांस दोनों जगह मानव की आकृतियां विशेष ढंग से बनाई जाने लगी। इन आकृतियों में मानसिक अवस्थाओं के सूक्ष्म भावों को व्यक्त किया जाता था जिनमें से होकर बोधिसत्त्व अथवा ईसाई सन्त को गुजरता हुआ माना जाता था।

यूनानी रोमक कला की रूपाकार-सम्बन्धी परम्परा पर महायान अध्यात्म का वही असर हुआ और उसी प्रकार गॉथिक बने जिस प्रकार पश्चिम में लैटिन ईसाईधर्म का एक हज़ार साल पूर्व प्रभाव पड़ा था। यह 'मानव-मस्तिष्क के विचित्रतम कारनामों में से एक है। मानव की प्रखर बुद्धि का यह दीपक अभी जला ही था और बमियान कापिश व नगरहार होकर बर्फीले हिन्दुकुश के पार सैकड़ों भिक्षुओं और कलाकारा ने इसे मध्य एशिया और चीन में पहुंचाया ही था और मध्य एशिया व चीन की कला में और अधिक चमक पैदा हुई ही थी कि मूर्तिभंजक हूणों ने इसे बुझा दिया। पांचवीं शताब्दी ईस्वी के अन्तिम भाग में तोरमाण और उसके पुत्र मिहिरकुल ने भयंकर विनाश किया और यह विनाश विश्व की कला और संस्कृति के इतिहास की एक अत्यन्त दुखद घटना थी।

अध्याय ६

गुप्त-पुनर्जागरण का चरम उत्कर्ष और वैभव

शान्तिपूर्ण शताब्दियाँ

हम देख चुके हैं कि विश्व इतिहास की एक अवधि में एक ओर कुषाण-साम्राज्य ने कम से कम तीन शताब्दियों तक भारत और उसके उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेशों में शान्ति कायम रखी तो दूसरी ओर रोमक साम्राज्य ने पश्चिम में। और इस शान्ति ने ही धार्मिक बौद्धधर्म को विश्वव्यापी धर्म के रूप में विकसित किया। मौर्यों के आगे बढ़ने के बाद कुषाणों ने द्वार खोल दिए ताकि भारतीय सभ्यता उत्तरापथ से होकर पश्चिमी मध्य और पूर्वी एशिया में प्रसार पा सके। किन्तु आमू और काबुल नदियों के तटवर्ती भारत की सीमान्तों पर आक्रमण हो सकते थे। मध्य एशिया पर श्वेत हूणों का आधिपत्य ४०७ से ५५१ ईस्वी तक रहा। उन्होंने बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया (४२५ ईस्वी) और शाहंशाह बहराम गोर के हाथों हारने के बाद (४२८ ईस्वी) गंधार पर कब्जा कर लिया। शाहंशाह पेरोज पर असाधारण विजय प्राप्त करने के पश्चात् (४८४ ईस्वी) वे पूरी तरह स्वतन्त्र हो गए कि पंजाब से होकर हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर सकें। उनके आक्रमणों से कुषाण-साम्राज्य पूर्णत ध्वस्त हो गया। हिन्दुस्तान पर हूणों का आक्रमण अधिक से अधिक स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल (४५५–४६७ ईस्वी) में आरम्भ हो गया था। इस दौरान शकों का भारतीयकरण हो चुका था और अपने अनेक राज्यों के आधिपत्य में वे पश्चिमी भारत में पूरी तरह जम गए थे और उनकी शक्ति खूब बढ़ गई थी। यह भी संभव है कि इस काल में कुछ दूसरे विदेशी भी भारत के परिवर्तनशील वातावरण में आए हों। सासानी ऐसे ही विदेशी थे। लगभग ३६०–४०० ईस्वी में भारत के बृहत्तर शकस्थान पर उनका अधिकार रहा। इस भाग में सिंध काठियावाड़ गुजरात और मालवा शामिल थे। ४०० ईस्वी में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने इन पर पुनः अधिकार कर लिया। शापुर द्वितीय के समय (३१०–३७९ ईस्वी) का पहलवी भाषा में एक अभिलेख पर्सेपोलिस में मिला है। इसमें शकस्थान के सासानी सूबेदार को 'शकानशाह' तथा हिन्द (भारत) शकस्थान और तुखारिस्तान का 'दबिरान दबीर' कहा गया है। इसी सम्बन्ध में कालिदास का यह कथन महत्वपूर्ण है जब रघु ने पारान्त में स्थल-मार्ग द्वारा पश्चिम की ओर प्रयाण किया तो दाढ़ी वाले पारसीकों से मुठभेड़ हुई। यमुनापाणी के नागों ने उत्तरी सेना को भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की ओर भगा दिया। विदेशियों के इन खतरों के कारण भारतीय संस्कृति का उत्थान संभव न था। किन्तु जब मौर्य-साम्राज्य के लगभग पाँच

शताब्दियों बाद गुप्त-साम्राज्य का उदय गंगाघाटी में हुआ। इस साम्राज्य की राजधानी थी प्राचीन नगर पाटलीपुत्र।

३२० ईस्वी से ५१५ ईस्वी तक का समय गुप्त-साम्राज्य का स्वर्ण-युग था। यह साम्राज्य अरबसागर से बंगाल की खाड़ी तक फैला था। बाह्लीकस्थान (बल्ख) तक पश्चिमी और उत्तरपश्चिमी भारत के शक और कुषाण शासकों को भी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। *सीलोन और द्वीपान्तर भारत के 'समस्त द्वीपों' अथवा पूर्वीय समुद्रों के भारतीय उपनिवेशों* के राजाओं से भी राजस्व प्राप्त होता था। इसपर भी इतना शक्तिशाली साम्राज्य हूणों के आक्रमणों के सामने कुछ समय के लिए लड़खड़ा गया। स्कन्दगुप्त (४५५–४६७ ईस्वी) ने लगभग ४५६ ईस्वी में हूणों को पूरी तरह हराया। इस विजय की प्रशस्ति सोमदेवकृत 'कथासरित्सागर' में विक्रमादित्य की कहानी में गाई गई है। भितरी के स्तंभ अभिलेख में इस विजय का वर्णन सुन्दर काव्यात्मक शैली में किया गया है। गुप्त-साम्राज्य के सौभाग्य और वैभव की देवी के नाते स्कन्दगुप्त को उसके शत्रुओं ने हिला दिया था। किन्तु युद्ध के पश्चात् 'यह विजयश्री हमारी है' कहता हुआ अपने शत्रुओं को मारने के पश्चात् कृष्ण की भांति अपनी माता देवकी के पास पहुंचा जिसकी आंखों में प्रसन्नता के आंसू भर आये थे। स्कन्दगुप्त की विजय अद्वितीय थी। इससे केवल पांच वर्ष पहले रोमकों और गौथों ने चालोंस के युद्ध (४५१ ईस्वी) में दुर्दान्त हूणसेनापति अत्तिला को हराया था। अत्तिला की पराजय के कारण पश्चिम में रोमक साम्राज्य के पतन में पचीस वर्ष की देर और हुई (४७६ ईस्वी)। हूणों ने अपने साम्राज्य को—जिसका विस्तार फारस और खोतान से लेकर पंजाब और मालवा तक था—पुनर्गठित करने के बाद एक बार फिर मिहिरकुल नामक निरंकुश शासक के नेतृत्व में गंगाघाटी में प्रवेश करने का प्रयत्न किया। कई राजाओं ने मिलकर यशोधर्मन के नेतृत्व में हूणों के इस प्रयत्न को भी विफल कर दिया (५३३ ईस्वी)। हूण उत्तरी पंजाब में बस गये थे और भारतीय बन गए थे। उनके कुछ कबीले चित्रकूट और एरिकिण प्रदेश (मध्यप्रदेश में एरान) तक पहुंच गए थे। उन्होंने शैवधर्म स्वीकार कर लिया।

गुप्त-संस्कृति का स्वर्ण-युग

चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी के अन्त तक गुप्तवंश तथा हर्ष और उनके उत्तराधिकारियों के शासन की पांच शताब्दियों में जनता भारत में अत्यन्त सुख-समृद्धि पूर्वक रही। इन पांच सौ वर्षों की तुलना एथेन्स में पेरिक्लीज, रोम में आगस्टस और इंग्लैण्ड में एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल से की जा सकती है। इसी अवधि में छः ब्राह्मण दार्शनिक सिद्धान्तों का जन्म हुआ। इसी अवधि में कालिदास, भारवि, कुमारदास, दण्डी और विशाखदत्त के काव्य और नाटक रचे गए। महाकाव्यों और पुराणों के महान नवविधान, असंग, वसुबन्धु और दिङ्नाग के महायान अध्यात्म, आर्यभट्ट और वराहमिहिर के ज्योतिष, मथुरा, विदिशा, सारनाथ और नालन्दा की कला, तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशीला और वलभी के विश्वविद्यालयों, गंगा की पवित्र भूमिपर चीनी यात्रियों के आने व दक्षिण-पूर्वी एशिया में हिन्दूधर्म के प्रचार—इन सबका समय यही था। इसी युग

में श्रीलंका का राजदूत समुद्रगुप्त के दरबार में (लगभग ३६० ईस्वी में) आया। हर्ष का राजदूत चीन गया (६४१ ईस्वी)। वाङ्-ह्वेन-त्से ने तीन बार भारत-यात्रा की (६४३–६५७ ईस्वी)। यशोवर्मन का राजदूत चीन गया (७३१ ईस्वी)। शान्तरक्षित और पद्मसम्भव धर्म प्रचारार्थ तिब्बत गए और आठवीं शताब्दी की समाप्ति तक पूर्वी उपनिवेशों के विकास में तथा वहाँ की कला में पल्लवों ने योग दिया। इस युग की समाप्ति होते-होते पाल साम्राज्य का उत्कर्ष हुआ (७२५–११०० ईस्वी)। धर्मपाल के शासनकाल (७७०–८१० ईस्वी) में साम्राज्य का आधिपत्य गन्धार से कलिंग तक हो गया और मलाया, तिब्बत, दक्षिणभारत, श्रीलंका और जावा में राज्यनिपुण धर्मप्रचारक भेजे गए। गुप्तवंश के पतन और पंजाब व मालवा पर हूणों के आधिपत्य की स्थापना के पश्चात् तीन शताब्दियों तक सम्पूर्ण देश में (ह्वेनसांग के अनुसार) काश्मीर में, काशी और वलभी में, ताम्रलिप्ति तक संस्कृति और ज्ञान का दीपक जलता रहा। हर्ष, यशोवर्मन, प्रतिहारवंश के नागभट्ट द्वितीय और बंगाल के धर्मपाल जैसे शासक सम्राटों ने गुप्तवंश की परम्परा को कायम रखा—अर्थात् विदेशी आक्रमणों का सफल प्रतिरोध किया तथा संस्कृति और ज्ञान की अभिवृद्धि की। सच तो यह है कि शताब्दियों के दौरान भारतीय संस्कृति की प्राचीन आधारशिला गुप्तवंश की महान परम्परा ही है तथा मुसलमानों और अंग्रेजों ने इसे मिटाया नहीं है अपितु इसका उपयोग किया है।

इसके बावजूद गुप्तकाल की इस अद्वितीय अभिवृद्धि को तभी ठीक-ठीक समझा जा सकता है जब हम उसे ब्राह्मण-पुनरुत्थान का चरमोत्कर्ष मानें। इस पुनरुत्थान का आरम्भ शताब्दियों पहले उत्तर में पुष्यमित्र और दक्षिण में सातवाहन-वंश के समय में ही हो चुका था। इसी पुनरुत्थान का ही फल था कि हमारे देश को भारतवर्ष नाम मिला। यह बात सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने लिखी थी। पहली शताब्दी ईसापूर्व में मौर्यवंश के पतन के बाद राजपूताना से पंजाब तक विस्तृत राज्य के स्वामी [illegible] यौधेय-क्षत्रिय, उत्तरी भारत के काफी बड़े भाग पर शासन करने तथा दस अश्वमेधयज्ञों की सम्पूर्ति करनेवाले भारशिव-क्षत्रिय और अपनी राजधानी नन्दिवर्धन (नागपुर से तेरह मील दूर रामटेक) बनाकर मध्यभारत पर शासन करनेवाले वाकाटक-क्षत्रियों ने यवनों और कुषाणों के आक्रमणों के विरुद्ध ब्राह्मण राष्ट्रीय प्रतिरोध सफलता तक कायम रखा। यह सच है कि उत्तरभारत के विशाल भूभागों पर यवनों और कुषाणों ने अधिकार कर लिया था किन्तु वे विदेशी भी रम गए थे। लगभग साढ़े तीन शताब्दियों तक उत्तर भारत पर शकों और कुषाणों के आधिपत्य के फलस्वरूप उनका राज्य स्तर में विदेशी प्रभाव मिट गया। इन साढ़े तीन शताब्दियों तक भारत विदेशियों के आक्रमण से सर्वथा मुक्त रहा।

उदार नव ब्राह्मण-पुनरुत्थान

कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के शासन समय में ही यह आधारभूत प्रवृत्ति प्रस्तुत की जिस पर पुनः संस्कृति का [illegible] हो गया। गुप्त-संस्कृति की अद्वितीय प्रगति युग के अनुरूप थी। इस युग की विचारधारा थी—[illegible] के स्थान पर परिष्कार, [illegible] के स्थान पर

समन्वय। गुप्तवंश के सम्राट् स्वयं को 'भागवत' अर्थात् भगवान वासुदेव के पूजक कहते थे। वे नव-ब्राह्मण-पुनरुत्थान के प्रमुख थे किन्तु उन्होंने बौद्धधर्म के प्रसार में भी योग दिया। ब्राह्मण विष्णु-स्थानों देव-कुलों और देवमन्दिरों की भांति बौद्ध तथा जैन विहारों को भी उनका आश्रय और संरक्षण मिला। ह्वेनसांग के अनुसार, नालन्दा का बौद्धमठ गुप्त-सम्राट शक्रादित्य ने बनवाया था। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि शक्रादित्य वास्तव में चन्द्रगुप्त द्वितीय (देवराज) का ही दूसरा नाम है। पश्चिम में वलभी-स्थित बुद्ध के प्रसिद्ध मठ को बनवाने का श्रेय शिव-पूजक मैत्रकवंशियों को है। नालन्दा की इमारत छः मंजिला की थी और छः राजाओं ने उन्हें बनवाया था। उनमें दस हजार विद्यार्थी विद्याध्ययन कर सकते थे। यहां के १५१ शिक्षक प्रतिदिन सौ विभिन्न प्रवचन रोज देते थे। तीन वेदों एवं अथर्ववेद हेतुविद्या शब्दविद्या (व्याकरण और दर्शन) चिकित्साविद्या सांख्य न्याय और योगशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। इनके अतिरिक्त कानून दर्शन ज्योतिष और पाणिनिकृत व्याकरण का अध्यापन होता था। नालन्दा में ह्वेनसांग ने बौद्धग्रन्थों के सभी संग्रहों तथा ब्राह्मणों के पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इस विश्वविद्यालय में एक प्रथा थी कि विभिन्न शिक्षक विभिन्न एवं परस्परविरोधी विचारप्रणालियों की शिक्षा दिया करते थे। इससे विद्यार्थियों के मस्तिष्क में शंकाएं उठती थीं और वे विरोधी तर्क प्रस्तुत करते थे। गुप्तवंश के एक उत्तरकालीन सम्राट् वैन्यगुप्त ने महायान बौद्ध विहार वैवर्तिक संघ को दान दिया था। गुप्त और गुप्तोत्तर काल में बौद्धज्ञान के अन्य केन्द्र थे अयोध्या कान्यकुब्ज विदर्भ उदयन वलभी पुण्ड्रवर्धन उद्र और कांचीपुर थे। विभिन्न दर्शन प्रणालियों के उद्भव और विकास तथा स्थानीय शासकों के संरक्षण के अनुसार प्रत्येक केन्द्र का अपना उत्कर्षकाल था। दर्शन साहित्य कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में पूरी आजादी से विभिन्न प्रणालियों और मतों तथा अन्य विरोधियों से प्रभाव ग्रहण किए जाते थे।

साहित्यिक संरक्षण और प्रशासन में ब्राह्मणों बौद्धों निर्ग्रन्थों शैवों और वैष्णवों विशुद्ध एवं मिश्रित वर्णों यहां तक कि भारतीयों और विदेशियों के बीच अन्तर नहीं समझा जाता था।

धार्मिक चुनाव की गुप्त-परम्परा

अब ब्राह्मणधर्म के क्षेत्र-विशेष की बात। गुप्त-साम्राज्य का धर्म भागवतधर्म था। अधिकतर गुप्तसम्राट् और उनका अनुसरण करते हुए उस काल के स्थानीय राजा स्वयं को 'परम भागवत' (भगवान अथवा कृष्ण-वासुदेव के पूजक) कहते थे। किन्तु वे शक्ति अथवा दुर्गा की पूजा भी करते थे। आक्रमणकारी हूणों पर विजय प्राप्त करने अथवा प्रतिरक्षा के लिए कठिन संघर्षों के समय उनका आवाहन करते थे और अपने सिक्कों पर दुर्गा की आकृति बनवाते थे। गुप्तकाल के अनेक सिक्कों पर सिंहवाहिनी और लक्ष्मी की आकृतियां हैं। शिव सूर्य और बुद्ध के देवता कार्तिकेय की पूजा भी प्रचलित थी। अभिलेखों में लिखित अन्य अनेक देवताओं के नामों से पता चलता है कि गुप्तकाल में हिन्दू धार्मिक विश्वास कितना विस्तृत था। ये देवता हैं कुबेर, वरुण इन्द्र यम कुमारदेव लोकपाल

मघवन् और बृहस्पति। नाग, किन्नर, विद्याधर और गन्धर्व भी पूज्य थे। महत्त्वपूर्ण हिन्दू सम्प्रदाय थे भागवत पाशुपत माहेश्वर और शैव। शायद शाक्त-सम्प्रदाय भी जिसे बाद में कापालिक कहा गया काफी महत्त्वपूर्ण था। गुप्त सम्राटों ने वैदिक यज्ञों-संस्कारों का पुनरारम्भ किया विशेषतः अश्वमेधयज्ञ जिसे दिग्विजय का प्रतीक समझा जाता था। अभिलेखों में अन्य अनेक वैदिक संस्कारों का जिक्र है, जो वाकाटक राजाओं द्वारा पूर्ण किए जाते थे अग्निष्टोम आप्तोर्याम उक्थ्य षोडशिन् अतिरात्र वाजपेय बृहस्पतिसव और सद्यस्क्र। ब्राह्मण पंचमहायज्ञ और अग्निहोत्रयज्ञ का आयोजन करते थे और इन यज्ञों की पूर्णाहुति के लिए उन्हें गांव दिए जाते थे।

गुप्तवंश के सम्राटों ने ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान किया। उनमें से एक सम्राट् समुद्रगुप्त को 'धर्म-संरक्षक' और 'पवित्र मंत्रों के पथ का अनुगामी' तथा 'शास्त्रों के अनुसार आचरण करनेवाला' कहा जाता था। अब पुनर्जागरित ब्राह्मणधर्म का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। अनेक धार्मिक सम्प्रदायों को एक में मिलाया जाने लगा। अनेक प्रकार के हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा होने लगी तथा वैदिक संस्कार पुनः प्रतिष्ठित हो गए। साथ ही न्याय को मान्यता देनेवाले जैनधर्म और बौद्धधर्म के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाया गया। इस धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप ही निस्सन्देह विदेशों में भारतीय ब्राह्मणधर्म का प्रसार सम्भव हुआ। सभी धर्मों, मतों और सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता और संरक्षण की गुप्तकालीन परम्परा हर्ष के समय में भी कायम रही। इसका प्रमाण है हर पांच वर्ष में आयोजित 'मोक्ष-सभा' का अधिवेशन जिसमें सम्राट् हर्ष स्वयं विशिष्ट बौद्धों ब्राह्मणों तथा अन्य धर्मानुयायियों को दान देते थे तथा वे स्वयं बुद्ध सूर्य और शिव की पूजा करते थे।

राष्ट्रीकरण और व्यवस्थापन का विशिष्ट युग

गुप्तकाल तथा उसके बाद की तीन शताब्दियों में भारतीय जनता की संरचना में तेजी से परिवर्तन आया। विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप बौद्धिक स्वाधीनता में अभिवृद्धि हुई और एक उदार व सहिष्णु दृष्टिकोण व्यक्तिगत देवता के प्रति गम्भीर भक्ति-भावना तथा (पूजा के सामाजिक स्वरूप) समस्त प्राणियों के प्रति करुणा भावना का विकास हुआ। अध्यात्मविद्या और तत्त्वज्ञान के क्षेत्रों में विवेक व साहसपूर्ण उड़ानें भरी। इसके साथ-साथ सम्प्रदायों तथा हिन्दू, बौद्ध और जैन दर्शन प्रणालियों की आश्चर्यजनक वृद्धि हुई।

हिन्दूदर्शन की छः प्रणालियों में सर्वाधिक प्राचीन हैं सांख्य और योग। 'धर्म' शास्त्र महाकाव्यों तथा अन्य ग्रन्थों में इनका उल्लेख है। चौथी शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ में ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका की रचना की। इसी कृति ने सांख्यदर्शन को उसका अन्तिम स्वरूप प्रदान किया। इसी प्रकार योगदर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण 'व्यासभाष्य' में हुआ। इसकी रचना पतंजलि के योगसूत्रों के आधार पर ३०० ईस्वी के आसपास हुई। लगभग १०० ईस्वी में रचित शबर भाष्य में मीमांसासूत्र की प्रथम व्याख्या प्रस्तुत की गई। गुप्तकाल में वेदान्तदर्शन को उपनिषदों का समर्थक मान लिया गया।

वेदान्तसूत्रों द्वारा मान्य एक प्रामाणिक ग्रन्थ निस्सन्देह भगवद्गीता है। किन्तु वेदान्त-सूत्रों में महाभारत (विशेषतः बारहवें खंड) के कुछ वेदान्ती भागों का जिक्र है। अनेक भागों में वेदान्त के ऐसे प्रकार हैं जो शंकर के उपदेशों से भिन्न हैं किन्तु भागवतों के विचारों के अनुरूप हैं। किसी समकालीन परम्परा के अनुसार वेदान्त का भाष्य प्रस्तुत करने का काम शंकर ने नहीं वरन् रामानुज ने किया किन्तु वह परम्परा लोप हो चुकी है। वेदान्त-सूत्रों की टीका करनेवाले बोधायन का ठीक-ठीक पता नहीं है। हम भर्तृप्रपंच, द्रमिडा-चार्य उपवर्ष ब्रह्मनन्दिन् या टंक के बारे में भी कुछ नहीं जानते। ये शंकर और रामानुज से पहले हुए थे और शायद गुप्तकाल में ही जीवित थे। न्यायवैशेषिक दर्शनों के सिद्धान्तों को सुव्यवस्थित करने का काम गौतम और वात्स्यायन ने किया। गौतम ने अपने न्यायसूत्रों का प्रणयन गुप्तकाल के प्रारम्भिक वर्षों में किया तथा वात्स्यायन ने अपने सुप्रसिद्ध 'न्यायभाष्य' की रचना चौथी शताब्दी ईस्वी के अन्तिम चरण में की। अपने ग्रन्थ में वात्स्यायन ने माध्यमिक शून्यतावाद तथा बौद्धयोगाचार-सम्प्रदाय के परम विचारवाद का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। इसी काल में प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्रों का सुव्यवस्थित सैद्धान्तिक निरूपण 'पदार्थधर्म-संग्रह' में किया।

बौद्धदर्शन-सम्प्रदाय और भी अधिक सक्रिय थे। अयोध्यानिवासी सुप्रसिद्ध भाइयों असंग और वसुबन्धु, ने चौथी शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ में परम-आदर्शवादी बौद्ध-योगा चार-सम्प्रदाय की स्थापना की। असंग के विख्यात ग्रन्थ थे 'महायान-सम्परिग्रह' 'योगा चार भूमिशास्त्र' और 'महायान-सूत्रालंकार'। 'विंशतिक' 'त्रिंशतिक' और 'परमार्थ-सप्तति' के रचयिता वसुबन्धु थे। महायान-सम्प्रदाय ने जिस परमविचारवाद का विकास किया उसमें जोर देकर कहा गया कि बाह्य संसार का अनस्तित्व है तथा धर्मकाय के सार तत्त्व-विज्ञान का अस्तित्व। इस विचारबिन्दु ने हिन्दू और बौद्ध दर्शन-प्रणालियों के बीच तथा विभिन्न बौद्धदर्शन प्रणालियों के बीच भी तीव्र विवाद उत्पन्न किया। इसी काल में तर्कशास्त्र का विकास हुआ और इस क्षेत्र में अग्रगामी बौद्धधर्मानुयायी रहे। वसुबन्धु का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तर्कशास्त्र' और दिङ्नागकृत 'न्यायमुख' भारतीय दर्शन की महानतम उपलब्धियों में से हैं। इसी दौरान जैनधर्मावलम्बियों ने 'तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र' का प्रणयन किया। यह दर्शन को सुव्यवस्थितरूप में प्रस्तुत करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। गुप्तकाल वास्तव में एक ऐसा समय था जब विभिन्न सिद्धान्तों का जन्म हुआ, विचारों को क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित किया गया, व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं और आलोचनाएं हुईं। ये सारी बातें इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि उस काल के विभिन्न सक्रिय धार्मिक सम्प्रदायों और दर्शन प्रणालियों में वास्तविक दार्शनिक क्षमता और मौलिकता थी।

दार्शनिक और धार्मिक शास्त्रार्थ सर्वमान्य सिद्धान्तों और नियमावलियों के आधार पर आयोजित किए जाते थे। इन शास्त्रार्थों में पूर्ण सहिष्णुता और उदारता रहती थी। इस बात का प्रमाण हमें 'हर्षचरित' के एक प्रसंग में मिलता है। इस प्रसंग में दिखलाया गया है कि एक बौद्धभिक्षु उपदेशक की अध्यक्षता में (वे उपदेशक पहले ब्राह्मणधर्म के अनुयायी थे) एक सभा का आयोजन किया गया जिसमें इतने अधिक सम्प्रदायों और विचारधाराओं के व्यक्तियों ने भाग लिया जिनकी गणना करना आसानी से सम्भव नहीं

था। यह प्रसंग इस प्रकार का है "सम्राट् अब भी काफी दूर, पेड़ों के एक झुरमुट के बीच में थे किन्तु सभा का दृश्य उनके सामने था। विभिन्न प्रान्तों से आए हुए अनेकानेक बौद्ध अलग अलग दलों में बैठे थे। कुछ स्तम्भों पर बैठे थे कुछ चट्टानों पर, कुछ लताओं के [illegible] में विश्राम कर रहे थे अनेक झाड़ियों अथवा पेड़ों के साये में बैठे थे या पेड़ों की जड़ों पर बैठे थे। सभी भिक्षु थे सांसारिक वासनाओं से मुक्त। श्वेताम्बर जैन जिन्हें सफेद वस्त्र धारी भिक्षुक [illegible] और [illegible] पर कृष्ण के अनुयायी। धर्म के विद्यार्थी भी बैठे थे। अपने बाल नोचनेवाले हठयोगी कणाद के शिष्य उपनिषदों के अनुयायी ईश्वर को समस्त सृष्टि का सर्जक माननेवाले धातुओं के पारखी कानून की संस्थाओं के विद्यार्थी पुराणों के विद्यार्थी सात यज्ञकर्ता पुजारियों द्वारा यज्ञ कराने में निपुण व्यक्ति, वैयाकरण पांचरात्र के अनुयायी तथा अन्य अनेक प्रकार के व्यक्ति सभा में उपस्थित थे। सभी अपने ज्ञान सिद्धान्तों के अनुयायी थे सभी विचारवान थे शंकाएं उठाते थे विचारों के प्रति [illegible] करते थे शंकाओं का निवारण करते थे व्युत्पत्ति बतलाते थे बार बार विवाद करते थे अध्ययनशील थे और व्याख्याएं प्रस्तुत करते थे। विद्वानों के इस विशाल समुदाय को देखकर भी सम्राट् को उस पवित्र व्यक्ति की उपस्थिति का आभास हो गया जिसके चारों ओर यह विशाल समुदाय शिष्य की भांति उपस्थित था।

नव-ब्राह्मण-पुनरुत्थान की प्रकृति

अस्थायी सामाजिक और बौद्धिक परिस्थिति के प्रति ब्राह्मण-प्रतिक्रान्तिवादियों की प्रतिक्रिया अनेक स्पष्ट रूपों में हुई। लगभग २००–१०० ईसापूर्व तक 'महाभारत' (विस्तृत आकार में) तथा 'मानवधर्मशास्त्र' ने परम्परागत समाज के समस्त वैदिक जीवन प्रणाली को प्रस्तुत किया। किन्तु धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ब्राह्मण सिद्धान्तों का सुसंगठन गुप्तकाल में ही सम्भव हो सका। गुप्तकाल में विदेशियों का भारतीयकरण तो अवश्य हो गया था किन्तु वे हिन्दूधर्म के विभिन्न पार्श्वों और सम्प्रदायों को अपनाने लगे थे। इसके अतिरिक्त, सन् के प्रारम्भ में महायान के उदय के फलस्वरूप बौद्धधर्म में भक्ति की बाढ़ आ गई और समाज की स्थिति बदलने लगी। इन दोनों स्थितियों ने ही सामाजिक शिथिलता व पथभ्रष्टता के नए खतरे को जन्म दिया। इस खतरे का सामना करने के लिए ही ब्राह्मण सिद्धान्तों का सुसंगठन अनिवार्य हो गया। सर्वप्रथम तो ब्राह्मणधर्म की प्रतिक्रिया साहित्यिक क्षेत्र में व्यक्त हुई। स्मृतियों में संशोधन हुआ और महाभारत तथा प्रमुख पुराणों के नवीन संस्करणों में ब्राह्मणधर्म के सामाजिक और नैतिक आदर्शों की व्याख्या हुई। इससे एक महान उद्देश्य की पूर्ति हुई कि भारतीय जीवन में लगातार प्रवेश पानेवाले शकों और अन्य स्थानों के विदेशी और बर्बर जातियों के आक्रमण के विरुद्ध हिन्दू कानून, आचार और संस्कृति की पुनःप्रतिष्ठा हुई। गुप्तकाल में रहने के युग में [illegible] सामाजिक [illegible] [illegible] और [illegible] और व्यवस्था से [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] में पूरे-पूरे [illegible] स्थापित कर दिए थे।

हम देख चुके हैं कि प्रारम्भिक धर्मसूत्रों में आपद्धर्म और कलियुग (अर्थात् सामाजिक ह्रास का युग) का सिद्धान्त विकसित हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पात —

वर्ग भी यदि अपने कर्तव्य को निभा नहीं पाते थे तो इसे बरदाश्त किया जाता था और यहाँ तक कि स्वीकार भी कर लिया जाता था—सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार अनिवार्यता यही थी। महाभारत में इस बात का जिक्र है और भगवद्गीता तथा पुराणों में तो यह बतौहाई आशा जगाने का यत्न भी किया गया है कि मानवता के रक्षक कृष्ण वासुदेव का अवतार भविष्य में भी होगा। कहा गया है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होगी तब-तब कृष्ण-वासुदेव धर्मात्माओं के संरक्षण और पापियों के विनाश के लिए अवतरित होंगे। इस ईश्वरीय भविष्यवाणी ने कि धर्ममूलक समाज की स्थापना अवश्य होगी प्राचीन मूल्यों और आदर्शों के प्रति जनसाधारण का विश्वास मजबूत कर दिया और विदेशी *अथवा बौद्ध नये प्रभावों और आदर्शों से उसे बचाए रखा।* महाकाव्यों पुराणों और धर्मशास्त्रों में उन आधारभूत आध्यात्मिक सिद्धान्तों और नैतिक मूल्यों की व्याख्या और स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है जो ब्राह्मण-संस्कृति के सभी मतों और दार्शनिक सम्प्रदायों को मान्य थे। वास्तव में बृहत्काय महाकाव्य और पौराणिक साहित्य तथा प्राचीन संस्कृत काव्यों में भारतीयों की सम्पूर्ण सामाजिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि तथा जीवन प्रणाली का जैसा विशद और सशक्त चित्रण हुआ है वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। संस्कृत का पुनरुद्धार शुंगकाल में ही आरम्भ हो गया था गुप्तकाल में तो यह एक तरह से प्राकृत के स्थान पर लोकभाषा ही बन गई। गुप्तकाल के महान सम्पादकों और विद्वानों ने महाभारत और भागवत स्कन्द शिव मत्स्य और वायु पुराणों की विषयवस्तु को घटाया उसमें कुछ और जोड़ा तथा उसका परिवर्तन किया। अपने इस कार्य से उन्होंने इन ग्रन्थों को विस्मृत होने से बचा लिया और साथ ही बौद्धधर्म से ब्राह्मणधर्म की रक्षा करने के *लिए पहला कदम बढ़ाया जो किसी न किसी को बढ़ाना ही चाहिए था।* शूद्रों और स्त्रियों की शिक्षा के विशेष उद्देश्य को लेकर महाकाव्यों तथा प्रमुख पुराणों को एक ऊँचे स्तर तक विकसित किया गया।

धार्मिक आन्दोलन में वैदिक और राष्ट्रवादी दोनों रूप अपनाये। प्रारम्भिक पांचरात्र वैष्णवधर्म शैवधर्म शाक्तधर्म और अन्य धर्मों की समतावादी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त पुरातनवादी ब्राह्मण शिक्षक और उपदेशक जनसाधारण के बीच जाते थे और अपना दृष्टिकोण सामने रखते थे। क्षत्रियों से वे कहते थे कि उन्हें मठ या आश्रम में एकान्तवास न करके सैनिक कर्तव्यों को निभाने का अपना वास्तविक सामाजिक कर्तव्य करना चाहिए। वे वैश्यों और शूद्रों को भी अपने व्यवसाय का अनुपालन करने को कहते थे। इस तरह वे देश को मिथ्या धर्मशीलता और पारलौकिकता से मुक्त कर रहे थे क्योंकि यह मिथ्याचार सम्पूर्ण जाति के पुरुषत्व को स्खलित कर रहा था। ये उपदेश जनसाधारण को पसन्द आए। वे आख्यानों में वर्णित क्षत्रियों की युद्ध में वीरता की शानदार परम्परा से रोमांचित हो उठते थे। साथ ही वे उस अमरता के प्रति विकर्षित भी हो रहे थे जो क्रमशः बौद्ध-संघारामों में प्रवेश करती जा रही थी और अनेक संघाराम धन व ऐश्वर्य से पटे पड़े थे। शायद यही कारण था कि संघ में भिक्षुणियों की व्यवस्था समाप्त कर दी गई। जैसा कि बुद्धघोष ने लगभग ५० ई में लिखा था चीनी भिक्षु यात्री ई-त्सिङ् (६७१–६८१) ने अवश्य ही किसी बौद्धमठ में विपुल धन अनाज तथा स्त्री और

पुरुष अनेक नौकर चाकर देखे होंगे क्योंकि उसे यह सब कुछ अच्छा नहीं लगा और उसने
कहा कि भिक्षु का वास्तविक उद्देश्य तो निर्वाण प्राप्त करना है। जल्दी ही महाकाव्यों
पुराणों हितोपदेश और पंचतन्त्र ने बौद्धजातकों का स्थान ग्रहण कर लिया। यद्यपि वे
संस्कृत में लिखे गए थे जो गुप्तकाल में भारत की राष्ट्रभाषा थी।

कालिदासकृत 'रघुवंश' और संस्कृत-काव्य

अनेक विद्वानों के अनुसार कालिदास ने 'रघुवंश' की रचना पांचवीं शताब्दी
ईस्वी के प्रारम्भ में की थी। यह काव्य गुप्त-साम्राज्यवाद की गाथा है। इसके मुख्य पात्र
यद्यपि रामचन्द्र हैं फिर भी इसमें एक महान दिग्विजय का वर्णन किया गया है जिसे
पढ़कर समुद्रगुप्त की भारत-विजय की याद आती है (समुद्रगुप्त के अश्वमेधयज्ञ की
प्रतिध्वनि 'मालविकाग्निमित्र' में भी है)। रघुवंश एक आदर्श महाकाव्य है। इसमें
मानव जीवन के समस्त पक्षों का वर्णन है और सभ्य भारतीय चरित्र के गुणों (जो
रघुवंश में पाये जाते थे) का बखान है। इसमें ब्राह्मण जीवन प्रणाली और जीवनादर्शों
का स्पष्टीकरण और पुनरभिव्यक्ति है। साथ ही साथ इसमें बौद्धगुण करुणा का महत्त्व
भी प्रदर्शित किया गया है। उदाहरणार्थ गाय नन्दिनी को सिंह से बचाने के बाद दिलीप
ने स्वयं को सिंह के हवाले कर दिया। इस कहानी को पढ़कर उस जातककथा की याद
आती है जिसमें चीते के बच्चों की माता चीते से बचाने के लिए गौतम ने स्वयं का अर्पित
कर दिया था।

नवब्राह्मण पुनरुत्थान का उद्देश्य था दुर्भाग्यवश पृथ्वी पर सुव्यवस्था और
स्थायित्व की पुनर्प्रतिष्ठा करना ब्राह्मण व्यवस्था का पूर्णतः प्रचीन करना या देश में बाहर
कर देना तथा जनसाधारण की सर्वतोमुखी उन्नति और समृद्धि। नवब्राह्मण पुनरुत्थान
की यह धारणा प्राचीन संस्कृतसाहित्य में भरी पड़ी है। इस भावनाओं का एक उत्कृष्ट
उदाहरण है इलाहाबाद के एक स्तम्भ पर खोदी गई हरिषेणकृत समुद्रगुप्त की
प्रसिद्ध प्रशस्ति (लगभग ३५२ ईस्वी)। जिस समय चन्द्रगुप्त प्रथम अपने में राजदरबार
के सामने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हैं उस सौभाग्यशील समय
का विवरण इस प्रकार किया गया है "यह उत्तम पुरुष है" यह कहकर उन्होंने उसका
आलिंगन किया। उस समय भावावेग से उनका शरीर सिहर उठा था। अश्रुपूरित आंखों
से वे उसे एकटक निहारते रहे उनकी प्रत्यक्ष भावभंगी का देखते रहे और उनकी कोमल
भावना रहे। दरबारियों में कुछ की सांस ली और सम्राट् के सम्बन्धियों के चेहरे खिल
गये तब उन्होंने उससे कहा 'मेरी कामना है कि तुम इस पृथ्वी की रक्षा करो।

गुप्त-साम्राज्य के युग की एक उल्लेखनीय बात हमारे सामने ने कहा कि संस्कृत
पुनर्जागरण की भाषा है जिसमें बौद्ध भी सम्मिलित हैं तथा सन्देश में संस्कृत स्थान
पाली बोली और लिखी जाती है। किन्तु इतना ही मालूम है कि इस भाषा के द्वारा जो भी
में जो प्रयोग करने-वाले मान्य बन गए और जिनके कारण विशुद्ध संस्कृत में बहुत प्रयोग
[illegible]
स्थान पर जनसाधारण की भाषा संस्कृत बन गई जिस स्वरूप इस में और इस में [illegible]

दक्षिण-पूर्व एशिया में भी समझा जाता था। यही कारण है कि बौद्ध और जैन दार्शनिकों और साहित्यकारों ने अब संस्कृत में लिखना आरम्भ कर दिया। यह एक और कारण से आवश्यक था। सुप्रचलित और लोकप्रिय बौद्ध जातक कथाओं के अतिरिक्त 'बुद्धचरित' 'सौंदरनन्द' और 'जातकमाला' जैसे महत्त्वपूर्ण बौद्धकाव्यों की रचना संस्कृत में हुई थी और प्रबुद्ध हिन्दुओं ने इन्हें पसन्द किया। भारतीय गृहस्थी और परिवार की पवित्रता को विषयवस्तु बनाकर लिखे गए कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' वास्तव में बौद्धकाव्यों को ब्राह्मणधर्म और ब्राह्मण-समाज-व्यवस्था के प्रत्युत्तर थे।

ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों में विश्वासों का पारस्परिक परिपाक

बौद्धधर्म की चुनौती को स्वीकार करने का ब्राह्मण-संस्कृति का दूसरा ढंग था अर्थात् बौद्ध-उपादानों का स्वयं उपयोग करने लगना। उन्होंने बुद्ध को विष्णु के दस अवतारों में से एक मान लिया। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू जनसमुदाय को प्रेरणा दी कि वह बौद्धधर्म को भी हिन्दूधर्म के अन्तर्गत अनेक जटिल बौद्धिक सम्प्रदायों में से एक स्वीकार कर ले। जहां तक सामाजिक सम्बन्धों का प्रश्न था भारत के विभिन्न राजसी परिवारों में विवाह सम्बन्ध होते थे फिर चाहे वे बौद्ध, जैन अथवा वैष्णव किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों। इसके अतिरिक्त दोनों धर्मों में सिद्धान्तों और विश्वासों का पारस्परिक आदान-प्रदान और समन्वय स्थापित होने लगा। ब्रह्माण्ड के सृजन से पहले क्षीर-सागर में विश्राम करने वाले वैदिक देवता विष्णु ने गुप्तकाल में आकर अवतारवाद के कारण मानवता के रक्षित साथ रक्षक का रूप धारण कर लिया। मानवता के प्रति विष्णु की मनोहारी गाथा और पुनरुद्धारक प्रेम महायान बौद्धधर्म के महाकारुणिक बोधिसत्त्व के समतुल्य था। महायान बौद्धधर्म और नवोदित हिन्दूधर्म दोनों में ही देवता में असीम भक्ति थी जिसकी वजह से जनसामान्य धर्म को और अधिक मानने लगा। यह स्थिति उस सार्वभौम काल के सर्वथा अनुरूप थी जिसमें उपासना और कर्मशीलता दोनों का सामंजस्य था। सच तो यह है कि गुप्तकाल के सभी धर्मों में कुछ लक्षण समान रूप से उपस्थित थे। ये लक्षण थे आत्मत्याग सेवा भावना और सभी जीवों के प्रति करुणा। और उपासना तथा कर्मशीलता, गम्भीरता तथा सक्रियता में सामंजस्य स्थापित करने के आदर्श की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति कालिदास की काव्यों और नाटकों में हुई जिनकी विशुद्ध और ललित भाषा ने हम भारतीयों को अनेक शताब्दियों के दौरान अनुप्राणित किया है।

इसी बीच बौद्धधर्म में भी गंभीर परिवर्तन हो गया। पहले इस बात पर जोर दिया जाता था कि सभी को संसार से नाता तोड़कर सन्यास करना चाहिए। अब नये महायान सम्प्रदाय में इस विचार को त्यागकर नयी व्याख्या प्रस्तुत की गई। इस व्याख्या में बोधिसत्त्व की शान्ति और सक्रियता को सांसारिक जीवन के साथ समन्वित किया गया और इस प्रकार सांसारिक और धार्मिक जीवन में सामंजस्य उपस्थित किया गया। निर्वाण का अर्थ एकान्त की ओर प्रस्थान न रहकर समष्टि में व्यक्ति का एक शक्तिमय शाश्वत और अनन्त सम्मिलन हो गया। इसके अतिरिक्त बौद्धधर्म में वर्ण और आश्रम के अनुसार ब्राह्मणधर्म के सामाजिक स्तरों और विभिन्न कर्तव्यों को अस्वीकार किया गया। किन्तु पुण्य

काल की विशेषता ही थी धर्मों व वर्गों के विभिन्न कर्तव्यों का निर्धारण। अतः इस संदर्भ में उस युग के समाज में परम्परावादिता और समन्वयवादिता में कोई अन्तर नहीं रह गया।

महायान और वेदान्त की विचारधाराओं में पारस्परिक प्रतिदान

बौद्धधर्म की चुनौती को ब्राह्मणधर्म ने एक तीसरे ढंग से भी स्वीकार किया। यह स्वीकृति बौद्धिक स्तर पर हुई। बौद्धधर्म के प्रति रुचि बौद्धिक शिष्टजनों में ही थी और यह भारत के अपेक्षाकृत भागों का धर्म रह गया था। इसमें अत्यन्त सूक्ष्म जटिल और विस्तृत आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विकास हुआ था और ये ही सिद्धान्त क्रमशः अठारह अलग-अलग सम्प्रदायों में बदल गए जिनका जिक्र ह्वेनसांग ने किया है। इन सम्प्रदायों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे माध्यमिक और योगाचार सम्प्रदाय जिनका विकास गुप्तकाल में नागार्जुन असंग वसुबन्धु तथा अन्य महान् बुद्धपतियों ने किया था। महायान बौद्ध धर्म के अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्त मानवबुद्धि की उच्चतम उड़ानों में से हैं और उनके ही कारण अनेक परम्परागत धर्मों में तरह प्रतिक्रियाएं हुईं, प्रतिवाद किए गए और समन्वय हुआ। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था वेदान्त-दर्शन। साहित्य के इतिहासकारों ने अनेक विशुद्ध वेदान्ती उपनिषदों का समय ईसाई सन् के प्रारम्भ के कई शताब्दियों बाद माना है। माण्डूक्य उपनिषद् और उसकी टीका 'गौडपादीयकारिका' की रचना सम्भवतः पांचवीं शताब्दी में हुई थी। पहली और पांचवीं शताब्दियों के बीच ब्राह्मणधर्म के दार्शनिक विचारों का विकास हुआ और उन्हें सिद्धान्त का रूप दिया गया। उन सभी का आधार था आत्मा और शाश्वत सर्वव्यापी ब्रह्म। वेदान्त में द्वैतवाद को अस्वीकार किया गया और इस सिद्धान्त पर जोर दिया गया कि संसार की अनेक अलग अलग दिखाई पदार्थ हैं क्यों कि उनका आधार है मात्र ब्रह्म। इस सिद्धान्त का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि मानव के बन्धन मायावी हैं और उसकी आत्मा से माया का पर्दा हटते ही उसके बन्धन और बन्धनमुक्ति पुनर्जन्म और मुक्ति अस्तित्व और अनस्तित्व एक हो जाते हैं। वेदान्त का यह सिद्धान्त सचमुच और मौन के बौद्धसिद्धान्त का रूप है। अतः हमें मानना चाहिए कि बौद्धधर्म पर प्रारम्भिक वेदान्त का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

महायान-सम्प्रदाय के एक श्रेष्ठ ग्रन्थ 'लंकावतारसूत्र' की रचना सम्भवतः पांचवीं शताब्दी ईस्वी में हुई थी और इसमें मायावी संसार की अयथार्थता की तुलना कुम्हार के गोल चाक से और जलती हुई लकड़ी (मशाल) को गोलाई में घुमाने से बनने वाले चक्र से की गई है। यह विचार तथा इन्द्रियों की अनुभूति के कारण उत्पन्न ज्ञान की मायावी प्रकृति से बना हुआ तथागत-गर्भ का सूक्ष्मतम विचार वेदान्त के सिद्धान्त का एक प्रतिरूप मात्र है। शून्यता दर्शन और असंग वसुबन्धु और कुमारिल तथा शंकर के इन सिद्धान्तों का विकास लगभग साथ साथ हुआ था जिसकी चर्चा ह्वेनसांग ने कई बार की है। लंकावतारसूत्र में आत्मा को शाश्वत और परिस्थितियों से परे मानने के सिद्धान्त के साथ समता को स्वीकार किया गया है। उसमें लिखा है कि तथागत-गर्भ का अस्तित्व सत्य और यथार्थ स्वीकार किया गया है ताकि आत्मा के सिद्धान्त पर दृढ़ विश्वास रखनेवाले दूसरे धर्मानुयायी हमारे धर्म की ओर आकर्षित हों। इसी रूप में यह भी

लिखा है कि नैरात्म्य को स्वीकार करनेवाले दर्शनों से अनुयायी भड़क उठते हैं। दूसरी ओर वेदान्तदर्शन के प्रसिद्धतम उन्नायक गौड़पाद ने जो स्वयं शायद बौद्ध थे माध्यमिक और योगाचार बौद्धमतों के ब्रह्माण्डीय रिक्तता और शून्यता के सिद्धान्त को पूर्णतः अंगीकार किया था और वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि [illegible] शाश्वत आत्मा और मौन आत्मा का उपनिषदीय सिद्धान्त वही है जो अद्वैत शाश्वत अपरिभाषित मौन विज्ञान (जिसमें से किसी भी प्रकार का भी अस्तित्व नहीं उत्पन्न हो सकता यह बुद्ध प्रमाणित कर चुके हैं) वाला बौद्ध अन्तिम यथार्थ का सिद्धान्त।

वेदान्त में 'नेति नेति' पर जोर दिया गया है। माध्यमिक शून्यतावाद और वेदान्त में काफी समानता है। किन्तु दोनों में अन्तर भी है। वेदान्त एक अनिवार्यतः व्यावहारिक दर्शन है कि ब्रह्म-आत्मम् पारलौकिक किन्तु फिर भी शाश्वत और सर्वव्यापी है तथा प्रत्येक मन व चेतना की प्रत्येक अवस्था में उसकी अनुभूति होती है। इस प्रकार गौड़पाद के निष्कर्षों के आधार पर बौद्ध विचारधारा के अनुसार, उपनिषदों की पुनर्व्याख्या हुई और शंकर ने उसे वेदान्तदर्शन का रूप प्रदान किया। बौद्ध और जैन धर्मों से शंकर का प्रभावित होना आवश्यक था। सम्भव है कि दोनों धर्म उस समय भी अपने जन्मस्थान में फूल-फल रहे हों। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग की भारत-यात्रा के समय में महाकौशल महाराष्ट्र और कोंकण में सभाश्रम थे जहाँ बौद्धभिक्षु—महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदायों को माननेवाले भिक्षु—रहते थे। अमरावती प्राचीनकाल से बौद्धधर्म का केन्द्र था। विख्यात बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ग्राम के रहनेवाले थे। सुप्रसिद्ध महायान विद्वान नागार्जुन का नाम भी उस स्थान से सम्बद्ध था जहाँ नागार्जुन कोण्डस्तूप है। अतः विश्वास किया जा सकता है कि बौद्ध विचारधारा का ज्ञान शंकर को था। अपनी एक टीका में उन्होंने लिखा है 'बाह्य संसार की अयथार्थता का सिद्धान्त वास्तव में बुद्ध द्वारा प्रतिपादित किया गया था। जब उन्होंने पाया कि उनके कुछ शिष्य बाह्य वस्तुओं के प्रति आसक्त हैं तो उन्होंने शिष्यों की मानसिक दशा के अनुरूप स्वयं को ढाल लिया किन्तु उनका अपना विचार यह नहीं है। उनके अनुसार तो ज्ञानप्राप्ति ही यथार्थ है। विद्वानों ने 'कमलसूत्र' में सविस्तार लिखित महायान सिद्धान्त तथा शंकर की तर्क पद्धति (जिसमें 'परा' और 'अपरा' विद्या को अलग-अलग बताया गया है) तथा दोनों के शास्त्रों में आश्चर्यजनक समानता पाई है। इस प्रकार परम्परागत धर्म ने बौद्धसिद्धान्त के एक सम्पूर्ण अंश को अपना लिया था। महायान बौद्धधर्म के उद्भव का अर्थ है हिन्दूधर्म की गौतम के सरल धर्म पर विजय। भारत की सर्वाधिक प्रसिद्ध और सुविस्तृत दर्शन प्रणाली वेदान्त के जिसके अनुयायी आज भी भारत के चुने हुए व्यक्ति हैं उद्भव का अर्थ है बौद्धधर्म की हिन्दूधर्म पर विजय। फिर क्या आश्चर्य कि शंकर की व्याख्या की निन्दा करते हुए रूढ़िवादियों ने कहा था कि यह तो 'छद्मवेषी बौद्धधर्म' है।

साहित्य में उत्कृष्ट निर्मलता और सरसता

देशव्यापी शान्ति और सुव्यवस्था के कारण राष्ट्र की बौद्धिक क्षमता की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी। बुद्धिवादियों में सारे विरोधी तत्त्वों के विरुद्ध ऐसी प्रतिक्रिया

हुई जैसी पहले कभी नहीं हुई थी। यूनानी, ईरानी और चीनी सभ्यताओं के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप आधारभूमि बहुत पहले ही तैयार हो चुकी थी। अब विस्तृत गुप्तकाल में जब शिष्ट समुदाय के पास काफी समय था, काव्य, नाटक, गीतिकाव्य तथा प्रेम और साहस की कथाओं का अधिक उत्कर्ष हुआ। स्वभावतः प्रेम और साहस का स्थान प्रथम था। भारत के प्राचीन काव्य में न तो यौन के प्रति विरक्ति है और न पाशविक वासना। यद्यपि प्रेमी-युगल के रति-सुख का वर्णन 'कामसूत्र' के नियमानुसार किया गया है फिर भी यौन भावनाओं का अतिरंजन अथवा आकुल्य नहीं है। कालिदास के, जिनका जीवनकाल कुछ विद्वानों के अनुसार ४०० से ४७५ ईस्वी के बीच है, महान् काव्यों में अत्यन्त सुन्दर आदर्श अवस्था में सौम्य और शान्त पारिवारिक प्रेम का चित्रण हमें मिलता है। प्रेम एक अनुशासन और तपस्या का रूपान्तरण है तथा इसके सुख की अनुभूति उसी दम्पति को हो सकती है जिसने 'काम' को परास्त किया है। कालिदास के काव्य में ही हमें सती विरह-व्यथा (रति और कामदेव के विवाह से पहले शिव द्वारा कामदेव को भस्म कर देने पर रति की विरह-व्यथा) और अथाह आतुरता (वर्षा की बूंद-बूंद के साथ सम्पूर्ण विश्व में बरसनेवाली अपनी प्रिया के लिए यक्ष की आतुरता) का वर्णन भी हमें मिलता है। सर्वव्यापी और सर्वमिश्रित फिर भी संयत और सौम्य उत्साह-सामञ्जस्य प्रेम ही कालिदास के काव्य का मुख्य विषय है।

कालिदास का 'कुमारसम्भव' शायद संस्कृत का सर्वोत्कृष्ट काव्य है। इसमें चिन्तनशील रचना-कुशल शिव और उमा का उत्कृष्ट चित्र अंकित है। सिन्धु-सभ्यता के प्राचीन समय में जब मोहनजोदड़ो में चूनिया पत्थर का 'टोर्सो' निर्मित किया गया था उसी समय से शिव भारतीय योगी के मूर्तिमान प्रतीक हैं। गुप्तकाल में बौद्ध चिन्तन और मूर्तिकला के प्रभाव से शिव की मूर्ति की निमग्नता और अधिक शक्तिमान हो उठी। 'कुमारसम्भव' में दिखलाया गया है कि शिव देवदारु वृक्ष के नीचे आसीन बैठे हैं—वायु की अनुपस्थिति में ज्वाला, बिना पानी के बादल और बिना लहरों की झील के समान स्थिर। वसन्त और कामदेव के आगमन से सारी प्रकृति की प्रेमातिरेक उन्मत्तता का उन पर तनिक भी प्रभाव नहीं है।

तभी वसन्त ऋतु के फूलों की माला पहने हुए सौन्दर्यमयी उमा उनकी पूजा करने आती है। वह शिव के चरणों पर फूल अर्पित करने के पश्चात् प्रणाम करती है। शिव उसे आशीर्वाद देते हैं, 'अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति'। उमा अपनी ... कमल के बीजों की एक माला (पुष्करबीजमाला) शिव को अर्पित करती है। शिव माला को स्वीकार करने ही वाले हैं कि प्रेम के देवता कामदेव अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर छोड़ते हैं तथा बाण जिसका लक्ष्य कभी चूकता नहीं। शिव की इतनी गहरी शान्ति हिल उठती है जैसे चन्द्रोदय के समय गम्भीर सागर में हल्का-सा कम्पन होता है। उनकी आँखें एक क्षण को उमा के बिम्बफल-से लाल होठों पर टिकती हैं। उमा की प्रसन्नता भी व्यक्त हो जाती है। उसका मुख थोड़ा ऊपर उठ जाता है और आँखों में निखार-सा आ जाता है। फिर तत्काल स्वयं पर नियंत्रण करते हैं, देखते हैं कि यह काम कामदेव का है और अपना तीसरा नेत्र खोलकर उसे भस्म कर देते हैं।

काम की पत्नी रति अपने पति की मृत्यु पर बिलखकर रोती है और अपने पति के शव के साथ चिता में जलने का निश्चय करके वसंत से चिता तैयार करने को कहती है। उमा उलझन में पड़ जाती है। उस बड़ी शर्म आती है। वह अपने सौंदर्य की निंदा करती है। वह अपने सौंदर्य को फलप्रद बनाने के लिए तप करने का निश्चय करती है, ऐसा तप जैसा किसी योगी ने भी कभी न किया हो। अनश्वर पति के अनश्वर प्रेम की प्राप्ति का और क्या कम हो सकता है? ग्रीष्म ऋतु में वह अपने चारों ओर अग्नि जलाती है और जीवन दाता सूर्य की ओर ताकती है। वर्षा ऋतु में वह नंगे पत्थर पर लेटती है और पानी से भीगती है, अपनी बिजली की चमक से रात्रि उसे ऊपर से देखती है। शीत ऋतु में वह बर्फीले पानी में खड़ी रहती है, बर्फीली हवा उसके शरीर को बर्फ के गालों से ढँक देती है। किन्तु अपने तप में उसे स्वयं कोई कष्ट नहीं है। दो चकवाक पक्षी अंधेरी रात में एक-दूसरे से बिछुड़ जाने पर करुण स्वर में परस्पर पुकारते हैं तो उमा को उन पर दया आती है। अंत में योगी देवता शिव देखते हैं कि इस तपस्या से उमा का कोमल शरीर नष्ट होता जा रहा है तो वे उसे स्वीकार करने का निर्णय करते हैं। उमा के प्रेम की परीक्षा के लिए वे छद्मवेश में उसके पास आकर विवाह प्रस्ताव रखते हैं। 'इसी क्षण से हे सुन्दरी मैं तुम्हारा दास हूँ' भगवान शंकर कहते हैं और तत्काल उमा की स्वयं आमोजित कष्ट की थकान मिट जाती है—श्रम के फलीभूत होने से उसे ऐसा आभास होने लगा मानो उसने किसी प्रकार का कष्ट कभी उठाया ही न हो। तब सप्तर्षि आते हैं और विवाह निश्चित करते हैं।

शिव और उमा अखिल ब्रह्माण्ड के देवता और देवी हैं जिनका संयोग 'पुरुष' और 'प्रकृति' का संयोग है('रघुवंशम्' ११ ५९) और उनका काम है ब्रह्माण्ड के रचना विधान मनुष्यजाति और उसके धर्म की परम्परा को बनाए रखना। शिव और उमा का तप ही उनके विवाह और पारिवारिक जीवन का आधार है। वैवाहिक सुख से पहले के दैवी तप द्वारा ही मानवीय प्रेम और विवाह के मानदण्ड निश्चित होते हैं। भारतीय घर और परिवार की निर्माता शक्तियों की पवित्रता का विशद वर्णन 'कुमारसम्भव' में है। शिव और उमा के संयोग के फलस्वरूप युद्ध-देवता कार्तिकेय का जन्म होता है जो तारक नामक दानव के उपद्रवों से संसार की रक्षा करते हैं।

प्रेमासक्ति बनाम वैवाहिक प्रेम

भारतीय संस्कृति में सामाजिक कर्तव्यों से च्युत प्रेमासक्ति को सर्वत्र निन्दनीय ठहराया गया है। कालिदास के दोनों महान नाटकों—'शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय'—में अत्यन्त आकर्षक ढंग से वासना तथा मुक्त प्रेम और तदुपरान्त वियोग तथा पीड़ा को कथानक बनाया गया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में प्रेमी और प्रेमिका का विछोह विचित्र परिस्थितियों में होता है। अत्यन्त धैर्यपूर्वक वे आपत्तियों को सहन करते हैं जिसके फलस्वरूप उनकी आत्माएं परिशुद्ध हो उठती हैं। उनके पूर्व संभोग के प्रतीक-स्वरूप एक बच्चे का जन्म होता है। तब कहीं जाकर दोनों विवाह-बन्धन में बंध जाते हैं। नाटक में जब दुष्यन्त शकुन्तला को अस्वीकार कर देता है तो शार्ङ्गरव शकुन्तला की भर्त्सना करता है 'अमावधानी से ऐसी ही मुसीबतें आती हैं।' प्रेम के नशे में डूबी शकुन्तला के

कामासक्त होने पर अभिमानी और महाक्रोधी दुर्वासा का शाप शाकुन्तल में कर्तव्य-कर्म का विचार भूलकर प्रेम में डूबी रहनेवाली नायिका के प्रति समाज की कठोर किन्तु न्यायसंगत भर्त्सना का प्रतीक है। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' में स्वामी का शाप भी समाज की कठोर शिक्षा का प्रतीक है। पुरूरवा के प्रेम में डूबी उर्वशी स्वर्ग में 'लक्ष्मी-स्वयंवर' के समय नृत्य करते हुए स्वयं का ध्यान भूल जाती है कि 'तुम्हारा' हृदय का स्वामी कौन है? पूछे जाने पर 'पुरुषोत्तम' कहने के स्थान पर उत्तर देती है 'पुरूरवा'। दोनों नाटकों में क्रमशः दुर्वासा और भरत के शापों पर ही कथानक का उत्थान होता है। 'कुमारसम्भव' में उमा का उत्फुल्ल यौवन या शिव की कामना से मदन भी हर-गौरी का संयोग नहीं करा सके। उनके विवाह की आवश्यक शर्तें हैं तितिक्षा और पवित्रता। 'शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय' में जब पीड़ा की अवस्था का सहन करने के पश्चात् प्रेम की तीव्रता और मादकता समाप्त हो जाती है, तभी प्रेमी राजा तथा नायिका सन्तति की आशा और संतानप्राप्ति के रूप में वीर बालक भरत अथवा आयुष के साथ पुनर्मिलन और स्थायी सुख के लिए तैयार हो पाते हैं।

गुप्तकाल से पहले के समय में गान्धर्वविवाह—जिसकी साक्षी आकाश की तारिकाएँ होती थीं—स्वाभाविक था। गुप्तकाल में इसको पतन समझा जा रहा था और कालिदास ने इस प्रकार की सत्य और वासनात्मक आसक्ति की कड़े शब्दों में निन्दा की। 'शाकुन्तल' में कालिदास ने लिखा है

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥
(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५. २४)

शकुन्तला और उर्वशी के दुःखों का दायित्व अविचारित उन्मीलन है। प्रेम स्वार्थ वास्तव में कथानक के विकास पर नियंत्रण रखनेवाले अप्रत्याशित और अज्ञात शक्ति के प्रतीक बन गये हैं। यह भारतीय युक्ति युधिष्ठिर और यक्षनियम में 'प्रश्न' वाली युक्ति के समान है। इसलिए इस बात अथवा दैवी नहीं समझा जा सकता। कालिदास की भाग्य पर आधारित एक विश्वव्यापी व्यवस्था—'कर्म' अथवा 'धर्म'—पर विश्वास है फिर भी वे मानवीय दुर्भाग्य अथवा दुःख के दायित्व से परे मानव को नहीं मानते। यही कारण है कि उनके नाटकों का समाज के सर्वोत्कृष्ट नाटकों में रखा जाता है।

भारत की साहित्यिक परम्परा के अनुसार, सम्पूर्ण कलाओं में सर्वश्रेष्ठ नाट्यकला है और नाटकों में सर्वश्रेष्ठ 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' है, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में सर्वश्रेष्ठ चतुर्थ अंक है तथा इस अंक में सर्वश्रेष्ठ है वह अंश जिसमें ऋषि कण्व अपनी पालित पुत्री को विदा करते हैं। इस अंश में आश्रम के वृक्षों और लताओं की, जिन्हें शकुन्तला ने लम्बे समय तक पाला-पोसा था, सहज सहानुभूति और कोमलता को व्यक्त किया गया है। जब राजा दुष्यन्त के दरबार के लिए प्रस्थान करते समय शकुन्तला उनसे विदा लेती है तो वे मित्रता और ममत्व की भावना से मूक बन जाते हैं। वृक्षों, पक्षियों और पशुओं सभी के नेत्रों से अश्रु बहते हैं मानो शकुन्तला के भावी दुर्भाग्य के प्रति उनमें एक [illegible]

काम की पत्नी रति अपने पति की मृत्यु पर बिलखकर रोती है और अपने पति के शव के साथ चिता में जलने का निश्चय करके बसंत से चिता तैयार करने को कहती है। उमा उलझन में पड़ जाती है। उसे बड़ी शर्म आती है। वह अपने सौंदर्य की निंदा करती है। वह अपने सौंदर्य को फलप्रद बनाने के लिए तप करने का निश्चय करती है। ऐसा तप जैसा किसी योगी ने भी कभी न किया हो। अनश्वर पति के अनश्वर प्रेम की प्राप्ति का और क्या ढंग हो सकता है? ग्रीष्म ऋतु में वह अपने चारोंओर अग्नि जलाती है और जीवन दाता सूर्य की ओर देखती है। वर्षा ऋतु में वह नंगे पत्थर पर लेटती है और पानी से भीगती है। अपनी बिजली की चमक से रात्रि उसे ऊपर से देखती है। शीत ऋतु में वह बर्फीले पानी में खड़ी रहती है। बर्फीली हवा उसके शरीर को बर्फ के गालों से ढँक देती है। किन्तु अपने तप से उसे स्वयं कोई कष्ट नहीं है। दो चक्रवाक पक्षी अंधेरी रात में एक-दूसरे से बिछुड़ जाने पर करुण स्वर में परस्पर पुकारते हैं तो उमा को उनपर दया आती है। अंत में योगी देवता शिव देखते हैं कि इस तपस्या से उमा का कोमल शरीर नष्ट होता जा रहा है तो वे उसे स्वीकार करने का निर्णय करते हैं। उमा के प्रेम की परीक्षा के लिए वे *छद्मवेश में उसके पास जाकर विवाह प्रस्ताव रखते हैं। "इसी क्षण से हे सुन्दरी मैं तुम्हारा दास हूं"* चन्द्रशेखर कहते हैं और तत्काल उमा की स्वयं आयोजित कष्ट की थकान मिट जाती है—श्रम के फलीभूत होने से उसे ऐसा आभास होने लगा मानो उसने किसी *प्रकार का कष्ट कभी उठाया ही न हो। तब सप्तर्षि आते हैं और विवाह निश्चित करते हैं।*

शिव और उमा अखिल ब्रह्माण्ड के देवता और देवी हैं जिनका संयोग 'पुरुष' और 'प्रकृति' का संयोग है ('रघुवंशम्' ११ ५१) और उनका काम है ब्रह्माण्ड के रचना विधान मनुष्यजाति और उसके धर्म की परम्परा को बनाए रखना। शिव और उमा का तप ही उनके विवाह और पारिवारिक जीवन का आधार है। वैवाहिक सुख से पहले के दैवी तप द्वारा ही मानवीय प्रेम और विवाह के मानदण्ड निश्चित होते हैं। भारतीय घर और परिवार की निर्मात्री शक्तियों की पवित्रता का विशद वर्णन 'कुमारसम्भव' में है। शिव और उमा के संयोग के फलस्वरूप युद्ध-देवता कार्तिकेय का जन्म होता है जो तारक नामक दानव के उपद्रवों से संसार की रक्षा करते हैं।

प्रेमासक्ति बनाम वैवाहिक प्रेम

भारतीय संस्कृति में सामाजिक कर्तव्यों से च्युत प्रेमासक्ति को सदैव निन्दनीय ठहराया गया है। कालिदास के दोनों महान नाटकों—'शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय' —में अत्यन्त आकर्षक ढंग से वासना तथा गुप्त प्रेम और तदुपरान्त वियोग तथा पीड़ा को कथानक बनाया गया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में प्रेमी और प्रेमिका का बिछोह विचित्र परिस्थितियों में होता है। अत्यन्त धैर्यपूर्वक वे आपत्तियों को सहन करते हैं जिसके फलस्वरूप उनकी आत्माएं परिशुद्ध हो उठती हैं। उनके पूर्ण संयोग के प्रतीक-स्वरूप एक बच्चे का जन्म होता है। तब कहीं जाकर दोनों विवाह-बन्धन में बंध पाते हैं। नाटक में जब दुष्यन्त शकुन्तला को अस्वीकार कर देता है तो शार्ङ्गरव शकुन्तला की भर्त्सना करता है *असावधानी से ऐसी ही मुसीबतें आती हैं।* प्रेम के नशे में डूबी शकुन्तला के

कर्तव्यच्युत होने पर अभिमानी और महाक्रोधी दुर्वासा का शाप वास्तव में कर्तव्य कर्तव्य का विचार भूलकर प्रेम में डूबी रहनेवाली नायिका के प्रति समाज की कठोर किन्तु सामयिक भर्त्सना का प्रतीक है। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी को भरत का शाप समाज की कठोर निन्दा का प्रतीक है। पुरूरवा के प्रेम में डूबी उर्वशी स्वर्ग में 'लक्ष्मी स्वयंवर' के समय नृत्य करते हुए स्वयं को इतना भूल जाती है कि 'तुम्हारे हृदय का स्वामी कौन है ?' पूछे जाने पर 'पुरुषोत्तम' शब्द के स्थान पर उत्तर देती है 'पुरूरवा'। दोनों नाटकों में क्रमशः दुर्वासा और भरत के शापों पर ही कथानक का उद्घाटन होता है। 'कुमारसम्भव' में उमा का उत्फुल्ल यौवन या शिव की साधना में से कोई भी देव-युगल का संयोग नहीं करा सकते। उनके विवाह की आवश्यक शर्तें हैं विनयन और पवित्रता। 'शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय' में जब पीड़ा की अवस्था को सहन करने के पश्चात् प्रेम की तीव्रता और मादकता समाप्त हो जाती है तभी प्रेमी राजा तथा नायिका भविष्य की आशा और संभावनाओं के रूप में वीर बालक भरत अथवा आयुष् के साथ पुनर्मिलन और स्थायी सुख के लिए तैयार हो पाते हैं।

गुप्तकाल से पहले के समय में गन्धर्वविवाह—जिसकी साक्षी आश्रम की आत्माएं होती थीं—वैधानिक था। गुप्तकाल में इसका चलन मिटता जा रहा था और कालिदास ने इस प्रकार की गुप्त और वासनात्मक आसक्ति की कड़े शब्दों में निन्दा की। 'शाकुन्तल' में कालिदास ने लिखा है

> अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
> अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥
>
> (अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५, २४)

शकुन्तला और उर्वशी के दुःखों का दायित्व अधिकांशतः उन्हींपर है अतः शाप वास्तव में कथानक के विकास पर नियन्त्रण रखनेवाले अप्रभावित और अज्ञात भाग्य के समान भाग लेते हैं। यह नाटकीय युक्ति यूरिपिडीज और शेक्सपियर में 'प्रव' वाली युक्ति के समान है। इसलिए इस बाह्य अथवा दैवी नहीं समझा जा सकता। कालिदास को भाग्य पर आधारित एक विश्वव्यापी व्यवस्था—'ऋत' अथवा 'धर्म'—पर विश्वास है फिर भी वे मानवीय दुर्भाग्य अथवा दुःख के दायित्व से परे मानव को नहीं मानते। यही कारण है कि उनके नाटकों को संसार के सर्वोत्कृष्ट नाटकों में माना जाता है।

भारत की साहित्यिक परम्परा के अनुसार, सम्पूर्ण कलाओं में सर्वश्रेष्ठ नाट्यकला है, सारे नाटकों में सर्वश्रेष्ठ 'अभिज्ञानशाकुन्तल' है 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में सर्वश्रेष्ठ चतुर्थ अंक है तथा इस अंक में सर्वश्रेष्ठ है वह अंश जिसमें ऋषि कण्व अपनी पोषित पुत्री को विदा करते हैं। इस अंश में आश्रम के वृक्षों और लताओं की जिन्हें शकुन्तला ने लम्बे समय तक पाला-पोसा था सहज सहानुभूति और कोमलता को व्यक्त किया गया है। जब राजा दुष्यन्त के दरबार के लिए प्रस्थान करते समय शकुन्तला उनसे विदा लेती है तो वे मित्रता और समर्पण की भावना से मूक हो जाते हैं। वृक्ष, पक्षियों और पशु सभी के नयनों से अश्रु भरते हैं मानो शकुन्तला के भावी दुर्भाग्य के प्रति उनमें एक सजगता

आकुलता भर उठी हो किन्तु शकुन्तला अन्ततः मानवी है और उसका हृदय यौवनमय प्रेम से पूरित है इसलिए वह अपने भावी दुर्भाग्य की कल्पना तक नहीं कर पाती। जंगली हिरन उसके वस्त्र का कोना पकड़कर उसे लौटाने का प्रयत्न करता है उसके पीछे दौड़ता हुआ बहुत दूर तक जाता है, मानो वह शकुन्तला के प्रारब्ध में लिखित यन्त्रणा को न होने देना चाहता हो। शकुन्तला की भावी यंत्रणा के विचार मे डूबा चक्रवाक पक्षी अपनी साथीन की पुकार का कोई उत्तर नही देता। इसपर मादा जोर से चीखती है। यह मानो उस दृश्य का पूर्वाभास है जब दुष्यन्त पर शकुन्तला की किसी बात का प्रभाव नही पड़ता तो वह दरबार में ही विलाप करने लगती है। शकुन्तला अपने प्रेम म इस सीमा तक डूबी है कि किसी चेतावनी पर उसका ध्यान नहीं जाता किन्तु उसकी सखियों—विशेषरूप से प्रियम्वदा की चेतना का स्पर्श मादा चक्रवाक की चीख कर लेती है। मानवीय मनःस्थितियों और आश्रम के वृक्षों पशुओं तथा अन्य वस्तुओं की परस्पर प्रक्रिया को आधार बनाकर कालिदास की काव्य-संवेदना ने सजीव और निर्जीव पदार्थों मे गहनतम ऐक्य का सृजन किया है जो विश्व-साहित्य मे अतुलनीय है। और प्राकृतिक दृश्य मे घुल-मिलकर एक हो जाने वाली इस अत्यन्त तीव्र और करुणाजनक मानवीय परिस्थिति की पष्ठिका पर ऋषि कण्व का विवेकशील सौम्य गंभीर व्यक्तित्व सबसे अलग उभरता है।

भारतीय आदर्श प्रेमासक्ति नहीं वरन् गम्भीर, स्थायी और अंतरंग वैवाहिक सुख है। कालिदास और भवभूति (जो सातवीं शताब्दी ईस्वी मे जीवित थे) दोनों ने रामायण में वर्णित रामचन्द्र और सीता के वैवाहिक प्रेम के प्राचीन महान कथानक को अपनी कृतियों का आधार बनाया है। किन्तु भवभूति ने सर्वप्रथम इसप्रेम के कष्टपूरित मार्ग को नाटक का रूप दिया। उनके 'उत्तररामचरित' की विशेषताएं है तीव्र पीड़ा और नाटकीय स्थितियों का कुशल चयन। इस प्रभाव के उत्पादन के लिए कभी-कभी नाटककार को मूल महाकाव्य की कहानी से अलग भी होना पड़ा है। प्रथम अंक के एक दृश्य म सीता को वन जीवन की घटनाओं के चित्र दिखाए जाते हैं तो वह थकान और चिन्ता के कारण सो जाती है—यह दृश्य वैवाहिक प्रेम की गम्भीरता और पवित्रता का श्रेष्ठतम अंकन है। कालिदास का जीवन गुप्तवंश के स्वर्णयुग मे बीता और व प्रेम की सुखानुभूति व कोमलता का वर्णन करन म अद्वितीय थे। इसके विपरीत भवभूति का जीवन इतने वैभवशाली युग में नही बीता तथा उन्हें कन्नौज की राजनीतिक उथल-पुथल का अनुभव हुआ अत उनमें कालिदास से अधिक गहराई, ओज तथा भावना की परिपक्वता है। भवभूति का कथन है कोई रहस्यमय आन्तरिक बंधन वस्तुओं को एकत्र करता है। निश्चय ही प्रेम बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता। सूर्योदय होते ही कमल खिल उठता है शीतल चन्द्रमा के उदय के साथ-साथ चंद्रकान्तमणि पिघल जाती है। कालिदास और भवभूति *दोनों राम और सीता की कहानी में वैवाहिक त्याग गौरव और सहनशीलता के भावों* को सफलतापूर्वक चित्रित कर सके हैं। राम ने केवल अपनी प्रजा की इच्छा के लिए अपने प्रेम और करुणा पर ध्यान न देकर सीता का त्याग कर दिया—सीता के भाग्य की गंभीर पीड़ा का अकन भी दोनों कवियो ने उत्तम ढग से किया है। किन्तु भवभूति म निस्सदेह कालिदास से अधिक गंभीर तथा प्रौढ़ अनुभव है जिसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक ओजमय तथा

व्याख्या अधिक गूढ़ है। इस प्रकार भवभूति ने एक प्राचीन कथा को एक सामान्य भारतीय के दैनिक अनुभव का आधार प्रदान किया। विद्युत् के समान मिश्र और कलिका के समान कोमल लोकोत्तर चरित्र महाकाव्य के विलास और वीर्यपूर्ण रंगस्थली से नीचे उतारकर सामान्य नश्वर मानवता के स्तर पर आ जाते हैं और उन्हींके समान तीव्र यन्त्रणा और कष्ट भोगते हैं।

गुप्तकालीन साहित्य का विस्तार

दूसरी दिशाओं में भी भारतीय साहित्य का विकास इस सीमा तक हुआ कि विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक लिखा जिसमें प्रेम का स्थान तक नहीं है किन्तु राजनीति—सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रति भक्ति—सर्वव्याप्त है। कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे पूर्ववर्ती प्रसिद्ध साहित्यकारों का जिक्र किया है। भास के सुप्रसिद्ध नाटकों में से एक का नाम है 'चारुदत्त'। इसका कथानक वही है जो विख्यात नाटक 'मृच्छकटिक' का है और कालिदास से बहुत पहले इसका अभिनय हुआ था। दुष्ट चोर और वेश्याएं इस नाटक के पात्र हैं किन्तु फिर भी नीचता के बीच सच्चाई और मानवता तथा जीवन की आपदाओं और लालसाओं के बीच सौन्दर्य, प्रेम और विश्वसनीयता के दर्शन होते हैं। सम्राट् शूद्रककृत 'मृच्छकटिक' जैसे [illegible] यथार्थवादी नाटक का अभिनय एक प्रौढ़ और सुरक्षित सभ्यता में ही सम्भव था। यह नाटक 'कला के लिए कला' का एक उत्कृष्ट उदाहरण है और फिर भी भारत की विवेकशीलता और निर्ममता इसमें परिव्याप्त है। इसके अतिरिक्त गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' में अनेक आख्यान हैं, जिनकी रचना शायद पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी में हुई थी। इन आख्यानों में नाविकों, लुटेरों, बदमाशों और वेश्याओं द्वारा राजाओं और देवताओं तक के ठगे जाने की अविश्वसनीय घटनाएं भरी पड़ी हैं। फिर दण्डी, सुबन्धु और बाण के काल्पनिक आख्यान हैं। इनमें अक्सर नैतिकता को तो बलाए ताक में रख दिया जाता है किन्तु वेदना को नहीं। असम्भव किन्तु मनोग्राही घटनाओं और साहसिक कार्यों का अम्बार है इन आख्यानों में।

सम्राट् हर्ष (६०६–६४७ ईस्वी)-कृत 'रत्नावली' और राजशेखरकृत 'कर्पूरमंजरी' (जिसकी रचना नवीं शताब्दी के अन्त में हुई थी) इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें 'कामोत्सव', 'मधूत्सव' अथवा 'वसन्तोत्सव' के विशद वर्णन हैं। अशोकवृक्ष पर बैठे कामदेव की पूजा की गई और वृक्ष की जड़ के पास कामदेव के तथाकथित अवतार प्रद्युम्न को बिठा दिया गया। स्त्रियों ने तब चन्दन, केशर और फूल कामदेव को अर्पित किए और फिर कामस्वरूप अपने पतियों की पूजा की। बाद के समय में दसवीं से तेरहवीं शताब्दियों के बीच कामदेव अथवा लक्ष्मी का वसन्तोत्सव एक माह तक चलनेवाले सार्वजनिक धूलमहोत्सव 'धीरी' में मिल गया और भी बाद में इस उत्सव ने 'होली' का रूप धारण कर लिया। 'रत्नावली' में वसन्तोत्सव का वर्णन पढ़कर आधुनिक वसन्तोत्सव होली में डाले जानेवाले रंग-अबीर की याद आती है।

इसी युग के एक अल्पप्रसिद्ध किन्तु श्रेष्ठ कवि थे वत्सभट्टि। मंदसौर में एक

विलास सूर्य-मंदिर की साज-सज्जा वहां के रेशमी कपड़ा बुनकर-संघ ने की थी और वत्सभट्टि ने एक अभिलेख (४७३–४७४ ईस्वी) लिखा था। उन्होंने उपमा और रूपक का उपयोग अत्यन्त कौशल से किया और उसका अभिलेख श्रेष्ठ काव्य के स्तर तक पहुंचता है। रेशम-बुनकर अपनी कला में पारंगत तो थे ही उन्हें धनुर्विद्या ज्योतिष प्राचीन कथाओं और धार्मिक शास्त्रार्थ में रुचि थी और वे युद्ध में भी भाग लेते थे। संघ सम्पत्तिशाली और समृद्ध था तथा राजाओं द्वारा सम्मानित था। उसके सदस्य भौतिक वस्तुओं की नश्वरता को समझते थे और धर्मनिष्ठ थे। अभिलेख में दशपुर नगर का अत्यन्त आकर्षक वर्णन है।

जीवन में आनन्द और आकर्षण की वृद्धि में साहित्य की अनेक विधाओं के अतिरिक्त चित्रकला संगीत और नृत्य का भी हाथ था। मयूर, माघ और भर्तृहरि सातवीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण गीतिकवि थे। ये कवि प्रेम के विभिन्न रूपों का विशद और ओज पूर्ण वर्णन करते थे। इसके पश्चात् आठवीं शताब्दी में एक और विख्यात कवि अमरु हुए। 'मालविकाग्निमित्र' में तो एक नृत्य प्रतियोगिता भी आयोजित है तथा एक भाषण में तो नृत्यकला को सम्पूर्ण कलाओं में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। गुप्तकाल में ही (तीसरी-चौथी शताब्दी ईस्वी में) 'कामंदकीय नीतिसार' की रचना हुई। भवभूति और दण्डी ने इसका ज़िक्र किया है। इसमें राज्य और प्रशासनविधि-सम्बन्धी कौटिल्य परम्परा को आगे बढ़ाया गया है तथा अपने सामान्य सिद्धांतों और सूक्तों के कारण नीतिशास्त्र में इसका उच्चस्थान है। इस ग्रंथ का खूब प्रचार हुआ और यह बालिद्वीप तक जा पहुंचा। वहां के निवासी नीतिशास्त्र और कामंदकीय दोनों से परिचित थे। कुछ विद्वानों के अनुसार 'कामंदकीय नीतिसार' के रचयिता थे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के प्रधानमंत्री शिखरस्वामी।

विस्तृत गुप्तकाल की स्वच्छन्दता, सुव्यवस्था तथा जीवन, विचार और सक्रियता का उत्कर्ष तत्कालीन अद्वितीय साहित्य में भली भांति परिलक्षित है। विदेशी सांस्कृतिक धाराओं का प्रभाव नगण्य है और नाटक व रोमांस को छोड़कर किसी अन्य साहित्यिक विधा में दिखाई नहीं पड़ता। विदेशी प्रभावों के प्रति भारत की प्रतिक्रिया का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है गुप्तकालीन मूर्तिकला और चित्रकला में एक राष्ट्रीय शैली का विकास। इसका अध्ययन बाद में किसी अध्याय में किया जाएगा।

विज्ञान की उपलब्धियां

विज्ञान के क्षेत्र में अवश्य यूनानी संसार के सम्पर्क का सुफल हुआ। लगभग ५५ ईस्वी में वराहमिहिर ने अपनी कृति 'पंचसिद्धान्तिका' में दो ऐसे सिद्धान्तों को सम्मिलित किया है जिनके नाम विदेशी हैं। ये हैं 'रोमक' जो रोम से सम्बन्धित है और शायद सिकन्दरिया से यहां आया था और पौलिश जिसका उद्भव सम्भवतः पौलस एलेक्ज़ेन्ड्रिनस से हुआ है। वराहमिहिर, आर्यभट्ट तथा बाद के गणितज्ञों के ज्योतिष और गणित के सिद्धान्तों में यूनानी विचारों का यत्किंचित अवश्य प्रभाव पड़ा। यहीं पर एक बार फिर भारत की मौलिकता का पता चलता है। भारत ने यद्यपि विदेशी प्रभावों को ग्रहण किया

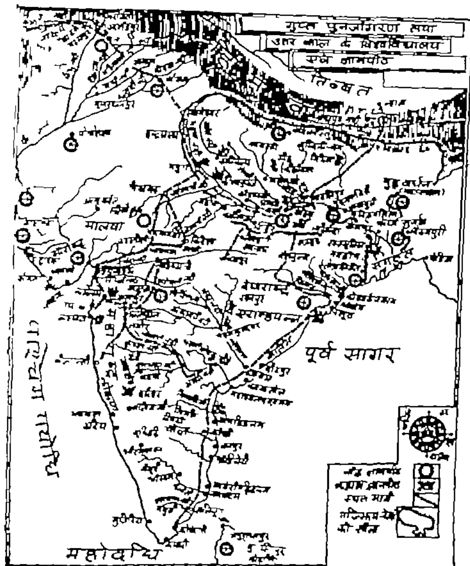
किन्तु इसके बावजूद ज्योतिष, बीजगणित और ज्यामिति की अपनी प्रणालियों का विकास किया तथा इन प्रणालियों ने अरब गणित में प्रवेश करने के पश्चात् पश्चिमी संसार को प्रभावित किया। आर्यभट्ट (४७६–४९९ ईस्वी) इस काल के महान गणितज्ञ थे। उन्होंने शून्य और दशमलव का प्रयोग किया, वर्गमूल और घनमूल निकाले तथा द्विघात समीकरणों को हल किया। दूरबीनों के बिना उन्होंने ग्रहों की स्थितियों और गतियों की काफी हद तक शुद्ध गणना की। हर्ष के शासन-काल में जीवित ब्रह्मगुप्त भी अपने समय के संसार के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी गणितज्ञ थे। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जो बाद में न्यूटन के नियम के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उनकी मृत्यु के बाद एक शताब्दी के भीतर बगदाद के खलीफा मंसूर ने उनके 'सिद्धान्त' को बगदाद मंगवाकर उसका अरबी अनुवाद कराया।

गुप्तकाल में चिकित्साविद्या का भी काफी विकास हुआ। ई-त्सिङ् के अनुसार बड़े नगरों और कस्बों में आदमियों और पशुओं के अस्पताल थे तथा सामान्य शिक्षाविधि में चिकित्साविद्या का अध्ययन सभी के लिए अनिवार्य था। चीनी यात्री ई-त्सिङ् ने लिखा है कि चिकित्सकों को चिकित्साविद्या की आठ शाखाओं का ज्ञान था और वे उन्हें काम में लाते थे। ये शाखाएं थीं (१) बाहरी और भीतरी फोड़े (२) गर्दन से ऊपर की बीमारियां (३) बदन से नीचे की अर्थात् शारीरिक व्याधियां (४) दुष्टात्माओं के आक्रमण से उत्पन्न पैशाचिक व्याधियां (५) अगद औषधियां अर्थात् विषों का उपचार करनेवाली औषधियां (६) भ्रूणावस्था से लेकर बारह वर्ष की अवस्था तक बालकों की व्याधियां (७) जीवन-अवधि बढ़ाने के उपाय और (८) शरीर को शक्तिसम्पन्न बनाने के उपाय। चीनी यात्री का कथन है कि इन आठों शाखाओं में निपुण वैद्य सरकारी नौकरी करके आसानी से अपनी जीविका चला सकता है। ई-त्सिङ् ने गर्म लोहे से दागने और फोड़े को चीरने की विधियों की बात भी लिखी है। चिकित्साविद्या का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नवनीतकम्' की रचना गुप्तकाल में हुई। इसमें पहले के अनेक सुविदित ग्रन्थों—'चरकसंहिता', 'सुश्रुतसंहिता' और 'भेलसंहिता'—से काफी सामग्री ली गई है। 'नवनीतकम्' की एक हस्तलिपि तुर्किस्तान में मिली थी। गुप्तकाल में ही हाथियों की बीमारियों के विषय में एक ग्रन्थ पालकाप्यकृत 'हस्त्यायुर्वेद' की रचना हुई।

ह्वेनसाङ् के अनुसार विख्यात नागार्जुन प्रथम सदी के दार्शनिक मात्र न थे वरन् रसायन और धातुविज्ञान के महान वैज्ञानिक भी थे। भारतीय वैज्ञानिकों और कारीगरों ने धातुविज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त कर ली थी। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है, दिल्ली के विख्यात लौहस्तम्भ में लोहे को जंग से सुरक्षित बनाना। गुप्तकाल के 'रत्न' वराहमिहिर थे। वे वनस्पति-शास्त्र से लेकर ज्योतिष और धातुविज्ञान से लेकर सिविल इंजीनियरिंग तक सभी विज्ञानों और कलाओं ('शिल्पस्थान विद्या') के प्रकांड विद्वान थे। उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'बृहत्संहिता' विज्ञान और कला का एक विश्वकोष है और है वैज्ञानिक बुद्धि और तत्परता का मूर्तिमान प्रतीक।

सार्वभौम और शाश्वत की खोज

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकाल में संन्यास पर जोर देनेवाले बौद्धधर्म ने एक सांसारिक और संस्थागत धर्म का रूप धारण कर लिया सभी धर्मों और सम्प्रदायों में भक्तिवाद का प्रसार हुआ विदेशों के साथ व्यापार, उपनिवेशीकरण और सम्पर्क में वृद्धि हुई, एक धनिक व्यापारीवर्ग के उदय के कारण आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आया और सबसे बढ़कर एक राष्ट्रीय संस्कृति तथा आक्रमणकारियों व बर्बरों के समुदायों के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हुई और वह सुदृढ़ बना। इन सारी परिस्थितियों की अनुकूलता के कारण साहित्य तथा ललितकला दोनों में 'परम्पराओं' और शैलियों की स्पष्ट परिभाषाएं की गईं तथा भारत में एक 'क्लासिकल' कला का युग आरम्भ हुआ। गुप्तकाल अनिवार्यतः ऐसा काल था जब भारतवासी जीवन के सभी क्षेत्रों में शाश्वत और अमूर्त में उड़ान भर सके। गुप्तकालीन भारत में सार्वभौमिकता के लिए विशेष प्रयास किए गए। सार्वभौम सम्प्रभुता और सार्वभौमिक संस्कृति पर आधारित राज्य के सिद्धांत (जिनके साथ आर्यावर्त का राजनीतिक प्रसार और ऐक्य सम्बद्ध था।) सार्वभौम मानव और सार्वभौम समाज के धार्मिक सिद्धांत सभी धर्मों और सम्प्रदायों में मानव-मुक्ति की मसीहाई आशा दर्शन में सार्वभौम सिद्धांतों और विचारों का स्पष्टीकरण विज्ञान का फलप्रद विकास साहित्य कला और मूर्तिकला में क्लासिसिज्म 'वर्णसंकर' और 'कलियुग' के सिद्धांत तथा विदेशियों की नवीन वर्ण के रूप में स्वीकृति तथा कानूनी और व्यावहारिक दृष्टि से वर्ण भेद का शमन ऐसे ही प्रयास थे। यह है गुप्त संस्कृति का भारत के लिए कालातीत उत्तराधिकार। सच तो यह है कि भारतीय इतिहास के उस स्वर्णयुग के पश्चात् अब तक भारत की विचारधारा और संस्थात्मक ढांचे को ढालने का काम इसी उत्तराधिकार ने किया है।


गुप्त पुनर्जागरण तथा
उत्तर काल के विश्वविद्यालय
एवं ज्ञानपीठ
तिब्बत
मालवा
पूर्व सागर
महोदधि

अध्याय १०

बौद्ध विश्वविद्यालयों में जीवन-यापन और विद्याध्ययन

बुद्ध के चरण-चिह्नों पर एक यात्री का पश्चिम की ओर प्रस्थान

६२९ ईस्वी की बात है। चीन के सुप्रसिद्ध प्राचीन नगर चाङ्-अन में जहाँ पाँच शताब्दियों पहले काश्मीर, कुच और काशगर के भारतीय भिक्षुओं ने बौद्धमठों की स्थापना की थी एक नवयुवक चीनी विद्यार्थी को बौद्ध भिक्षुक बनाया गया। इस बीसवर्षीय लम्बे और सुन्दर नवयुवक के बड़े भाई को पहले ही दीक्षित किया जा चुका था। कुछ वर्षों तक वह बौद्धधर्मग्रन्थों का अध्ययन करने के उद्देश्य से चीन के प्रमुख मठों का भ्रमण करता रहा। फिर उसके मन में 'पश्चिमी देश' के उन सभी पवित्रस्थानों को देखने की अदम्य उत्कंठा जाग उठी जो बुद्ध शाक्यमुनि के जीवन से सम्बन्धित थे। कुछ बातें जानने और तैयारी करने के बाद वह चुपचाप ६२९ ईस्वी में बौद्धधर्म की पवित्र भूमि की ओर चल पड़ा—आज उसकी यात्रा विश्वविख्यात है। चीन के तत्कालीन सम्राट् ताइ-त्सुङ् (६२७–६४९ ईस्वी) कला और साहित्य के महान संरक्षक थे। उन्होंने मध्य एशिया पर अपनी विजययात्रा तब तक आरम्भ नहीं की थी और ६४३ ईस्वी में उन्होंने भारत के सम्राट् हर्ष शीलादित्य (६०६–६४७ ईस्वी) के दरबार में अपना राजदूत भेजा था। चीन के सम्राट् ने युवक-भिक्षु को इस यात्रा की आज्ञा न दी क्योंकि 'पश्चिमी देश' के रास्ते में अनेक खतरे थे। किन्तु भिक्षु ने सम्राट् की आज्ञा पर कोई ध्यान न दिया। उसने गोबी के पठारी वाले रेगिस्तान के खतरों को पार किया सीमा के चीनी पहरेदारों की सतर्कता को परास्त करके बच निकला दिन में छिपकर और रात में आगे बढ़ते हुए अपनी यात्रा जारी रखी तथा प्राचीन कारवाँ-मार्ग पर पड़नेवाले प्रमुख मध्यएशियाई नगरों—तुरफान, करशहर और कुच—में विश्राम किया। इन नगरों में वह यह देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ कि लोग अत्यन्त निष्ठापूर्वक प्रचलित धर्म बौद्धधर्म का पालन करते थे। यहाँ की उच्च संस्कृति की भौतिक सम्पन्नता ने भी उसे प्रभावित किया। तब अनेक साहसिक कृत्यों के बाद उसने अभियान में हिन्दूकुश पार किया। 'पश्चिमी देश' की यात्रा जारी रखते हुए वह काबुल नदी की घाटी में पहुँचा। राह में कपिश लम्पक गंधार और तक्षशिला में उसे सैकड़ों भ्रष्ट ध्वस्त स्तूप और मठ मिले जहाँ केवल दो सदियों पूर्व श्वेत हूणों ने वैभवशाली कुषाण-सभ्यता का विनाश किया था। शाकल—जहाँ से हूण-सम्राट् मिहिरगुल ने अपने बर्बर सैनिकों को उत्तरी भारत पर लूटमार करने को भेजा था—होते हुए वह उपजाऊ गंगा-यमुना के दोआब पहुँचा और वहाँ से भी पूर्व की ओर बढ़ता गया।

नालन्दा विश्वविद्यालय

वह बुद्धभद्र था ह्वेनसांग । उसने प्रत्येक व्यक्ति की मैत्रीपूर्ण चेतावनी के उत्तर में केवल इतना कहा था कि यात्रा के समस्त खतरों के बावजूद बौद्धधर्म की पवित्र भूमि के दर्शन की मेरी उत्कट इच्छा है। 'आप समझ सकते हैं कि मेरे भीतर बुद्ध के नियम को स्वयं जाकर खोजने और प्राचीन स्मारकों को देखने की इच्छा प्रबल है ताकि मैं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनके चरणचिह्नों पर चल सकूं। आखिरकार, मगध में बुद्ध के जीवन और उपदेशों से सम्बद्ध विख्यात स्थलों की यात्रा करने के बाद चीनी भिक्षु-यात्री ६३७ ईस्वी में बौद्ध नगर नालन्दा पहुंचा। चौथी शताब्दी में फाह्यान भी नालन्दा आया था यह समझकर कि *सारिपुत्र का जन्म और परिनिर्वाण यहीं हुआ था।* ह्वेनसांग ने लिखा है कि नालन्दा विश्वविद्यालय के संस्थापकों में से दो थे शक्रादित्य (जो शायद कुमारगुप्त (४१४-४५५ ईस्वी है) और बुद्धगुप्त (४७२-५०० ईस्वी)। विख्यात संघाराम की सुशोभतापूर्वक अलंकृत मीनारें उसके अनेकानेक मंडप और हर्मिका तथा अनेक मन्दिर-कलश 'आकाश की धुंध से ऊपर उठे मालूम पड़ते थे। वह इतना ऊंचा था कि 'बादलों पर हवा का जन्म देखा जा सकता था। 'मठों के इर्द-गिर्द निर्मल नीले पानी का एक नाला टेढ़ा-मेढ़ा बहता था। फूले हुए नीलकमल के पुष्पों से नाला और भी अधिक सुन्दर लगता था। मंदिर के भीतर सुन्दर कनिकार वृक्ष चमकदार सुनहरे पुष्पों से लदे थे और बाहर आम के बगीचों की घनी छाया में कुटियाएं थीं। ह्वेनसांग के जीवनीलेखक ने आगे लिखा है: भारत में आज हजारों मठ हैं किन्तु इस मठ के समान सौन्दर्य सम्पत्ति और ऊंची इमारतें कहीं नहीं हैं। भीतर और बाहर दोनों मिलाकर *लगभग* दस हजार धर्मार्थी हैं और सभी महायान सिद्धान्त के अनुयायी हैं। अठारहों सम्प्रदायों के अनुयायी यहां एकत्र हैं और वेद जैसे लोकप्रिय ग्रन्थों से लेकर चिकित्साविद्या तंत्रविद्यायों तथा गणित के ग्रन्थों का पठन-पाठन यहां होता है। मठ के भीतर सौ मंच प्रतिदिन लोगों से भरे रहते थे और विद्यार्थी एक क्षण भी नष्ट न करके अपने गुरुओं के प्रवचनों को ध्यान पूर्वक सुनते थे। 'इन सब सदाचारी व्यक्तियों के बीच स्वभावतः जीवन कठोर और गम्भीर अनुशासन में बंधा था। यही कारण है कि मठ के सात सौ साल के लम्बे जीवन काल में एक भी व्यक्ति ने अनुशासन के नियमों का उल्लंघन नहीं किया है। सम्राट् मठ का सम्मान करते हैं और इसका मूल्य समझते हैं। मठ के भिक्षुओं के जीवनयापन के लिए उन्होंने सौ नगरों की आय इस मठ के लिए अलग रख दी है। दो सौ परिवार प्रतिदिन कई सौ मन चावल तथा प्रचुर मात्रा में मक्खन और दूध यहां भेजते हैं। अतः विद्यार्थी जिन्हें कुछ मांगते नहीं क्योंकि उन्हें जीवन की चार आवश्यक वस्तुएं आसानी से प्राप्त हो जाती हैं। अध्ययन में उनकी प्रगति तथा अद्वितीय सफलता सम्राट् की उदारता का परिणाम है।

बौद्ध सिद्धान्त को ह्वेनसांग का योगदान

एक सौ छः वर्षीय शीलभद्र जिन्हें 'धर्मनिधि' कहा जाता था उस समय नालन्दा के कुलपति थे। उन्हींके शिष्यत्व में ह्वेनसांग ने महायानदर्शन का अध्ययन किया। वह

महान् शिक्षक नालन्दा के पूर्वकुलपति धर्मपाल के शिष्य थे। धर्मपाल की मृत्यु लगभग ५६० ईस्वी में हुई। और धर्मपाल ने जो कांचीपुर के निवासी थे अपना ज्ञान सुप्रसिद्ध तार्किक दिङ्नाग से प्राप्त किया था। इस कारण ह्वेनसांग इतना सौभाग्यशाली था कि नालन्दा में उसे महायान के निरपेक्ष आदर्शवाद का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। उसके जीवनी लेखक ने लिखा है 'धर्म के पहिले से नागार्जुन के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त उन्हें योगाचार का सम्पूर्ण ज्ञान था। उनका विचार था कि इन धर्मों के धर्माचारी रचयिताओं ने अलग अपने अलग विचारों का अनुसरण किया था और वे परस्पर विरोध में भी न थे। उनका कथन था कि उन मतों में पूर्ण सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सकता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वे परस्पर विरोधी हैं। विरोध प्रदर्शित करने का कारण टिप्पणीकारों पर है। इस प्रकार के विचार-वैभिन्न्य का धर्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

नालन्दा में अपने दीर्घ अध्ययन के पश्चात् ह्वेनसांग ने अपने ग्रन्थ विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि की रचना की। इसमें योगाचार के मूलग्रन्थों का संकलन और उन पर टीका है। उसने वसुबन्धु की दो अन्य कृतियों के अनुवाद किए। ये कृतियां थीं 'मध्यान्तविभंग शास्त्र' (६६१ ईस्वी) और 'विंशिका प्रकरण' (६६१ ईस्वी)। असंग और वसुबन्धु द्वारा प्रतिपादित आदर्शवादी दर्शन के आधार पर उसने स्वयं एक नवीन चीनी बौद्धदर्शन का विकास किया। इस दर्शन प्रणाली ने चीनी दर्शन के विकास पर बड़ा प्रभाव डाला। चीन में इसे नाम दिया गया 'फा-ह्स्याङ्' (धर्मलक्षण)। इस विचारधारा के अनुसार संसार के सभी धर्म अयथार्थ हैं। सच्चा यथार्थ है चेतना अर्थात् 'मात्रविज्ञान'। यही विज्ञानवाद है। चीन में फा-ह्स्याङ् और जापान में इसकी सहयोगी 'होस्सो' ही ऐसी बौद्ध विचार प्रणालियां हैं जो आज तक वहां जीवित हैं। ह्वेनसांग को एक अन्य विचार-प्रणाली 'क्यु-शे (कोश) का जनक कहा गया है। इस नाम का उद्भव वसुबन्धु के विख्यात ग्रन्थ 'अभिधर्म कोश' के नाम पर हुआ है। ह्वेनसांग के आध्यात्मिक विचारों का प्रारम्भ वसुबन्धु के इसी ग्रन्थ से हुआ था। जापान में इसी प्रणाली को 'कुश' कहा जाता है। एक तीसरी प्रणाली 'ल्यू' (विनय) का जनक भी ह्वेनसांग और उसके चीनी शिष्य ताओ-स्युआन को माना गया है। इस विचार प्रणाली का प्रसार जापान में हुआ और वहां इसे 'रायोत्सु' कहा जाता है। इस विचारधारा में चरित्र-निर्माण और चिन्तन के लिए संन्यास-अनुशासन को आवश्यक माना गया है। इसी स्थल पर निर्दिष्ट है कि नव-कन्फ्यूशियसवादी दर्शन पर भी 'विज्ञान वाद' के सिद्धान्तों का अमिट प्रभाव पड़ा था।

ह्वेनसांग सोलह वर्ष तक भारत में रहा। पांच वर्ष तक उसने नालन्दा में रहकर तत्कालीन विख्यात बौद्ध विद्वानों के शिष्यत्व में अध्ययन किया। शेष ग्यारह वर्षों में उसने उत्तरी दक्षिणी और पश्चिमी भारत के विभिन्न ज्ञान-केन्द्रों—वलभी से कामरूप और कश्मीर से कांची तक—का भ्रमण किया। कश्मीर के भारतीय भिक्षु-भाषी कुमारजीव के समान ह्वेनसांग ने भी पूर्वी देशों में बौद्धधर्म तथा भारतीय संस्कृति के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। कुमारजीव संस्कृत और चीनी दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे। ग्रिस्केन बेवी ने लिखा है 'कुमारजीव सम्भवतः श्रेष्ठतम अनुवादक थे और उन्होंने

भारतीय बौद्धधर्म की आत्मा तथा कृतियों को चीन पहुंचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।" ह्वेनसाङ् भी चीनी व संस्कृत भाषाओं का ज्ञाता था। उसे ब्राह्मण व बौद्धदर्शनों तथा कर्मपूर्तिसम्प्रदायियों के सिद्धान्तग्रन्थों का पूर्ण ज्ञान था। वह भारतीय व चीनी पक्षता में अंतरंग-सम्बन्धस्थापक सर्वश्रेष्ठ चीनी अनुवादक था। भारत में ह्वेनसाङ् को दो संस्कृत नाम मिले—महायानवादियों द्वारा 'महायानदेव' हीनयानवादियों द्वारा 'मोक्षदेव'।

नालन्दा का विनाश

६४१ ईस्वी में ह्वेनसाङ् और हर्ष का साक्षात्कार प्रयाग में हुआ। इसके केवल तीन वर्ष पश्चात् (६४७ ईस्वी में) हर्ष की मृत्यु हो गई और उनकी मृत्यु के बाद तत्काल उत्तरी भारत में गृहयुद्ध छिड़ गया जिसके फलस्वरूप दुर्भाग्यवश भारतीय-चीनी सांस्कृतिक आदान प्रदान शीघ्र ही समाप्त हो गया। इस गृहयुद्ध से गुप्तकालीन पुनरुत्थान का अन्त हुआ तथा आन्तरिक फूट और तुर्क-अफगान आक्रमण व लूटमार का सूत्रपात हुआ। ह्वेनसाङ् को एक रात एक विचित्र स्वप्न में यह मालूम हो गया था। उसने देखा कि वह नालन्दा संघाराम में पहुंच गया है। (किन्तु) कोठरियां खाली और निर्जन थीं। आंगन गन्दे और घृणोत्पादक थे। वहां भैंसे बंधी थीं। वहां न भिक्षुक थे न उनके शिष्य। ह्वेनसाङ् ने भीतर प्रवेश किया और देखा कि एक आंगन के ऊपर चौथी मंजिल पर एक स्वर्णवर्ण व्यक्ति खड़ा है और उसके गम्भीर, कठोर मुख से चकाचौंध करनेवाला प्रकाश फूट रहा है। वह व्यक्ति था बोधिसत्त्व मञ्जुश्री। व इशारे से ह्वेनसाङ् को क्षितिज की ओर एक विशाल अग्नि दिखा रहे थे। अग्नि को नगरों और कस्बों का विनाश कर रही थी। उसमें हर्ष की असामयिक मृत्यु तथा देश पर घिरनेवाली विपत्तियों की भविष्यवाणी की। चीनी भिक्षुक ने जिस विशाल अग्निकाण्ड को स्वप्न में देखा था वह वास्तव में १२०४ ईस्वी के उस विशाल अग्निकांड की पूर्वसूचना थी जो तुर्क-अफगान-आक्रमण के समय लगी थी और जिसने युग के सर्वाधिक विख्यात विश्वविद्यालय को मिट्टी में मिला दिया। अपनी वास्तुकला और मूर्तिकला युग के आश्चर्यजनक कार्यों तथा मध्यएशिया चीन और समुद्रपार के भारतीय उपनिवेशों के विद्यार्थियों के बावजूद नालन्दा के भाग्य में यही था कि वह सुनसान और जनविहीन बन जाए—और गांववासी उसमें अपने ढोर बांधा करें। फिर भी नालन्दा का वैभवशाली और फलप्रद अस्तित्व कम से कम आठ शताब्दियों तक रहा यह महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय ज्ञान के परम्परागत विभाग

जैन धार्मिकग्रन्थों—'नन्दी' और 'अनुयोगद्वार' ('अनुयोगद्वार')—में ज्ञान विज्ञान की निम्नलिखित लौकिक शाखाएं बताई गई हैं। सूची का प्रारम्भ 'भारहम्' (महाभारत) और 'रामायणम्' से होता है। तब 'कोडिल्लयम्' (कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र') पाडयमुहम् (वात्स्यायन के पूर्ववर्ती घोटकमुखकृत 'कामसूत्र') 'वैसेसियम्' (वैशेषिक दर्शन) 'बुद्धसासनम्' (बुद्ध का सिद्धान्त) 'काविलम्' (कपिल का दर्शन) 'लोगायतम्' ('लोकायत' भौतिकवाद का दर्शन) पुराण व्याकरण (वागरनम्) 'भागवयम्' (भागवत

ग्रन्थ) 'पातञ्जली' (पतञ्जलि) गणित (गणितम्) नाटक (नाट्यशास्त्र नाटकादि) के नाम लिए गए हैं। फिर अन्त में 'अंगों' और 'उपांगों' सहित चारों वेदों के नाम हैं।

सबसे समय तक ब्राह्मणों के आश्रम भारत में शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र रहे थे। उत्तरी पर्वतघाटी के वनों के आश्रमों में मुख्य उपनिषदों और ब्राह्मणों की रचना हुई थी। बौद्ध और जैन धर्मों का प्रसार होने पर उनके भिक्षु भी नगरों और कस्बों से दूर आश्रमों में विद्यादान देते थे। पुष्ट दार्शनिक और धार्मिक विचारों के युगों में नवीन बौद्धिक आन्दोलन के प्रसार स्वरूप ये पर्यटक भिक्षुओं और विद्वानों की यात्राएँ तथा ऋषियों के आश्रमों और विद्वान राजाओं अथवा सामन्तों के दरबारों में आयोजित शास्त्रार्थ। सम्पूर्ण ब्राह्मण-साहित्य कौटि-लीय 'अर्थशास्त्र' 'मिलिन्दपञ्ह' और 'कादम्बरी' में उनकी झलक मिलती है। वैदिकोत्तर युग से प्रचलित ज्ञान की परम्परागत विभिन्न शाखाएँ थीं (१) आन्वीक्षिकी जिसमें सांख्य योग (वैशेषिक) और लोकायत जैसे दर्शन सम्मिलित थे (२) त्रयी अर्थात् उपांगों सहित तीनों वेद (३) वार्ता अर्थात् कृषि पशुपालन और व्यापार से सम्बन्धित जीवन व्यापार (४) दण्डनीति अर्थात् राजनीति। महाभारत की एक सूची में अध्ययन के निम्न विषय दिए गए हैं अष्टांग आयुर्वेद (औषधविज्ञान तथा उसकी आठ शाखाएँ) ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद अथर्ववेद सर्वशास्त्राणि इतिहास उपवेद वेदांग सात प्रकार की वाणी साम स्तुतिशास्त्र विभिन्न प्रकार का भाषासाहित्य भाष्य (भाष्याणि तर्कयुक्तानि) नाटक काव्य और कथाख्यायिका (२ २ २१)।

बौधायन-गृह्यसूत्र (१ ७ २–८) के अनुसार ज्ञान के परम्परागत स्तर थे (१) ब्राह्मण अर्थात् वह व्यक्ति जिसने उपनयन तथा ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् वेद का किंचित् अध्ययन किया है (२) श्रोत्रिय अर्थात् वह व्यक्ति जिसने वैदिक शाखा का अध्ययन किया है (३) अनूचान अर्थात् वह व्यक्ति जिसने 'अंगों' का अध्ययन किया है (४) ऋषिकल्प अर्थात् वह व्यक्ति जिसने 'कल्पों' का अध्ययन किया है (५) भ्रूण अर्थात् वह व्यक्ति जिसने सूत्र और प्रवचन का अध्ययन किया है (६) ऋषि अर्थात् वह व्यक्ति जिसने चारों वेदों का अध्ययन किया है (७) देव अर्थात् वह व्यक्ति जो उपर्युक्त से भी आगे बढ़ गया है।

तकनीकी कलाएँ

बौद्धधर्म में दर्शन पर जोर तो दिया ही गया था कला-कौशल औषधशास्त्र और शल्य-चिकित्सा पर भी खूब ध्यान दिया गया। पूर्व में अनेक शताब्दियों तक तक्षशिला विश्वविद्यालय ज्ञान का सर्वाधिक प्रसिद्ध केन्द्र था। औषधशास्त्र शल्य-चिकित्सा तथा विविध तकनीकी कलाओं (जिसमें युद्धकला भी सम्मिलित है) का अध्ययन विशेषरूप से होता था। दूर और पास से विद्यार्थी वहाँ पढ़ने आते थे। बौद्धधर्म के प्रसार के फलस्वरूप जनसाधारण बीमारों और अपंग व्यक्तियों के प्रति मानवीय दया और करुणा अधिक हो गई थी। इस कारण देश में पशुशालाओं और अस्पतालों की संख्या अधिक होगई। फाह्यान (४०५–४११ ईस्वी) ने पाटलिपुत्र के अस्पतालों के बारे में लिखा है "सामन्तों और नागरिकों ने नगर में अनेक अस्पताल स्थापित किए हैं, जिनमें सभी देशों के गरीब निराश्रय —

अपंग और बीमार व्यक्तियों का इलाज होता है। उन्हें प्रत्येक सहायता निःशुल्क प्राप्त होती है। वैद्य उनकी बीमारियों की जांच करते हैं और उनकी दशा के अनुसार खान-पान औषधि और पेय का आदेश देते हैं। वहां बीमारों की भलाई के लिए प्रत्येक संभव प्रयत्न किया जाता है। अच्छे हो जाने पर लोग अपनी सुविधा से चले जाते हैं।

'ललितविस्तर' में ६४ कलाओं के अतिरिक्त मानवतावादी शिक्षा के निम्नलिखित अंग गिनाए गए हैं (१) गणना ('समवाय' में गणितम्) अंकगणित (२) संख्या (अंक-विज्ञान) (३) वेद (४) इतिहास (५) पुराण (६) निघण्टु (कोशरचनाशास्त्र) (७) निरुक्त (शब्दव्युत्पत्ति) (८) निगम (व्यक्त धर्मग्रन्थ) (९) शिक्षा (स्वरशास्त्र) (१०) छन्द (छन्दशास्त्र) (११) ज्योतिष (१२) व्याकरण (१३) यज्ञकल्प (यज्ञ विधान के निर्देशक 'कल्पसूत्र') (१४) सांख्य (१५) योग (१६) वैशेषिक (१७) वैशिक (एक प्रकार का दर्शन) (१८) बार्हस्पत्य (बृहस्पति का दर्शन चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन) (१९) हेतुविद्या (न्यायदर्शन) (२०) अर्थविद्या अथवा आन्वीक्षानम् (अर्थ शास्त्र (२१) काव्य (२२) ग्रन्थरचितम् (संयम-कला) (२३) आख्यातम् (कथा कहने की कला) (२४) हास्यम् (विनोद-कला)।

लगभग दूसरी शताब्दी ईसापूर्व में लिखित 'मिलिन्दपञ्ह' के अनुसार अध्ययन के विषय थे चारों वेद इतिहास पुराण कोशरचनाशास्त्र छन्दशास्त्र स्वरविज्ञान व्याकरण शब्दव्युत्पत्ति ज्योतिष नक्षत्र तथा छह वेदांग शकुनों स्वप्नों और लक्षणों की व्याख्या धूमकेतुओं के आगमन बिजली ग्रहों के योग उत्पात भूकम्प दावानल तथा आकाश और पृथ्वी के लक्षणों की व्याख्या सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों अंकगणित और धर्मप्रचारविद्या का अध्ययन तथा कुत्तों हिरनों और चूहों हवा के मिश्रण पक्षियों के स्वरों और पुकारों द्वारा शकुनों का अर्थ लगाना (४ ३ २६)।

चिकित्साविद्या के अध्ययन में निम्नलिखित बातें सिखाई जाती थी —प्रत्येक बीमारी को पहचानने तथा जड़ी-बूटियों के आधार पर उनका उपचार करने के सिद्धान्त शल्यचिकित्सा में वमन कराने पेट का मल बाहर निकालने और गुदा द्वारा तरल औषधि आमाशय में चढ़ाने की शिक्षा चीरने छेदने अथवा छेद करने भीतर की चीजों को बाहर निकालने घाव साफ करने व उन्हें सुखाने तीखे और दर्द करनेवाले मरहमों का उपयोग करने और धागने में आपरेशन के औजार को ठीक-ठीक साधने का प्रशिक्षण। ई-त्सिङ् ने लिखा है कि चिकित्साविद्या का प्रारम्भिक अध्ययन सभी के लिए अनिवार्य था यहां तक कि भिक्षुओं के लिए भी। इस विचार के पक्ष में उसने अपना मत दिया है 'क्या यह दुःख की बात नहीं है कि बीमारी के कारण कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य अथवा व्यवसाय में पूर्णतः तत्पर न हो सके? क्या यह लाभप्रद नहीं कि चिकित्साविद्या का अध्ययन करने के पश्चात् लोग अपने तथा दूसरों के काम आ सकें?'

नालन्दा में जीवन और अध्ययन का कार्यक्रम

ह्वेनसांग और ई-त्सिङ् दोनों चीनी यात्री सातवीं शताब्दी ईस्वी में अनेक वर्षों तक विख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय में रहे थे। उन्होंने सविस्तार लिखा है कि वहां शिक्षा

के विषय क्या थे अध्यापन किस प्रकार किया जाता था और वहां छात्रावासों का दैनिक कार्यक्रम क्या था। निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण उन्हींके विवरणों पर आधारित है। ह्वेनसांग के समय में नालन्दा में कुल १०,००० विद्यार्थी थे और १,५१० शिक्षक। विश्व विद्यालय में चीन कोरिया मंगोलिया जापान तिब्बत तोखार और पूर्वी द्वीपसमूह से विद्यार्थी आते थे। अनेक ने अपने संस्कृत नाम भी रख लिए थे जिनके बारे में ई-त्सिंग ने जिक्र किया है चीन से श्रीदेव कोरिया से आर्यवर्मा तोखार से बोधिधर्म। भारत के प्रत्येक भाग से सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति नालन्दा महाराम पहुंचते थे। प्रत्येक नये विद्यार्थी को एक परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता था। यह परीक्षा विभिन्न धर्मों के विशेषज्ञ द्वारा ली जाती थी। विदेश के प्रवेशेच्छुक विद्यार्थियों में से अधिकांश को परीक्षा के प्रश्न इतने कठिन लगते थे कि वे स्वयं अपना नाम वापस ले लेते थे किन्तु प्राचीन और नवीन विद्याओं में पारंगत व्यक्तियों को प्रवेश मिल जाता था। दस में से केवल दो या तीन व्यक्ति सफल होते थे। नालन्दा के सभी विद्यार्थी महायान तथा अठारहों सम्प्रदायों के ग्रंथों का अध्ययन करते थे। और केवल इनका ही नहीं किन्तु सामान्य ग्रंथों जैसे वेद तथा अन्य ग्रंथ हेतुविद्या शब्दविद्या चिकित्साविद्या इन्द्रजाल ग्रंथ या अथर्ववेद और सांख्य का अध्ययन भी सभी को करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त वे अन्य विभिन्न ग्रंथों का भी पारायण करते थे। बौद्ध विश्वविद्यालय किसी भी दशा में बौद्ध ज्ञान विज्ञान तक सीमित न थे। धार्मिक और लौकिक ब्राह्मण और बौद्ध—ज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन गंभीरतापूर्वक किया जाता था।

दोनों चीनी विद्वानों ने सामान्य और प्रारम्भिक शिक्षा का विवरण भी दिया है जिसके बाद ही विद्यार्थी मठों में उच्च अध्ययन कर सकते थे। बच्चे छः वर्ष की अवस्था में पठन शुरू करते थे। पहली पुस्तक का नाम था 'सिद्धिरस्तु' ('बालक के प्रयत्न सफल हों') जिसमें वर्णमाला के ४९ अक्षर दिए गए थे। पाणिनि-सूत्र जिसमें १००० सूत्र थे दूसरी पुस्तक थी। आठ वर्ष की अवस्था में बालक इसका अध्ययन प्रारम्भ करते थे और आठ महीने में कंठस्थ कर लेते थे। फिर 'धातु' और 'काशिकावृत्ति' का अध्ययन होता था। व्याकरण के साथ ज्ञान प्राप्ति का प्रारम्भ होता था। सम्पूर्ण ज्ञान को पांच 'विद्याओं' में विभाजित किया गया था (१) शब्दविद्या (व्याकरण और कोषरचनाशास्त्र), (२) शिल्पस्थानविद्या (विभिन्न कलाएं) (३) चिकित्साविद्या (४) हेतुविद्या (तर्कशास्त्र) और (५) अध्यात्मविद्या (दर्शन)।

विश्वविद्यालयों के द्वार सबके लिए खुले थे। जो लोग भिक्षु बनने के आकांक्षी न थे किन्तु विद्याध्ययन करना चाहते थे 'माणव' अथवा 'ब्रह्मचारी' कहलाते थे। उन्हें अपना भोजनव्यय स्वयं वहन करना पड़ता था या फिर वे विश्वविद्यालय के लिए शारीरिक श्रम करते थे। विश्वविद्यालय में कार्यक्रम का नियमन 'कर्मदान' नामक एक अधिकारी द्वारा होता था। वही निश्चय करता था कि किस विद्यार्थी को क्या काम करना पड़ेगा। किसी न किसी विषय में विशेष योग्यता प्रदर्शित करने पर ही शारीरिक श्रम से मुक्ति मिल पाती थी। दूसरी ओर मठ-निवासी विद्यार्थियों को मठ की ओर से भोजन और वस्त्र मिलते थे। ये वस्तुएं स्वदेशी थीं और अक्सर इनपर दाताओं के चिह्न बने

होते थे। विनय-नियमों के अनुसार भिक्षुओं के लिए धनस्पर्श वर्जित था। उपहारों के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों के पास विपुल सम्पत्ति थी। इसी सम्पत्ति के बल पर वे अपने विद्यार्थियों की निःशुल्क शिक्षा तथा भोजन वस्त्र बिस्तर और चिकित्सा का प्रबन्ध कर पाते थे। उदाहरणतः 'अनेक पीढ़ियों के राजाओं द्वारा दान दिया गया' विशाल भू भाग तथा 'दो सौ से अधिक गाव' नालन्दा विश्वविद्यालय के पास थे। इस भूमि पर मठ के चाकरों द्वारा ही खेती की जाती थी अथवा 'विहारपाल' नामक अधिकारियों के निरीक्षण मे दूसरे श्रमिक खेती करते थे। विनय के नियमों के अनुसार भिक्षु-विद्यार्थी अपने लिए जमीन को जोतने-बोने का काम नही कर सकते थे किन्तु 'विहार' के लिए वे ऐसा कर सकते थे। पांडुलिपियों की प्रतिलिपिया तैयार करने के लिए पारिश्रमिकस्वरूप अक्सर विश्वविद्यालयों को हीरे जवाहरात मिला करते थे। भोजन इस प्रकार होता था प्रातः चावल का पानी दोपहर मे चावल मक्खन दूध फल और मीठे खरबूज और शाम को हलका खाना।

मठाश्रमो मे अध्ययन करनेवाले भिक्षु विद्यार्थियो की निम्नलिखित श्रेणियां थी (१) श्रमणेर (निम्नतम श्रेणी) (२) दहर (मधु भिक्षु) (३) स्थविर (४) उपाध्याय और (५) बहुश्रुत (उच्चतम श्रेणी)।

ई-त्सिङ के शब्दो का प्रयोग किया जाए तो इन मध्ययुगीन विश्वविद्यालयों मे 'सभी सम्भव और असम्भव सिद्धान्तों का अध्यापन और प्रतिपादन किया जाता था। विश्वविद्यालयो म मत-वैभिन्न्य की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यह इस अमर सिद्धान्त का स्पष्ट प्रमाण है—और दर्शन के क्षेत्र म इसे भारत ने बहुत पहले स्वीकार कर लिया था—कि सत्य की खोज की प्रथम अनिवार्य शर्त है स्वतन्त्रता। शिक्षक और विद्यार्थी समानरूप से ब्राह्मणधर्म बौद्धधर्म और जैनधर्म तथा उनके विभिन्न मतो और सम्प्रदायो के बारे म विचार-विमर्श और आलोचना प्रत्यालोचना करते थे। अध्ययन और विवाद मे दिन बड़ी जल्दी बीत जाता था छोटे और बड़े सभी दिन रात एक-दूसरे की गलतिया बताते थे और इस प्रकार परस्पर सबका विकास करते थे। 'जब किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि एक ऊंचे स्तर पर पहुच जाती है तो वह शास्त्रार्थ के लिए एक सभा का आयोजन करता है। शास्त्रार्थ मे भाग लेनेवाले व्यक्तियों की योग्यता की जाच करता है और यदि सभा का कोई व्यक्ति अपनी परिष्कृत भाषा सूक्ष्म अन्वेषण गहराई और अकाट्य तर्कों द्वारा स्वय को श्रेष्ठ सिद्ध करता है तो उसे प्रशसकों से सज्जित एक हाथी पर बिठाकर मठ के फाटक तक ले जाया जाता है और उसके प्रशसक पीछे-पीछे चलते हैं। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अपना तर्क पूरा नही कर पाता अपरिष्कृत भाषा का प्रयोग करता है अथवा तर्क शास्त्र के नियमों का उल्लघन करता है तो उसपर कीचड़ उछालकर गड्ढे म गिरा दिया जाता है।

समय बताने के लिए प्रत्येक मठ में जलघड़िया थी। प्रत्येक घण्टा पूरा होने पर ढोल और सख बजाए जाते थे। विहार म कार्यकाल प्रतिदिन आठ घण्टे था। प्रातः और अपराह्न म दो-दो घण्टे तथा मध्याह्न म चार घण्टे काम करना पड़ता था। अनुशासन सम्बन्धी सभी कार्यों की जिम्मेदारी भिक्षुक-विद्यार्थियों पर थी यह एक विशेष बात है। वरिष्ठता के आधार पर कमरों का वितरण तथा संघ के प्रति अपराधों की जाच करने और

दण्ड देने का निर्णय सभी विद्वान मिलकर करते थे। विद्यार्थी स्वयं अपने कमरों की व्यवस्था किया करते थे। उदाहरणार्थ पानी की सुराहियों को साफ रखना और उनमें पानी भरना, उसके वस्त्र व्यवस्थित रखना और उसके कमरों में झाड़ू लगाना।

बुद्धघोष के 'विसुद्धिमग्ग' में भिक्षु की मानसिक प्रवृत्ति का सुन्दर चित्रण है। इसमें संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाले भिक्षुक की प्रशस्ति गाई गई है और कहा गया है कि भिक्षु गुफा में निवास करता है तथा धम्मपद का पाठ करता है। बुद्धघोष नालन्दा निवासी थे और उन्होंने चौथी शताब्दी ईस्वी के अन्त में श्रीलंका की यात्रा भी किया था। 'विसुद्धिमग्ग' की रचना श्रीलंका में हुई थी और इस ग्रन्थ को पवित्र ग्रन्थ के रूप में सम्मान प्रदान किया जाता है। संघ के सदस्यों को केवल निम्न वस्तुएँ रखने की आज्ञा है—वस्त्र, भिक्षापात्र, निवास और आचार ज्ञान पर आधारित।

ह्वेनसांग का विशेष सम्मान

भारत में धार्मिक और दार्शनिक वाद-विवाद के प्रति सदैव उत्सुकता थी। इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। सम्राट्-कवि हर्ष शीलादित्य ने राजधानी कन्नौज में एक विशाल दार्शनिक शास्त्रार्थ का आयोजन किया था उसमें ह्वेनसांग का भी आमन्त्रित किया। बौद्धिक विजयश्रेष्ठ व्यक्ति के लिए किया जानेवाला सबसे सम्मान सम्राट् ने ह्वेनसांग का प्रदान किया। उन्होंने ह्वेनसांग को १० हजार स्वर्ण मुद्राएँ, ३० हजार रजत-मुद्राएँ और बढ़िया सूती वस्त्र के १०० वस्त्र प्रदान किए। उन्होंने एक दक्षिणी को आज्ञा दी कि एक बड़े हाथी को मूल्यवान वस्त्रों और आभूषणों से सज्जित किया जाए और धर्मशास्त्र हाथी पर रखा गया। ह्वेनसांग से उसपर सवारी करने का अनुरोध किया। अन्त में इस महान श्रेष्ठ विद्वानों को आज्ञा दी कि वे ह्वेनसांग के हाथी के पीछे-पीछे चलें सारे भवन पर घोषणा करें कि ह्वेनसांग ने स्वयं के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके निर्विवाद सिद्ध कर दिया है और वे किसी भी विद्वान् द्वारा पराजित नहीं हुए। ह्वेनसांग को उनकी धार्मिक दुनिया के लिए श्रेष्ठ बतलाते हुए सम्राट् ने उपस्थित जनता से कहा "चीनी विद्वान ने महायान सिद्धान्त का श्रेष्ठ प्रतिपादन किया है और सभी विरोधियों की शंकाओं का समाधान किया है। अठारह दिन तक उनसे विवाद करने का दुस्साहस एक भी व्यक्ति सामने नहीं आया। ऐसी विजय का समाचार प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए।

ह्वेनसांग की चीन-वापसी के दस वर्ष पश्चात् नालन्दा के एक श्रेष्ठ विद्वान् ज्ञानप्रभ ने दो श्रेष्ठ वस्त्र ह्वेनसांग के पास भेजे कि भारत में ह्वेनसांग को भुलाया नहीं गया। ह्वेनसांग ने ज्ञानप्रभ को पत्र लिखा। इस बीच शीलभद्र की मृत्यु हो चुकी थी और ह्वेनसांग ने दोनों देशों के बीच की विशाल दूरी के कारण भारत आने में अपनी असमर्थता व्यक्त करने के पश्चात् शीलभद्र की मृत्यु पर बहुत दुःख प्रकट किया। अपने पत्र में उसने यह भी लिखा था कि चीन में बौद्धधर्म के प्रचार में उसने क्या प्रगति की। वह तीन ग्रंथों का अनुवाद कर चुका था जिनमें से एक था 'योगाचारभूमिशास्त्र'। उसे आशा थी कि शीघ्र ही 'कोश' (वसुबन्धुकृत 'अभिधर्मकोशव्याख्या') तथा संघभद्रकृत 'न्यायानुसारशास्त्र' का अनुवादकार्य समाप्त कर लेगा। चीन के तत्कालीन सम्राट् महान ताइत्सुंग के

होते थे। विनय नियमों के अनुसार भिक्षुओं के लिए धनस्पर्श वर्जित था। उपहारों के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों के पास विपुल सम्पत्ति थी। इसी सम्पत्ति के बल पर वे अपने विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा तथा भोजन वस्त्र बिस्तर और चिकित्सा का प्रबन्ध कर पाते थे। उदाहरणतः 'अनेक पीढ़ियों के राजाओं द्वारा दान दिया गया' विशाल भू भाग तथा 'दो सौ से अधिक गांव' नालन्दा विश्वविद्यालय के पास थे। इस भूमि पर मठ के चाकरों द्वारा ही खेती की जाती थी अथवा 'विहारपाल' नामक अधिकारियों के निरीक्षण में दूसरे श्रमिक खेती करते थे। विनय के नियमों के अनुसार भिक्षु-विद्यार्थी अपने लिए जमीन का जोतने-बोने का काम नहीं कर सकते थे किन्तु 'विहार' के लिए वे ऐसा कर सकते थे। पांडुलिपियों की प्रतिलिपियां तैयार करने के लिए पारिश्रमिकस्वरूप अक्सर विश्वविद्यालयों को हीरे जवाहरात मिला करते थे। भोजन इस प्रकार होता था प्रातः चावल का पानी दोपहर में चावल मक्खन दूध फल और मीठे तरबूज और शाम को हलका खाना।

उपाश्रमों में अध्ययन करनेवाले भिक्षु-विद्यार्थियों की निम्नलिखित श्रेणियां थीं (१) श्रमनेर (निम्नतम श्रेणी) (२) दहर (लघु भिक्षु) (३) स्थविर (४) उपाध्याय और (५) बहुश्रुत (उच्चतम श्रेणी)।

ईत्सिंग के शब्दों का प्रयोग किया जाए तो इन मध्ययुगीन विश्वविद्यालयों में 'सभी सम्भव और असम्भव सिद्धान्तों का अध्यापन और प्रतिपादन किया जाता था।' विश्वविद्यालयों में मत-वैभिन्न्य की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यह इस अमर सिद्धान्त का स्पष्ट प्रमाण है—और दर्शन के क्षेत्र में इसे भारत ने बहुत पहले स्वीकार कर लिया था—कि सत्य की खोज की प्रथम अनिवार्य शर्त है स्वतन्त्रता। शिक्षक और विद्यार्थी समानरूप से ब्राह्मणधर्म बौद्धधर्म और जैनधर्म तथा उनके विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के बारे में विचार-विमर्श और आलोचना प्रत्यालोचना करते थे। 'अध्ययन और विवाद में दिन बड़ी जल्दी बीत जाता था छोटे और बड़े सभी दिन रात एक-दूसरे की गलतियां बताते थे और इस प्रकार परस्पर सबका विकास करते थे।' 'जब किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि एक ऊंचे स्तर पर पहुंच जाती है तो वह शास्त्रार्थ के लिए एक सभा का आयोजन करता है। शास्त्रार्थ में भाग लेनेवाले व्यक्तियों की योग्यता की जांच करता है और यदि सभा का कोई व्यक्ति अपनी परिष्कृत भाषा सूक्ष्म अन्वेषण गहराई और अकाट्य तर्कों द्वारा स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करता है तो उसे सजे-संवारे एवं सज्जित एक हाथी पर बिठाकर मठ के फाटक तक ले जाया जाता है और उसके प्रशंसक पीछे-पीछे चलते हैं। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अपना तर्क पूरा नहीं कर पाता अपरिष्कृत भाषा का प्रयोग करता है अथवा तर्क शास्त्र के नियमों का उल्लंघन करता है तो उसपर कीचड़ उछालकर गड्ढे में गिरा दिया जाता है।'

समय बताने के लिए प्रत्येक मठ में जलघड़ियां थीं। प्रत्येक घण्टा पूरा होने पर ढोल और शंख बजाए जाते थे। विहार में कामकाज प्रतिदिन आठ घण्टे था। प्रातः और अपराह्न में दो-दो घण्टे तथा मध्याह्न में चार घण्टे काम करना पड़ता था। अनुशासन सम्बन्धी सभी कार्यों की जिम्मेदारी भिक्षुक-विद्यार्थियों पर थी यह एक विशेष बात है। वरिष्ठता के आधार पर कमरों का वितरण उपाश्रम के प्रति अपराधों की जांच करने और

दण्ड इस का निर्णय सभी विद्वान मिलकर करते थे। विद्यार्थी स्वयं अपने गुरुओं की व्यक्तिगत सेवा करते थे। उदाहरणार्थ पानी लाना, दातौन, भोजन की भीक्षा का प्रबन्ध करना उनके वस्त्र व्यवस्थित रखना और उनके कमरों में झाडू लगाना।

बुद्धघोष के 'विसुद्धिमग्ग' में संघ की साम्यिक प्रवृत्ति का सुन्दर विवरण है। ग्राम प्रासन्मय जीवन व्यतीत करनेवाले भिक्षु की प्रशंसा पाई गई है और कहा गया है कि भिक्षु मूल में निवास करता है तथा करुणामृत का पान करता है। बुद्धघोष मगध निवासी थे और उन्होंने चौथी शताब्दी ईसवी के अन्त में श्रीलंका और बर्मा का भ्रमण किया था। 'विसुद्धिमग्ग' की रचना श्रीलंका में हुई थी और इस भाग भी धार्मिक के एक पवित्र ग्रंथ के रूप में सम्मान प्रदान किया जाता है। संघ के श्रमण का कर्त्तव्य निम्न वस्तुएं रखने की आज्ञा है—वस्त्र, भिक्षापात्र, निवास और बीमार होने पर औषधि।

ह्नेनसांग का विशेष सम्मान

भारत में धार्मिक और दार्शनिक वाद-विवाद के प्रति संघ में बहुत उत्साह था। इसका एक स्पष्ट प्रमाण है। सम्राट्-कवि हर्ष शीलादित्य ने राजधानी कन्नौज में एक विशाल दार्शनिक शास्त्रार्थ का आयोजन किया था उसमें ह्नेनसांग को भी आमंत्रित किया। बौद्धिक विजयप्राप्तकर्त्ता व्यक्ति के लिए दिया जानेवाला उच्चतम सम्मान सम्राट् ने ह्नेनसांग को प्रदान किया। उन्होंने ह्नेनसांग को १०,००० स्वर्ण-मुद्राएं ३०,००० रजत-मुद्राएं और बढ़िया सूती कपड़े के १०० वस्त्र प्रदान किए। उन्होंने एक अधिकारी को आज्ञा दी कि एक बड़े हाथी को मूल्यवान वस्त्रों और आभूषणों से सज्जित किया जाए और सुसज्जित हाथी आ गया तो ह्नेनसांग से उसपर सवारी करने का अनुरोध किया। अन्त में उन्होंने अपने श्रेष्ठ विद्वानों को आज्ञा दी कि वे ह्नेनसांग के हाथी के पीछे-पीछे चलें, नगर भ्रमण करें, घोषणा करें कि ह्नेनसांग ने सत्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके निर्विवाद सिद्ध कर दिया है और वे किसी भी विद्वान् द्वारा पराजित नहीं हुए। ह्नेनसांग को उनकी धार्मिक कृतियों के लिए श्रेष्ठ बतलाते हुए सम्राट् ने उपस्थित जनता से कहा, "चीनी विद्वान ने महायान सिद्धान्त का श्रेष्ठ प्रतिपादन किया है और सभी विरोधियों की शंकाओं का समाधान किया है। अठारह दिन तक उनसे विवाद करने का इच्छुक एक भी व्यक्ति सामने नहीं आया। ऐसी विजय का समाचार प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचना चाहिए।"

ह्नेनसांग की चीन-वापसी के दस वर्ष पश्चात् नालन्दा के एक श्रेष्ठ विद्वान् ज्ञानप्रभ ने दो श्वेत वस्त्र ह्नेनसांग के पास भेजे कि भारत में ह्नेनसांग को भुलाया नहीं गया। ह्नेनसांग ने ज्ञानप्रभ को पत्र लिखा। इस बीच शीलभद्र की मृत्यु हो चुकी थी और ह्नेनसांग ने दोनों देशों के बीच की विशाल दूरी के कारण भारत आने में अपनी असमर्थता प्रकट करने के पश्चात् शीलभद्र की मृत्यु पर बहुत दुःख प्रकट किया। अपने पत्र में उसने यह भी लिखा था कि चीन में बौद्धधर्म के प्रसार में उसने क्या प्रगति की। वह तीन ग्रंथों का अनुवाद कर चुका था जिनमें से एक था 'योगाचारभूमिशास्त्र'। उसे आशा थी कि उसी वर्ष 'कोष' (वसुबन्धुकृत 'अभिधर्मकोषव्याख्या') तथा संघभद्रकृत 'न्यायानुसारशास्त्र' का अनुवादकार्य समाप्त कर देगा। चीन के तत्कालीन सम्राट् महान ताइ-त्संग के

एक धार्मिक व्यक्ति थे और ह्वेनसाङ् के काम में पूरी सहायता कर रहे थे। उन्होंने भूमिका स्वयं लिखी और अपने अधिकारियों को आदेश दिया कि ग्रन्थों को अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचाया जाए। अपने पत्र के अंत में ह्वेनसाङ् ने लिखा कि सिंधु नदी पार करते समय कुछ पवित्र ग्रंथ खो गए थे इसलिए उनकी एक-एक प्रति भिजवा दी जाए तथा अनुरोध किया कि साथ में भेज जा रहे लघु उपहारों को अस्वीकृत न किया जाए।

लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् एक जापानी बौद्धयात्री भारत आया और उसने लिखा 'मध्यभारत के अनेक बौद्धमन्दिरों में ह्वेनसाङ् को चित्रों में प्रदर्शित किया गया है। वे पटसन के जूते पहने चम्मच और खाने की लकड़ियां लिए हुए रंग-बिरंगे बादलों पर बैठे हैं। प्रत्येक व्रतदिवस पर ह्वेनसाङ् के चित्र के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं।

ह्वेनसाङ् को हमने भुलाया नहीं हमने तो उसे देवतुल्य स्थान प्रदान किया।

बौद्धधर्म के पवित्र देश का परिमोहन

बौद्धधर्म के तीर्थस्थलों की यात्रा तथा सत्यधर्म का अध्ययन करने की आकांक्षा से प्रेरित होकर अनेक चीनी भिक्षु, विद्वान् और यात्री कई शताब्दियों के दौरान भारत *आए थे किन्तु उनमें से बहुत कम व्यक्ति यात्रा की कठिनाइयों से जीवित बचकर बौद्ध* ग्रन्थों और कलाकृतियों सहित चीन वापस पहुंच सके। ई-त्सिङ् (६३४–७१३ ईस्वी) ने दुखी होकर लिखा है

कुछ लोग पश्चिम की 'बैंगनी रंग की बाधा' (विशाल दीवार) को पार करके अकेले चल पड़े। अन्य विस्तृत सागर को पार करके बिना संगी-साथी यात्रा करने लगे। एक भी व्यक्ति ऐसा न था जिसके विचार 'पवित्र अवशेषों' पर केन्द्रित न हों और जिसने उनके सम्मान के लिए साष्टांग प्रणाम न किया हो। सभी को आशा थी कि वे वापस आकर *मनुष्यमात्र के लिए भाषा का संचार करके स्वयं को चतुर्लाभ का अधिकारी घोषित करेंगे।*

"किन्तु इस ऐश्वर्यशाली पथ पर कठिनाइयों के अम्बार थे। तीर्थ-स्थल बहुत दूर और विस्तृत थे। इस कठिन काम को पूरा करने की बात सोचनेवाले दर्जनों थे प्रयास करनेवाले कई थे किन्तु एकाध के ही प्रयत्नों का कुछ परिणाम होता था। और काम पूरा करनेवाले तो नहीं ही थे।

इसका कारण है 'हस्तिदेश' (भारत) के विस्तृत पथरीले रेगिस्तान विशाल नदियां तेज धूप जो झुलसानेवाली गर्मी की वर्षा करती है अथवा भीमकाय मछलियों से भरे सागरों की ऊंची-ऊंची लहरें *लहराइयां तथा आकाश की ऊंचाइयां तक उठने गिरने* वाली लहरें। 'लौह फाटकों' (समरकन्द और बैक्ट्रिया के बीच) के पार अकेले दस हजार पहाड़ों के बीच भटकना पड़ता है और गारों में गिर पड़ने का खतरा रहता है। 'ताम्र स्तम्भों' (ताङ्-किङ् के दक्षिण में) के पार जहाज पर अकेले यात्रा करने पर नदियों के हजारों मुहाने मिलते हैं और जान जाने का खतरा रहता है। इसी कारण जानेवाले व्यक्ति तो पचास के करीब थे पर सभी खतरों से बचकर आनेवाले थे केवल इने-गिने लोग।

लियाङ् ची-चाओ ने अपने 'चीनी इतिहास का अध्ययन' में भारत की यात्रा करनेवाले प्रारम्भिक चीनी यात्री भिक्षुओं का सम्पूर्ण और प्रमाणसिद्ध विवरण प्रस्तुत

किया है। उनके विवरणों से ई-त्सिंग के कथन प्रमाणित होते हैं। अत्यधिक शोध के बाद उन्होंने लगभग दो सौ यात्रियों का पता लगाया जिन्होंने तीसरी और आठवीं शताब्दियों के बीच भारत-यात्रा का प्रयास किया था। पांचवीं और सातवीं शताब्दियों में सबसे अधिक यात्रियों ने प्रयत्न किया था। इनमें से केवल ४२ यात्री भारत आने अध्ययन पूरा करने और चीन वापस पहुंचने में सफल हुए। शेष में से अनेक सफल न होने और १७ व्यक्ति जाते या वापस आते हुए रास्ते में मर गए। यात्रा बड़ी मुश्किल थी और उन दिनों यात्रा में लगभग अपराजेय मुश्किलें सामने आती थीं इसलिए इनमें व्यक्तियों की राह में मृत्यु असम्भव न थी। उदाहरण के लिए यू मेन द्वार को पार करने के बाद मा-हो यन मरुभूमि में पहुंचने पर ह्वेनसांग ने लिखा 'पांच दिन और चार रातों से मैंने पानी नहीं पिया और मैं इतना प्यासा हूं कि आगे बढ़ना असम्भव है। किसी भी क्षण मेरी मृत्यु हो सकती है'। मरुभूमि के असीम विस्तार में ह्वेनसांग तथा अन्य एकाकी यात्रियों को रास्ता बतानेवाला कोई न था। अस्पष्ट रास्ते के आसपास पड़ी आदमियों और पशुओं की पुरानी हड्डियों से ही राह का पता चलता था। दूसरी ओर समुद्र-यात्रा में अनेक खतरे थे और यात्रियों को आंधी व लहरों से अपनी जान की खैर मनानी पड़ती थी। फाह्यान समुद्री रास्ते से वापस चीन आ रहा था कि उसका जहाज भीषण तूफान में फंस गया। तब उसे अपने वस्त्रों और बौद्धग्रन्थों तथा मूर्तियों को छोड़कर शेष सारी चीजें फेंक देनी पड़ीं।

अग्रहार और घटिकाए

बौद्धधर्म में मठ-निवास पर जोर दिया गया था। यही कारण था कि नालन्दा वलभी, विक्रमशील, जालन्धर, पुष्कपवती और कांचीपुर जैसे प्रसिद्ध मठीय विश्वविद्यालयों का विकास हो सका। ये विश्वविद्यालय कालान्तर में विख्यात ज्ञानकेन्द्र बने। गुप्तकाल में ब्राह्मणधर्म के अपेक्षाकृत छोटे किन्तु प्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्र स्थापित हुए। ये भी नगरों और कस्बों से दूर सम्पत्तिशाली मठों अथवा कालेजों में तीर्थस्थानों में थे। इन्हें 'अग्रहार' नाम दिया जाता था और इनके साथ भूमि होती थी जिसका उपयोग ब्राह्मण अध्यापकों और विद्यार्थियों के जीवनयापन के लिए होता था। ज्ञान की वृद्धि के लिए अक्सर सम्पत्तिशाली व्यापारी अथवा सामन्त चन्दा दिया करते थे। इसी प्रकार दक्षिणभारत में घटिकाएं स्थापित हुईं। ये प्रसिद्ध नगरों के मन्दिरों में थीं। ग्रामीण लिपिशालाओं में वर्णमाला और व्याकरण का पाठ पढ़ाया जाता था। सभी और प्रधान शिल्पियों की प्रयोगशालाओं में नये शिल्पियों को प्रशिक्षण के लिए रखा जाता था और इस प्रकार प्राविधिक शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि गांवों और नगरों दोनों में विभिन्न स्तरों पर शिक्षा का पूरा प्रबन्ध था। यही कारण है कि भारत की बौद्धिक निरीक्षण और अन्वेषण की प्रवृत्ति शताब्दियों के दौरान जीवित रह सकी।

अध्याय ११

एशियाई एकता का निर्माता बौद्धधर्म

मध्य एशियाई कारवां-मार्गों का महत्त्व

हिमालय तथा उत्तर में तकलामकान रेगिस्तान तथा पूर्व में सागरपार द्वीपान्तर भारत में भारत का औपनिवेशिक प्रसार एक शान्त महत्त्व प्रक्रिया थी जो कम से कम दो हजार वर्ष तक चलती रही और जिसके साथ विश्व इतिहास मे न्याय नहीं किया गया। मध्य एशिया और चीन के स्थलमार्गों तथा पूर्वसागर के जहाजी मार्गों द्वारा प्रसारित भारतीय संस्कृति ने एशियाई एकता का निर्माण किया जो शताब्दियों तक कायम रही। मथुरा अमरावती और अजन्ता की कला तथा खोतान काश्मीर, नालन्दा अनुराधापुर और श्रीविजय के बौद्ध विश्वविद्यालयों के ही बल पर अत्यन्त विकसित भारतीय सभ्यता धीरे धीरे पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रवेश कर सकी। ईसाई सन् के प्रारम्भ से मध्य एशिया में हूणों के आगमन तक की पांच शताब्दियों में सम्पूर्ण मध्यएशिया का भारतीय करण हुआ। इस प्रक्रिया की गति को तेज करने में सहायक कारण थे—गंधार और सू बिहार से बनारस तक विस्तृत कुषाण-साम्राज्य की स्थापना रोमक और चीनी साम्राज्यों के साथ हार्दिक सम्बन्ध रेशमी कपड़े आदि विलास-सामग्री के व्यापार मे विकास तथा *महायान बौद्धधर्म का उदय।* सुङ्युन ने ५११ ईस्वी में *लिखा था कि छठी शताब्दी के* प्रारम्भ में तारिम नदी की घाटी पर श्वेत हूणों का आधिपत्य हो गया। तब तीन दशकों बाद इस क्षेत्र पर तुर्कों ने कब्जा कर लिया। ६१८ ईस्वी में चीन में सुईवंश के उत्तराधिकारी ताङ्वंश का शासन स्थापित हुआ और ६६० ईस्वी तक उसके साम्राज्य का विस्तार अल्ताई पर्वत से हिन्दूकुश के पार तक हो गया। इस प्रकार लगभग एक शताब्दी के अन्तराल के पश्चात् मध्यएशिया और चीन में बौद्धधर्म और भारतीय संस्कृति के प्रवेश का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युग प्रारम्भ हुआ। दसवीं शताब्दी के अन्त तक गजनी के शासकों का साम्राज्य आक्सस से सिंधु नदी तक हो गया तथा खुरासान बुखारा और मध्यएशिया के कुछ भाग पर भी उनका आधिपत्य स्थापित हो गया। एशिया के स्थलमार्गों के सहारे संस्कृति के प्रसार का जो कल्पप्रद काम लम्बे समय से चल रहा था अब उसका अन्त हो गया। अगली पांच शताब्दियों तक एशियाई कारवां-मार्गों पर मुसलमान शासकों का नियंत्रण रहा। परिणाम यह हुआ कि भारतीय चीनी सम्बन्ध 'द्वितीय भारत' अथवा द्वीपान्तर होकर समुद्री मार्ग पर धर्मप्रचारकों के प्रयत्नों पर निर्भर हो गया। उन्हें सुमात्रा से कम्बुज जाना पड़ता था। कम्बुज में भारतीय और चीनी सभ्यताओं का मिलन पूर्वीय

सागर के तट पर हुआ करता था।

महान् कुषाणों के काल में बौद्धधर्म और संस्कृत संस्कृति का प्रसार तारिम नदी के विस्तृत कांठे में हुआ। यह कांठा चीन को भारत और पश्चिमी एशिया से मिलाने वाले दो रेशम-मार्गों के बीच में पड़ता था। उत्तरी मार्ग तक्षशिला कपिश कामगर, कुच कराशहर (अग्निदेश) किजिल तरफान (भारुक) हामी और दसी होकर जाता था तथा दक्षिणी मार्ग यारकन्द खोतान दन्दन ओइलिक निय मिरान और लोबनोर होकर। दोनों मार्ग अन्त में चीन के पश्चिमी सीमान्त पर स्थित तुन-हुआङ में मिल जाते थे। यहीं पर सुप्रसिद्ध १८२ गुफाएं काटी गई जिनकी दीवारों पर चित्र बने हैं। ये गुफाएं जनसाधारण में 'हजारों बुद्धों की गुफाएं' नाम से प्रचलित हैं। उत्तरी और दक्षिणी दोनों रेशम-मार्गों के साथ-साथ १०० मील तक फैले रेगिस्तानों में भारतीय सभ्यता का प्रसार हुआ। दक्षिणी रेशम-मार्ग कुषाणों के अधिकार में था। कनिष्क के शासनकाल में कुषाणों ने चीनियों के साथ मध्यएशिया में युद्ध किया और चीनी राजकुमारों को कैद कर लिया।

एशियाई स्थल-मार्गों पर हिन्दू उपनिवेश

तारिम कांठे के प्राचीन शासकों में से अनेक के नाम भारतीय हैं, कुस्तन विजित धर्म और विजितकीर्ति (खोतान में) सुवर्ण-पुष्प हरि-पुष्प और सुवर्ण-देव (कुचि में) तथा इन्द्रार्जुन और चन्द्रार्जुन (कराशहर में)। भारतीय उपनिवेशों अथवा राज्यों के नाम भी संस्कृत के अथवा उनके रूपान्तर थे। शैलदेश (काशगर) चोकुक (यारकन्द) भारुक (उच-तरफान) कुचि (कुच) अग्निदेश (कराशहर) और तुरपनि (तुरफान) उत्तरी कारवां मार्ग पर अवस्थित थे। कुस्तान (कुस्तन अथवा खोतान) चडोत (निय) और चलमद (शान-शान) दक्षिणी कारवां-मार्ग पर अवस्थित थे। खोतान कुचि तथा समीपस्थ क्षेत्र में भारतीय लिपियों—ब्राह्मी और खरोष्ठी—के ही बदले हुए रूप प्रचलित थे। खोतान कामगर, कुचि कराशहर और तुरफान में विख्यात मठ और गुफाएं थीं तथा तीसरी और सातवीं शताब्दियों के बीच ये नगर बौद्धज्ञान व शिल्पकारी प्रयत्नों के प्रमुख केन्द्र बन गए। तारिम (संस्कृत में 'सीता') कांठे के निवासी संस्कृत चीनी सीरियाई, सोगदियाई तुर्की तोखारियाई और खोतानी भाषाएं व्यवहार में लाते थे। किन्तु महायान बौद्धधर्म के प्रभाव में आकर सभी लोग काश्मीर, गन्धार और बामियान की भारतीय संस्कृति के सांचे में ढल गए। कारण यह था कि महायान में भक्ति का प्राधान्य था और सात्विक जीवन पर जोर दिया गया था और यह विशिष्टता विश्व के एक प्रमुख व्यापारमार्ग के सहारे विकसित होनेवाली अमिश्रित सार्वदेशीय नगरनिवासी संस्कृति के सर्वथा अनुरूप थी। भारत में चीन से कच्ची रेशम का आयात होता था तथा चीन को मलमल रेशमी वस्त्र हाथी दांत तथा अन्य विलास-सामग्री का निर्यात किया जाता था। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में बाजारों और मेलों तथा मठों और गुफाओं की संख्या बहुत अधिक हो गई। अजन्ता बाघ कार्ले और बामियान की गुफाओं के समान कुच और तुन हुआङ् के समीप की पहाड़ियों की गुफाएं विद्वानों भिक्षुओं और यात्रियों का आकर्षण-बिन्दु तथा महत्वपूर्ण बौद्धकेन्द्र बन गईं। बामियान और तोखारिस्तान के समान मिरान दन्दन ओइलिक निय तथा अन्य

स्थानों पर बौद्ध भित्तिचित्र हैं जिनमें अजन्ता की वक्र रेखाओं जीवन्त रंग और गतिमय लय का चीनी और ईरानी विशेषताओं के साथ सर्वश्रेष्ठ सम्मिलन हुआ है। खोतान का गोमती विहार, कुचि का आश्चर्य विहार और बल्ख का नवसंघाराम ज्ञान और भक्ति के उतने ही बड़े केन्द्र थे जितने बड़े केन्द्र गन्धार का कनिष्क-विहार और जालन्धर का कुण्डलवन विहार। खोतान मठमें नवीन बौद्धग्रन्थों की रचना संस्कृत प्राकृत तथा स्थानीय भाषाओं मे हुई। कुचि और खोतान में बुद्ध की मूर्ति के लक्षण भारत के बुद्धों के समान थे। कुचि की विशालकाय बौद्ध प्रतिमाएं बमियान की बुद्ध प्रतिमाओं के समान हैं। महायान के महान धर्मप्रचारकार्य को शक्ति प्रदान करने का काम काश्मीर, उड्डियान और गन्धार के मठ करते थे। ईसा सन् के आरम्भ से चौथी शताब्दी ईस्वी तक बौद्ध और संस्कृत ज्ञान के प्रमुख केन्द्र यही मठ थे। चौथी शताब्दी ईस्वी में ही नालन्दा प्रमुख केन्द्र बन गया।

महानतम भारतीय धर्मप्रचारक विद्वान कुमारजीव

कुमारजीव ने ब्राह्मणदर्शन का अध्ययन काश्मीर और काशगर में तथा महान बौद्धधर्म का अध्ययन कोचन में किया था। कुच मठ में उसे मध्यएशिया के सर्वप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान होने का सम्मान प्राप्त हुआ। ४०१ ईस्वी में कुच पर चीन का आक्रमण हुआ और कुमारजीव को एक श्रेष्ठ बन्दी के रूप में चीन ले जाया गया। चीन के सम्राट ने उसे अपना आध्यात्मिक गुरु बनाया। कुमारजीव ने बड़ी लगन से चीनी भाषा का अध्ययन किया। उसे बौद्धदर्शन का गम्भीर ज्ञान था तथा संस्कृत और चीनी भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। यही कारण है कि संस्कृत के बौद्धग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवादकों में वह सर्वाधिक सफल था। ४ १ से ४१३ ईस्वी तक में उसने १ ६ ग्रंथों का अनुवाद किया जिनमें से कुछ ग्रंथ हैं 'सद्धर्मपुण्डरीक' 'सूत्रालंकार' नागार्जुन और अश्वघोष के जीवन-चरित्र तथा माध्यमिक मत के कई ग्रन्थ। उन्होंने 'वज्रच्छेदिक' का अनुवाद भी किया। केवल इस अनुवाद के कारण बौद्धधर्म का चीनी शिष्टवर्ग में जितना प्रसार हुआ उतना अन्य सारे ग्रन्थों के सम्मिलित प्रभाव से भी नहीं हुआ।

अपने कुछ महानतम व्यक्तियों के बारे में भारत को कुछ भी मालूम नहीं है। भारत के सांस्कृतिक प्रसारकी कहानी में कुमारजीव निस्सन्देह महानतम व्यक्ति थे किन्तु हमारे देश में उन्हें भुला दिया गया है। कुमारजीव के पिता कुमारायन भारतीय थे तथा माता जीवा थी कुच की राजकुमारी। *कुमारजीव के जन्म के बाद जल्दी ही जीवा बौद्ध भिक्षुणी बन गई।* फिर जब वे कुच वापस गई कुमारजीव उनके साथ थे। अपने समय में कुमारजीव को भारत और मध्यएशिया में खूब प्रसिद्धि मिली। सेङ-चाओ (३८४–४१४ ईस्वी) और ताओ-सेङ (मृत्यु ४३४ ईस्वी) जैसे श्रेष्ठ चीनी विद्वान उनके शिष्य थे। *इन दोनों विद्वानों ने अध्यात्मविद्या में सत्य के स्तरों और मस्तिष्क की सार्वभौमिकता* अथवा बुद्धप्रकृति तथा नीतिशास्त्र में कर्मसिद्धान्त जैसे भारतीय विचारों को लोकप्रिय बनाया। आधुनिक चीनी दार्शनिक फुङ यु लान का कथन है 'सार्वभौम मस्तिष्क का सिद्धान्त चीनी दर्शन को भारत की देन है। बौद्धधर्म के प्रवेश से पूर्व चीनी दर्शन

में वैयक्तिक मस्तिष्क था सार्वभौम मस्तिष्क नहीं। लाई स्यू के अनुसार ताओ वादियों का ताओ सबसे बड़ा रहस्य तो था किन्तु सार्वभौम मस्तिष्क नहीं था। बौद्धधर्म के प्रवेश के बाद के समय से चीनी दर्शन वैयक्तिक मस्तिष्क और सार्वभौम मस्तिष्क दोनों है।

धर्म प्रसार के एक हजार वर्ष

पांचवीं शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ से तेरहवीं शताब्दी ईस्वी तक अनेक भारतीय भिक्षु-विद्वानों ने चीन की यात्रा की। उन्होंने अनेक बौद्धग्रंथों के अनुवाद किए बौद्धज्ञान का प्रसार किया तथा सैकड़ों मठ स्थापित हुए। अनेक भिक्षु केवल धर्मप्रचारक बनकर गए। श्री पी० सी० बागची ने उनके नामों और कार्यों की सूची तैयार की है। किन्तु इन यात्रियों से पहले भी ईस्वी सन् के प्रारम्भ में सबसे पहले बौद्धधर्मप्रचारक चीन गए थे। इनमें से प्रमुख थे कश्यप मातंग और धर्मरत्न (लगभग ६५ ईस्वी में) और अन्य अनेक भिक्षुओं में प्रमुख धर्मरक्ष (२८४ ईस्वी) और बुद्धभद्र (३९८ ईस्वी)। एक हजार वर्ष तक भारतीय धर्मप्रचारक लगातार चीन जाते रहे। मध्यएशिया के मार्गों तथा मलय प्रायद्वीप सुमात्रा और जावा के बन्दरगाहों से होते हुए चीन के प्रमुख दक्षिणपूर्वी बन्दरगाह तोंकिन तक समुद्री मार्ग के अतिरिक्त चीन पहुंचने के अन्य मार्ग थे। एक रास्ता सिक्किम और इरावदी की घाटियों से होकर युन्नान पहुंचता था तथा एक अन्य मार्ग नेपाल से तिब्बत होकर जाता था। चीन से भारत आनेवाले चीनी साधु-यात्रियों के समान भारतीय धर्म प्रचारकों को भी अपनी यात्राओं में अनेक कठिनाइयों और जोखिमों का सामना करना पड़ता था। अनेक की मृत्यु मार्ग में ही हो जाती थी या राजदण्ड अथवा भीड़ की हिंसा का शिकार बनना पड़ता था।

कुमारजीव ने चीन-यात्रा ४०१ से ४१३ ईस्वी तक की थी। उनके बाद चीन जानेवाले विख्यात भिक्षु निम्न थे 'महीशासक विनय' के अनुवादक संघवर्मा ४२० ईस्वी में श्रीलंका से चीन गए थे। गुणवर्मन ने श्रीलंका और जावा में धर्मप्रचारक के रूप में खूब ख्याति अर्जित की थी। इसीसे प्रेरित होकर चीन के सम्राट् ने उन्हें नानकिंग आमंत्रित किया जहां केवल उनके प्रवचनों के लिए जेतवन विहार का निर्माण कराया गया (४३१ ईस्वी) 'संयुक्तागम' के अनुवादक गुणभद्र ४३५ ईस्वी में श्रीलंका से चीन गए बोधिधर्म 'समुद्र पर तैरते हुए' पान-यू (कैंटन) ५२० ईस्वी में पहुंचे और सम्राट् वू के शासनकाल में उन्होंने चीन के अधिकांश भाग की यात्रा की। जिन्होंने ध्यान (चान) को प्रसारित किया तथा उत्तरी और दक्षिणी मतों के बीच की खाई पाटने का रास्ता साफ किया। संघभद्र जिन्होंने ४८८ ईस्वी में 'समन्तपासादिका' का अनुवाद किया उज्जयिनी के निवासी परमार्थ ५४८ ईस्वी में नानकिंग गए और लगभग ५० ग्रन्थों का अनुवाद उन्होंने किया जिसमें प्रमुख हैं—अश्वघोषकृत 'महायान-श्रद्धोत्पाद' वसुबन्धु का जीवनचरित और 'तर्कशास्त्र' छठी शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध में जिनगुप्त चीन गए और ताङवंश के एक सम्राट् के आध्यात्मिक गुरु बने और उन्होंने सैंतीस मूल संस्कृत-ग्रंथों के चीनी अनुवाद प्रस्तुत किए। ६९३ ईस्वी में कश्यपवंश के एक राजकु

ने बोधिरुचि को चीन भेजा तब चीन के सम्राट् ने बोधिरुचि का खूब सम्मान किया तथा महायान-ग्रन्थों के अनुवाद के लिए भारतीय और चीनी विद्वानों की एक समिति बनाई तथा अनुवादों की टिप्पणियां स्वयं लिखीं। बंगाल के भिक्षु-विद्वान कुमारघोष (आठवीं शताब्दी में) सुमात्रा और जावा के शैलेन्द्र सम्राटों के आध्यात्मिक गुरु बने।

बौद्ध धर्म और संस्कृति की मशाल चीन ले जानेवाले अन्य महत्त्वपूर्ण प्रचारक थे काश्मीर के गुणजीव (४२१ ईस्वी) मध्यभारत से धर्मगम (४१४–४३३ ईस्वी) और गणभद्र (४३५–४६८ ईस्वी) बंगाल और असम से ज्ञानभद्र और यशोगुप्त (छठी शताब्दी) इलाहाबाद से बुद्धिभद्र कान्यकुब्ज से धर्मगुप्त (५ ईस्वी) गौतम धर्म ज्ञान (५७७ ईस्वी) जिन्हें चीन के एक जिले का गवर्नर नियुक्त किया गया तथा नालन्दा म शिक्षित वज्रबोधि (७१०–७३२ ईस्वी) जो ७१० ईस्वी में श्रीलंका से चीन गए तथा जिन्होंने बौद्धधर्म के आध्यात्मिक वज्रयान-सम्प्रदाय का उपदेश चीन में दिया।

यह सर्वथा स्पष्ट है कि भारतीय धर्म कला और दर्शन के कठिन किन्तु अद्भुत प्रसार में भारत के प्रत्येक कोने ने भाग लिया था। ४३३ ईस्वी में 'नन्दि' नामक एक जहाज पर भिक्षुणियां भी श्रीलंका से चीन गईं और वहां उन्होंने भिक्षुणी-संघ स्थापित किया। बौद्धधर्म प्रचार के एक अभियान की उपलब्धि की चर्चा करते हुए श्रीलंका के एक इतिहासकार न लिखा है 'संसार के कल्याण के हेतु वे सबको बौद्धधर्म में दीक्षित करने के इच्छुक थे फिर भला आरामी अथवा उदासीन कैसे रह सकते थे।' चीनी-बौद्ध विश्व कोष के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब गजनी का सुलतान महमूद भारत के मन्दिरों और पवित्र स्थानों को लूट रहा था चीन के दरबार में भारतीय भिक्षुओं की संख्या सर्वाधिक थी। कुछ भिक्षुओं ने शायद चीनी नाम भी अपना लिए थे। उसी शताब्दी के मध्य तक चीनी शिष्टवर्ग मे इस विदेशी धर्म के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया जागी तथा चीन मे बौद्धधर्म का प्रभाव सहसा बहुत कम हो गया और फलस्वरूप भिक्षुओं की संख्या घट गई। चीन पहुंचनेवाले अन्तिम ज्ञात भारतीय भिक्षु का नाम था चे-की-सियाङ और वह १ ५३ ईस्वी में पश्चिमी भारत से गया था। हां भारत में अनेक शताब्दियों तक चीनी विद्वानों धर्मप्रचारकों व यात्रियों का लगातार आगमन जारी रहा। सुङ्-साम्राज्य के उत्कर्षकालीन वर्षों–ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी–में तो उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हुई।

एशिया में बौद्धधर्म का प्रसार

३७२ ईस्वी में बौद्धधर्म चीन से कोरिया पहुंचा और वहां से ५३८ ईस्वी में उसका प्रवेश जापान में हुआ। ६०४ ईस्वी में राजकुमार शोतोकु तायशी ने बौद्धधर्म को निपन का राष्ट्रीय धर्म स्वीकार किया और जल्दी ही मन्दिरों मठों और अस्पतालों का निर्माण हुआ। नारा का विख्यात होरयूजी का मन्दिर ६०७ ईस्वी में बना था। दोहों नामक एक जापानी भिक्षु ह्वेनसांग का एक प्रमुख शिष्य बन गया और उसने अपने देश में योगाचार-सिद्धान्त का प्रसार किया। सातवीं शताब्दी का अन्त होते-होते समस्त मध्य और पूर्वी एशिया में बौद्धधर्म का प्रसार हो गया। गुप्त पाल और पल्लव शैलियां की नई

बौद्धकला मध्य और दक्षिण-पूर्वी एशिया तक पहुंची। अजन्ता बाघ और अमरावती की कला द्वारा सज्जित महायान स्वर्ग के आकर्षक और महाकरुणापूर्ण बोधिसत्वों के रहस्यमय रूप जिनके हाथों की मुद्राएं भारतीय थीं और उनमें भारतीय कमल थे तथा महायान ग्रंथों की कथाएं अब सम्पूर्ण महाद्वीप में सुपरिचित हो गई और जन-सामान्य में विश्वास एवं भक्ति जगाने लगीं।

मंगोलिया के साथ भारत का सम्पर्क आठवीं शताब्दी ईस्वी में आरम्भ हुआ जब भारतीय भिक्षु प्राय: बौद्धग्रंथों का मंगोल भाषा में अनुवाद करने में भाग लिया। चंगेजखां द्वारा स्थापित विशाल मंगोल-साम्राज्य में बौद्धधर्म इस्लाम और नेस्टोरियाई ईसाईधर्म का प्रतिफलन साथ-साथ हुआ। चंगेजखां के पोते कुयक ने तिब्बत के शाक्य मठ से आए हुए बौद्धभिक्षु-विद्वान शाक्यपंडित का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। बाद में उसके दो भतीजे मंगोलिया में बौद्धधर्म प्रचार-कार्य करने लगे। उनमें से एक फग्स-पा (१२३५-१२८०ईस्वी)ने कुब्लाखां (१२१६-१२६४ईस्वी) द्वारा काराकोरम में आयोजित एक धर्मसभा में भाग लिया तथा ताओवादी भिक्षुओं को विवाद में पराजित किया। इस पर कुब्लाखां ने तिब्बती बौद्धधर्म को मंगोल-साम्राज्य का राजधर्म स्वीकार किया तथा फग्स-पा को विशाल मंगोल-साम्राज्य के बौद्धधर्म का राजगुरु एवं तिब्बत के तीन जिला में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। फग्स-पा धर्म-परिवर्तन कराने में कुशल था इसलिए जल्दी ही बौद्धधर्म मंगोलों में सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म हो गया। कुब्लाखां ने श्रीलंका के शासक द्वारा भेजे गए बुद्ध के अवशेषों का स्वागत किया। कुब्लाखां के 'कुयो-श' अथवा राजगुरु की हैसियत से फग्स-पा ने विशाल साम्राज्य की विभिन्न भाषाओं के लिए एक वर्णमाला का आविष्कार किया। इस प्रकार कुब्लाखां के शासनकाल में उसने एक नई एशियाई एकता का स्वप्न देखा जिसका धर्म भाषा और संस्कृति एक हो—किन्तु कुब्लाखां की मृत्यु के तत्काल बाद मंगोल-साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसके साथ ढह गया फग्स-पा का स्वप्न भी। बौद्धधर्म के बारे में कुब्लाखां ने कहा था "हथेली से अंगुलियां निकलती हैं, बौद्ध-सिद्धान्त हथेली के समान हैं, तथा अन्य धर्म अंगुलियों के समान।"

तिब्बत में सम्राट स्रोङ्-त्सन गम्पो (६००-६५० ईस्वी) ने जिन्होंने उत्तरी भारत उत्तरी बर्मा और चीनी तुर्किस्तान के प्रदेशों पर भी अधिकार कर लिया था काश्मीर से प्राप्त भारतीय वर्णमाला और लिपि का प्रयोग आरम्भ कराया तथा तिब्बत में सर्वप्रथम बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया। आठवीं शताब्दी के मध्य (७४७ ईस्वी) में पद्मसम्भव ने तिब्बत जाकर वहां वज्रयान बौद्धधर्म का उपदेश दिया। सुप्रसिद्ध बौद्ध तांत्रिक केन्द्र उड्डियान (जिसे कुछ लोग स्वात घाटी और अन्य लोग ढाका जिले में स्थित वज्रयोगिनी मानते हैं) में उनका जन्म हुआ था तथा नालन्दा विश्वविद्यालय में उन्होंने अध्ययन किया था। वे तिब्बत में तीस वर्ष तक रहे तथा नागरिक एवं धार्मिक कानून बनवाने का काम उन्होंने किया। पद्मसम्भव को बाद में देवता मान लिया गया। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में तिब्बत के सम्राट के आमंत्रण पर विक्रमशील मठ के प्रसिद्ध मठाधिपति अतीश अथवा दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत-यात्रा की। अतीश के अतिरिक्त उन्हें तिब्बत

ने बोधिरुचि को चीन भेजा तब चीन के सम्राट् ने बोधिरुचि का खूब सम्मान किया तथा महायान-ग्रन्थों के अनुवाद के लिए भारतीय और चीनी विद्वानों की एक समिति बनाई तथा अनुवादों की टिप्पणियां स्वयं लिखीं। बंगाल के भिक्षु-विद्वान कुमारघोष (आठवीं शताब्दी में) सुमात्रा और जावा के शैलेन्द्र सम्राटों के आध्यात्मिक गुरु बने।

बौद्ध धर्म और संस्कृति की मशाल चीन ले जानेवाले अन्य महत्त्वपूर्ण प्रचारक थे काश्मीर के बुद्धजीव (४२३ ईस्वी) मध्यभारत से धर्मक्षेम (४१४–४३३ ईस्वी) और गुणभद्र (४३५–४६८ ईस्वी) बंगाल और असम से ज्ञानभद्र और यशोगुप्त (छठी शताब्दी) जलालाबाद से बुद्धिभद्र कान्यकुब्ज से धर्मगुप्त (५ ० ईस्वी) गौतम धर्म ज्ञान (५७७ ईस्वी) जिन्हें चीन के एक जिले का गवर्नर नियुक्त किया गया तथा नालन्दा में शिक्षित वज्रबोधि (७१०–७३२ ईस्वी) जो ७१ ईस्वी में श्रीलंका से चीन गए तथा जिन्होंने बौद्धधर्म के आध्यात्मिक वज्रयान-सम्प्रदाय का उपदेश चीन में दिया।

यह सर्वथा स्पष्ट है कि भारतीय धर्म कला और दर्शन के कठिन किन्तु अद्भुत प्रसार में भारत के प्रत्येक कोने ने भाग लिया था। ४३३ ईस्वी में 'नन्दि' नामक एक जहाज पर भिक्षुणियां भी श्रीलंका से चीन गईं और वहां उन्होंने भिक्षुणी-संघ स्थापित किया। बौद्धधर्म प्रचार के एक अभियान की उपलब्धि की चर्चा करते हुए श्रीलंका के एक इतिहासकार ने लिखा है 'संसार के कल्याण के हेतु वे सबको बौद्धधर्म में दीक्षित करने को उत्सुक थे फिर भला आलसी अथवा उदासीन कैसे रह सकते थे!' चीनी-बौद्ध विश्व कोष के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब गजनी का सुलतान महमूद भारत के मन्दिरों और पवित्र स्थानों को लूट रहा था चीन के दरबार में भारतीय भिक्षुओं की संख्या सर्वाधिक थी। कुछ भिक्षुओं ने शायद चीनी नाम भी अपना लिए थे। उसी शताब्दी के मध्य तक चीनी शिष्टवर्ग में इस विदेशी धर्म के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया जागी तथा चीन में बौद्धधर्म का प्रभाव सहसा बहुत कम हो गया और फलस्वरूप भिक्षुओं की संख्या घट गई। चीन पहुंचनेवाले अन्तिम ज्ञात भारतीय भिक्षु का नाम था चे-की-सियांग और वह १०५३ ईस्वी में पश्चिमी भारत से गया था। हां भारत में अनेक शताब्दियों तक चीनी विद्वानों धर्मप्रचारकों व यात्रियों का लगातार आगमन जारी रहा। सुङ-साम्राज्य के उत्कर्षकालीन वर्षों—ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी—में तो उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हुई।

एशिया में बौद्धधर्म का प्रसार

३७२ ईस्वी में बौद्धधर्म चीन से कोरिया पहुंचा और वहां से ५३८ ईस्वी में उसका प्रवेश जापान में हुआ। ६०४ ईस्वी में राजकुमार शोतोकु ताइशी ने बौद्धधर्म को *निपन का राष्ट्रीय धर्म स्वीकार किया और जल्दी ही मन्दिरों* मठों और अस्पतालों का निर्माण हुआ। नारा का विख्यात होरयूजी का मन्दिर ६०७ ईस्वी में बना था। दोहों नामक एक जापानी भिक्षु ह्वेनसांग का एक प्रमुख शिष्य बन गया और उसने अपने देश में योगाचार सिद्धान्त का प्रसार किया। सातवीं शताब्दी का अन्त होते-होते समस्त मध्य और पूर्वी एशिया में बौद्धधर्म का प्रसार हो गया। गुप्त पाल और पल्लव शैलियों की गई

बौद्धकला मध्य और दक्षिण-पूर्वी एशिया जा पहुंची। अजन्ता बाघ और अमरावती की कला द्वारा सृजित महायान स्वप्न के भावपूर्ण और महाकरुणापूर्ण बोधिसत्वों के रहस्यमय रूप जिनके हाथों की मुद्राएं भारतीय थीं और उनसे भारतीय कमल थे तथा महायान ग्रंथों की कथाएं अब सम्पूर्ण महाद्वीप में सुपरिचित हो गईं और जन-सामान्य में विश्वास एवं भक्ति जगाने लगीं।

मंगोलिया के साथ भारत का सम्पर्क आठवीं शताब्दी ईस्वी में आरम्भ हुआ जब भारतीय भिक्षु प्राज्ञ ने बौद्धग्रंथों का मंगोल भाषा में अनुवाद करने में भाग लिया। चंगेज़खां द्वारा स्थापित विशाल मंगोल-साम्राज्य में बौद्धधर्म इस्लाम और नेस्टोरियाई ईसाईधर्म का प्रतिफलन साथ-साथ हुआ। चंगेज़खां के पोते कुटयक ने तिब्बत के शाक्य मठ से आए हुए बौद्धभिक्षु-विद्वान शाक्यपंडित का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। बाद में उसके दो भतीजे मंगोलिया में बौद्धधर्म प्रचार-कार्य करने लगे। उनमें से एक फग्स-पा (१२३५–१२८० ईस्वी) ने कुब्लाखां (१२१५–१२९४ ईस्वी) द्वारा कराकोरम में आयोजित एक धर्मसभा में भाग लिया तथा ताओवादी भिक्षुओं को विवाद में पराजित किया। इस पर कुब्लाखां ने तिब्बती बौद्धधर्म को मंगोल-साम्राज्य का राजधर्म स्वीकार किया तथा फग्स-पा को विशाल मंगोल-साम्राज्य के बौद्धधर्म का राजगुरु एवं तिब्बत के तीन जिलों में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। फग्स-पा धर्म-परिवर्तन कराने में कुशल था इसलिए जल्दी ही बौद्धधर्म मंगोलों में सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म हो गया। कुब्लाखां ने श्रीलंका के शासक द्वारा भेजे गए बुद्ध के अवशेषों का स्वागत किया। कुब्लाखां के 'कुमो-द' अथवा राजगुरु की हैसियत से फग्स-पा ने विशाल साम्राज्य की विभिन्न भाषाओं के लिए एक वर्णमाला का आविष्कार किया। इस प्रकार कुब्लाखां के शासनकाल में उसने एक नई एशियाई एकता का स्वप्न देखा जिसका धर्म भाषा और संस्कृति एक हो—किन्तु कुब्लाखां की मृत्यु के तत्काल बाद मंगोल-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उसके साथ टूट गया फग्स-पा का स्वप्न भी। बौद्धधर्म के बारे में कुब्लाखां ने कहा था "हथेली से अंगुलियां निकलती हैं बौद्ध-सिद्धान्त हथेली के समान हैं, तथा अन्य धर्म अंगुलियों के समान।"

तिब्बत में सम्राट स्रोङ्-त्सन गम्पो (६०० –६५० ईस्वी) ने जिन्होंने उत्तरी भारत उत्तरी बर्मा और चीनी तुर्किस्तान के प्रदेशों पर भी अधिकार कर लिया था कश्मीर से प्राप्त भारतीय वर्णमाला और लिपि का प्रयोग आरम्भ कराया तथा तिब्बत में सर्वप्रथम बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया। आठवीं शताब्दी के मध्य (७४७ ईस्वी) में पद्मसम्भव ने तिब्बत जाकर वहां वज्रयान बौद्धधर्म का उपदेश दिया। सुप्रसिद्ध बौद्ध तांत्रिक केन्द्र उड्डियान (जिसे कुछ लोग स्वात घाटी और अन्य लोग ढाका जिले में स्थित वज्रयोगिनी मानते हैं) में उनका जन्म हुआ था तथा नालन्दा विश्वविद्यालय में उन्होंने अध्ययन किया था। वे तिब्बत में तीस वर्ष तक रहे तथा नागरिक एवं धार्मिक कानून बनवाने का काम उन्होंने किया। पद्मसम्भव को बाद में देवता मान लिया गया। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में तिब्बत के सम्राट के आमंत्रण पर विक्रमशील मठ के प्रसिद्ध मठाधिपति अतीश अथवा दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत-यात्रा की। अतीश के वरिष्ठ उन्हें तिब्बत —

नहीं जाने देना चाहते थे क्योंकि उन्हें भय था कि अतीश की अनुपस्थिति में मगध के मठों का चरित्र गिर जाएगा। इस भय का एक कारण गजनी के तुर्कों के आक्रमण भी था। (महमूद गजनवी ने १०१८ ईस्वी में कन्नौज पर अधिकार कर लिया था तथा १०२६ ईस्वी में सोमनाथ का विनाश किया था।) इसलिए निश्चित किया गया कि अतीश तीन वर्ष के भीतर विक्रमशील वापस आ जाएं किन्तु हुआ ऐसा कि १०४० ईस्वी से १०५३ ईस्वी में अपनी मृत्यु तक के तेरह वर्ष उन्होंने तिब्बत में बिताए। उन्होंने महायान का प्रचार किया तथा ऐन्द्रजालिक तत्वों को विनष्ट करके बौद्धधर्म को पुनः उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया। रास्ते में उन्होंने नेपाल का भी भ्रमण किया। उनके साथ विनयधर, ग्या-स्तोन भूमिगर्भ तथा पश्चिमी भारत के एक राजकुमार शिष्य भूमिसंघ भी थे। भारत के अन्य विख्यात यात्री थे शीलभद्र और अभयाकरगुप्त। कई शताब्दियों तक नालन्दा विक्रमशील जगद्दल और ओदन्तपुरी तथा तिब्बत व नेपाल के मठों के बीच घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित रहा जिसके ठोस परिणाम हुए। दोनों देशों की धर्म और संस्कृति पर महायान वज्रयान सहज और तन्त्रवाद के विचारों का अमिट प्रभाव पड़ा।

नेपाल तिब्बत भूटान और सिक्किम सीमावर्ती क्षेत्र हैं और यहां के निवासियों के जीवन आचार-व्यवहार और विचारों को भारतीय संस्कृति ने सदैव प्रभावित किया है। किन्तु बौद्धधर्म का प्रसार तो मध्य-एशियाई कारवां-मार्गों द्वारा मध्यएशिया चीन मंगोलिया कोरिया और जापान तथा समुद्री मार्ग से द्वीपान्तर भारत में हुआ। यह एक अद्वितीय सांस्कृतिक आन्दोलन था और इसीके कारण एशियाई सभ्यता की एकता की स्थापना हुई जो अनेक शताब्दियों तक कायम रही। ६१ ईस्वी में ही कश्यप मातंग और धमरत्न ने बौद्धधर्म का प्रचार-अभियान आरम्भ कर दिया था किन्तु लगभग १० ईस्वी में कुण्डलवन बिहार में बौद्ध समिति की सभा के पश्चात् अभियान की गति तीव्र हो गई। ३३५ ईस्वी में एक शाही घोषणापत्र में बौद्धधर्म को चीन का राजधर्म घोषित किया गया। यह निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि थी। घोषणापत्र में कहा गया था बुद्ध विदेशों में पूजे जानेवाला एक देवता हैं। सम्भव है कि वे चीन के सम्राटों अथवा चीनी जनता की पूजा के अधिकारी न हों। किन्तु मेरा जन्म एक सीमावर्ती क्षेत्र में हुआ था और मुझे चीन का शासक बनने का सौभाग्य मिला है। मेरे धार्मिक कर्तव्यों का निर्वहन मेरी जनता के आचारों के अनुसार ही होगा। बुद्ध यद्यपि विदेशी देवता हैं फिर भी मेरे लिए उनकी पूजा करना उचित ही है। दुःख की बात है कि प्राचीनकाल के उन्हीं पुराने नियमों का पालन आज भी किया जाए। कोई मावश्यक और विशुद्ध वस्तु प्राप्त हो जाने पर भी लोग क्यों प्राचीन प्रथा के आचारों से चिपके रहें ? मेरी जनता बर्बर कहलाती है। मैं उन्हें आज्ञा देता हूं कि वे चाहें तो बुद्ध की पूजा तथा बौद्धधर्म का अंगीकार करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

बौद्धधर्म के चीनी सम्प्रदाय

चीन में बौद्धधर्म का सबसे अधिक प्रभाव पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में कुमार जीव की चीन-यात्रा से दसवीं शताब्दी के आरम्भ में तांगवंश के पतन तक रहा। यह

दूसरी बात है कि बौद्धधर्म के अनेक मत और सम्प्रदाय लगभग ग्यारहवीं शताब्दी तक चीन में फूलते फलते रहे। बौद्धधर्म के दस चीनी सम्प्रदायों (स्कूल) का उद्भव हुआ। ये सब किसी न किसी महायान-ग्रन्थ पर आधारित थे। इन ग्रन्थों के उदाहरण हैं 'सद्धर्म पुण्डरीक' 'अभिधर्मकोष' 'अवतंसकसूत्र' 'सुखावती-व्यूह' 'सत्य-सिद्धिशास्त्र' तथा 'विनय'। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय था ध्यान-सम्प्रदाय। इसकी स्थापना बोधि धर्म ने की थी। उन्होंने ४७० से ५२० ईस्वी तक पचास वर्ष का समय चीन में ही बौद्ध धर्म का उपदेश देने में बिताया था। उनके उपदेश 'लंकावतारसूत्र' पर आधारित थे तथा उनके सम्प्रदाय का नाम एक समय में लंका-सम्प्रदाय था। इसे चीनी भाषा में 'चान' (यह शब्द 'ध्यान' का अपभ्रंश है) कहा जाता था। बोधिधर्म काशी-नरेश के पुत्र थे तथा बौद्धधर्म के 'ध्यान' की दीक्षा उन्हें पूर्वी द्वीपसमूह में मिली थी। वे चीन में ता-मो (दम) तथा जापान में (जहाँ उनके उपदेशों का प्रचार बारहवीं शताब्दी में 'जेन' नाम से हुआ) दरुम नाम से जाने जाते थे। जेन-बौद्धधर्म के आज भी हजारों अनुयायी हैं।

बोधिधर्म के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि उन्होंने अनेक चमत्कार दिखाए थे। चीनी चित्रों में उन्हें एक मस्तमौला के रूप में दिखाया गया है। उनके चेहरे पर दाढ़ी है, कंधे पर पेड़ की डाल जिससे एक खड़ाऊँ लटकी है और वे चुपचाप शून्य की ओर निर्निमेष निहार रहे हैं। तत्कालीन सम्राट ने उनका जन्म और शिक्षा-स्थान ज्ञात करके उनका सम्मान किया था। उन्हें गौतम के बाद अट्ठाईसवाँ धर्माचार्य माना गया। उन्होंने कभी कोई पुस्तक नहीं लिखी, किन्तु उनके शिष्यों ने पीढ़ी दर पीढ़ी 'ध्यान' पर विशाल साहित्य निर्माण किया है। बोधिधर्म ने पूजा, सन्यास, मठवास तथा धर्मग्रन्थों के अध्ययन को भी स्वीकार नहीं किया। उनके सिद्धान्त का आधार था आत्मा की यथार्थ और सार्वभौम प्रकृति अथवा बोधिचित्त का विशुद्ध चिन्तन। उनके उपदेशों में 'विज्ञानवाद' अथवा बौद्ध सौत्रान्तिक एवं माध्यमिक सिद्धान्तों की विचारवादी व्याख्या है फिर भी वे हिन्दू वेदान्तदर्शन के समान हैं। उनका एक विचार यह भी है कि 'शून्य में कोई भी वस्तु पवित्र नहीं होती' और ताओ रहस्यवाद के साथ इसकी समानता स्पष्ट है। बोधिधर्म का कथन है :

"प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में उपस्थित बुद्ध प्रकृति ही वास्तविक यथार्थ है। प्रार्थना व्यायाम और अच्छे काम व्यर्थ हैं। आवश्यकता केवल इतनी है कि व्यक्ति अपने भीतर झाँककर अपने हृदय के भीतर बुद्ध के दर्शन करे। प्रकाश और मुक्ति प्रदान करनेवाली यह अन्तर्दृष्टि एक क्षण में प्राप्त हो जाती है। यह एक सरल प्राकृतिक प्रक्रिया है, भोजन करने या स्वप्न देखने के समान जिसे न सीखा जा सकता है और न सिखाया, यह किसी अन्य से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं वरन् आत्मा की अनुभूति है और शिक्षा से केवल इसे प्राप्त करने की राह तैयार हो सकती है। कुछ लोग अपनी समस्त बुद्धि अथवा धर्मनिष्ठा के बावजूद अपने कर्म के कारण शारीरिक रूप से दृष्टि प्राप्त करने के अनुपयुक्त होते हैं, किन्तु अन्यायों के लिए यह अवश्यम्भावी और सर्वथा विश्वसनीय है।"

उनका एक अत्यन्त मेधावी शिष्य था चि-काई (जन्म ५११ ईस्वी) जिसने अपने गुरु के उपदेशों को और विस्तृत किया तथा 'तियेन-ताई' नामक बौद्धधर्म के एक सम्प्रदाय

की स्थापना की। इस सम्प्रदाय में सभी सम्प्रदायों की अच्छी बातों को एक स्थान पर इकट्ठा कर लिया गया था। चि-काई ने बुद्ध के उपदेशक जीवन के पांच युगों के अनुसार बौद्ध धर्म के विशाल साहित्य का वर्गीकरण किया और इस प्रकार उनके विभिन्न और प्रत्यक्षतः विरोधी उपदेशों में एक तर्कसंगत सम्बद्धता स्थापित की। चीनी बौद्धधर्म में उनका वर्गीकरण आज भी मान्य है। 'तियेन-ताई' एक अद्भुत सम्मिश्रण है। इसके अनुसार सभी दार्शनिक विचारों का लक्ष्य केवल एक है और यह महत्त्वपूर्ण लक्ष्य-प्राप्ति है उसका उपाय नहीं। चि-काई के उपदेशों का प्रसार जापान में भी हुआ जहां अब भी उनके अनुयायी हैं।

चीन में *बौद्धधर्म के योगाचार-विज्ञानवाद-सम्प्रदाय* (ह्वेनसांग इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था) की प्रभावशालिता का बहुत कुछ श्रेय मध्यभारत के एक राजवंश के सदस्य प्रभाकरमित्र को है। दक्षिणभारत में खूब पर्यटन करने के पश्चात् प्रभाकरमित्र नालन्दा पहुंचा जहां उसकी भेंट शीलभद्र से हुई। वहां से वह मध्यएशिया गया। और पश्चिमी तुर्कों के खगन को बौद्धधर्म में दीक्षित करने में सफल हुआ। वह ६२७ ईस्वी में चाङ-गन *पहुंचा और चीन के सम्राट पर उसका काफी प्रभाव हो गया। चीन में ही ६३३ ईस्वी* में उसकी मृत्यु हुई।

'ध्यान' के पश्चात् बौद्धधर्म के जिस चीनी सम्प्रदाय का नाम आता है वह है 'अमित' अथवा 'पवित्र भूमि'। यह भी काफी प्रचलित था। इसकी स्थापना बोधिरुचि ने की जो ६९२ से ७२७ ईस्वी तक (जब उनकी मृत्यु हुई) चीन में उपदेशक थे। अमिताभ अथवा अमित बुद्ध (जापान में 'अमित') का धार्मिक अर्थ है 'अपार प्रकाशवाले बुद्ध' जो पश्चिमी स्वर्ग अर्थात् 'पवित्र भूमि' अथवा 'सुखावती' में रहते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय के समान अमिताभ-सम्प्रदाय के कारण भी चीन और जापान में खूब साहित्य लिखा गया। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम तथागत (धर्मकर नामक एक भिक्षु) को धर्म अमिताभ अथवा अपरिमित प्रकाश अथवा जीवन माना गया है। उनके नाम का उच्चारण करनेवाला कोई भी व्यक्ति तत्काल उनके पूर्ण और एकान्त संरक्षण में पहुंच जाता है। अपने हृदय से एक किरण के समान निकलकर वह अपनी इच्छानुसार कितनी ही दूरी पर बैठ किसी भी व्यक्ति को प्रकाशित कर सकता है। कोई भी सन्निकटमृत्यु व्यक्ति चाहे वह कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो यदि ईमानदारी से पश्चात्ताप करे और 'सुखावती' में पुनर्जन्म लेने का इच्छुक हो तो मृत्यु के फौरन बाद उसका जन्म वहीं हो जाएगा फिर 'सुखावती' में उसे शिक्षा मिलेगी उसका सुधार होगा और मुक्ति की राह पर उसे पहुंचा दिया जाएगा। भारतीय भक्ति-आन्दोलन के साथ इसकी समानता स्पष्ट है। इसके बारे में एक और बात महत्त्वपूर्ण है। ह्वेनसांग अथवा ई त्सिङ् दोनों को ही इसके बारे में कोई ज्ञान न था। अमिताभ बुद्ध के प्रति प्रेम और भक्ति की भावना पूर्वी देशवासियों के कलात्मक एवं संवेदनात्मक प्रकृति के सर्वथा अनुकूल थी। पश्चिमी स्वर्ग को—जहां पहुंचकर भक्त को सुखद अमरत्व प्राप्त हो सकता है—चीन जापान और तिब्बत में अनेक सुन्दर चित्रों का आधार बनाया गया है।

चीन में उद्भूत अन्तिम सम्प्रदाय का जन्म कांचीपुरम के राजगुरु वज्रबोधि के

वज्रयान अथवा मंत्रयान उपदेशों से हुआ था। वज्रबोधि श्रीलंका में निवास करने के पश्चात् चीन पहुंचे थे और वहां उन्होंने ७१०–७३२ ईस्वी तक प्रथम बौद्धधर्म का जिसमें अनेक तांत्रिक मंत्र भी थे उपदेश दिया। इसका आधार है एक प्रादिकालीन बुद्धात्मा अर्थात् 'महावैरोचन' का सिद्धान्त। इसके अनुसार महावैरोचन अनेक रूपों और आकारों में जन्म लेते हैं। इस सम्प्रदाय की स्थापना और प्रसार में वज्रबोधि के शिष्य अमोघवज्र (७२४–७७४ ईस्वी) ने उनकी बहुत सहायता की (अमोघवज्र ने लो-यङ, हो-सी और शियाङ-याङ में उपदेश दिए थे)। लो-यङ के विख्यात 'श्वेत अश्वमठ' से मताभिमत तक सैकड़ों बौद्धग्रन्थों का सृजन जनसाधारण के लिए होता रहा। इस ग्रन्थों की रचना 'बौद्ध मन्दरिन' नामक बोली में होती थी। जापान का कोबो-दाइशी शिक्षा ग्रहण करने के उद्देश्य से अमोघ के पास आया और उसने जापान में तन्त्रवाद का प्रसार किया। अमोघ के ही एक अन्य चीनी शिष्य हुई-कुओ से जापानी साधु कुकई (७७४–८३५ ईस्वी) ने आठवीं शताब्दी के अन्त में वज्रयान के सिद्धान्त सीखे तथा उन्होंने जापान में 'शिगों' सम्प्रदाय की स्थापना की। 'शिंगों' आज भी खूब लोकप्रिय है। इसमें तांत्रिक चित्र के बीच में वैरोचन को दिखाया गया है—शक्तिशाली पुरुष जिसमें दृश्य और अदृश्य वस्तुएं समाहित होती हैं और पूर्णता प्राप्त करती हैं।

चीन में बौद्ध कला

बौद्धधर्म में 'महाशून्य'—अर्थात् बाह्य संसार की रिक्त और अवास्तविक प्रकृति—पर जोर दिया गया था। इसी कारण इसके द्वारा चीनियों के व्यावहारिक मस्तिष्क का पुनर्निर्माण हुआ तथा परम्परा चीनी संश्लेषण हुआ कि निष्क्रियता में सदैव सक्रियता होती है और सक्रियता में सदैव निष्क्रियता। यह सिद्धान्त संसार और निर्वाण की एकात्मकता के भारतीय महायान सिद्धान्त के समान है। सम्पूर्ण जाति की विचारधारा के इस रूपान्तर का चीनी कला और साहित्य पर स्थायी प्रभाव पड़ा। गंधार की यूनानी बौद्धकला ने सर्वप्रथम चीनी मूर्तिकला में मानव आकृति का प्रवेश किया और उसे उच्चतम नैतिक गौरव प्रदान किया। छः राजवंशों के वेई-युग में युन-काङ और लुङ-मेन की गुफाओं में मूर्तियों का सृजन हुआ। ये मूर्तियां वास्तव में अजन्ता, बाघ और बामियान के विमल बुद्धों और बोधिसत्वों के चीनी रूपान्तर थीं और जिन ऊबड़-खाबड़ पहाड़ों को काटकर उन्हें बनाया गया था उन्हीं पर्वतों का एक भाग बन गईं। लेकिन चीनी-मूर्तिकला का सर्वोत्कृष्ट काल ताङ-युग (६१८–९०७ ईस्वी) है। चीन के बुद्ध में क्रमशः मानवीय आकर्षण और सौम्य तथा आध्यात्मिक मधुरता और पारलौकिकता का उत्कृष्ट सामंजस्य स्थापित हो गया। इस वंश के भित्तिचित्रों में काल्पनिक चीनी स्वर्ग के आकाशीय अवलोकितेश्वरों और अमिताभों की रचना में मूर्त और अमूर्त विचार का और अधिक प्रभावशाली संयोग देखने को मिलता है।

चीन में बौद्धकला के तीन मुख्य केन्द्र थे तुन-हुआङ, युन-काङ और लुङ-मेन। इनमें से युन-काङ और लुङ-मेन अपेक्षाकृत प्राचीन मालूम पड़ते हैं यद्यपि तुन-हुआङ चीन की पश्चिमी सीमा पर, कारवां-मार्गों के मिलन-स्थल पर स्थित है। युन-काङ वेई-

वंश की प्रथम राजधानी के समीप शांसी प्रदेश में ता-तुङ के पास स्थित है तथा लुङ-मेन लो-याङ के पास है। अनुमान है कि युन-काङ की गुफाओं को ३६८ और ४११ ईस्वी में खोदा गया होगा। लुङ-मेन की गुफाओं की खुदाई शांसी से राजधानी लो-याङ स्थानान्तरित होने के बाद ही हुई थी। पांचवीं और छठी शताब्दी ईस्वी म वेईवंश के शासन काल मे ही तुन हुआङ में अनेक मन्दिर खोदे और सजाए गए।

'वेईवंश का इतिहास' में लिखा है कि उत्तरी वेईवंश के सम्राट वेन चेङ के समय में युङ-काङ पहाड़ पर पांच विशाल बुद्ध काटने का विचार एक भारतीय भिक्षु तान-याओ ने सम्राट के सामने रखा था। सबसे बड़े बुद्ध की ऊंचाई सत्तर फुट थी और सबसे छोटे की साठ फुट। ये मूर्तियां संसार की विशालतम बुद्ध-मूर्तियों में से थीं और इनकी प्रेरणा स्पष्टतः बमियान की मूर्तियों (१२० और १७५ फुट ऊंची) से मिली थी। बुद्ध की विशाल मूर्तियां सर्वप्रथम तीसरी और चौथी शताब्दी ईस्वी में जब महायान बौद्धधर्म का अद्भुत प्रसार हो रहा था बनी थीं। तुन-हुआङ में 'एक हजार बुद्धों की गुफाओं' में बुद्ध की विशाल मूर्ति १ फुट से अधिक ऊंची है। ताङवंश के एक अभिलेख के अनुसार एक भारतीय भिक्षु लो-त्सुन ने ३६६ ईस्वी में पहला मन्दिर—'अतुलनीय ऊंचाई की गुफा'—बनवाया। शायद उसे भी बमियान से ही प्रेरणा मिली होगी। इन विशाल मूर्तियों में हमें दो धारणाओं के सम्मिलन के दर्शन होते हैं। एक है बुद्ध को ब्रह्माण्ड का चक्रवर्ती मानने की भारतीय धार्मिक धारणा और दूसरी है सम्राट् को देवता 'कोस्मा क्रटर' बना देने की यूनानी राजनीतिक धारणा। पंजाब के उत्तर दर्दू में १ ० फुट ऊंची मैत्रेय की एक काष्ठ-मूर्ति की बात फ़ाहसान् ने लिखी है। युन-काङ मे शिङ-फ़ो-त्मू की सीमा के भीतर पांचवीं गुफा को बैठी हुई प्रस्तर-मूर्ति शायद चीन की सर्वाधिक सुन्दर मूर्ति है। लुङ-मेन की पहाड़ी कन्दराएं युन-काङ की कन्दराओं से छोटी हैं। इन विशाल कन्दराओं की चारों दीवारों और छत पर हजारों बुद्ध उड़ती हुई अप्सराएं, हिन्दू देवता और संरक्षक तथा फूलों की सुन्दर डिजाइनें खोदी गई हैं। लुङ-मेन की अधिकांश कन्दराओं में उन्हें खोदने का समय मूर्तिकारों और अनुदाताओं के नाम तथा खुदाई का वर्णन हमें मिलता है। सबसे पुराना अभिलेख उत्तरी वेईवंश के सम्राट सियाओ-वेन के 'ताई-हो' के सातवें वर्ष (४८३ ईस्वी) का है। शेष कन्दराओं का निर्माण उत्तरी वेईवंश द्वारा सुई और ताङ कालों तक मे हुआ था।

तुन-हुआङ युन-काङ और लुङ-मेन की कन्दराओं में कला और वस्तुकला के विचार से कई बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम बौद्धधर्म के प्रसार के साथ चीन में प्रविष्ट गन्धारशैली का परम्परागत चीनी शैली पर प्रभाव। अन्ततः गान्धारशैली पूर्णतः उत्तरी वेईशैली में मिल गई। द्वितीय गुप्तशैली का प्रभाव जो उत्तरी वेई-कलाकृतियों में बहुत कम था सुईवंश में अधिक हुआ और ताङ-काल में तो खूब स्पष्ट हो सका। 'द सेरेंड प्रोएसिस' में मिश मार्ई० बी० बिलेस्ट ने लिखा है "ऐसा लगता है कि चट्टानों को काटकर बनाए गए बौद्धमन्दिरों की एक शृङ्खला भारत से मध्य-एशिया होकर कम से कम कांसु प्रान्त में काग्चाउ के दक्षिणस्थित पर्वतों तक चली गई है। इनके अलावा कन्दरा-मन्दिर चीन के मध्य भागों में भी पाए गए हैं।" तुन हुआङ और युन-काङ कन्दराओं के निर्माण

और सज्जा के लिए उत्तरदायी भारतीय भिक्षुओं—सो-त्सुन और नान-यामो—को वास्तु कला तथा मूर्तिकला का वृहद् ज्ञान अवश्य रहा होगा। इसी युग के कुछ भारतीय चित्रकारों के नाम हमें मालूम हुए हैं। ये हैं शाक्यबुद्ध, बुद्धकीर्ति और कुमारबोधि। काश्मीर, गन्धार और कूचा के कारवाँ-मार्गों द्वारा अजन्ता, नेपाल और तिब्बत तथा समुद्री मार्ग द्वारा अमरावती और सिंहल की गुप्तकालीन भारतीय कला चीन पहुँचकर वहाँ की मिट्टी में रम गई।

विश्वशान्ति की आशा : बौद्धधर्म

बौद्धधर्म के तिब्बती तांत्रिक रूप का उपयोग मंगोल-साम्राज्य में किया। मंगोल साम्राज्य उस समय का सबसे बड़ा साम्राज्य था और था सुदूरपूर्व तथा सुदूर पश्चिम को मिलानेवाला प्रभावशाली सेतु। पाक्स टारटारिका की स्थापना में बीसों राज्यों और लाखों मानवों का विनाश हुआ था किन्तु आश्चर्य की बात है कि उसीके द्वारा एक बौद्ध विश्व बन्धुत्व की आशा बनी। किन्तु तेरहवीं शताब्दी के अन्त में कुब्लाखाँ (१२१४–१२९४ ईस्वी) की मृत्यु हो जाने पर मंगोल-साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसके साथ ही टूट गए उसके द्वारा एशिया और यूरोप के बीच स्थापित आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक सम्बन्ध। इस प्रकार, जब सही अर्थ में विश्व-वाणिज्य का विकास प्रारंभ ही हुआ था और जब चीन, पूर्वी द्वीपसमूह, भारत, मिस्र और भूमध्यसागरीय देश सभी एक ही आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत आ रहे थे तभी बौद्धधर्म द्वारा विश्वशान्ति-स्थापना की अन्तिम आशा विलीन हो गई।

तेरहवीं शताब्दी के बाद एशिया के भूभाग पर बौद्धधर्म सक्रिय आध्यात्मिक बल नहीं रह गया। इसके कारण सांस्कृतिक नहीं, राजनीतिक थे। दक्षिणी सुङ्वंश के देशाधिपतियों (११२७–१२७९ ईस्वी) के शासनकाल में जब तातारों के आक्रमणों के कारण साम्राज्य की राजधानी हांगचाउ से हटाई गई, बौद्धधर्म पर लिखनेवाले चीनी लेखकों की संख्या तो बढ़ी किन्तु एक भी भारतीय भिक्षु चीन नहीं गया। उत्तरी चीन में युएन अथवा मंगोलवंश (१२७८–१३६८ ईस्वी) के संरक्षण में लामाई बौद्धधर्म फूला-फला। चीन में किसी भारतीय भिक्षु द्वारा चीनी भाषा का अन्तिम संकलन था सा-लो-पा कृत बौद्ध सूत्रों और शास्त्रों का संकलन। दक्षिणी चीन में संस्कृतग्रन्थों के चीनियों द्वारा किए गए अनुवादों का प्रचार किया जाने लगा (१३१४)। सुङ्कालीन लैंडस्केप चित्रकला में बौद्धधर्म व्याप्त है और उसमें विश्व की सूक्ष्मता और रहस्यात्मकता तथा मानवजीवन की नश्वरता और अवास्तविकता की भावना स्पष्ट है; तथा सुङ्कालीन कविता में बौद्ध चिन्तना और सम्पूर्ण प्राकृतिक जीवन की अधमधुर प्रकृति के ज्ञान का समावेश है।

स्थलमार्गों द्वारा भारतीय भिक्षुओं का चीन जाना बिलकुल बन्द हो गया था फिर भी बृहत्तर चीन में बौद्धधर्म अब भी प्रभावशाली था। मंगोलिया ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया तथा अविवाहित रहने की प्रथा खूब प्रचलित हो गई। फल यह हुआ कि घुमक्कड़, जगह जगह भटकनेवाली जाति एक स्थान पर जमकर खेती-बाड़ी करने, ऊँट हाँकने और पशु चरानेवाली शान्तिप्रिय जाति बन गई। इससे चीन को अत्यधिक आर्थिक

और राजनीतिक लाभ हुआ। १५७० ईस्वी में चीनी कूटनीतिज्ञ वान-चुन-हु ने चीन की सरकार को लिखा 'बौद्धधर्म में रक्तपात का विरोध पुनः-पुनः पाप स्वीकारोक्ति पर जोर है तथा सात्विक जीवन बिताने का अनुरोध है। यही कारण है कि हमें खानाबदोशों को बौद्धधर्म में दीक्षित करने का यथासंभव प्रयत्न करना चाहिए। मिङ्वंश (१३६८–१६४४ ईस्वी) ने जानबूझकर तुर्किस्तान और मंगोलिया के शक्तिमान और लड़ाकू खानाबदोशों को बौद्ध बनाया और वे शान्तिप्रिय पड़ोसियों में बदल गए। चीन सभ्यता के सीमावर्ती खानाबदोशों तक पहुँचनेवाला बौद्धधर्म भारतीय नहीं चीनी था। इसका कारण यह था कि कुमारजीव की मृत्यु के पश्चात् मध्य-एशिया की जातियों के आपसी संघर्षों के कारण पूर्वी-पश्चिमी कारवाँ-मार्ग एकदम बन्द हो गए और भारत के साथ प्राचीन स्थलीय सम्पर्क भी समाप्त हो गया। बृहत्तर भारत तथा पूर्वी द्वीपसमूह में एशिया को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य बौद्धधर्म आगामी दो और शताब्दियों तक करता रहा। तब इस्लाम के आगमन से बौद्धधर्म के पांव उखड़ गए।

अध्याय १२

औपनिवेशिक संस्कृति और कला

द्वीपान्तर भारत

दक्षिणी उपनिवेशीकरण का आरम्भ

गुप्तकाल में समुद्रपार दक्षिणी-पूर्वी एशिया में उपनिवेश स्थापित करने के भारतीय प्रयत्नों ने खूब प्रोत्साहन मिला। इसके कारण थे पूर्वी बन्दरगाह ताम्रलिप्ति तथा अरब सागर तट बन्दरगाहों भड़ौच वैजयन्ती और कल्याणी पर गुप्त-साम्राज्य का नियंत्रण एवं एक अधिक संस्कृत सभ्यता के लिए आवश्यक विलास-वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए इंडोनेशिया के साथ व्यापार का आकर्षण। दक्षिण में भारतीय संस्कृति का प्रसार पांचवी शताब्दी ईसापूर्व में आरम्भ हो गया था जब राजा विजयसिंह ने श्रीलंका पर अधिकार किया और अपने नाम पर उसका नाम सिंहल रखा। यह कथा कहानियों में वर्णित तथा अजन्ता के एक भित्तिचित्र में चित्रित है। फिर तीसरी शताब्दी ईसापूर्व में अशोक द्वारा भेजे गए साहसी भिक्षु-धर्मप्रचारकों ने सिंहल द्वीप तथा सुवर्णभूमि (शायद इंडोनेशिया) की यात्रा की। महेन्द्र और संघमित्रा ने सिंहलद्वीप में बौद्धधर्म का प्रचार किया तथा सोन और उत्तर सुवर्णभूमि पहुंचे थे। किन्तु पूर्वी द्वीपों से क्षिप्र गमनागमन का विकास सब प्रथम सातवाहन-साम्राज्य (२१८—७२ ईसापूर्व) में हुआ। कारण यह था कि सातवाहन साम्राज्य मध्यभारत में पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक फैला था तथा अरब सागर पर वैजयन्ती (गोआ) और कल्याणी तथा बंगाल की खाड़ी पर घनकटक मसुलिपत्तनम् और कोनारक बन्दरगाह उसके अधिकार में थे। प्रतिष्ठान (टालेमी ने जिसे 'पैठान' कहा था) के निवासी पुनाहम की साहसिक समुद्री यात्राओं की कथाओं से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। समुद्र के साहसिक यात्रियों को 'समुद्रासुर' कहा गया था और कटाह कपूर सुवर्ण और सिंहल जैसे पूर्वी द्वीपों के नाम मौजूद हैं। बौद्धग्रंथ 'निद्देस' में जिसकी रचना दूसरी शताब्दी ईस्वी के बाद नहीं हुई, सुवर्णभूमि में सुवर्ण की खोज का जिक्र है। समुद्र पार करके सुवर्णभूमि पहुंचने के बाद लोग 'जता-पथ', 'बांस-पथ' और 'बकरी-पथ' की खतरनाक यात्राएं करते हैं और आखिरकार एक नदी तक पहुंचते हैं जिसके तटों की बालू सुनहरी है। वैजयन्ती और कल्याणी के व्यापारी-कुमारों के साथ भी हमारा साक्षात् होता है, जिन्होंने व्यापार से प्राप्त धन को कार्ले और कन्हेरी की गुफाओं को सजाने में लगा दिया था। व्यापार के बाद क्रमशः उपनिवेशीकरण होने लगा।

दक्षिण-पूर्वी सागरों पर भारतीय प्रसार का इतिहास कम से कम दो हजार सालों—

पांचवीं शताब्दी ईसापूर्व से चौदहवीं शताब्दी ईस्वी तक—का है। आर० सी० मजूमदार ने १३६५ के एक जावाई ग्रंथ 'नगर कृतगम' का एक जिक्र किया है। इस ग्रंथ में लिखा है कि भारत के कर्नाटक गौड़ आदि प्रदेशों से लोग जावा की राजधानी (सम्राट् कृतराज द्वारा १२६२ ईस्वी में स्थापित) मजपहित 'अधिक संख्या में आते थे। वे मास मादक जहाजों पर आते थे। इन्हीं देशों से भिक्षु और विद्वान ब्राह्मण भी आते थे और उनका सत्कार किया जाता था। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में भी मजपहित-साम्राज्य के प्रमुख शासक रजसंगर (१३५०–१३८६ ईस्वी) ने पनतरन के सुन्दर मन्दिर में उत्कीर्ण शिलापट्ट (रिलीफों) का निर्माण कराया जिनमें 'रामायण' और कृष्णायन के दृश्य अंकित हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट काल में मजपहित-साम्राज्य (१२६४–१४७८ ईस्वी) ने श्रीविजय और भारतीय द्वीप समूह के सभी द्वीपों तथा मलय प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया।

द्वीपान्तर का भौगोलिक अर्थ

भारतीय उपनिवेशों और राज्यों से परिपूर्ण समस्त क्षेत्र को 'द्वीपान्तर भारत' कहा जाता था। पाणिनि के अनुसार 'द्वीप' का अर्थ है जो ओर पानी से घिरा भू-भाग। अतः मलय प्रायद्वीप भी द्वीप ही माना जाता था। 'वामनपुराण' में भारतवर्ष के अन्तर्गत समुद्रान्तरित नव भेदों को 'द्वीपान्तर भारत' कहा गया है। इन भेदों में नाम हैं इन्द्र द्वीप (बर्मा) कसेरुमत ताम्रपर्ण (ताम्रपर्णी) गभस्तिमत नागद्वीप (नीकोबार) कटाह (केडह) सिंहल (श्रीलंका) वरुण अथवा बर्हिण (बोर्नियो) और कुमार। इतिहासकार सभी द्वीपों को पहचानने में सफल नहीं हो सके हैं। इसी प्रकार 'ब्रह्मांडपुराण' में प्राचीन जम्बूद्वीप में ही अनेक द्वीपों (अर्थात् द्वीपों और प्रायद्वीपों) को सम्मिलित किया गया है। इनका भौगोलिक सम्बन्ध भारत के साथ है। इसमें लिखा है ये सभी प्रायद्वीप बर्हिण द्वीप वंश (जिसे वरुण और बोर्नियो समझा जा सकता है) नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार के सैकड़ों द्वीप और प्रायद्वीप भारत में हैं। उनमें अंग द्वीप (जिसे कम्बुज और चम्पा समझा जा सकता है) यवद्वीप (जावा) मलयद्वीप (मलय प्रायद्वीप) कुशद्वीप शंखद्वीप (श्याम द्वीप) वराहद्वीप (वरह द्वीप) कहा जाता है। जम्बूद्वीप में छः द्वीप ऐसे हैं जो उदात्त तथा अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों से परिपूर्ण हैं।

'कथासरित्सागर' की २१वीं और २६वीं कहानियों में भी द्वीपान्तर का जिक्र है। शक्तिदेव कनकपुरी नामक एक नगर को जाने का इच्छुक है और दीर्घतपस एक संन्यासी से उसका पता पूछता है। संन्यासी उत्तर देता है "मेरे बेटे मैं इतना बूढ़ा हो गया हूं फिर भी मैंने कनकपुरी का नाम आज तक नहीं सुना। विदेशों के अनेक यात्रियों से मेरा परिचय है लेकिन किसीने भी आज तक इसका नाम नहीं लिया फिर भला मैं उसे कैसे देख पाता! किन्तु मुझे विश्वास है कि वह द्वीपान्तर में ही होगा।" कनकपुरी सुवर्णभूमि (अथवा पेगू) भी हो सकती है और सुवर्णद्वीप (मलय प्रायद्वीप) भी। दूसरी कथा में जलपुर नारिकेल द्वीप कटाहद्वीप कर्पूरद्वीप सुवर्णद्वीप और सिंहल का भ्रमण-मार्ग वर्णित है। इसीके अनुसार स्थल और जल दोनों मार्गों से सुवर्णद्वीप पहुंचा जा सकता है। अतः इसे मलय प्राय द्वीप समझना चाहिए, सुमात्रा द्वीप नहीं यद्यपि सुमात्रा में भी सोना खूब पाया जाता है।

इलाहाबाद स्तंभ पर अंकित समुद्रगुप्त की सुप्रसिद्ध प्रशस्ति में सिंहल के साथ 'सर्वद्वीप' लिखा है, जिसका स्पष्ट अर्थ द्वीपान्तर ही है। दक्षिणी सागरीय तथा बृहत्तर भारत के हिन्दू उपनिवेशों ने गुप्तसम्राट् को अनेक भेंटें दीं और अपने स्वतंत्र राज्यों की स्वीकृतिस्वरूप राजकीय आज्ञापत्रों की मांग की तथा अन्त में सम्राट् के प्रति वफादारी प्रदर्शित की। एच० राय चौधरी का कथन है कि अभिलेख में अमद कम्पन्द्रास्तक-स्व विषय से पता चलता है कि पास के समुद्री द्वीपों पर गुप्त-सम्राटों का नियंत्रण था।

कालिदासकृत 'रघुवंश' (६. ५७) में सौम के पूर्व म सदम म (जो मूलतः पूर्वी द्वीपों में पाया जाता था) द्वीपान्तर का जिक्र है।

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवगपुष्परवाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥

द्वीपान्तर के अनेक प्रारम्भिक उपनिवेशीकरण में कलिंगराज का प्रमुख भाग था। चीनी इतिहास के अनुसार पूर्वकलिंग जावा या जावा के एक बन्दरगाह का नाम है। अतः कलिंगराज के साथ द्वीपान्तर का जिक्र करना कवि की विशिष्टता का परिचायक है। इसी प्रकार कालिदास द्वारा वर्णित अनूपदेश अथवा नर्मदा की भूमि (नर्मदा घाटी जिसकी राजधानी माहिष्मती थी) के राजा द्वारा 'महाप्प' द्वीप में यूपों की स्थापना का प्रसंग अनुचित है। चौथी शताब्दी ईस्वी में कथाओं में वर्णित हिन्दू उपनिवेश निर्माता कौण्डिन्य के पौत्र राजा मूलवर्मन द्वारा बोर्नियो में यूपों की स्थापना वास्तव में हुई थी। सम्भव है कि बोर्नियो में भारतीय बस्तियाँ भारत के अरबसागरीय तट से बसी हों।

६७१ ईस्वी में चीन से भारत आते समय ई-त्सिंग संस्कृत व्याकरण के अध्ययन के लिए छः माह तक सुमात्रा में ठहरा था। उसने उस द्वीप के दस से अधिक उपनिवेशों का जिक्र किया है जहाँ संस्कृत-ज्ञान भारतीय आचार-विचार और धार्मिक आचारों का प्रचलन था। इन उपनिवेशों में सुमात्रा में श्रीभोग (श्रीविजय) जावा में कलिंग (पूर्व कलिंग) बोर्नियो में महद्दिन और बेम्बुसा तथा कुनलुन नामी और मोलपुर द्वीप भी शामिल हैं। उसने यह भी लिखा है कि दक्षिणी सागर के सभी द्वीपों को चीन में कुन-लुन कहा जाता था क्योंकि कुन-लुन (अथवा कुन-लुन) के निवासियों ने सर्वप्रथम कोचीन और क्वाङ्तुङ की यात्रा की थी तथा कुन-लुन की भाषा श्रीविजय में प्रचलित थी। इन द्वीपों में आने वाले और उपनिवेश स्थापित करनेवाले भारतीयों को भी चीनियों ने यही नाम प्रदान कर दिया। आठवीं शताब्दी ईस्वी के एक संस्कृत-चीनी शब्दकोष का सम्पादन करते हुए पी० सी० बागची ने कुन-लुन का संस्कृत समानार्थी 'कि-पात-न' दिया है और सिल्वम लेवी के अनुसार द्विपतन अथवा दिपतन वास्तव में द्वीपान्तर ही है। बागची का सुझाव है कि कुन-लुन अथवा पोलोकेन्दोर (एक छोटा-सा द्वीप-समूह जिसे ताकाकुसु ने अपने ई-त्सिङ् के संस्करण में कुन-लुन माना है) वास्तव में संस्कृत का नागद्वीप है जो पहले प्राकृत अथवा मलय में बन्दर बना था। दो बातें द्रष्टव्य हैं। प्रथम मलय और प्राचीन कम्बोडिया में राजाओं अधीन नरेशों सामन्तों और अधिकारियों के नामों में 'कुन-लुन' अथवा 'कम्र' पदवी लगी रहती थी। द्वितीय इंडोनेशिया और बृहत्तर भारत के अनेक द्वीपों और क्षेत्रों के लिए कुन-लुन नाम ... होता था। दोनों ही भारतीय ...

करण के स्पष्ट प्रमाण हैं। संस्कृत की द्वीपान्तर और चीनी के कुन-लुन का समानार्थ शब्द जावाई भाषा में 'नुम्बन्तर' अथवा 'नुसन्तर' (अर्थात् भारत और चीन के बीच भूमि) है। मध्य-एशिया के समान दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिन्दू उपनिवेशों और राज्यों नाम संस्कृत में थे।

सुवर्ण-परिमोहन

सातवाहन-काल में भी औपनिवेशिक व्यापार और वाणिज्य में भाग लेनेवा केवल दक्षिणभारतीय ही न थे। बृहत्कथा जातकों और मिलिन्दपञ्ह से पता चलत है कि ईसा के जन्म से पहले और बाद की दो शताब्दियों में भारतीयों को समुद्री व्यापा और अन्वेषण में आनन्द आने लगा था। भारत के विभिन्न भागों की अनेक कहानियों और किंवदन्तियों में व्यापारियों सौदागरों और 'सुवर्ण-अन्वेषियों' के समुद्र-पार के दूर देशों में रोमांचकारी कार्यों तथा उनके द्वारा सुदूर देशों से लाई गई सम्पत्ति का वर्णन है। इस सबसे स्पष्ट है कि सुवर्ण-परिमोहन ने द्वीपान्तर भारत के उपनिवेशीकरण को बढ़ावा दिया। एक चीनी भावक अनुसार, तीसरी शताब्दी ईस्वी में भारत से फु-नान (कम्बोडिया) की वापसी समुद्र-यात्रा म तीन या चार वर्ष का समय लगता था। किन्तु फाह्यान (३९९–४१४ ईस्वी) को जाड़े के अच्छे मौसम में ताम्रलिप्ति से सिंहल पहुंचने म केवल पन्द्रह दिन लग थे और तूफानी मौसम मे सिंहल से जावा पहुंचने में लगभग तीन मास जबकि उसे जहाज का एक छेद भरने के लिए एक द्वीप पर यात्रा भंग भी करनी पड़ी थी। सातवीं शताब्दी में श्रीविजय से नागपट्टम् पहुंचने में ई त्सिङ् को केवल दो मास लगे थे। पूर्वी सागरों की यात्राएं कम खतरनाक होती गईं तथा उनमें समय कम लगने लगा तो भार तीय व्यापारी मलय और पूर्वी द्वीपसमूह के बाजारों में बड़ी संख्या मे पहुंचने लगे।

ई-त्सिङ् ने लिखा है 'श्रीविजय में सोना बहुत है। उसने निम्नलिखित कृषि उत्पादनों के नाम भी दिए हैं सुपारी (संस्कृत मे पूङ्गी) जायफल लवंग और बैरस कपूर। गुप्त-साम्राज्य का सम्पत्ति वैभव और कला-कौशल तथा व्यापार की समृद्धिशाली परिस्थिति के कारण (और फाह्यान का विवरण इसका स्पष्ट प्रमाण है) पश्चिमी और पूर्वी दोनों वाणिज्यों का उन्नति हुई। वास्तव में गुप्त-साम्राज्य का प्रसार गुजरात तथा कलिंग से कांची तक पूर्वी तटवर्ती प्रदेश में हो गया जहां प्रसिद्ध बन्दरगाह और मंडिया थी। इस प्रसार के कारण भारत और चीन के बीच सोने चांदी मसाले और सुपारी के व्यापार मे खूब उन्नति हुई तथा द्वीपान्तर भारत में उपनिवेशीकरण तथा बस्तियां बसाने को प्रोत्साहन मिला।

उपनिवेशीकरण के राजनीतिक कारण

उपर्युक्त आर्थिक कारणों [illegible] तिरिक्त एक राजनीतिक कारण भी था गुप्त-सम्राटों और महोपर्मन को विजय [illegible] पूर्वजों पुर्नरा एवं श्वेत हूणों की पराजय के फल [illegible] मी [illegible] जनीतिक उथल पुथल और अस्तव्यस्तता और द्वीप समझना चाहिए [illegible] तथा प्रभाकरवर्धन और हर्ष की कुछ बाद की

विजय। मत्त की । पल्टसाल) भरमीकोट (भेमुम्टक) क्लिस्ना नदी क मुहाने पर
घोड़ने म इरादे म क अनुसार मैसोलिया) अमरावती काञ्चीपुरम् मामल्लपुरम्
आबाई न्ति पर पुहर अथवा कावेरीपट्टिनम्। पूर्वगामी अपगाइड अधिक
प्रथम जावा म उपनिव गौरा (प्राचीन दन्तपुर) से बर्मा का दक्षिणी इस्टा अमरावती
नाम में निर्देश है कि पहु चीपुरम् और कावेरीपट्टिनम् से मलय प्रायद्वीप तथा मलक्का
ग्रन्थ के राजा क्षत्रिय मार्ग की ओर पालेमबग और श्रीविजय अथवा बोर्नियो और
गथवा फु-नान नामक हिन्दू नर। कथासरित्सागर' की एक कथा म एक व्यापारी
म) की स्थापना का आदित्यव-न प्रमाण निम्न द्वीपा में आता है नारिकेलद्वीप
विवाह किया और वहां सोमवत क गद्वीप अथवा कटाह (सुमात्रा क उत्तर म कादम्)
(देन)का समार्थी शब्द चानी भाषा में फु- (थोसका)। यह पूवसागर का वही समुद्री
नाम म विख्यात था। अब बर्मा अथवा ब्रह्मदेश -क शताब्दिया म सिंहपुर (आधुनिक
(पहली शताब्दी स इसी शताब्दी क आरम्भ तक) क। म व्यापारी अपनाया करते थे।
अन्वेषण से पता चलता है कि भारतीय प्रभावों का आगमन -रत मे बसते रहते थे।
म हुआ। चीन के हानयुग तक की वस्तुएं मिली हैं। चीन रोम्ड म्पावती (आटाम)
प्रमाण स्पष्ट होने जा रहे हैं कि भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया क राजधानी)
धार्मिक सम्बन्धा की स्थापना सामान्यत स्वीकृत समय स पहले हो चुकी थी।
में मैसेने की खोजो स निःस न्देह प्रमाणित हो गया है कि दूसरी शताब्दी ईस्वी म दक्षिणी
हिन्दचीन मे भारतीय संस्कृति कितनी सुदृढ़ स्थापित हो चुकी थी।

ईसा क पश्चात् पहली शताब्दी म शको और पह्लवों न सिन्धुघाटी और पश्चिमी
भारत म दूर तक घावे मच लिए और सातवाहन-साम्राज्य क खंडहरों स अपने निर राज्य
कायम कर लिए। राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल क कारण जिसका आरम्भ
सिन्धु क मुहाने काठियावाड़ और पश्चिमी भारत म हुआ था और जो एक हजार वर्ष
तक कायम रही सुदूरपूर्व म व्यापार और उपनिवेशीकरण को प्रोत्साहन मिला। राज
नीतिक और आर्थिक स्थितियों क अनुसार यह प्रोत्साहन घटता-बढ़ता रहा। दक्षिणभारत
में पल्लव पाण्ड्य चोल और चेर (चेरों के पास बहादुरी शक्ति अधिक थी) क बार-बार
होनेवाले आपसी संघर्षों तथा वाकाटक सम्राटों और उत्तर म उनके उत्तराधिकारियों के
दबाव क कारण मलाय कम्बोडिया सुमात्रा और जावा म पहली शताब्दी ईस्वी और दूसरी
शताब्दी ईस्वी के बीच सर्वप्रथम पल्लव उपनिवेशों की स्थापना हुई।

भारतीय उपनिवेशीकरण क प्रमुख दौर

इस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशियाई व्यापार और उपनिवेशीकरण क विकास में
भारतीय राजवंशों के इतिहास का बड़ा महत्त्व था। कारण व्यापार और उपनिवेशी
करण दोनों का आधार था बंगाल की खाड़ी पर जहाजी प्रभुत्व और यह प्रभुत्व एक शक्ति
स दूसरी शक्ति क पास पहुंचता रहा तथा अन्त म भारत स हटकर सुमात्रा क हाथ पहुंच
गया जहां आठवी शताब्दी ईस्वी में शैलेन्द्रों क महान श्रीविजय-साम्राज्य की स्थापना
हुई इस साम्राज्य की जहाजी शक्ति बहुत अधिक थी। एच० जी० क्वारिच वेल्स ने

क्या है और उन्हें
करण के स्पष्ट प्रभाव हैं। संस्कृत की द्वीपान्तर और चीनी के कु भारतीय कला के
शब्द जावाई भाषा में भूम्यन्तर' अथवा 'नुसन्तर' (अर्थात् भारत था) गुप्त (पाँचवीं से
भूमि) है। मध्य-एशिया के समान दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिन्दू उ ७५ –६० ईस्वी)।
नाम संस्कृत में थे।
दूसरी से पाँचवीं शताब्दी

। यह हम आसानी से पता

सुवर्ण-परिशोहन

प्राचीन फुनान जावा और
शातवाहन-काल में भी औपनिवेशिक व्यापार , के पश्चात् मलय और जावा में
केवल दक्षिणभारतीय ही न थे। बृहत्कथा जातकों की तरह मूर्तिकला ग्यारहवीं और
है कि ईसा के जन्म से पहले और बाद की दो स मितिचित्रकला और अन्त में बारहवीं
और अन्वेषण में आनन्द आने लगा था। (कला और राजघराने पर पाल-साम्राज्य की
और बस्तियों में व्यापारियों की आम मलय प्रायद्वीप और सुमात्रा में गुप्त पल्लव
दशों में रोमांचकारी कार्यों तथा संस्कृति का जन्म हुआ। बर्मा और स्याम में पाल प्रभाव
इस सबसे स्पष्ट है कि सु पश्चिमी क्षेत्र में बौद्धधर्म और वैष्णवधर्म अच्छी तरह स्थापित
किया। एक चीनी स्रोत और कम्बोडिया में अवश्य उपर्युक्त दोनों धर्मों का इतना जोर
की बापसी ता। लिंग-पूजा करनेवाले तांत्रिक शाक्त-शैवसम्प्रदाय का विकास हुआ।
महायान और वज्रयान बौद्धधर्म तथा बंगाल और उड़ीसा से आगत शैवधर्म सुमात्रा और
जावा में खूब फूले-फले तथा शैलेन्द्रवंश के शासकों ने उन्हें पूर्ण सहयोग दिया।

बौद्ध शैलेन्द्र-साम्राज्य का अपना प्रभुत्व क्रमशः सुमात्रा के अतिरिक्त सम्पूर्ण मलयेशिया जावा कम्बुज और चम्पा पर हो गया तथा आठवीं शताब्दी ईस्वी में यह बहुत शक्तिशाली साम्राज्य बन गया। अनेक अरब-व्यापारियों ने लिखा है कि भारत और चीन के शासक इस साम्राज्य का सम्मान करते थे। एक अरब-व्यापारी इब्न रोस्तेह (६ २ ईस्वी) ने लिखा है 'वह (अर्थात् शैलेन्द्र सम्राट्) द्वीपों का वासी है इसलिए उसे भारत के महानतम सम्राटों में से एक नहीं माना जाता। उससे अधिक शक्तिशाली और सम्पत्ति शाली कोई अन्य सम्राट् नहीं है और न किसीकी आमदनी इतनी है।" सौ वर्षों तक शैलेन्द्र-साम्राज्य और चोल-साम्राज्य (जिसमें कभी-कभी मलय निकोबार द्वीपसमूह और श्रीलंका भी सम्मिलित होते थे) के बीच बंगाल की खाड़ी पर प्रभुत्व के लिए युद्ध होता रहा जिसमें अन्ततः शैलेन्द्र-साम्राज्य की विजय हुई और पूर्वी सागर पर उसकी जहाजी श्रेष्ठता लगभग तीन शताब्दियों तक कायम रही।

पूर्वी प्रसार के प्रमुख बन्दरगाह और समुद्री-मार्ग

जिन प्रसिद्ध भारतीय बन्दरगाहों से पूर्व की यात्राएं हुआ करती थीं उनके नाम हैं बंगाल की खाड़ी पर स्थित ताम्रलिप्ति (कथाकोष और 'कथासरित्सागर' में इसका जिक्र है) उड़ीसा में कलिंग की राजधानी दन्तपुर (दन्तोन) कोणार्क अथवा कोणार्क नगर (टालेमी के अनुसार कन्नगर) और पैलि-उस (कुनसाइ द्वारा वर्णित एरण्ड पल्ल) गंजम जिले में पलौरा (पलूर) गोदावरी के मुहाने पर कुदुर (कोड्डुर) कारव

घोस (कोष्टकोंमाइना पण्टयाल) परनीकोट (भेनुकुट्क) किस्तना नदी के मुहाने पर मसुलीपटम् (टालेमी के अनुसार मैसोलिया) अमरावती काञ्चीपुरम् मामल्लपुरम् और कावेरी के मुहाने पर पुहर अथवा कावेरीपट्टिनम्। पूर्वगामी अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध समुद्री-मार्ग थे पलौरा (प्राचीन दन्तपुर) से बर्मा का दक्षिणी तट था अमरावती मसुलीपटम् (मानकूटक) काञ्चीपुरम् और कावेरीपट्टिनम् से मलय प्रायद्वीप तथा मलक्का जलडमरूमध्य होकर दक्षिण की ओर पालेमबंग और श्रीविजय अथवा बोर्नियो और ताम्रलिप्ति तथा मर्तबान से द्वीपान्तर। 'कथासरित्सागर' की एक कथा में एक व्यापारी चन्द्रस्वामी अपनी पूर्व-यात्रा के दौरान क्रमश निम्न द्वीपों में जाता है नारिकेलद्वीप (निकोबार) कटाहद्वीप (कदरह) कर्पूरद्वीप अथवा बरुस (सुमात्रा के उत्तर में बारूस) सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) और अन्त में सिंहलद्वीप (श्रीलंका)। यह पूर्वसागर का वही समुद्री मार्ग है जिसको ताम्रलिप्ति से और ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में सिंहपुर (आधुनिक सिंगुर) और दन्तपुर (आधुनिक दन्तम) से रवाना होनेवाले व्यापारी अपनाया करते थे।

पूर्वी बन्दरगाह जिनपर भारतीय व्यापारी उतरा करते थे बसते रहते थे। थे थे श्रीक्षेत्र (प्रोम) मर्तबान की खाड़ी के उत्तरी भाग पर सुधम्मावती (थाटोन) तकुअप (टालेमी द्वारा निर्देशित प्राचीन तकोल) गंगानगर (मध्य-मलय की राजधानी) मलय प्रायद्वीप में कटाहकदरम् अथवा केदह (टालेमी के अनुसार कोलव अथवा कोर्लह, तमिल संगम-साहित्य में कलगम 'कथासरित्सागर' में अक्सर निर्दिष्ट तथा ई-त्सिङ् द्वारा भी निर्दिष्ट) कमलांग (ह्वेनसाङ् का किया-मो-लंग-किया आधुनिक लिगोर) सुमात्रा में श्रीविजय अथवा फोचे अथवा पलेमबंग जावा में पूर्व कलिंग कम्बोडिया में टोनकिन और चीन में क्वाङ्-चू।

सातवीं शताब्दी में ई-त्सिङ् के विवरण के अनुसार चीन से भारत की सागर-यात्रा में निम्नलिखित स्थानों पर रुकना पड़ता था (१) श्रीभोज (जिसे श्रीविजय समझा जा सकता है) चीन से बीस दिन की यात्रा के पश्चात् (२) 'क-च' (जिसे कटाहकदरम् समझा जा सकता है) से दस दिन की यात्रा के पश्चात् 'नग्न आदमियों का देश' (निकोबार द्वीप) और वहाँ से एक मास पश्चात नागपत्तम् (नेगपटम) (३) निकोबार द्वीप (नक्कवरम्) से एक मास की यात्रा के पश्चात् गंगा के मुहाने पर स्थित ताम्रलिप्ति। भारत से चीन की वापसी यात्रा के बारे में ई-त्सिङ् का विवरण इस प्रकार है (१) ताम्रलिप्ति से 'क-च' दो मास की यात्रा (२) वहाँ से एक मास की यात्रा के पश्चात् श्रीभोज अथवा श्रीविजय और (३) श्रीभोज से चीन में क्वाङ्-चू तक लगभग एक मास की यात्रा। सम्राट् हर्ष ने ह्वेनसाङ् से पूछा कि वे किस रास्ते से चीन वापस जाएंगे और कहा आप दक्षिणी सागर मार्ग से जाना चाहेंगे तो राज्य-कर्मचारी आपके साथ जाएंगे। ताम्रलिप्ति श्रीविजय और कैन्टन प्राचीन बन्दरगाह अनेक शताब्दियों तक विशाल व्यापार-स्थल और ज्ञान केन्द्र बने रहे। वहाँ भारतीय और चीनी व्यापारियों विद्वानों और यात्रियों की उपस्थिति सदैव रहती थी। इससे भारतीय और चीनी दो बड़ी सभ्यताओं के बीच बौद्धिक और आध्यात्मिक अंतरंग सम्बन्ध स्थापित होने में और अधिक सहायता मिली।

प्रशान्त महासागर का दूसरा भारत

पूर्वी सागरों में भारत और चीन के बीच एक दूसरे भारत—द्वीपान्तर भारत—का उद्भव भौगोलिक और सांस्कृतिक दोनों प्रकार से हुआ। इसमें हिन्दू और बौद्ध ज्ञान तथा संस्कृति के सुप्रसिद्ध केन्द्रों की स्थापना हुई। एक प्रकार से कहा जाए तो भारत आधे रास्ते पर चीन से मिलने पहुंच गया। द्वीपान्तर भारत में निम्नलिखित राज्य सम्मिलित थे फुनान (प्राचीन प्रनम्) हरिपुञ्जय अथवा लम्पुन (उत्तरी स्याम) द्वारावती (मध्य-स्याम) कलिंग (चीनी भाषा में होलिंग पूर्वी जावा) श्रीविजय (दक्षिण-पूर्वी सुमात्रा) पन-पन (बन्दन की खाड़ी पर स्थित) लंकसुक (कदह और पेरक) और ताम्रलिंग (पूर्वी मलय)। रम्भ्य हरिपुञ्जय द्वारावती फुनान श्रीविजय कलिंग और सिंगोर (नगर श्रीधमराज) में बौद्ध धर्मग्रन्थों का पठन-पाठन अत्यन्त कुशलतापूर्वक होता था इसलिए किसी चीनी भिक्षु को श्रीलंका ताम्रलिप्ति नालन्दा अथवा बलभी जाने की आवश्यकता न रह गई थी। ई त्सिङ् पांच साल तक श्रीविजय (चीनी भाषा में शिहली फोशिह् अथवा सलप म फाशे) में ही रहा और वहां के बौद्ध वातावरण में भारत से अपने साथ लाए संस्कृतग्रन्थों का अनुवाद करता रहा। यहां 'एक हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु हैं जो अध्ययन और सत्कार्यों में लगे रहते हैं। बिलकुल भारत के समान वे प्रत्येक सम्भव विषय का विवेचन और उस पर विवाद करते हैं। नियमावली और धार्मिक कृत्य भी भारत के समान हैं। चीनी नागरिकों अथवा यात्रियों को गंगा किनारे की बौद्धधर्म की भूमि पर जाने की आवश्यकता भी न थी क्योंकि पवित्र बौद्धतीर्थों की स्थापना मामबाटी में हो गई थी तथा चम्पा कम्बुज देश और बोरोबुदुर के मन्दिरों और स्तूपों में बुद्ध और बोधिसत्त्वों से उसी प्रकार प्रेरणा मिल सकती थी जिस प्रकार सारनाथ मथुरा और अजन्ता के बुद्धों और बोधिसत्त्वों से। पहले की शताब्दियों में मध्यएशिया के तकलिमकानी नगरों कुच खोतान और काशगर के मठों में बौद्धधर्म के प्रसार में जो भाग लिया था उसी प्रकार जावा सुमात्रा और द्वारावती के मठ अब करने लगे। इतना अवश्य है कि बर्मा मलय और श्रीलंका से सुमात्रा व जावा तक और फिर सुमात्रा व जावा से चम्पा और कम्बुज तक द्वितीय भारत के विकास में कई शताब्दियां लग गईं, जिनके दौरान भारतीय राजाओं ने वीरता का प्रदर्शन किया भारतीय व्यापारियों ने अद्भुत साहस का परिचय दिया तथा भारतीय भिक्षु-यात्रियों की धार्मिक आस्था अडिग रही।

क्षत्रिय सामन्त ब्राह्मण पुजारी बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी तथा वैश्य व्यापारी लगातार पूर्व की यात्रा करते रहे। उन्होंने ही सर्वप्रथम उपनिवेशों और बस्तियों की स्थापना की और उन्हें बढ़ाया। इन्हीं उपनिवेशों से श्रीक्षेत्र, फुनान चम्पा पन-पन श्रीविजय और मजपहित जैसे विशाल साम्राज्यों का जन्म हुआ। स्थानीय विवरणों अथवा चीनी इतिहास से हम अनेक प्रारम्भिक हिन्दू शासकों के नाम मालूम हुए हैं। उनमें से कुछ हैं मलय प्रायद्वीप में पहुंग के लगवसु (दूसरी शताब्दी ईस्वी) उसका पुत्र भगदत्त (भागदत्त) और श्रीपालवर्मा (पांचवीं शताब्दी ईस्वी) पश्चिमी जावा में देववर्मन (दूसरी शताब्दी ईस्वी) कम्बुज (अथवा आधुनिक कम्बोडिया) में कौण्डिन्य (पहली

शताब्दी ईस्वी) चम्पा (अथवा आधुनिक अन्नम) में श्रीमार (दूसरी शताब्दी ईस्वी)।

ह्वेनसाङ् के अनुसार, कामरूप (असम) की सीमा से परे प्रथम महान हिन्दूराज्य श्रीक्षेत्र का प्यू राज्य था। प्राचीन प्रोम (ह्मावजा) के समीप ४०० वर्ग मील के क्षेत्र में इस राज्य के खंडहर हैं। यहां की खुदाई में अनेक ताबीज मिली हैं जिनपर बुद्ध और उनके जीवन की घटनाओं के चित्र खुदे हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत पाली मिश्रित पाली और संस्कृत तथा प्यू (एक तिब्बती-बर्मी जाति) की भाषा में कई अभिलेख मिले हैं। इनका समय पांचवीं से सातवीं शताब्दी ईस्वी तक है। एक महत्त्वपूर्ण प्राप्ति ह्मावजा में हुई है। यह है एक प्रस्तर-स्तम्भ जिसपर बुद्ध और उनके दो शिष्यों को दिखलाया गया है। प्यू और संस्कृत भाषाओं में इसपर लिखावट है किन्तु इसका समय निश्चित नहीं किया जा सका है क्योंकि बर्मा में पुरातत्त्व विज्ञान अभी आरम्भिक अवस्था में ही है। सम्भव है कि पांचवीं शताब्दी ईस्वी से बहुत पहले शायद तीसरी शताब्दी ईस्वी में बौद्धधर्म और ब्राह्मणधर्म का प्रचार बर्मा तक हो गया था। बर्मा में खुदाई से प्राप्त प्रस्तर शिला पर अंकित पूजकों के समूहों के चित्र तथा सांची और भारहुत के रिलीफों में अद्भुत समानता है। ह्मावजा और म्रगुई तथा अराकान में अनेक ब्राह्मण-मूर्तियां मिली हैं जिनसे पता चलता है कि ईसा सन् की आरम्भिक शताब्दियों में हीनयान बौद्धधर्म और ब्राह्मणधर्म साथ-साथ पनपे थे। सम्राट् जयचन्द्रवर्मन के एक अभिलेख से जो सातवीं शताब्दी ईस्वी का माना जाता है मिलता है कि उन्होंने अपने गुरु के आदेश पर बुद्ध की एक मूर्ति की स्थापना की थी ताकि अपने भाई हरिविक्रम के साथ उनके अच्छे सम्बन्ध बने रहें। अभिलेख में यह भी लिखा है कि सम्राट ने अगल-बगल दो नगर भी बसाए थे। प्राचीन श्रीक्षेत्र का एक भाग बीक्थनोम्यो अर्थात् विष्णु का नगर कहा जाता था।

एक अन्य हिन्दूराज्य का नाम था रमञ्ञदेश (दक्षिणी बर्मा)। चमदेवीवंस अथवा चमदेवी का इतिहास से पता चलता है कि रमञ्ञदेश के राजा ने लवो अथवा लाप पुरी की राजकुमारी चमदेवी के साथ विवाह किया था। ६६१ ईस्वी में एक धर्मप्रचार अभियान की नेत्री बनकर रानी हरिपुञ्जय अथवा लम्पुन (मध्य-स्याम) पहुंची और वहां उसने पांच बौद्ध मठ स्थापित किए। उसके दो बेटे स्याम के दो हिन्दूराज्यों हरिपुञ्जय और अलम्पंग (केलंग) के राजा बने। लवो की चमदेवी ने स्याम में एक और प्राचीन नगर असम्बंगमपुरी (सम्पोंग मूआंग) की नींव रखी। बैंकाक से अस्सी मील उत्तर स्थित लवो अथवा लोपबुरी अधिक प्राचीन है। रेजिनाल्ड ली मे के अनुसार लोपबुरी तथा मध्य-स्याम के अन्य स्थानों में प्राप्त ख्मेर-पूर्व शैली की बौद्ध मूर्तियों में गुप्त शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं और वे अधिक से अधिक छठी और सातवीं शताब्दियों की हैं।

ह्वेनसाङ् और ई-त्सिङ् ने द्वीपान्तर भारत में श्रीक्षेत्र और ईशानपुर (ख्मेर-देश) के बीच एक राज्य का नाम लिया है 'तो-लो-पो-ती' अर्थात् द्वारावती काठियावाड़ के प्रसिद्ध नगर द्वारका का औपनिवेशिक समतुल्य। यहां की अधिकांश मूर्तियों का सामान्यतः पांचवीं और दसवीं शताब्दी ईस्वी के बीच स्थापित किया गया था। उनपर गुप्तकालीन मूर्तियों का स्पष्ट प्रभाव है। यह प्रभाव शायद यहीं से फुनान अथवा प्राचीन कम्बोडिया पहुंचा।

प्रत्येक स्थान पर ब्राह्मण-संस्कृति बौद्ध-संस्कृति से पहले पहुँची। हमें भाषा भी नहीं करनी चाहिए। इससे हमें यह भी मालूम होता है कि उपनिवेशों का प्रारम्भ कैसे हुआ था। किन्तु नये भारतीय सामाजिक वातावरण में ब्राह्मणधर्म की सामाजिक प्रतिबन्ध और पृथक्करण की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। मलय प्रायद्वीप से बोर्नियो और सुमात्रा से अन्नाम तक के सम्पूर्ण भू भाग के विभिन्न निवासियों ने भारतीय संस्कृति को आत्मसात् कर लिया भारत की भाषा साहित्य और सामाजिक आचारों को अपना लिया तथा पुराणों के देवताओं की पूजा विधिपूर्वक करनी आरम्भ कर दी। मध्य-एशिया के समान यहाँ भी पिछड़े लोगों को शान्तिपूर्ण ढंग से ही अपने में मिलाया गया। इस प्रकार भारतीय महासागर में एक बृहत्तर भारत की स्थापना हो गई। किन्तु इसके पीछे कोई योजना न थी और न देशों को पराजित किया गया। क्रमशः विभिन्न जातियों और देशवासियों के सम्मिलन तथा भारतीय दर्शन व सरकार के रूपों के प्रसार के कारण विभिन्न देशों के मूल निवासियों के सामाजिक और सांस्कृतिक उदात्तीकरण के फलस्वरूप यह सम्भव हो सका।

प्राचीन भारत के विश्वविख्यात क्षेत्र जैसे कम्बोज गंधार कलिंग दशार्ण मालव श्रीक्षेत्र और अयोध्या—समुद्र पार की भूमि पर पुनः स्थापित हो गए। नये भौगोलिक सदर्भ में भारतीयता का नया विकास आरम्भ हुआ। कौशाम्बी मथुरा चम्पा द्वारावती और अमरावती जैसे प्राचीन नगर, महेन्द्रपर्वत जैसे पवित्र पर्वत और चन्द्रभागा तथा गोमती जैसी पवित्र नदियां पूर्व के उपनिवेशों और नगरों में पुनः प्रकट हो गईं और उनके साथ-साथ पुरानी स्मृतियां एवं परम्पराएं जागरित हो उठीं। कापिश और गंधार के उत्तर पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र के समान सीकांग और सालवनी की उत्तरी घाटियों में जहां भारत और चीन का मिलन प्रशान्त महासागर के समीप होता है बौद्धधर्म के पवित्र स्थलों की पुनर्स्थापना हुई। ये पवित्र स्थल थे बोधिवृक्ष गृध्रकूट पिप्पलगुफा और जयगुप्त का महल। इस प्रकार चीन के भूभाग का लगभग स्पर्श करते हुए बौद्धधर्म की तीसरी पवित्र भूमि की स्थापना हो गई, ताकि बौद्धधर्मानुयायी तीर्थयात्रा कर सकें।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय कला की उपलब्धियां

भारतीय कला और धर्म के स्पष्ट मानवतावाद और करुणा की पूर्ण अभिव्यक्ति भारत की सीमाओं के भीतर नहीं बरन् द्वीपान्तर भारत की उच्च स्वस्थता प्रचुरता और उर्वरता में हो सकी। शैलेन्द्र सम्राटों द्वारा निर्मित मध्य जावा में बोरोबुदुर का विशाल स्तूप (७७५–८२५ ईस्वी लगभग) कुमारस्वामी के शब्दों में 'तीसरी महान सचित्र बाइबिल है जिसका विस्तार सांची व रिलीफों अथवा अजन्ता के चित्रों के समान किन्तु अधिक विस्तृत है। वास्तव में गुप्तकालीन कला का आदर्श यहीं परिसमाप्ति को प्राप्त करता है। यहां के लगभग २० उत्कीर्ण शिलापट्टों में बुद्ध का जीवनचरित अंकित है जो 'ललितविस्तर' 'दिव्यावदान' 'कर्मविभंग' 'गण्डव्यूह' 'जातकमाला' तथा अन्य विभिन्न दन्तकथाओं के आधार पर है। बारोबुदुर और गुप्तकालीन मूर्तिकला में सन्तुलन और स्पष्टता सौन्दर्य और भक्तिभावना लगभग समान है किन्तु विचार की धारणा और विधान

की विशालता और शोभा में बोरोबुदुर कहीं श्रेष्ठ है।[1] इस स्तूप की अनेकानेक गैलरियों में बोधिसत्त्व के जीवन के सुपरिचित दृश्य अंकित हैं। यह स्तूप कमल के आकार की चौकी पर एक-एक सीढ़ी एक-एक मंजिल चढ़ता हुआ सर्वोच्च वेदी तक पहुंचता है जहां जालीदार गुम्बदों के पीछे अतीत और भविष्य के युगों के बहत्तर बुद्ध प्रच्छन्न हैं—जो अरूप संसार के निवासी हैं। वास्तुकला का यह नमूना जीवन के महायान दृष्टिकोण की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सभी पार्थिव वस्तुएं और मानवी घटनाएं अमिट विज्ञान में लीन हो जाती हैं। स्तूप और प्रासाद के रूप में मन्दिरों के निर्माण की भारतीय कला का अन्तिम सुन्दरतम प्रयोग बोरोबुदुर की आयोजना में हुआ है। यह ब्रह्मांड और उसकी व्यवस्था—वैरोचन का दृश्य रूपाकार—के महायान चित्र का प्रतीक है। लगभग एक हजार पहले सांची-स्तूप की वास्तुकला में सर्वप्रथम ब्रह्मांडीय चित्र के बौद्ध विचार को व्यक्त किया गया था। महायान ने देश की सीमाओं से बहुत दूर इसे पूर्णत्व तक पहुंचाया। किसी सीमा तक बोरोबुदुर की विन्यास जिसमें परिक्रमा के लिए क्रमश स्तर हैं बंगाल के पहाड़पुर-स्तूप पर आधारित है। इससे बंगाल और जावा के शैलेन्द्र-साम्राज्य के निकट सम्बन्धों का आभास होता है। इस सम्बन्ध का पता सुमात्रा और जावा के शासक बालपुत्र के नालन्दा-अभिलेख (८६० ईस्वी) से भी चलता है। बोरोबुदुर की आकृतियों का सौष्ठव मांसलता और स्निग्ध सौन्दर्य गुप्त-वास्तुकला के स्वर्णयुग की याद दिलाता है। इसके रिलीफों की पट्टी को यदि फैलाया जाए तो उसकी लम्बाई तीन मील हो जाएगी। इसमें ४३२ आले हैं जिनमें अनेक प्रकार की बुद्ध की मूर्तियां रखी हैं। और इसका परिक्रमा-पथ संसार में सबसे लम्बा है। ज्यों-ज्यों गैलरियां ऊपर चढ़ती जाती हैं, वास्तुकला की शैली बदलती जाती है। पहले शैली यथार्थवादी और अलंकरणप्रधान होती है, फिर अमूर्त और शुद्ध हो जाती है। यह ऊपर चढ़ते हुए बुद्ध-क्षेत्रों के अनुसार ही होता है और अन्त में हम ब्रह्मांड के केन्द्र पर स्थित वज्र वैरोचन तक पहुंच जाते हैं। आकार प्रकार कलात्मक विशिष्टता और कुल मिलाकर भव्य विन्यास के विचार से यह स्तूप भारत के मन्दिरों से कहीं श्रेष्ठ है और सचाई यह है कि विश्व का एक आश्चर्य माना जाता है। स्मरणीय है कि जिस समय जावा में इस स्तूप का निर्माण हो रहा था उसी समय भारत में मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे तथा सिंध और पश्चिमी पंजाब पर उनका अधिकार हो चुका था (७११–७१३ ईस्वी)।

एक और कलासंग्रह-कक्ष है प्रम्बनन का 'छडुम मन्दिर' (आठवीं से नवीं शताब्दी ईस्वी)। प्रम्बनन की कला बोरोबुदुर की कला से श्रेष्ठ तो नहीं किन्तु उसके समकक्ष अवश्य है, और इसमें रामायण महाभारत तथा कृष्णायन की सहनशीलता समर्पण और त्याग से परिपूरित कथाओं का अंकन है। सांची अजन्ता और बोरोबुदुर के पश्चात् यहां भारतीय कथाओं की चौथी सचित्र बाइबिल है। कुछ पुरातत्त्वविदों का विचार है कि प्रम्बनन का लगभग १८० फुट ऊंचा यह विशाल शिवमन्दिर, जो २०० से अधिक छोटे मन्दिरों से घिरे आठ प्रमुख मन्दिरों में से एक है मूलत बोरोबुदुर के विशाल स्तूप से अधिक प्रभावशाली रहा होगा। बीच के प्रमुख तीन मन्दिर त्रिमूर्ति के हैं। छोटे मन्दिर चार चौड़ी पंक्तियों में प्रमुख मन्दिरों को घेरे हुए हैं। और मन्दिरों का यह समूह अत्यधिक

प्रत्येक स्थान पर ब्राह्मण-संस्कृति बौद्ध-संस्कृति से पहले पहुंची। हमें आशा भी यही करनी चाहिए। इससे हमें यह भी मालूम होता है कि उपनिवेशों का प्रारम्भ कैसे हुआ था। किन्तु नये भारतीय सामाजिक वातावरण में ब्राह्मणधर्म की सामाजिक प्रतिबन्ध और पृथक्करण की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। मलय प्रायद्वीप से बोर्नियो और सुमात्रा से अन्नम तक के सम्पूर्ण भू भाग के विभिन्न निवासियों ने भारतीय संस्कृति को आत्मसात् कर लिया, भारत की भाषा, साहित्य और सामाजिक आचारों को अपना लिया तथा पुराणों के देवताओं की पूजा विधिपूर्वक करनी आरम्भ कर दी। मध्य-एशिया के समान यहां भी पिछड़े लोगों को शान्तिपूर्ण ढंग से ही अपने में मिलाया गया। इस प्रकार भारतीय महासागर में एक बृहत्तर भारत की स्थापना हो गई। किन्तु इसके पीछे कोई योजना न थी और न शत्रुओं को पराजित किया गया। क्रमशः विभिन्न जातियों और देशवासियों के सम्मिलन तथा भारतीय दर्शन व संस्कार के रूपों के प्रसार के कारण विभिन्न देशों के मूल निवासियों के सामाजिक और सांस्कृतिक उदात्तीकरण के फलस्वरूप यह सम्भव हो सका।

प्राचीन भारत के विश्वविख्यात क्षेत्र जैसे कम्बोज, गन्धार, कलिंग, दशार्ण, मालव, श्रीक्षेत्र और अयोध्या—समुद्र पार की भूमि पर पुनः स्थापित हो गए। नये औपनिवेशिक वातावरण में भारतीयता का नया विकास आरम्भ हुआ। कौशाम्बी, मथुरा, चम्पा, द्वारावती और अमरावती जैसे प्राचीन नगर, महेन्द्रपर्वत जैसे पवित्र पर्वत और चन्द्रभागा तथा गोमती जैसी पवित्र नदियां पूर्व के उपनिवेशों और नगरों में पुनः प्रकट हो गईं और उनके साथ-साथ पुरानी स्मृतियां एवं परम्पराएं जागरित हो उठीं। कपिश और गंधार के उत्तर पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र के समान सीक्यांग और लालनदी की उत्तरी भूमि में, जहां भारत और चीन का मिलन प्रशान्त महासागर के समीप होता है, बौद्धधर्म के पवित्र स्थलों की पुनःस्थापना हुई। ये पवित्र स्थल थे बोधिवृक्ष, गृध्रकूट, पिप्पलगुफा और उपगुप्त का मठ। इस प्रकार चीन के भूभाग का लगभग स्पर्श करते हुए बौद्धधर्म की तीसरी पवित्र भूमि की स्थापना हो गई ताकि बौद्धधर्मानुयायी तीर्थयात्रा कर सकें।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय कला की उपलब्धियां

भारतीय कला और धर्म के स्पष्ट मानवतावाद और करुणा की पूर्ण अभिव्यक्ति भारत की सीमाओं के भीतर नहीं वरन् द्वीपान्तर भारत की उच्च स्वस्थता, मधुरता और उदारता में हो सकी। शैलेन्द्र सम्राटों द्वारा निर्मित मध्य जावा में बोरोबुदुर का विशाल स्तूप (७७२—८२४ ईस्वी लगभग) कुमारस्वामी के शब्दों में "तीसरी महान पवित्र बाइबिल है" जिसका विस्तार सांची के रिलीफों अथवा अजन्ता के चित्रों के समान किन्तु अधिक विस्तृत है। वास्तव में गुप्तकालीन कला का आदर्श यहीं परिमार्जितता को प्राप्त करता है। यहां के लगभग २००० उत्कीर्ण शिलापट्टों में बुद्ध का जीवनचरित अंकित है जो 'ललितविस्तर', 'दिव्यावदान', 'कर्मविभंग', 'गण्डव्यूह', 'जातकमाला' तथा अन्य विभिन्न दन्तकथाओं के आधार पर है। बोरोबुदुर और गुप्तकालीन मूर्तिकला में संतुलन और स्पष्टता, सौन्दर्य और भक्तिभावना लगभग समान है किन्तु विचार की धारणा और विधान

वैभवपूर्ण और प्रभावशाली है—बिल्कुल बोरोबुदुर के समतुल्य। प्रम्बनन की तरह कोमलता और सुन्दरता में गतिमय लय में अस्थिरता और प्रभावशालिता में वास्तव में गुप्त और पल्लव कला-सम्प्रदायों की शैलियां और परम्पराएं पूर्णत्व प्राप्त कर सकी हैं।

विश्व की कला का एक आश्चर्य है अंगकोर थोम (नगरधाम अथवा यशोधरपुर) जिसके मध्य में यशोवर्मन प्रथम (८८६–९१० ईस्वी) सूर्यवर्मन द्वितीय (लगभग ११२५ ईस्वी) और जयवर्मन सप्तम (११८१–१२०१ ईस्वी) द्वारा निर्मित बेयन का विशाल मन्दिर है। पी० विग्स ने ठीक कहा है कि अंगकोर थोम की ख्मेर राजधानी की भौगोलिक स्थिति स्थूल मापना और मूर्ति-अलंकरण एक आदर्शीकृत त्रिभुवन का सूक्ष्म प्रतिरूप था। नगर का निर्माण 'शिवलोक' के रूप में हुआ था। पिरामिडाकार मन्दिर के केन्द्रीय स्तंभ में चतुरानन (अर्थात् चार मुखोंवाले शिव) की विशाल मूर्ति है, ध्यानलीन—जो आज चारों ओर के विस्तृत सघन वन को जिसके नीचे एक वैभवशाली सभ्यता की समाधि है देखकर मानो स्वप्न में धनासक्त मुस्कान बिखेरती है। यह गुप्तकालीन और गुप्तोत्तरकालीन भारत के सुपरिचित चतुरानन शिव का विशाल किन्तु उत्कृष्ट प्रतिरूप है तथा इसमें जीवन और मृत्यु संसार और शिवलोक दोनों के प्रति कोमलता और निर्मल प्रशान्ति है। *मन्दिर की दीवारों पर महाकाव्यों भागवत हरिवंश तथा* अन्य हिन्दू कथाओं की एक हजार कहानियों का आश्चर्यजनक लयात्मक और सदाम अंकन है तथा गरुड़ और अप्सराएं शान्त चिन्तन की मुद्रा में खड़े हैं। इन्हें देखकर गुप्तकाल की उत्कृष्ट कला का स्मरण आता है। उत्कीर्ण शिलापट्टों की कुल लम्बाई आधा मील है। शिव विष्णु और हरिहर के साथ-साथ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की मूर्तियां भी हैं। ख्मेर का वास्तुशास्त्रीय अभिप्राय नाग है। इस मन्दिर की वेदिका का आकार नाग से ही बनाया गया है और उसका द्विगुणकरण कर दिया गया है। सातों फन काढ़े हुए, विष्णु के आसन—अनादि और अनन्त—आसन के रूप में यह नाग मानो मन्दिर के प्रवेशद्वार का रक्षक है। अप्सरा की उभारदार मूर्तियां और मूर्तियों के भाव व क्लासिक सन्तुलन बोरोबुदुर की मूर्तियों के ओज और क्लासिक सन्तुलन से श्रेष्ठतर है और बेयन तो एक प्रस्तर-गीत है मायावी और वायव्य विश्व की समस्त वास्तुकला की शायद सर्वाधिक कल्पनाशील कृति। स्मरणीय है *कि कम्बोडिया के मन्दिर-नगर का निर्माण जिस शताब्दी* में हुआ उसी शताब्दी (१०२५ ईस्वी) में महमूद गजनवी ने राजसी नगर कन्नौज अथवा महोदय पर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया। मुसलमानों के आगमन का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि भारत और बृहत्तर भारत एक-दूसरे से अलग हो गए।

भारतीय कला की एक और आश्चर्यजनक कृति है बर्मा के शासकों की राजधानी पगन (अरिमर्दनपुर) के 'पचास हजार पैगोडा'। कभी जो संसार का सबसे अधिक सुन्दर मन्दिर-नगर समझा जाता था (८४७–१२६८ ईस्वी) आज वही इरावदी नदी के तट पर, मंडाले से ९२ मील दूर दक्षिण-पश्चिम एक छोटा-सा गांव-मात्र रह गया है। नत-हलीम-न्यीम की उभारदार मूर्तियों में विष्णु के अवतार प्रदर्शित हैं इनमें गुप्तकालीन शैली का ही सुन्दरतर तथा आकर्षकतर रूप प्रस्तुत है। पगन की कला की अन्य विशिष्टताएं हैं बुद्ध की सुन्दर उभारदार मूर्तियां तथा चमकदार पालिश टिसहों पर अंकित जातकों के

हुआ। द्वारावती मूर्तियों और फ़्रेस्को चित्रों में पाल-कला का प्रभाव स्पष्ट है तथा पाद विन्यास पालयुगीन बंगाल के विख्यात पहाड़पुर मन्दिर के पाद-विन्यास के समान है। यहीं यह भी द्रष्टव्य है कि बर्मा के सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक राजा क्यानजित्था ने पगान के विख्यात आनन्द-मन्दिर के निर्माणार्थ भारतीय वास्तुकों को तैनात किया था (१०८४–११०७ ईस्वी) तथा कुछ विशिष्ट व्यक्ति बोधगया भेजे थे ताकि वहाँ के प्रख्यात प्राचीन मन्दिर के नमूने पर दूसरा मन्दिर बनाया जा सके। आनन्दमन्दिर वास्तव में गया महाबोधि मन्दिर के नमूने पर ही निर्मित हुआ।

बोरोबुदुर, अंगकोर थोम और पगान की वास्तुकला परस्पर अत्यधिक भिन्न है किन्तु उनके सौंदर्य और वैभव का रहस्य भारतीय कला और धर्म का प्रभाव ही है। इस कला के लिए कोडस ने कहा था (और यहाँ उसीको दुहराया जा रहा है) कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की भारतीयतावादी कला और वास्तुकला वास्तव में भारतीय बीज से उत्पन्न एक मजबूत शाख है जिसने विदेशी भूमि पर गहरी जड़ें जमा ली।

अलग-अलग कलाकृतियों की गणना की जाए तो औपनिवेशिक मूर्तिकला की कुछ अपूर्व कृतियाँ भारतीय कला की कृतियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। कुछ उदाहरण हैं जावा में चण्डी मेण्डोट की बुद्ध की मूर्ति और प्रज्ञापारमिता की मूर्ति (जो अब लीडेन संग्रहालय में है) दोनों कैडा और सन्तुलन के गुप्तकालीन मापदण्ड के अनुसार ही हैं किन्तु उनमें वैयक्तिकता और निकटता अधिक है; त्रैलोक्यविजय की चतुर्भुज कांस्य-मूर्ति जिसकी मुद्रा और मांसलता रोडिन की कृतियों के समान है; जावा में उर्वरता और समृद्धि की देवी श्री की आसनस्थ कांस्य-मूर्ति जिसकी मुद्रा में अतिश्रेष्ठ सौन्दर्य और कोमलता है; बैंकाक संग्रहालय में उपस्थित मुद्राओं से मार भगाने की मुद्रा में बुद्ध की कांस्य-मूर्ति जिसमें निर्मलता और कोमलता का अद्भुत मिश्रण है तथा जो करचिगम संग्रहालय की सुप्रसिद्ध मूर्ति को कहीं पीछे छोड़ देती है; कम्बोडिया और सुकोथाई के मुस्काते हुए बोधिसत्त्व जिनकी पारलौकिकता और करुणा मथुरा की विख्यात भारतीय मूर्ति से कहीं श्रेष्ठ है; बन्तियाई स्राई (अंगकोर) में तिलोत्तमा और दो प्रतिस्पर्धी राक्षसों तथा कैलाश को हिलाते हुए रावण की मूर्तियों की संचालक चेतना और सपुंजन की लय अतिश्रेष्ठ है जिनका प्रभाव पृष्ठभूमि के वृक्षों से—जिनकी सूक्ष्म जाली की नक्काशी और अलंकरण की कलात्मकता से किसी ईरानी चित्र का भास होता है—और बढ़ गया है; और बैंकाक संग्रहालय में स्याम की मूर्ति प्रशान्त महासागर की वीनस जिसकी सजावट और सौंदर्य बाद की राजपूत मूर्तियों और चित्रों की याद आती है।

उपनिवेशों में सागरीय सम्प्रदायों का उदय

भारतीयों के समुद्र-पार के साहसिक कार्यों ने कुछ महत्त्वपूर्ण सागरीय सम्प्रदायों और उपाख्यानों को जन्म दिया। ये बौद्ध और ब्राह्मण दोनों थे। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है वणिक्-गुरु एवं नाविकों और उपनिवेश-संस्थापकों के संरक्षक के रूप में द्वीपान्तर भारत में अगस्त्य की पूजा, भारतीय महासागर पर चमकनेवाले और जहाज़ों का मार्गदर्शन करनेवाले तारे कैनोपस (जावाई भाषा में 'बीमेंदम') को अगस्त्य मानकर पूजा जाता है।

पुराणों में लिखा है कि अगस्त्य ने दक्षिणभारत से कुशद्वीप शंखद्वीप मलयद्वीप और यवद्वीप की यात्रा की थी। कुछ जावाई मूर्तियों में शिव-गुरु अथवा भट्टारकगुरु अगस्त्य को एक अन्य ऋषि परशुराम के पुत्र तृणबिन्दु के साथ संयुक्त पाते हैं। जावा में तृणबिन्दु की मूर्ति भी मौजूद है। आज भी संसार के इस भाग में अगस्त्य के नाम पर ही कसमें खाई जाती हैं। दूसरा सागरीय सम्प्रदाय है दीपंकर बुद्ध का। यह जावा सुमात्रा सेलिबीज स्याम और अन्नम में पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमरावती कला-सम्प्रदाय ने पांचवीं शताब्दी ईस्वी सन बुद्ध की दीपंकर मूर्तियों को खूब प्रभावित किया था। अतः इस मत का उद्भव संभवतः गोदावरी की घाटी में हुआ था। तीसरा है मणिमेखला सम्प्रदाय। इसका उद्भव कोरोमंडल तट पर कावेरीपट्टिनम् में हुआ था। मणिमेखला तमिलनाडु के नाविकों की संरक्षक देवी है और कम्बोडियाई व स्यामी रामायण में उसे सम्मानजनक स्थान प्राप्त हुआ।

धार्मिक सम्मिश्रण और मानवतावाद

सागर-पार के भारतीय उपनिवेशों और राज्योंमें सागरीय सम्प्रदायों का विकास एक नवीनता थी। किन्तु इनसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि धर्म में कुछ ऐसे समझौते और सश्लेषण हुए जो भारत की भूमि पर कभी भी सम्भव न थे। सम्मिश्रण की प्रवृत्ति का उदाहरण है अर्धनारीश्वर शिव-बुद्ध शंकर-नारायण हरि-हर और विष्णु-शंकरेश्वर लिंग तथा शिव को समर्पित ब्रह्मा-विष्णु-बुद्ध की त्रिमूर्ति की सम्मिलित पूजा। बंगाल और उड़ीसा से प्राप्त लोकेश्वर की पूजा भी शिव और बुद्ध के सम्मिलन का एक उदाहरण है। जावाई कवि तन्तुलर का कथन है बुद्ध त्रिमूर्ति में सम्मिलित है। यह सूत्र वास्तव में धार्मिक सम्मिश्रण की एक दीर्घकालीन प्रक्रिया की सम्पूर्ति की अभिव्यक्ति है जो शताब्दियों पूर्व भारतीय भूमि पर आरम्भ हो गया था। अन्त में महाकाल की अर्ध-ब्राह्मण अर्ध-बौद्ध पूजा का आरम्भ भी हो गया। धार्मिक सम्मिश्रण को अन्य कारणों से भी प्रोत्साहन मिला। एक कारण था महायान बौद्धधर्म का विकास जिसमें अनेक स्त्री और पुरुष देवता थे। दूसरा कारण था शासकों की अपने पूर्वजों को शिव बुद्ध और अवतार पिता के तुल्य मानने की प्रवृत्ति। शैव वैष्णव शाक्त तथा हीनयान और महायान बौद्ध प्रभावों के सहिष्णु सम्मिश्रण की अभिव्यक्ति भारतभूमि से अधिक पूर्ण और रूपवती भारतीय उपनिवेशों और राज्यों में हुई। इसके साथ-साथ बीमारों और अपंगों की देखभाल करने के एक शक्तिशाली मानवतावादी आन्दोलन का भी सूत्रपात इस क्षेत्र में हुआ। अंगकोर थाम के एक अभिलेख में लिखा है कि राजा यशोवर्मन (८७७—८८९ ईस्वी) ने एक विष्णु-गृह की स्थापना की जिसका उद्देश्य था वैष्णवों का प्रतिनिधित्व तथा दरिद्रों के लिए औषध और भोजन का प्रबन्ध करना। ११८६ ईस्वी में जयवर्मन ने कम्बोडिया में १०२ अस्पतालों का निर्माण कराया। जयवर्मन के राज्य में कैसे इन अस्पतालों में ८२,००० पुरुष और नर्सें काम करते थे। इनका उद्देश्य था बोधिसत्व भैषज्य के संरक्षण में औषधियों का वितरण तथा बीमारियों का निःशुल्क इलाज करना। अस्पतालों में रहनेवाले बीमारों को मनुहरवाहिनी (मधुक आदि) तक दी जाती थीं। भारतीय संस्कृति के प्रसार के साथ

साथ पीढ़ियों के प्रति गम्भीर मानवीय करुणा का भी प्रसार हुआ तथा दक्षिण-पूर्व एशिया चीन और जापान में आज भी दया और करुणा का पात्र मस्तक कमलवाले मैत्रेय बुद्ध की पूजा की जाती है।

एशियाई एकता का निर्माण

गुप्तकाल में कामरूप से श्रीविजय और चट-ग्राम से असुरबापुर तक एक सभ्यता की स्थापना हुई। गरम मसाले कपूर सोना जैसे बहुमूल्य धातुएं चन्दन तथा बहुमूल्य रत्न की तरह अनेक वस्तुएं भारतीय जहाजों में भूमध्यसागरीय देशों को भेजी जाती थीं और इस पारमहाद्वीपीय व्यापार में भारत का काफी लाभ होता था। ईसा बाद की शताब्दियों में दक्षिण भारत पाल और इस्लाम का हुआ। विख्यात विद्वान तथा शिक्षक भी इस देश का भ्रमण किया करते थे। उपनिवेशों के एक प्रख्यात शिक्षक थे सुवर्णद्वीप के धर्मकीर्ति जिनके शिष्य अतीश दीपंकर श्रीज्ञान थे। अतीश बाद में विक्रमशिला में आचार्य बने और उन्होंने तिब्बत व नेपाल में महायान का प्रसार किया। अतीश बारह वर्ष तक धर्मकीर्ति के पास रहे। एक और विख्यात अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान थे महायान प्रदीप। वे एक सम्मानित चीनी भिक्षु एवं ह्वेनसांग के शिष्य थे। उन्होंने द्वारावती सिंहल और दक्षिणभारत का भ्रमण किया तथा बुद्ध वय ताम्रलिप्ति मठ में अध्ययन किए। यहां से वे नालन्दा महाविहार वैशाली और कुशिनगर गए तथा कुशीनगर में उनकी मृत्यु हुई। ई-त्सिंग ने उनका जिक्र किया था। बंगाल के अनेक बौद्ध भिक्षु शिक्षा प्राप्त करने श्रीविजय और असुरबापुर के मठों में जाते थे।

फिर भी भारत और उसके उपनिवेशों का सम्बन्ध सदैव शान्तिपूर्ण नहीं रहा। दक्षिणभारत के चोल साम्राज्य और श्रीविजय के शैलेन्द्र-साम्राज्य के बीच भी कब तक युद्ध होता रहा। युद्ध का कारण यह था कि शैलेन्द्रों ने मलक्का जलडमरूमध्य में प्रवेश पर रोक लगा दी थी और उस संकरे समुद्र में प्रवेश करने के लिए भारी कर लागू कर दिया था। इससे दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारत का व्यापार ठप्प हो गया था। समुद्री इब्न-खोरदाद बेह और इब्न रोस्तेह नामक अरब भूगोलज्ञों ने लिखा है कि कर लगाने से साम्राज्य को बहुत आमदनी होती थी। भारतीय इतिहासकार मलक्का जलडमरूमध्य के सम्बन्ध में सही समय का वास्तविक कारण नहीं जान पाए हैं। श्रीविजय-साम्राज्य अथवा जबज (अरबी में जबग) ने कदह बन्दरगाह पर अधिकार करने के पश्चात् भारत तथा चीन के इण्डोनेशिया के बीच सीधा गमनागमन बन्द कर दिया। समूची में इस लिख लिया था। (६६६ ईस्वी)। चीनी लेखक चाओ-जुकुआ जो और भी निश्चित थे। उन्होंने लिखा है "यह देश (श्रीविजय) समुद्र पर स्थित है। इसीलिए व्यापार के विचार से एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाहरों के समस्त जहाजों के गमनागमन पर इसी देश का नियन्त्रण है। पहले के समय में लोहे की जंजीरें डालकर बन्दरगाह का सीमा प्रदर्शन की जाती थी। इस देश की सैनिक व्यवस्था बहुत मजबूत है और वे जल-स्थल दोनों युद्ध करते हैं।"

इण्डोनेशिया के प्रमुख जलडमरूमध्यों के दोनों ओर के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर शैलेन्द्र साम्राज्य का अधिकार था। इस प्रकार व्यापार पर उनका एकाधिकार-सा स्थापित हो

गया था ऐसा ही एकाधिकार बाद की शताब्दियों में पूर्वगामियों का हुआ। इतिहास स्वयं को दुहराता है। चोल-साम्राज्य ने निकोबार, बर्मा के कुछ भागों मलय स्याम सुमात्रा (राजधानी कदरम सहित) और श्रीविजय पर अधिकार कर लिया किन्तु अन्त में शलेन्द्र साम्राज्य ने चोल-साम्राज्य को पराजित कर दिया। तेरहवीं शताब्दी के मध्य में श्रीलंका भी श्रीविजय-साम्राज्य में सम्मिलित था।

शैलेन्द्र-साम्राज्य अनेक शताब्दियों तक बंगाल से मध्यवर्ती और बौद्धतान्त्रिक धर्म के दक्षिण-पूर्वी एशिया में पहुंचने तथा भारतीयकरण आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र रहा। शैलेन्द्र-वंश के गुरु कुमारघोष थे। वे गौड़ के निवासी थे (गौडीद्वीप गुरु)। उन्होंने ७८२ ईस्वी में श्रीविजय में आभिसत्व मंजुश्री की एक मूर्ति स्थापित की जिसमें बौद्ध-त्रिरत्न ब्राह्मण त्रिमूर्ति एवं अन्य सभी देवताओं का एकीकरण था। कलसन में प्राप्त ७७८ ईस्वी के एक अभिलेख में लिखा है कि कुमारघोष के अनुरोध पर कलसन में देवी तारा के सुप्रसिद्ध मन्दिर और विनय महायान में पारंगत भिक्षुओं के लिए एक आवास का निर्माण कराया। शलेन्द्र और पाल वंशों में एक विवाह-सम्बन्ध स्थापित हुआ बलपुत्रदेव बंगाल के देवपालदेव के भतीजे थे। पाल कला और संस्कृति का शैलेन्द्र-साम्राज्य पर बड़ा प्रभाव था। कलसन के समीप ही चंडी सेवों अथवा 'सहस्र मन्दिर' है। यह बंगाल और बिहार के पाल-साम्राज्य से प्राप्त बौद्धतान्त्रिकवाद का केन्द्र था। पम्बनन भी अधिक दूर नहीं है और (क्रोम के अनुसार) पैवन का केन्द्र है जिस प्रकार बोरोबुदुर (जिसके आधार और मीनारें का प्रतिरूपी प्रभवन है) महायान बौद्धधर्म का गढ़ है। भारतीय भावाई उभारदार मूर्तिकला की अधिकतम शक्ति गम और ओजस्विता यहीं है।

शैव एवं तान्त्रिक धर्मों ने जल्दी ही चम्पा व कम्बुज में जड़ जमा ली। एक सस्कृत अभिलेख में (यह अभिलेख सरल स्तम्भिकल शैली में है जिसे दक्षिण-पूर्वी एशिया के शासकों ने भारत से ग्रहण किया था) वर्णित है कि सम्राट् भद्रवर्मन ने चौथी शताब्दी के अन्त में चम्पा में एक लिंग की स्थापना की और यह लिंग एक तरह से राष्ट्रीय सार्वजनिक देवता बन गया। पितृसत्तातंत्र में लिंग का 'आदि भार' या प्रतीक कहा है जहां समस्त सृष्टि और विनाश उद्भूत होते हैं। ७११ ईस्वी के इन्द्रवर्मन प्रथम के एक अभिलेख में शिवमुख-लिंग की स्थापना की बात लिखी है। बाद में यह भद्रेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुआ। जावा से आकर कम्बुज पर शासन करनेवाले जयवर्मन द्वितीय (८०२—८६९ ईस्वी) ने कम्बोडिया में देवराज नामक रहस्यात्मक सम्प्रदाय का आरम्भ किया। शिव लिंग की पूजा के साथ इसका निकट सम्पर्क था। जयवर्मन के राजगुरु शिवकैवल्य थे। जनपद (भारत में) निवासी हिरण्यदाम ने उन्हें शिरश्छेद विनशिख सम्मोह और नयो त्तर नामक चार शास्त्र भेंट किए थे। ये तांत्रिक ग्रंथ तुम्बरु अथवा शिव-रुद्र के चतुर्मुख कहे जाते हैं और उन्हींसे उद्भूत माने जाते हैं। ये सब आगमस्रोतगत हैं और उनका उद्भव उत्तरभारत में हुआ था जहां छठी से सातवीं शताब्दी ईस्वी तक चार भिन्न 'आम्नाय' प्रचलित थे। उपर्युक्त चारों शास्त्रों में इन्हीं आम्नायों का समावेश है। कम्बुज के अभिलेखों में शिव को बहुधा चतुराननं या चतुर्मुख कहा जाता है। अंगकोर थाम के चारों विशालमुख शायद तुम्बुरु अथवा शिव-रुद्र के हैं और देवराज के सिद्धान्तों अथवा

सूर्यवर्मन द्वारा प्रतिष्ठित अनुभूत शिव के कम्बोडियाई राष्ट्रीय सम्प्रदाय के प्रतिनिधि हैं। राजधानी के परिवर्तन के साथ-साथ देवराज के देवता भी महेन्द्रपर्वत (फ्नोम कुलेन) से हरिहरालय और अन्त में यशोधरपुर (अंगकोर थोम) पहुँच गए। स्मरणीय है कि कम्बुज में अनेक शताब्दियों तक तांत्रिक शैवधर्म और महायान बौद्धधर्म का निवास एक ही मन्दिर में रहा।

सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया में कानून, संस्कार का संचालन, परीक्षा और अधिकारियों के पदों के नाम हिन्दू हो गए। कुछ राज्यों में आज भी ऐसा ही है। डा० ए० साल ने अभी कुछ समय पूर्व कहा है कि प्रभावशाली ब्राह्मण और बौद्ध सिद्धान्तों ने सम्पूर्ण क्षेत्र में एक अभिजातवर्गीय विचारधारा को जन्म दिया। यह विचारधारा निम्न प्रकार से व्यक्त होती थी: प्राकृतिक और मानवीय व्यवस्थाओं में पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना, अधिकारी पदवी की प्राप्ति तथा धार्मिक उत्सवों की सम्पूर्ति—ये बर्मा, स्याम, कम्बोडिया और जावा में राजाओं और अधिकारियों के 'स्वर्गीय' कर्तव्य होते थे। ब्राह्मण और बौद्ध विद्वानों द्वारा इसका निर्देशन होता था तथा दरबार के संस्कार और अभिषेक उत्सव इसके प्रतीक थे। कम्बोडिया में देवराज-सम्प्रदाय में सम्बद्ध ईश्वरीय राजत्व की परम्परा को सूर्यवर्मन द्वितीय (१०११–१०५० ईस्वी) ने विष्णुराज के रूप में कायम रखा किन्तु जयवर्मन सप्तम (११८१ से लगभग १२२१ ईस्वी) ने इसे महायान के बुद्धराज-सम्प्रदाय का रूप दिया। अठारहवीं शताब्दी तक भारतीय धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों को हेतु बनाकर अनेक राजा शासन करते रहे। हीनयान सम्प्रदाय प्रजातन्त्रीय विचारधारा और कानूनप्रणाली के पक्ष में है किन्तु बर्मा में हीनयान अनुयायी जाति के राजा क्यान्सित्था (१०८४–१११२ ईस्वी) ने महायान बौद्धधर्म के बोधिसत्व सिद्धान्त को हेतु बनाकर घोषणा की कि वह बुद्ध का अवतार था।

महायान और वेदान्त ने जिस प्रकार भक्ति का आधार प्रस्तुत किया था उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त ने नैतिकता का आधार प्रस्तुत किया। 'गृह्यसूत्र' से पारिवारिक धार्मिक विधियाँ और धार्मिक संस्कार तथा खान-पान के नियम मिले। संस्कृत की भारतीय संस्कृति तथा भारतीय कला और वास्तुकला की सम्पूर्ण विरासत वहाँ के निवासियों की हो गई। संस्कृत का शब्दकोष अर्थात् 'अमरकोष' अपने पूर्ण या आंशिक रूप में चीन, मंचूरिया, बर्मा और बाली जैसे दूर-दूर स्थित भूभागों में उपलब्ध है। प्राचीन साहित्य में हिन्दू पौराणिक कथाओं, किंवदन्तियों और लोककथाओं का बाहुल्य है। जावा के प्राचीन विशाल कवि-साहित्य में बहुत कुछ प्राचीन भारतीय सामग्री है। टॉमस का कथन है, "इस साहित्य के तथाकथित धार्मिक अंश में ब्रह्माण्डपुराण, जैसे भुवन-कोष, कमलिमयानिकम, बृहस्पति-तत्त्व और सूर्य-सेवन सम्मिलित हैं तथा मन्त्रों से सम्बन्धित कृतियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त नीति-साहित्य (कामन्दक आदि), शिव-शासन (देव-दंड आदि), व्याकरण, कोशशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, कपोल और इतिहास, महाभारत, रामायण तथा अन्य काव्यों का प्रतिनिधित्व करनेवाले अनेक ग्रन्थ, कुमारसंभव के कथानक पर स्मर-दहन, कृष्णायन, काम-अवमानस्तव, अपरस्य तथा जावा और बाली की लोककथाएँ और साहसिक कथाएँ, तथा पंचतंत्र के समान (और उसीपर आधारित) तंत्र साहित्य भी है।

बाली की सामाजिक रचना की विशेषता है एक नरम जातिप्रथा। भारत के समान वहां भी चार वर्ण हैं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। किन्तु वहां मनु के अनुसार अनुलोम विवाह को प्रश्रय दिया जाता है तथा प्रतिलोम विवाह को अस्वीकृत किया जाता है। इसमें लोग आपस में मिल-जुल गए हैं और वर्णभेद की ऐसी कड़ाई वहां नहीं रह गई है। बाली निवासी वेदों और भगवद्गीता का सम्मान करते हैं वे परम-शिव अथवा ब्रह्म के उपासक हैं द्वैतता और सांख्य की प्रकृति को मानते हैं सूर्य को सदाशिव का मूर्तरूप मानकर तथा विष्णु, उनकी प्रिया श्री शिव की पत्नी उमा और ब्रह्मा की पूजा करते हैं। हिन्दू देवी देवताओं की पूजा करने का काम पुजारियों (पद-दण्डो) का है और उपयुक्त भारतीय *मुद्राओं में पुराणों के मन्त्रों का पाठ करते हुए (जिन्हें वेद कहा जाता है) पुजारी अपना* कर्तव्य का पालन करते हैं। बाली की भाषा में संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य है। यह तथ्य भी कम रोचक नहीं कि स्वयंवर की भारतीय प्रथा बाली में अभी तक शेष है तथा ब्राह्मणों और क्षत्रियों को अपनी जातियों पर गर्व है।

जावा में भारतीय महाकाव्यों का प्रभाव अभी भी काफी है। महाभारत के आदि विराट और भीष्म पर्वों का—जिनकी रचना सम्राट् एयरलंग(१०३०–१०४६ ईस्वी) के समय में हुई थी—अध्ययन अब भी होता है। गीता का सार-संक्षेप भी है। जावा में छायानाटक बहुत प्रचलित है जिनमें कृष्ण अर्जुन भीम घटोत्कच और सुभद्रा की कहानियों तथा राम रावण युद्ध को आधार बनाया जाता है। रामायण का जावाई संस्करण जिसका रचनाकाल राजा सिंडोक के शासनकाल (६२६–६४७ ईस्वी) में माना जाता है, प्रधानतः भारतीय महाकाव्य का अनुवाद है और अंशतः भट्टिकाव्य का रूपान्तर। राम हनुमान सुग्रीव कृष्ण कर्ण *अर्जुन और भीम महान वीरों के रूप में* सम्मान पाते हैं। प्राचीन जावाई तन्त्री में पंचतन्त्र भी है और इसकी लोककथाओं को चित्रों में प्रदर्शित किया जाता है।

समस्त इंडोनेशिया में संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद अधिक नहीं पाए जाते। उनके सार-संक्षेप रूपान्तर और तत्त्व प्रबन्ध मौजूद हैं जिनमें भारत के साहित्य की आत्मा की गूंज मौजूद है। पुस्तकों के नाम भारत-युद्ध ब्रह्माण्डपुराण शिव-शासन बृहस्पति आदि हैं। थाईलैंड और हिन्दचीन में पालि-साहित्य सुरक्षित है। भारत से प्राप्त धार्मिक ग्रंथ और उनकी टीकाओं के अतिरिक्त धार्मिक दार्शनिक और अन्य विषयों पर विस्तृत क्षेत्रीय पालि-साहित्य भी है। थाईलैंड की आधुनिक लिपि पाली है और आधुनिक शब्द-भंडार में अनेक संस्कृत शब्द हैं। राज्याभिषेक तथा उपनयन संस्कार भारतीय परम्परा के अनुसार होते हैं। स्याम में धर्मगुरु (संगराज) को आज भी राजा नियुक्त करता है तथा धर्मगुरु को बहुत *अधिकार—कानून बनाने का अधिकार तक—प्राप्त है। और तो* और, पिछड़े हुए मलय देश तक में अनेक संस्कृत शब्द आज के शब्द भंडार में हैं तथा भारतीय कथाएं और लोककथाएं सुपरिचित हैं। रामायण वहां 'हिकायद्-सेरिरम' नाम से विख्यात है और उसकी समानता इतिहास-युक्त रामायण के बंगला रूपान्तर के साथ अधिक है। जोहोर के सुल्तानों के नाम के आगे 'श्री' लगाया जाता है। लाओस में हीनयान बौद्धधर्म आज भी राजधर्म है। जनसाधारण के कार्यों और सम्पत्ति-सीमा का निर्धारण

भी इसी के आधार पर होता है। प्रत्येक परिवार के पास उतनी ही भूमि होती है जिससे उसका निर्वाह हो सके और वह जीवन की आवश्यक वस्तुएं खरीद सके। इसका अनुमान बौद्ध पुजारी द्वारा लगाया जाता है। धन अथवा पद-मर्यादा के लिए धन का संग्रह वर्जित है। रोगी, अपंग और वृद्ध व्यक्तियों का पालन परिवार अथवा समाज द्वारा किया जाता है। इस प्रकार, स्याम के बौद्ध आज भी बुद्ध के सरल नियमों के अनुयायी हैं जिनमें परम सन्यास पर जोर दिया गया है। इसका उदाहरण है बौद्ध पुरोहितों का जीवन। बर्मा में भारत से प्राप्त 'धम्मथत' आज भी कानून बनाने का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। सुदूर फिलिपाइन्स में भी कुछ आदिवासी भारतीय वर्णमाला का व्यवहार करते हैं।

भारत का सामुद्रिक उपनिवेशीकरण का कार्य तथा फारस की खाड़ी से टाकिन की खाड़ी तक, मई मादवेरिया से उत्तर कोरिया तक और मोलोका से न्यूगीनिया तक भारतीय संस्कृति का प्रसार एशियाई सभ्यता के इतिहास का एक शानदार किन्तु उपेक्षित प्रसंग है। कोडेस के अनुसार इसका आरम्भ अस्पष्ट प्रागैतिहासिक अतीत में हुआ था। कोडेस का कथन है "अनेक स्थानों पर भारतीय बस्तियां उत्तर-पाषाणकालीन बस्तियों के स्थानों पर ही बसी थीं जहां भारतीय सागरगामी शायद बहुत समय पहले से ही आया करते थे। मलय के पेरक राज्य में स्थित कुआला सेलिनसिंग और सेलिबीज में सम्भवतः ऐसी ही बस्तियां थीं। ऐतिहासिक काल में दक्षिण-पूर्व का भारतीयकरण मौर्य-साम्राज्य की स्थापना के समय आरंभ हुआ। मौर्ययुग में ही भारतीय व्यापारियों और भिक्षु-यात्रियों ने हिन्दूकुश को पार करना तथा समुद्र-यात्रा करके श्रीलंका और सुवर्णभूमि पहुंचना आरंभ किया। भारत ने अपने उपनिवेश बाहुबल से नहीं वरन् शान्तिपूर्ण व्यापार और धार्मिक उत्साह के बल पर स्थापित किए। यही कारण था कि भारत ने अधिक स्थायी परिणाम प्राप्त किए। यह वास्तव में सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप के एक सभ्यता की निर्माण प्रक्रिया थी जो बौद्धधर्म, ब्राह्मणधर्म, तान्त्रिकधर्म और उनके स्थानीय रूपों के संरक्षण में—मंगोल-साम्राज्य की स्थापना तक चलती रही जिसकी राजधानी पहले मंगोलिया में कराकोरम थी, बाद में चीन में खानबालिक या पीकिंग। कोरिया से बगदाद और मास्को से हिन्दचीन तक फैले संसार के एक विशालतम साम्राज्य के शासक कुब्लाखां ने एक संस्कृति, एक लिपि और लामाई बौद्धधर्म के आधार पर एशियाई एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। किन्तु १२९४ ईस्वी में कुब्लाखां की मृत्यु के पश्चात् मंगोल-साम्राज्य की एकता नाममात्र को रह गई, एशियाई सभ्यता की एकता छिन्न-भिन्न हो गई। इस बीच अरब के मुसलमानों ने पश्चिमी और मध्य-एशिया में अपनी शक्ति बढ़ा ली तथा भारत और द्वीपान्तर भारत में भी प्रवेश पा लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ तक मुसलमान भारत महासागर पर फैल गए और वहां उन्होंने बलात् इस्लाम का प्रसार किया। मलिक इब्राहीम जावा में इस्लाम का पहला धर्मदूत था। उसके मकबरे पर १४१९ ईस्वी में लिखा गया अभिलेख लगा है। पन्द्रहवीं शताब्दी में मुसलमानों का व्यापार, जिसका मुख्य आधार मलक्का था (वहां का शासक अलबुकर्क के समय में एक हिन्दू राजा परमीसुर था) सम्पूर्ण द्वीपसमूह में फैल गया और लगभग बीस राज्यों ने इस्लाम को राजधर्म के रूप में स्वीकार कर लिया। पराजित हिन्दू बाली तथा अन्य द्वीपों में चले

। के कल्पलता मोटिफ की कोमल जालीदार नक्काशी तथा अजन्ता भित्तिचित्रों बहुरंगी सघन वनों पुष्पित वृक्षों राजसी हाथियों के झुण्डों और फुदकते हिरनों के श्रेष्ठ अंकन में भी उपस्थित है। अश्वघोष कालिदास और भारवि के धीरोदात्त नायक नायिकाओं की संभावनाओं और विविध कल्पनाओं में रूपाकारों की आध्यात्मिक भव्यता और विविधता गुप्तकालीन मन्दिरों की देवी-देवताओं की मूर्तियों में भी मौजूद है। गुप्त काल की एक विशिष्टता यह भी है कि परिष्कृत और अमूर्त प्रकार के नायकों नायिकाओं और उनके अंतरंग सहचरों के सृजन में काव्य और चित्रकला परस्पर प्रेरणा ग्रहण करते थे—ये सभी चरित्र मानो किसी परी-देश की पुष्पमालाओं रत्नों और आभूषणों से अलंकृत होते थे। एक ओर साहित्य में चित्रकला के गुणों तथा नायक-नायिकाओं की प्रतिकृतियों को स्थान दिया गया तो दूसरी ओर चित्रकला में मानवीय गुणों के चित्रण में क्लासिकल काव्य के सौंदर्य-सम्बन्धी मापदंडों को अपनाया गया तथा पृथ्वी की अलकापुरी के अक्षय प्रेम सुख और प्रशान्ति का अंकन किया गया। इस प्रकार, गुप्तकालीन भारतीय क्लासिक-प्रवृत्ति के कारण काव्य नाटक चित्रकला और मूर्तिकला में समान रूप से सौन्दर्य सन्तुलन और सम्मिति का प्रवेश हुआ। नाट्यशाला में और राजभवन आमोद-गृह एवं देवालय के भित्तिचित्रों में तथा प्रेम और वैराग्य की आख्यायिकाओं में सर्वत्र क्लासिकल काव्य की आसवी अलकापुरी तथा क्लासिकल दर्शन के पारलौकिक निर्वाण की झांकी हमें मिलती है। अलका अथवा निर्वाण के असीम ज्ञान सौख्य और औदार्य में संसार के समस्त दोष और अवगुण गायब हो जाते हैं। समस्त मानवीय सम्बन्धों—'आदि' के सम्पूर्ण क्षेत्र तथा ललित कलाओं की विषय-वस्तु—को व्यक्त करनेवाले प्रिय क्लासिक रूपों मे भी 'अस्ति' सर्वत्र विद्यमान है। पश्चिम में रोमक साम्राज्य और चीन में हूण-साम्राज्य (२० ईस्वी) के विनाश के फलस्वरूप भारत का सम्बन्ध किसी सीमा तक शेष संसार से टूट गया और शायद इसी कारण भारतीय परिनिष्ठा में विशेष प्रांजलता आ सकी।

भारतीय कला में क्लासिक प्रवृत्ति

भारतीय मूर्तिकला में पहले के लोकप्रिय यक्ष तथा नाग पूजक सम्प्रदायों जैन और बौद्ध धर्मों तथा ब्राह्मण-पुनरुत्थान के समन्वय की स्पष्ट अभिव्यक्ति क्लासिक प्रवृत्ति के कारण हुई। इन विभिन्न धर्मों का समन्वय भागवतधर्म के उत्थान तथा युग की नवीन साहित्यिक एवं शास्त्रीय रुचियों और परम्पराओं के बल पर संभव हो सका था। मथुरा के वेदिकास्तंभों की यक्षियों की मांसल कामुकता को गुप्त-मूर्तिकला—द्वारा गंगा और यमुना देवियों द्वार की विमोहक कन्याओं तथा चामरधारिणी कुमारिकाओं की विनम्र मुद्राओं—में पुन प्रस्तुत किया गया। अन्तर यही था कि गुप्तकालीन मूर्तियां अधिक परिष्कृत थीं तथा उनमें बाह्याकार और आकारमातृका का अधिक विग्रह था। कमल के प्रभामण्डल (कालिदास के शब्दों में—'पद्मातपत्रच्छाया मण्डल') का उत्कृष्ट अलंकरण मृदु के पारदर्शी वस्त्र की निपुण बनावट तथा नारी-शरीर (स्तनों और नितम्बों का उभार तथा आभूषणों का बाहुल्य जिसकी विशिष्टता है) का सूक्ष्म यथार्थवादी निरूपण

सभी कालिदास, भारवि और भवभूति की उदात्त शैली के रूपकों, उपमाओं और अन्य भाषिक अलंकरणों के समकक्ष हैं। गुप्तकालीन साहित्य के समान गुप्तकला में भी मानव के शारीरिक नहीं वरन् आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रतिमान स्थापित किए गए हैं। अण्डवत् मुखाकृति, कामदेव के धनुष की भांति वक्र भौंहें, कमल के समान नयन, परिपक्व बिम्ब फल-से अधर, सुघड़ कंठ और बांहें, सिंह जैसा वक्ष, त्रिभंग मुद्रा में नारी-शरीर लता के समान हिलता है तथा परिपक्व स्तन कुम्भों के कुचों का आभास देते हैं तथा 'लोकोत्तर' के रूपकों में अनेक प्रतीक प्रभविष्णु और ललित क्लासिकल रूपों का समन्वय है।

गुप्तकला के आकर्षण का रहस्य है मानव-शरीर की कामुक मदन, किन्तु प्रतीकों और मोटिफों की एक समृद्ध साहित्यिक परम्परा के कारण यह कामुकता कभी भी संकीर्ण अर्थों में यथार्थवादी नहीं हो पाती। गुप्तकला में मानव-शरीर की चेतना तथा मानवात्मा की गरिमा और निर्भयता का विलक्षण समन्वय है। गुप्तकला द्वारा रूपाकार, अंगसौष्ठव और अंगविन्यास के बारे में प्रतिमाविद्या-सम्बन्धी नई परम्पराएं स्थापित हुईं जिन्हें आगामी अनेक शताब्दियों तक भारत और विदेशों में मान्यता प्राप्त रही। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह प्रतिमाविद्या अथवा शैलीगत विशिष्टता कला की सप्राणता और प्रवाह पर हावी हो गई। वस्तुतः भारतीय कला में प्रतिमाविद्या की नियमावलियां तथा शैली की परम्पराएं ऊपर से लादी गई अनिवार्यताएं नहीं हैं वरन् भारतीय जनता के हृदय और मस्तिष्क से उद्भूत हैं। साहित्यिक तथा मूर्तिकला-सम्बन्धी आकारों और मोटिफों का जो भीतरी सम्बन्ध से ही प्रेरणा ग्रहण करते हैं तथा उन्हीं की अभिव्यक्ति करते हैं, नियमन समाज-स्वीकृत कथाओं और प्रतीकों द्वारा होता है। निस्सन्देह प्रतीकात्मकता के कारण शरीर के अंगों और चेष्टाओं का अतिरंजन है किन्तु लोग आसानी से कला की धार्मिक भाषा को पढ़ लेते हैं फिर चाहे वह कला किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय की क्यों न हो। इष्टदेव अथवा देवी के विशेष मनोभाव अथवा गुण के संदर्भ में उनकी प्रत्येक चेष्टा, अंगविक्षेप और अंगुलि-भंगिमा स्पष्टतः समझ में आ जाती है। इसी तरह उपकरण, अस्त्र, मुकुट और आभूषण के प्रकारों का अर्थ समझना भी आसान है। बौद्ध, जैन एवं ब्राह्मण धर्मों और लोकमतों के देवी-देवता वर्गों और पापों की धारणाएं, नाग, जलधाराएं और मिथ परस्पर-विरोधी अथवा पृथक् नहीं हैं वरन् युग की आध्यात्मिक वैचारिकता, संस्कृतिवादी कला और धर्म द्वारा एकाकार कर दिए गए थे। इसके बावजूद प्रत्येक देवी देवता को उसकी शारीरिक विशिष्टता अथवा अंगविक्षेप के जो प्रतिमाविद्या के नियमों के अनुसार होते हैं आधार पर पहचाना जा सकता है कि वह किस धर्म अथवा मत का है। इसके बाद भी यदि संशय रह जाए कि इस कला का संदेश मात्र धार्मिक है तो किसी भी धर्म के इष्ट की मूर्ति (बुद्ध की मूर्ति भी) के नीचे चौकी पर—जहां खड़े हुए सर्पमुख पौराणिक राक्षसों और बैठे हुए शेरों को क्रीडाप्रिय काल्पनिक जन्तु-युगल के रूप में अंकित किया गया है—अथवा कलापूर्ण ढंग से उभारदार खोदी गई परस्पर गुम्फित सुपरिचित लताओं पर—जिनकी विपुल पत्तियां फड़फड़ाती हैं तथा मन्दिर के सिंहद्वार के सामान्य अलंकरण में वृद्धि ही करती हैं—दृष्टिपात कर लेना ही काफी होगा।

कला में पुराणकथा और उपाख्यान

धार्मिकता के साथ-साथ कला में आख्यान पर भी काफी जोर दिया गया है। भव्य खुदाईयुक्त शिलाओं में जातकों पुराणों और महाकाव्यों की कथाएं अंकित हैं। इन शिलाओं में धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता परस्पर घुलमिल गई है। गुप्तकालीन देवगढ़ मन्दिर में राम और कृष्ण की कथाओं के दृश्यों का प्रदर्शन करनेवाले बहुसंख्यक शिलाएं हैं। गोकुल के ग्वाले रुक्मिणी सुदामा और पंचपांडव तथा राम लक्ष्मण और सीता अहल्या और अगस्त्य शूर्पणखा और स्वर्णमृग सभी यहां हैं तथा इनके अंकन में सारल्य और ओज मृदुता और उग्रावता का अद्भुत समन्वय है। ये सर्जन ही वे मूलादर्श हैं जिनकी अनुकृतियां जन्मस्थान गंगा कांठे से बहुत दूर-दूर तक की गईं। बुद्ध की जन्म-कथाओं के चित्रण इसी प्रकार के उदाहरण हैं जिनकी अनुकृतियां जावा में प्रम्बनन और कम्बोडिया में अंगकोर में की गईं।

गुप्तकला में एक एकीकृत राष्ट्रीय संस्कृति की सटीक अभिव्यक्ति हुई। प्राचीन पौराणिक कथाओं और आख्यानों से लेकर संस्कृति-विज्ञान और तत्त्वविज्ञान तक को गुप्तकला में बड़े पैमाने पर अभिव्यक्ति मिली। गुप्त-साम्राज्य का जन्मस्थान था गंगा और यमुना के बीच का मैदान इन दो पवित्र नदियों का अंकन पहली बार धार्मिक कला में हुआ—गुप्तकालीन मन्दिरों के प्रवेशद्वार पर एक ओर गंगा और दूसरी ओर यमुना चित्रित की गई। कालिदास ने दोनों नदियों को शिव की परिचारिका कहा है

> मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।
> समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे॥

(कुमारसंभव ७ ४२)

गुप्तकला की मानववादी प्रकृति इस लोकप्रिय उक्ति में निहित है 'रूपं पाप वृत्तये न' अर्थात् रूप पाप के लिए नहीं है। कालिदास ने कुमारसम्भव (५ ३६) में इसी उक्ति को उद्धृत किया है (यदुच्यते पार्वति ! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः)। कालिदास का ही कथन है कि सौन्दर्य केवल पति के सुख के लिए है (प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता—कुमारसम्भव ५ १)। संस्कृत काव्य में शरीर के कामुक सौन्दर्य के उन्मादपूर्ण वर्णन हैं किन्तु शारीरिक सौन्दर्य सदैव आन्तरिक आत्मिक सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब है। गुप्तकाल के जीवन आचार-व्यवहार और कला का आदर्श है 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'। गुप्तकाल की महान कथाएं हैं बुद्ध द्वारा मार की सेनाओं की पराजय तथा पार्वती के तपस्या भंग करने पर शिव द्वारा कामदेव का दहन (कुमारसंभव ३ ७२)। करुणा और त्याग की भावना को भी अभिव्यक्ति मिली है सिंहनी के सामने बोधिसत्त्व की आत्मबलि तथा रक्षिता गाय नन्दिनी पर सिंह का आक्रमण होने पर दिलीप का आत्मत्याग इसी प्रकार की कथाएं हैं। गुप्तकाल का सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्श था अनुशासन और सुखोपभोग त्याग और कर्तव्य तथा प्रज्ञा और सुन्दरम् व शिवम् का संयोग और इसकी उत्कृष्ट व सुस्पष्ट अभिव्यक्ति कालिदास के नाटकों और काव्यों में है। गुप्तकालीन कला की उत्कृष्टता का स्रोत यही आदर्श था।

कला में लोकोत्तर स्वरूप का मानवीकरण

गुप्तकालीन मूर्तिकला में बुद्ध शिव और विष्णु की मूर्तियों के रूप और आदर्शों का अन्तिम मानवीकरण हुआ। लोकोत्तर स्वरूप के मानवीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण इस काल की बुद्ध, शिव और विष्णु की प्रतिमाएं ही हैं। बुद्ध के निरूपण की विशेषताएं हैं मृदुता और परिष्कृति वस्त्र की बनावट में महीन जाली की नक्काशी घुंघराले बाल ऊर्ध्व की समुपस्थिति शरीर पर वलयाकार रेखाएं, रूपपूर्ण मुद्राएं अत्यधिक प्रशान्त मुख तथा पीछे एक विशाल आलंकारिक प्रभामंडल—सम्पूर्ण आकृति में अद्भुत ऐक्य निर्मलता और ओज। यहां पर सारनाथ और मथुरा की सुविख्यात प्रतिमाओं का जिक्र समीचीन है। सारनाथ की प्रतिमा मृगदाव में बुद्ध के प्रथम उपदेश की स्मारक है और इसमें बुद्ध को प्रवचन की मुद्रा में अंकित किया गया है। धर्मचक्र बुद्ध के पांच सबसे पहले शिष्यों तथा प्रतिमा की दाशी और उसके बच्चे को चौकी पर समुचित ढंग से कोरा गया है। संसार में मृगदाव प्रवचन-दृश्यों को उकेरने में बुद्ध और उनके शिष्यों की आकृतियां को इसी पैमाने पर बनाया गया है। फिर भी सारनाथ में बुद्ध और धर्मचक्रप्रवर्तन शाश्वत आध्यात्मिक हैं और यही कारण है कि महायान सिद्धान्तों के अनुसार बुद्ध की आकृति अपेक्षाकृत बहुत अधिक बड़ी उतारी गई है। सम्पूंजन अत्यन्त सुगठ है समतुलन गाम्भीर्य और माधुर्य इस सम्पूंजन की विशेषताएं हैं जिन्हें क्षैतिज रेखाओं त्रिमूर्ती आंखों और भृंगा द्वारा उभारा गया है। इस स्थायी त्रिभुजाकार आदर्श (पैटर्न) के ऊपर एक अत्यन्त कलापूर्ण रूप से अलंकृत वृत्ताकार प्रभामंडल है। प्रभामंडल में पर्णीय आकृतियों का एक पैटर्न है जिसकी पर्यन्तरेखा मोतियों की है हाथों में पुष्प लिए हुए मंडराने वाले देवदूत बड़े कौशलपूर्वक प्रभामंडल में ही सम्मिलित हैं और एक स्वर्गीयता का वातावरण उत्पन्न करते हैं। सम्पूंजन की मर्मज्ञता और सहजता इस मूर्ति में एक स्वच्छ रैखिक लय के साथ जो भावनाओं की परिसमाप्ति और निर्दोष विशुद्धता को सूचित करती है, समन्वित हैं। इस प्रकार, मानवीय संस्कृति में पहली बार, गुप्तकला ने मानवाकृति को उच्चतम नैतिक मूल्य प्रदान किया।

इसी प्रकार मानव के नैतिक और बौद्धिक क्षेत्र के संसार के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीकों में से एक है मथुरा की बुद्ध की विश्राम प्रतिमा। अधमुंदी पलकों के पीछे सांसारिक क्रिया-कलापों के रहस्य की गहन जानकारी छिपी है साथ ही कृपालु और परिग्राही मुस्कान (जो अपेक्षाकृत अधिक ख्यात सारनाथ की प्रतिमा में लक्षित नहीं होती) में निर्वाण के यथार्थ रूप तथा संसार के प्रति बुद्ध की अगाध करुणा का समन्वय है। स्मरणीय है कि इस प्रतिमा का निर्माण उसी युग में हुआ था जब गान्धार में महायान आदर्शवाद की नींव रखी जा रही थी और हमारा विचार है कि यह प्रतिमा महायान के विशुद्धतम प्रतीकों में से एक है। यह भी स्मरणीय है कि महायान-करुणा पर शान्तिदेव रचित उत्कृष्ट काव्य 'बोधिचर्यावतम्' की रचना सातवीं शताब्दी ईस्वी के अन्तिम चरण में हुई थी।

महापद्म बुद्ध (चाहे आसनस्थ हों चाहे स्थित) बोधिसत्त्व (जो एक राजा है) से अधिक प्रभावशाली और अलंकृत हैं। प्रतिमाविद्या की दृष्टि से प्रामाणिक प्रकार की मूर्ति

में बोधिसत्त्व त्रिमुकुट रत्नजटित हार और कटिबन्ध पहनते हैं तथा संसार के दुःखों के प्रति उनकी असीम करुणा अत्यन्त उत्कृष्ट ढंग से उनकी सौम्य मुस्कान अंगुलियों की अभय भंगिमा और कभी-कभी सिर के तनिक झुकाव या शरीर के त्रिभंग(जिसके कारण मूर्ति में एक विशिष्ट कोमलता और नमनशीलता आ जाती है) में उजागर होती है। शास्त्रीय दृष्टि से यह मुद्रा भारतीय नृत्य की त्रिभंग मुद्रा के समान है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह दुखियों के प्रति बोधिसत्त्व की करुणा को व्यक्त करती है जो महायान भक्ति की विशेषता है। भारत और श्रीलंका से चीन कोरिया और जापान तथा गंधार और तारिम काठे से बर्मा स्याम जावा और कम्बोडिया तक बुद्ध और बोधिसत्त्व की अनेकानेक प्रकार की मूर्तियां शताब्दियों के दौरान निर्मित हुईं। इनमें मुखाकृति का निर्माण तो परस्पर-भिन्न भारतीय आर्य द्रविड़ यूनानवासी मंगोल और ख्मेर जातियों की मुखाकृतियों के आधार पर हुआ है किन्तु मूर्तियों में अत्यधिक सूक्ष्मानुभूत निर्मलता और करुणा—जो एशिया को महायान की देन है—के पूर्ण उद्घाटन के लिए सभी विभिन्न देशों ने गुप्तकाल की कला से ही प्रेरणा ग्रहण की है। यथार्थ तो यह है कि एशिया के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक जाति ने बौद्ध आदर्शों(जिन्हें गुप्तकालीन मूर्तिकला में इतनी स्थायी और इतनी कीर्तिमयी अभिव्यक्ति मिली) के आधार पर अपनी मूर्तिकला में एक लोकोत्तर स्वरूप का विकास किया है।

नारी-सौन्दर्य का एशियाई आदर्श गुप्तकालीन निरावरण मूर्ति

मथुरा सांची सारनाथ और बोधगया में उत्पादित बुद्ध और बोधिसत्त्व के गुप्तकालीन आदर्श समस्त एशिया की बौद्ध मूर्तिकला के आदर्श और आदेश हैं। इसी प्रकार, अपना राजसी मुकुट और वैजयन्ती माला धारण किए हुए विष्णु तथा सर्प से बंधे जटा-जूट समेत शिव अथवा लोकेश्वर(जिसे कालिदास ने 'कुमारसंभव १ ४६ में 'भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापम्' कहा है) का एक सम्पूर्ण वर्ग है तथा कला के ऐसे विषय हैं जिनका प्रसार भारत की सीमाओं के पार दूर-दूर तक हुआ। इसके अतिरिक्त, नारी की निरावरण मूर्तियों के प्रसंग में भी गुप्तकालीन कला ने अधिकांश मानदंड स्थापित किए। भारहुत से सांची तक की प्रारम्भिक कला में यक्षियां सवसना हैं या अर्धनग्न हैं तथा कटिवस्त्र पहने हैं जिनके छोर कलात्मक तहों में लटके हैं। पूर्ववर्ती कुषाणयुग में भारतीय कला में पहली बार नग्न आकृतियों का सृजन हुआ जो पारदर्शी रेशम या मलमल पहने हैं। इसी समय से भारतीय कला में पारदर्शी वस्त्रों की एक परम्परा चल पड़ी जिसका उद्देश्य था देवियों अप्सराओं नर्तकियों आदि के नारी-सौंदर्य का वर्णन करना। किन्तु जैसा हम पहले भी बता चुके हैं कुषाणकाल के नारी-सौंदय के उत्तान प्रदर्शन का स्थान गुप्तकालीन कला में एक उत्कृष्ट (क्लासिसिज़्म) संतुलन ने ले लिया तथा प्रयुक्त वैसी मांसल और आकर्षक होने के साथ साथ मर्यादित और अपार्थिव भी हो गई। गुप्तकाल में निर्मित नारी की अनेक नग्न मूर्तियां लयात्मक दैहिक सौंदर्य से कम्पित किन्तु फिर भी निर्मल और संयत हैं इस प्रकार की सर्वोत्कृष्ट कृतियां हैं गंगा (अब बास्टन संग्रहालय में) पति की अनुगामिनी ग्वालियर की अप्सरा ऐहोल की शिवानुरक्त पार्वती (अब बम्बई संग्रहालय में) तथा अजन्ता-भित्तिचित्रों

के विभिन्न शृंगारी भूमस और आसन्नमृत्यु रानियाँ। साहित्य और कला दोनों में प्रयुक्त नारी-सौंदर्य के ये प्रतिमान (कालिदासकृत विख्यात पार्वती के सौंदर्य-वर्णन से तुलना कीजिए¹) ही बोरोबुदुर स्याम और कम्बोडिया की मूर्तिकला के आदर्श बने। पश्चिमी कला इतिहासकारों का विचार है कि सार्वजनिक स्मारकों और धार्मिक क्षेत्रों में नग्नता की सुस्थापित परम्परा का यथार्थवादी कला और सामान्य मानवीयता पर मर्मान्तिक प्रभाव पड़ा तथा १५४५ में यूरोप की ट्रेण्ट कांउसिल द्वारा धार्मिक कला में नग्नमूर्तियों अथवा नग्नचित्रों के अंकन के निषेध का कुप्रभाव हुआ। इसी प्रकार भारत में मानव और विशेष रूप से नारी के सौंदर्य के नग्न निरूपण का आधार है परवर्ती वर्षों की सर्वसम्मत परम्परा। भारतीय कला के इतिहास में इस परम्परा का प्रभाव अत्यधिक शुभ और व्यापक है।

कला और काव्य दोनों में नारी-सौंदर्य की विशेषताएं हैं 'फूले हुए कमल और चमककर उभरे हुए स्वर्ण-कलशों जैसे पुष्ट स्तन' 'केले के तने जैसी सुडौल और उभरी हुई जंघाएं तथा 'वेदी के मध्यभाग जैसी पतली कमर'। कमर के पतलेपन के विपरीत सुपुष्ट स्तनों के उभार से एक तकनीकी उद्देश्य यह भी पूरा होता है कि 'विष्णुधर्मोत्तरम्' के अनुसार, नारीमूर्ति 'स्वाद भेली-सी' मालूम पड़ती है। इसके अतिरिक्त नाभि गहरी और स्पष्ट होनी चाहिए। पार्वती के सौंदर्य का वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः॥
(कुमारसंभव १ ३८)

भारहुत तथा उसके बाद की समस्त भारतीय प्रतिमाओं में नाभि को सदा सुस्पष्ट दिखलाया गया है। सर्वों की प्रथा के समान गुप्तकालीन कला में नारी-सौन्दर्य को भी कलात्मक आसनों मुद्राओं और भंगिमाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। गुप्तकालीन नारी की नग्न मूर्तियों की—फिर चाहे वे जलदेवी अथवा गंधर्वी की हों चाहे अप्सरा अथवा बोधिसत्व की रानी तारा की—मांसल कान्ति और विमुग्धता द्वारा उन मानदंडों की स्थापना हुई जो समस्त एशियाई कला में नारी के आदर्श गुणों के अंकन का आधार बने। देवताओं अथवा योगियों की पारलौकिक प्रज्ञा तथा नारी की नैतिक और आध्यात्मिक महत्ता के निरूपण में गुप्तकालीन कला समान रूप से निष्णात थी। यह निस्संदेह उस स्वस्थ और समृद्ध युग में आध्यात्मिकता और भौतिकता के व्यापक सामंजस्य और सन्तुलन का प्रतिफल था।

भारतीय कला के 'अंग'

भारतीय सौंदर्यशास्त्र के सिद्धांतों और परम्पराओं का प्रतिपादन और सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण 'विष्णुधर्मोत्तरम्' और 'शिल्परत्नम्' में हुआ जिनकी रचना गुप्तकाल में हुई। 'विष्णुधर्मोत्तरम्' में चित्रकला का वर्गीकरण 'यथार्थवादी' 'रागात्मक' और 'नागरम्' श्रेणियों में किया गया है, तथा मन्दिरों प्रासादों और निजी आवासों के

---

१ अर्धांशुका [illegible] स्तनयुग्मम् ।
[illegible]

उपयुक्त चित्रकर्म बताए गए हैं। समुचित प्रवाह और 'चेतना' (जो वस्तुतः भारतीय कला का मुख्य स्वर है) द्वारा मन स्थितियों की अभिव्यक्ति तथा सौंदर्य के कुछ आदर्श मानदंडों के अनुसरण पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। यशोधरकृत कामसूत्र के भाष्य में चित्रकला के छ अंग बताए गए हैं (१) रूप भेद (२) प्रमाणम् (३) भाव अथवा रसाभिव्यक्ति, (४) लावण्य-योजनम् (५) सादृश्य तथा वर्णिका भग अथवा रंग-विधान। सियेह हो (४७९-५०१) द्वारा प्रस्तुत चीनी चित्रकला के छ अंग भारतीय चित्रकला के छ अंगों के अधिक समान हैं अन्तर सिर्फ इतना है कि वर्गीकरण में उनका क्रम कुछ अलग है। चीनी चित्रकला के छ अंग हैं (१) मानसिक चिन्तन के फलस्वरूप चेतना का जन्म होता है (२) तूलिका द्वारा शारीरिक संरचना को व्यक्त करना (३) प्रकृति के सादृश्य की आकृतियाँ बनाना (४) वस्तु की प्रकृति के अनुसार रंगविधान (५) रेखाओं का उपयुक्त स्थानों पर वितरण (६) चित्रों में प्रयोग करके रूपों को प्रचलित बनाना।

'विष्णुधर्मोत्तरम् और शिल्परत्नम्' दोनों में चित्रकला के अंगों का सविस्तार विवेचन है। विष्णुधर्मोत्तरम्' में एक स्थान पर लिखा है कि नृत्यकला के प्रारम्भिक ज्ञान के बिना चित्रकला में मन स्थिति की समुचित अभिव्यक्ति असंभव है इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि 'रूप' ही चित्रकला और मूर्तिकला का सार है। लास्यनशील भंगिमाएं और मुद्राएं अजन्ता और बाघ के उत्कृष्ट चित्रकर्मों की विशेषताएं हैं। किन्तु इति यही नहीं। गुप्त तथा गुप्तोत्तरकालीन उभारदार तथा अन्य मूर्तियों म भंगिमा और चेतना का गत्यात्मक प्रवाह है जो उन मूर्तियों को सौन्दर्य और ओज प्रदान करता है—कला में इन दोनों गुणों की एकसाथ उपस्थिति अत्यन्त विरल है। मूर्तिकला और चित्रकला को ये गुण नृत्यकला से मिले थे नृत्यकला उस समय सारे देश में शताब्दियों स अत्यन्त लोकप्रिय थी—उसे सामाजिक उपलब्धि भी माना जाता था और मन्दिरों या उत्सवों म धार्मिक संस्कार भी। वस्तुतः भारत में नृत्य तथा धार्मिक मूर्तियों में अत्यधिक साम्य है। 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ने एक सौ आठ नृत्यमुद्राओं का वर्णन किया है तथा शिव नटराज के प्रख्यात आसन चिदम्बरम मन्दिर के गोपाभमों में इन मुद्राओं की मूर्तियां हैं—इस प्रकार, दोनों की आत्मा के ऐक्य को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

'प्रतिमालक्षणम्' में जिसे उसके तिब्बती अनुवाद में ऋषि आत्रेय रचित तथा एक बौद्धग्रन्थ पर आधारित बताया गया है मूर्तियों के सिर मुख और हाथ-पैरों की विस्तृत मापें तथा मूर्तिकला के *कुछ सामान्य अंग दिए गए हैं। मान्यता है कि इनका* सामान्य उपयोग हो सकता है। 'मूर्ति का सिर छत्र के समान बनाना चाहिए इससे धन-सम्पत्ति में वृद्धि फसल अच्छी तथा समृद्धि होती है। मस्तक पर तीखी भौंहें अक्षय सौभाग्य लाती हैं। प्रतिमा कलात्मक हो तो प्रजा सुखी होती है। प्रतिमा की ग्रीवा शंख के समान हो तो वह सर्वत्र सफलतादायिनी होती है। सिंह के समान शरीर प्राचुर्य और धनित की वृद्धि करता है, हाथी की सूंड जैसी बांहें सभी लालसाओं और उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं। सुघड़ पेट वाली मूर्तियां समृद्धि और बहुलता लाती हैं केले के वृक्ष जैसी

गायें बकरियों और भेड़ों के रेवड़ में वृद्धि करती हैं तथा पुष्प-दमन भाव की उन्नति करते हैं। खूबसूरती से गढ़े गए पैरों वाली मूर्तियां सद्व्यवहार और ज्ञान का कारण बनती हैं। यह है प्रतिमाओं की उत्कृष्टता की महत्ता।

प्रतिमाविद्या की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिपाटी है १२० या १२४ अंगुल की मानव लम्बाई। इसे 'दशताल' अथवा उत्तमदशताल प्रमाणम् कहा गया है। एक ग्रंथ में लिखा है कि "विष्णु ब्रह्मा और शिव की मूर्तियों का उत्तमदशताल के अनुसार (१२४ अंगुल) तथा श्री भूमि उमा और सरस्वती की प्रतिमाओं को मध्यमदशताल के अनुसार (१२० अंगुल) बनाना चाहिए। बौद्धयंग प्रतिमालक्षणम् की व्यवस्था है कि ब्रह्मा तथा देवी चण्डिका जैसे इष्टदेवों ऋषियों ब्रह्मराक्षस स्वर्ग-निवासियों और बुद्ध की प्रतिमाएं दशताल प्रमाण के अनुसार बनाना चाहिए तथा अन्य किसीकी मूर्ति इस प्रमाण के अनुसार कदापि न हो। सम्पूर्ण प्रतिमा तब दस 'भागों' में विभाजित की जाती है जिनमें से प्रत्येक भाग 'मुख' के आकार के बराबर (एक 'ताल' या दस अंगुल) होता है। भारतीय प्रतिमाविद्या की इस परम्परा के बारे में शांगुली का मत ठीक है कि इसमें सांसारिक प्राणियों के रूपों के प्रमाणों का भी कुछ निहित है प्रमाण के मानदण्ड पर मिलने वाले यूनानी पॉलीक्लीटॉस तथा रोमन वितुवियस दोनों ने अपनी प्रमाण प्रणाली के आधारस्वरूप उपर्युक्त नियम—सामान्य मानवीय स्तर—स्वीकार किया है किन्तु भारतीय मूर्तिकारों ने अपनी मूर्तियों के लिए दशताल (अथवा 'शतांगुल') माप अपनाई है अर्थात् भारतीय शिल्पियों ने अपनी प्रतिमाओं के लिए ऐसे परिमाण निर्धारित किए हैं जो सामान्य मानवीय स्तर से परे हैं।

प्रतिमा के निर्माण में 'ध्यान' को अनिवार्य माना गया है। 'शुक्रनीतिसार' (चतुर्थ ४.४ ७०–७१) में लिखा है "प्रतिमाकार को चाहिए कि मन्दिरों में जिन देवताओं की मूर्तियां बनानी हों उनके उपयुक्त ध्यान करके ही मूर्तियां बनाए। ध्यान योग के बल पर ही प्रतिमाओं की कल्पनाएं संभव हो पाती हैं अतः मानव प्रतिमाकार का ध्यान भग नहीं होना चाहिए। कारण केवल इसी विधि द्वारा वह अपना काम पूरा कर सकता है—अपने सामने प्रत्यक्ष रखकर तो वह प्रतिमा का निर्माण कर ही नहीं सकता।"

मूर्ति के निर्माण से सम्बन्धित छोटे से छोटा काम भी किसी एकान्त और सुरक्षित स्थान में श्रद्धापूर्वक तथा इन्द्रियों को वश में रखते हुए करना चाहिए। अपना काम सम्पादित करते हुए प्रतिमाकार को उसी देवता के ध्यान में लीन रहना चाहिए जिसकी प्रतिमा वह बना रहा है। देवता का रूप (अथवा प्रतिमा) निस्सन्देह इन्द्रियातीत परमात्मा का एक स्वरूप अपवाद है। शिल्पशास्त्रों में वर्णित प्रतिमाकारों के अनिवार्य गुण हैं अविचलित मनोयोग और तादात्म्य जिनके बल पर पूर्ण कार्यकुशलता प्राप्त होती है ठीक योग के समान "देवाधिदेव समाधि में मुझे ज्ञान दीजिए कि मैं अपने सोचे हुए काम पूरे कर सकूं।" "ध्यान के पश्चात् मूर्तिकार कार्यरत हो जाए। शिल्प शास्त्र प्रतिमाविद्या को जन्म देते हैं किन्तु कला को जन्म देती है कलाकार की समाधि बेचिमता अथवा [illegible]

इष्टाराध्य देवता' के प्रति स्तव 'ध्यान' और 'प्रणाम' के पश्चात् प्रतिमाविद्या-सम्बन्धी गुणों के संचय द्वारा ही कला का उद्गमन होता है। वस्तुतः ध्यान, सत्कार और प्रतिमा-निर्माण एक ही क्रिया—मानवात्मा की सृजनात्मक प्रक्रिया—के पक्ष हैं।

गुप्त-कला की धार्मिकताहीन प्रवृत्ति

योरी के 'अनुत्तरभाव' के उद्घाटन के लिए प्रयत्नशील मूर्तिकला की नवीन परम्पराएं इतनी सक्षम हैं कि बुद्ध, बोधिसत्त्व, शिव और विष्णु सभी की प्रतिमाएं एक ही नमूने की हैं। कुछ बाह्य लक्षणों अथवा अलंकरण-युक्तियों द्वारा उन्हें अलग-अलग पहचाना जा सकता है। ह्वेनसांग की तीक्ष्ण आंखों ने इसे पहचाना। जैन तीर्थंकर की प्रतिमा का वर्णन करते हुए उसने लिखा है, 'अपने गुरु की प्रतिमा को उन्होंने तथागत की प्रतिमा के समान बनाया है, केवल वस्त्र भिन्न हैं, सौंदर्य-तत्त्व नहीं हैं।' मथुरा संग्रहालय की जैन तीर्थंकर, मथुरा के अनेक विष्णुओं की मूर्तियों तथा देवगढ़ की नर नारायण की प्रतिमाओं के नये प्रकारों में प्रभावों की पुंजीयता और प्रकार की स्निग्धता समान रूप से विद्यमान है। ये एक प्रति चैतन्य सम्पन्नता की भावना तथा सन्तुलन और बोध की अनुभूति को जन्म देती हैं जो सभी प्रकार की गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशिष्टता है। कालिदास के 'कुमारसंभव' में योगध्यानलीन शिव के चित्र और बौद्ध कला में बुद्ध की ध्यानमग्न प्रतिमा में साम्य है। इसी प्रकार, महायान बौद्धधर्म के बोधिसत्त्वों की निर्मलता और करुणा हमें गुप्तकालीन विष्णु की प्रतिमाओं तथा शिव-मुख लिंगों की अगाध शान्ति और मधुरता में पुनः प्राप्त होती है। गुप्तकालीन ललितकला का सर्वोत्कृष्ट गुण बुद्ध और बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं तथा एकमुखी व चतुर्मुखी शिव लिंगों और विष्णु की स्थित प्रतिमाओं में एवं नदी देवियों और अप्सराओं तथा द्वार स्तंभों पर प्रचुर पुष्प-अलंकरणों में भी समान उपस्थित है।

बौद्धकला मानवीय और लौकिक है, ब्राह्मणकला अधिकांशतः मानवोपरि और लोकोत्तर है। किन्तु गुप्तकाल में धर्मनिरपेक्षता और मानववाद को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त था कि पृथ्वी के रक्षार्थ वराह अवतार, शेष-शय्या पर शयन करते विष्णु तथा विराट् विष्णु (भगवद्गीता के विश्वरूप) जिनके वृत्ताकार प्रभामंडल में ग्रहों का प्रदर्शन है, सभी को मानवीय परिवेश में ही अंकित किया गया। इसके विपरीत मध्ययुग की प्रतिमाएं अति मानवीय हैं। इसका एक कारण गुप्तकालीन अगाध कृष्णभक्ति भी था। मथुरा और ऐहोल में विष्णु तथा देवगढ़ द्वारा गजेन्द्र-मुक्ति, रामचन्द्र द्वारा अहल्योद्धार और नर-नारायण की प्रतिमाओं में ब्रह्म के अपूर्व रूप और जीव ('जिसका सातों लोकों में कोई और सहाय नहीं') के प्रति विष्णु की अगाध करुणा का समन्वय है। ये प्रतिमाएं आध्यात्मिक सिद्धान्तों की नहीं वरन् धार्मिक भावनाओं की कलात्मक अभिव्यक्तियां हैं और यही इसका महत्त्व है। बोधिसत्त्व और विष्णु की कुछ मूर्तियों में व्यक्त ईश्वर की अगाध करुणा में रूपान्तर है जो गॉथिक और रोमक कला में है। महायान और पांचरात्र के भक्ति-साहित्य में हम पाते हैं कि धार्मिक चेतना में भी वही भावनात्मक रूपान्तरण है।

अजन्ता की चित्रकला में शारीरिक और आत्मिक का ऐक्य

भारतीय चित्रकला का चरमोत्कर्ष गुप्तकाल में अजन्ता और बाघ में हुआ और गुप्तकालीन कलाभिरुचि का गम्भीर प्रभाव उसपर भी पड़ा। अजन्ता के चित्रकूट मानवीय भी हैं और दैवी भी। उनमें उपलब्ध पार्थिव और आत्मिक का सन्तुलन महायान योगाचार और नई कला-परम्पराओं के रूपनिर्माण एवं स्वीकरण से सम्भव हो सका तथा यही सन्तुलन अद्वितीय श्रेष्ठता का कारण है।

मानवीय कान्ति और भव्यता सम्बन्धी कालिदास की धारणाओं को निर्धारित करनेवाले अमूर्त सौंदर्य के साहित्यिक प्रतिमान ही अजन्ता के चित्रकूटों में उपस्थित पार्थिवता और ऐन्द्रियता के गुणों का निर्धारण भी करते हैं। नाटकीय अभिव्यंजकता द्वारा रूपों और गतिमानताओं का निर्धारण होता है तथा जीवन के अविरल प्रवाह पर यह धारणा हावी रहती है कि जीवन की प्रत्येक घटना मानवीय और दैवी साथ-साथ है। मानवीय लालसा और दुःख को तथा अपनी सहृदयता करुणा और संवेदना द्वारा मानवीय दुष्टताओं को विजित करनेवाले बोधिसत्व की कठिनतम परीक्षाओं के दृश्य महायान-दर्शन में संसार की प्रकृति और अवश्यंभाविता के—जिनसे मुक्ति पाने का मार्ग है बोधिसत्व की असीम प्रज्ञा और करुणा—प्रतीक हैं। इस प्रकार 'संसार' और 'निर्वाण' एक हैं तथा अजन्ता की कला के सारल्य कारुण्य और सम्मोहन की उपलब्धि महायान में निहित मानवात्मा की मंगल भावना के कारण हुई है।

अजन्ता के महान चित्रकूटों में से सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं अंधे साधु पति पत्नी तथा उनका बच्चा जो एक कोमल कारुण्य की अद्भुत भावना से भरे हैं सुकुमार मनमोहक राजकुमारी की मृत्यु का दृश्य जिसमें आसन्न मृत्यु का भय उसे आतंकित नहीं कर पा रहा है तथा उसकी युवती परिचारिकाएं स्तब्ध खड़ी हैं (शायद षड्दन्त जातक कथा की रानी जो दूसरी और तीसरी शताब्दी ईस्वी में अमरावती और गोली में जिसकी प्रतिमा बनाई गई थी) बुद्ध की ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् यशोधरा और राहुल की उनसे भेंट जो बुद्ध की आध्यात्मिक उच्चावस्था के प्रति उत्सुक और जागरूक दोनों हैं तथा राजा द्वारा एक सुन्दर स्त्री को दंड दिया जाना जो कांपती हुई बैठी उनके पांव छू रही है। घने वनों और हरे भरे घास के मैदानों राजदरबारों और वैभवपूर्ण प्रकोष्ठों साधुओं के आश्रमों और गृहस्थों के घरों सभी स्थानों पर प्रकृति और मानव जीवन के समस्त प्रवाह में एक अति चेतन जगत् की दीप्ति व्याप्त है, जिसके कारण संसार के कार्यों और उत्तेजनाओं सुखों और दुःखों में पारलौकिक मूल्यों की व्यवस्था और स्थायित्व का समावेश होता है। भित्ति चित्रों में विलक्षण ढंग से चित्रित सांसारिक सौंदर्य और सुख पर असंग द्वारा प्रस्थापित महायान योगाचार दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। [illegible] द्रष्टव्य है कि असंग कुछ समय तक अजन्ता के संघाराम में रहे थे और उन्होंने घोषणा की थी कि संसार स्वप्नों के स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नहीं है। केवल संसार ही नहीं किन्तु विचार भी क्षणिक है, स्वप्नों की एक निरन्तर शृंखला है। इतना ही नहीं सब कुछ का सार्वभौम अवचेतन आधार आलय-विज्ञान भी निरन्तर परिवर्तनशील है जन्मता और मरता है समस्त क्लेशों और

कार्यों को स्वयं में निहित रखता है और सचेतन प्राणियों को अस्तित्वहीन होने से बचाता है। सर्वत्राणकर्ता है बोधिसत्त्व जो हाथ में एक नीलकमल लिए हैं तथा (रूपात्मक और लाक्षणिक दोनों प्रकार से) सपूजन के केन्द्र में अवस्थित हैं। सिर का तनिक भव्य मुकाव *गति के लिए तनिक स्पन्दित शान्तमुद्रा तथा हाथ की उत्कृष्ट भंगिमा (जो हाथ के कमल* की लचीली नाल के समान है) संसार के प्रति बोधिसत्त्व की अथाह करुणा के प्रतीक हैं। महायान आराध्य की सर्वव्यापी करुणा और कोमलता ही समस्त सृष्टि को बोधिसत्त्व के पास वापस ला देती है ठीक उसी प्रकार जैसे भित्तिचित्र में मानव पशु और वनस्पति संसार के अनेकानेक रूपों को देखने के बाद दर्शक की आँखें विशाल प्रमुख आकृति पर ठहर जाती हैं। किन्तु गहरी गुफा के स्पन्दित प्रकाशान्धकार में मानव की दृष्टि संसार बोधिसत्त्व और उनकी श्यामा पत्नी अथवा 'शक्ति' (यह बौद्ध तान्त्रिकवाद के विकास का सूचक है) सभी अयथार्थ हैं ठीक उसी प्रकार जैसे आलय विज्ञान के गर्भ में *समय के स्पन्दन के साथ स्पन्दित अनुगमनशील और मरणशील अनेकानेक रूप भी अयथार्थ* हैं। बोधिसत्त्व पद्मपाणि में अजन्ता की कला अपने उच्चतम शिखर पर है। संसार की कला के इतिहास में इसकी तुलना केवल न्यूरेम्बर्ग की मैडोना से—गौथिक मूर्तिकला की श्रेष्ठ कृति जिसमें मानवाकृति को रैखिक संपुंजन में प्रतिपादित किया गया है तथा प्रतिपादन में अद्भुत सन्तुलन और संगति है—की जा सकती है। योगाचार विज्ञानवाद में बुद्ध और बोधिसत्त्व भी मायावी हैं। पद्मपाणि मानव के शारीरिक सौंदर्य का नहीं वरन् आध्यात्मिक और अमूर्त सौंदर्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है इसमें महायान के समस्त दर्शन तथा गुप्तकालीन कला की समस्त क्लासिकता का सार उपस्थित है तथा यही वह प्रेरणास्पद प्रत्यक्ष है जिसके आधार पर चीन जावा स्याम और कम्बोडिया में कुछ महानतम कलाकृतियाँ प्रस्तुत की गईं। चौथी और पाँचवीं शताब्दियों की गुप्तकालीन कला के सन्तुलन और क्लासिकता से प्रेरित एशियाई कला ऐन्द्रिय और कमनीय होते हुए *भी सन्तुलित और स्वच्छ है।*

गुप्त राय

गुप्त-साम्राज्य ने जिस विशिष्ट सांस्कृतिक आन्दोलन का सूत्रपात किया था वह गुप्त-साम्राज्य के विघटन अथवा हूणों के आक्रमणों के बावजूद न तो समाप्त हुआ और न रुका। वस्तुतः अनेक स्वाधीन राज्यों का उदय हुआ। ये राज्य उच्च संस्कृति के केन्द्र बन गए। अन्तर इतना हुआ कि संस्कृति बौद्ध न रहकर ब्राह्मण हो गई। थानेश्वर के वर्धनों कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों और गहड़वालों बंगाल के पालों तथा दक्षिण के चालुक्यों राष्ट्रकूटों और पल्लवों ने गुप्तकालीन संस्कृति और कला की उपलब्धियों को आगे बढ़ाया। मन्दसौर के शासक (५११ ई०) तथा मिहिरकुल के विजेता यशोधर्मन ने भारत में हूणों की शक्ति का अन्तिम रूप से विनाश कर दिया तथा ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में *महमूद गजनवी के आक्रमण हुए।* इन्हीं घटनाओं के बीच की शताब्दियों में भारत पर विदेशी आक्रमण नहीं हुए। सिंध पर अरबों ने अवश्य अधिकार कर लिया किन्तु यह एक स्थानीय महत्त्व की घटना थी और देश के लिए इसका राजनीतिक महत्त्व नगण्य था।

अतः गुप्तोत्तरकाल में एशिया में भारत की बौद्धिक और धार्मिक प्रभुता कायम रही। संसार के व्यापार और वाणिज्य में भी भारत आगे रहा। इस व्यापार के फलस्वरूप पश्चिम में रोमक साम्राज्य और पूर्व में पोस्तेन बेसेंटीज से सोना और चांदी भारत आते रहे। हर्ष और यशोवर्मन की अधीनता में महोदयश्री ललितादित्य और विनयादित्य के शासनकाल में काश्मीर तथा धर्मपाल के शासनकाल में पाटलिपुत्र एक सहिष्णु एवं समृद्धि शाली कला और संस्कृति के विख्यात केन्द्र बने। गुप्तोत्तरकाल की महान कलात्मक उपलब्धियां मूर्तिकला और एकाश्म-मन्दिर निर्माण पर आधारित थीं। सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियां अजन्ता और एलोरा (दक्षिण में) बादामी ऐहोल और पट्टदकल (सुदूर दक्षिण में) तथा मामल्लपुरम् (ब्यास की घाटी) में हैं। ये सब छठी शताब्दी ईस्वी तक की भारतीय पूर्व मध्यकालीन कला के नमूने हैं। सम्पूर्ण युग की विशेषताएं हैं देश के भीतर के संचार साधनों द्वारा कला में अभिनव उपक्रम तथा विकास पश्चिम में विघ्न समता होने के कारण भूमानवादी रोमक प्रभावों का पूर्ण बहिष्कार तथा भारत भूमि से सागर-पार के हिन्दू उपनिवेशों और राज्यों की ओर प्रवाहित संस्कृति और कला की एक विशाल प्रवाही धारा।

मध्ययुगीन ब्राह्मण कला मानवोपरि एवं विलक्षण

गुप्तकला में बौद्ध संस्कृति का चरमोत्कर्ष परिलक्षित है तो मध्ययुगीन कला में पौराणिक और तांत्रिक हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान। अजन्ता की क्लासिक बौद्धकला और एलोरा की मध्ययुगीन ब्राह्मणकला के पारस्परिक सुस्पष्ट विपर्यय में यह अन्तर साफ पता चलता है। अजन्ता की कला महायान बौद्धधर्म के दर्शन की भांति मौलिक सुस्पष्ट उदात्त और निर्मल है इसमें महायान-दर्शन की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है। एलोरा की कला पौराणिक और तांत्रिक हिन्दूधर्म के दर्शन की भांति मानवोपरि उत्तेजनापूर्ण विलक्षण एवं रूमानी है इसमें इस दर्शन की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। एलोरा की मायाविता और कल्पनात्मकता तांत्रिकधर्म की देन है। तांत्रिक धर्म में 'महामाया' को एकसाथ सम्मोहन और ज्ञान का प्रतीक माना गया है तथा 'महाशक्ति' मानव को ठगती भी है और पारलौकिक ज्ञानप्राप्ति का मार्ग भी प्रशस्त करती है। इन दोनों धारणाओं के विशाल मानवीय एवं मानवोपरि कृतियों के सृजन की पृष्ठभूमि में दैहिकता और विस्मय रहस्य मानवीय मांसल और अपार्थिव तत्त्व का उत्कृष्ट समन्वय है। अजन्ता में बौद्ध भारत शक्तिमान मानव तथा उसकी निर्वाण की नियति को पूजता है, जो ब्रह्मांड की सुव्यवस्था और संपत्ति से कहीं अधिक भव्य है। एलोरा (सातवीं-आठवीं शताब्दी) में ब्राह्मण भारत ईश्वर और शक्ति क्षमता और उद्वेग रहस्य और मानवोपरि का उपासक है किन्तु फिर भी जो कुछ मायावी पारलौकिक और अजय है वह मानव की ओजस्विता और महत्ता कला में उजागर होता है मानव का कल्पनाप्रवण भावनात्मक समग्र ब्रह्मांडीय प्रभंजना और नियति का ही एक अंग बन जाता है।

बौद्धकला मानवतावादी और सुस्पष्ट है तथा ब्राह्मणकला उद्वेगपूर्ण और रहस्यमय। फलतः बौद्धकला को ब्राह्मणकला की अपेक्षा अधिक आसानी से समझा जा

सकता है। ब्राह्मणकला में विश्व की संयोजना में मानव की प्रमुखता की बौद्ध धारणा को अस्वीकार करके समित तथा काव्यात्मक प्रतीकों द्वारा विश्वजनीन मानवोपरि मनोभावों और मूल्यों को व्यक्त किया गया है। सृजन और संहार आवेश और मुक्ति के अपार्थिव पक्ष ही मध्ययुगीन ब्राह्मणकला के मुख्य विषय हैं। प्रेम और करुणा की असीम कोमलता (जो सर्वत्र जीवन की सृष्टि करती है) तथा संहार की अबाधित उग्रता (जो सर्वत्र जीवन का पुनर्निर्माण और रूपान्तरण करती है) दोनों की सुखद अभिव्यक्ति ब्राह्मणकला में है। मध्ययुगीन मूर्तिकला में शिव गत्यात्मक उद्वेग अथवा परिवर्तन के तथा विष्णु व्यवस्था और स्थायित्व के प्रतीक हैं विश्व की भव्य लय के अनुकूल मानवात्मा में दोनों का ऐक्य अथवा समन्वय होता है। इसके साथ ही पार्वती काली और लक्ष्मी के रूपों में प्रकट होनेवाली माया देवताओं और मानवों दोनों में ज्ञान और अज्ञता की अपार्थिव शक्ति है। इस निष्पक्ष अपार्थिव सन्दर्भ में बुराई पर अच्छाई, अव्यवस्था और विघ्न बाधता पर ऐक्य और स्थायित्व तथा सृजन और सुख पर मौत और अपसरण की विजय का समावेश पुराण और तंत्र की कल्पना और काव्य ने किया है।

मूल स्वाराध्य देवों की दिव्य क्रिया

एलोरा के दशावतार मन्दिर में दैत्यों के विरुद्ध भयंकर संघर्ष में रत विशालकाय शिव भैरव की—*साथ में उनकी दोनों पत्नियाँ भयोत्पादक व घातककारी काली तथा* शोभामयी पार्वती भी हैं—प्रतिमा भारतीय मूर्तिकला के चमत्कारों में से एक है। ईश्वर के परित्राणक कारुण्य और प्रेम की ज्योति का दूसरा पक्ष है दुष्टता के संहार की अबाधित उग्रता जो प्रतिमा में व्यापक एवं भव्य विकर्ष आसन द्वारा अभिव्यक्त है। विभिन्न हाथों के विक्षेपों तथा क्षमा की भीख माँगते हुए दैत्य रत्नासुर को बेधनेवाले त्रिशूल के भरपूर कर्मवत् प्रहार से इस उग्रता में वृद्धि की है। आकृतियों का पूरा समूह जिसमें काली और पार्वती भी सम्मिलित हैं और गुफा-मन्दिर के भीतर जिन्हें देखा-भर जा सकता है एक अपार्थिव उद्वेग और शक्ति से प्रकम्पित है। इसी प्रकार, *शिव-नटराज* (जिनकी महिमा का वर्णन कालिदास ने 'मेघदूत' में किया है) चामुंडा अथवा काली के तांडव नृत्य (भवभूतिकृत 'मालतीमाधव' में वर्णित) रावण द्वारा कैलाश को डगमगाना तथा शिव द्वारा उसका मान-मर्दन (कई प्रकार से वर्णित) नृसिंह अवतार में विष्णु द्वारा हिरण्यकशिपु के वध तथा अनेकबाहु दुर्गा द्वारा महिषासुर का वध के प्रतिपादन विलक्षण हैं। इन सभी प्रतिमाओं में मानवीय गरिमा अभिमान आक्रोश और आत्मा की यंत्रणा से—जो सृजन की आयोजना में एक सुव्यवस्थित एकता की स्थापना के समय अनिवार्यत: उत्पन्न हो जाते हैं—अधिक कुछ और है। *कैलाश पर्वत को डगमगाते हुए रावण की* (वाल्मीकि से कालिदास तक कवियों ने इस विषय पर लिखा है) प्रतिमा में हम देखते हैं, मानवोपरि शक्ति के कोलाहल का प्रतीक शिव नहीं वरन् रावण है। उसके फैले हुए अनेक हाथों की असम्मिति ईश्वर के प्रशम के सम्मुख राक्षसी शक्ति की असमर्थता की प्रतीक है क्योंकि केवल अपने पैर के अंगूठे के बल शिव बड़ी सरलता और भव्यता से उसे रोक देते हैं। किन्तु कैलाश पर्वत के आन्दोलन से भयभीत होकर पार्वती अवश्य

अपने पति की बांह पकड़ लेती है। पार्वती की परिचारिका गुफा के भीतर भाग जाती है किन्तु बाईं ओर शिव का परिचारक सतर्क और शान्त बैठा रहता है। भारतीय मूर्तिकला में शायद ही कोई दूसरा उदाहरण हो जिसमें वास्तु की युक्तियों तथा गुफा के भीतर प्रकाश व अंधकार के प्रभाव द्वारा देवताओं दैत्यों और मानवों की विरोधी प्रवृत्तियों को इतनी कुशलतापूर्वक और स्पष्टत अंकित किया गया हो। इस प्रकार महत्त्वपूर्ण कथाओं और प्रतिमाओं में आध्यात्मिक धारणाओं और पारलौकिक मनोभावों को कल्पनाप्रवण ढंग से व्यक्त किया गया है। मूल स्वाराध्य देवों की अपार्थिव क्रिया (बिम्बक्रिया) व मानवात्मा की परस्पर-विरोधी असंगत प्रवृत्तियों और भावनाओं का निनाद है तथा (गीत्शे की रीति के अनुसार) मध्ययुगीन भारत द्वारा सार्वभौम उद्वेग और पीड़ा अशिव और अन्तर्दृष्टि की स्वीकृति निहित है।

एक ओर बादामी एलोरा और एलीफैन्टा तथा दूसरी ओर मामल्लपुरम् में—जहां 'गंगावतरण' की महान प्रतिमा है—आकृतियों के प्रतिपादन में बहुत अन्तर है। पश्चिमी और दक्षिणभारतीय दोनों मूर्तिकलाओं में प्रतिपाद्य विषय समान है, जिन्हें तत्कालीन है तथा विभिन्न पुराणों और तन्त्रों से—अथवा चौथी शताब्दी ईस्वी के बाद जिनका प्रभाव भारतीय दर्शन अत्यधिक रहा है—अनुस्यूत है। इसके बावजूद दोनों मूर्तिकलाओं में अन्तर है। पश्चिमी मूर्तिकला में शरीर और उसके अंग सघन और सुसम्पादित हैं तथा कहीं-कहीं पर मुकुट वस्त्रों और अस्त्रों को अत्यन्त श्रमपूर्वक अलंकृत किया गया है। इसके विपरीत दक्षिणभारतीय मूर्तिकला में वेतासम (फिर भी अनुशासित) तरंगीयता तथा एक कुछ-कुछ गीतात्मक शैली का मधुर रेखांकन है जो अमरावती कला-परम्परा की याद दिलाता है। दक्खन की मध्ययुगीन कला की विशेषताएं हैं वास्तुगत व्यवस्था में समन्वित शिव की लयात्मक लय और सुगठित रूपों की घनीभूत ओजस्विता। इन विशेषताओं ने गुफा-मूर्तिकला में प्रकाशान्धकार की सम्भावनाओं का पूरा लाभ उठाया है, वे विषयगीन अथवा पौराणिक विषय-वस्तुओं की शाश्वत प्रकृति के प्रति सत्यनिष्ठ भी हैं। किन्तु विषय वस्तु की भव्यता तथा प्रतिमाविद्या की परम्पराओं के बावजूद एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एलोरा और एलीफैन्टा की शिला-मूर्तिकला में मानवरूपों के प्रतिपादन में विलक्षण ओजस्विता है। यह ओजस्विता सांची अजन्ता और अमरावती में निरन्तर विकासशील जीवन की दैनिक पूर्णता से अनुस्यूत है। कैलाश और एलीफैन्टा में अनेक मुद्राओं में शिव और पार्वती की जीवनमय आकृतियों की स्फूर्ति के कारण है—सुगम्य कलाओं तथा व्यापकता और गुरुता का सन्तुलित सम्मिश्रण प्रस्तर की शान्तिमयता और बेडौल शिला से उत्सर्जित शक्ति का प्रवाह तथा कलात्मक ढंग से प्रयुक्त प्रकाश और अन्धकार की स्पन्दनशीलता।

एलीफैन्टा की महेश्वर प्रतिमा

पुष्योत्तर ब्राह्मण-पुनरुत्थान में अनेक स्तरों पर आर्यावर्त और दक्षिणापथ की संस्कृतियों के सम्मिलन को ग्रहण किया गया है। इसमें लिंगम् और योनि पशुपतिशक्ति और माता देवी के प्राचीन शिल्पीय मतों तथा योग की पवित्रता व अनुशासन और वेदान्त के

महोत्सव का परिपाक है। इसमें भरहुत माता और मानव-शरीर की दक्षिणी प्रज्ञा तथा उत्तरभारत की आत्मा की विदग्धता व परिष्कृति का ऐक्य है। एलीफेन्टा की उत्कृष्ट प्रतिमाएं विशेष रूप से आर्यावर्त और दक्षिणापथ की आध्यात्मिक व कलात्मक परम्पराओं के समन्वय की प्रतीक हैं। इनमें दक्षिणी रूपों की विशालता भारीपन और सतत सक्षमता (जिन्हें चट्टानों में काटी गई गुफाओं में वास्तुगत संतुलन के अनुरूप ह्रास किया गया है) के साथ आर्यावर्त के मन्दिरों की प्रतिमाओं के मार्दव उदात्तीकरण और सूक्ष्म बनावट को समन्वित किया गया है।

ऐसा मालूम होता है कि धर्मसंस्कृत जातियों विदेशियों और भारतीय आर्येतर जातियों के धार्मिक मतों आतुरताओं और सिद्धियों तथा उनके मूर्तता-और सम्बन्धी अन्तरों के चार हजार वर्ष महेश्वर की विलक्षण संयुक्त प्रतिमा में व्यक्त हैं। यह प्रतिमा परमात्मन् के तीन रूपों को प्रस्तुत करती है बीच में शान्त शिव-महेश्वर दाईं ओर कोपकी का मुकुट पहने भौंहे सिकोड़े अघोर भैरव तथा बाईं ओर मोहक आभूषणयुक्त उमा। इस प्रतिमा का सम्पूर्ण कलात्मक निर्माण उस युग में हुआ था जब भारत की समृद्ध गुफा मूर्तिकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंची थी। जिस प्रकार भारतीय दर्शन में सम्पूर्ण जीवन को सनातनत्व की पीठिका पर मायावी समझा जाता है उसी प्रकार इस प्रतिमा में सभी घटनाओं को मायावी समझा गया है तथा प्राचीन गुफा का अशोभित और धुंधला अंधकार इसका प्रतीक है। इस मायाविता की नाटकीय प्रभावशीलता को गुफा के भीतर प्रकाश व छाया का विपर्यय और अधिक बढ़ा देता है। गुप्तकालीन मूर्तिकला में चरम कलात्मक अभिव्यक्ति योग द्वारा प्राप्त मानव-मस्तिष्क की प्रांजलता व सौम्य की थी। इसके विपरीत दक्षिण की मूर्तिकला को भीतर जीवन और नियति में—जहां विश्व तथा प्राकृतिक दोनों प्रकार की रहस्यमय शक्तियां सतत गतिशील हैं—अधिक से अधिक गहराई में पहुंचकर सौम्य और प्रांजलता की प्राप्ति करनी है। दक्षिण की अधिक भव्य और गुरुतर प्रतिमाओं में मानव का समतुलन ब्रह्मांड की व्यवस्था और सन्तुलन का प्रतीक है तथा उसका उद्वेग किसी ब्रह्मांडीय दुर्घटना की मर्यादित उग्रता का। रूपविधान के मूल्यों की दृष्टि से दक्षिण की मूर्तिकला की विशेषताएं हैं ठोस शिला के गर्भ से प्रसूत कलात्मक पिंड में गत्यात्मक सन्तुलन सतत लय और उद्वेग का चरमोत्कर्ष पृथ्वी के शान्ति और एकत्र शक्ति तथा परिवेश की रहस्यात्मकता और मायाविता जो गुफाओं के भीतर प्रकाश और छाया के साथ स्पन्दित होती है।

प्रतिमाविद्या बनाम रूपात्मक मूल्य

मध्ययुग में 'शिल्प-शास्त्रों' में प्रतिमाविद्या के प्रतिमान नियत किए गए। ह्वेन सांग और ई-त्सिङ् दोनों ने लिखा है कि भारत में सामान्य शिक्षा और संस्कृति के आधार स्वरूप पांच विद्याओं के महान् शास्त्रों में से दूसरा शास्त्र 'शिल्पस्थानविद्या' है। किन्तु मामूली दृष्टिया के अतिरिक्त कहीं पर भी ये प्रतिमान मूर्तिकार की निरूपण-स्वतंत्रता में बाधक न थे, बल्कि पूज्य देवता के ध्यान में सहायक मात्र थे। दूसरी ओर, सामान्यजन का इनका पूर्ण ज्ञान था तथा इनके द्वारा एक सुसंस्कृत समाज में कला ध्यान और धार्मिक संस्कारों के बीच एक गहन अन्तरंगता स्थापित होती थी। इनके अतिरिक्त प्रतिमा

विद्या के इन प्रतिमानों पर वैष्णवधर्म और शैवधर्म के—जिन्हें एलोरा और एलीफैण्टा में अमरत्व प्रदान किया गया है—पौराणिक समन्वय का अत्यधिक प्रभाव था। एलोरा में कुषाणयुग के नागों के साथ प्राचीन यक्षियों के अतिरिक्त गुप्तकालीन मध्यदेश की नदी देवियों तथा शैव मूर्तियों के साथ वैष्णव मूर्तियाँ भी हैं। ये पक्षपातरहित ढंग से निर्मित हैं और इनमें असाधारण ओजस्विता एवं भव्यता है। इसी प्रकार एलीफैण्टा में शिव-महेश्वर की विशाल त्रिमूर्ति के बाईं ओर विष्णु का सम्मुख वैकुण्ठ है। मध्ययुगीन भारतीय मूर्ति कला में धार्मिक प्रतिमाविद्या पर कलात्मक मूर्तिकला-सम्बन्धी मूल्य हावी हैं। यह पौराणिक हिन्दूधर्म की समन्वयात्मक प्रकृति के कारण—जिसमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश की अविभाज्य त्रिमूर्ति की पूजा की जाती है और कालिदास के काव्यों में जिसका उत्कृष्ट कथन है—संभव हो सका है। मध्यकालीन मूर्तिकला की विलक्षण स्फूर्ति और ओजस्विता का रहस्य पौराणिक हिन्दूधर्म की यही समन्वयात्मक प्रकृति है।

अध्याय १४

तृतीय सुधार-युग

शांकर वेदान्त का उत्थान

शंकर की दिग्विजय और आध्यात्मिक दाय

आठवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के अन्तिम चरण में एक प्रतिभावान युवक ब्राह्मण-भिक्षु चिदम्बरम् से काश्मीर और काशी से केदारनाथ तक दार्शनिक दिग्विजय में संलग्न था "वह आता था देखता था और विजय कर लेता था। भारत में शास्त्रार्थों के इतिहास में शायद ही कभी ऐसा हुआ हो कि इतनी कम आयु होने पर भी इतने विद्वान किसी व्यक्ति ने अनेक धर्मशास्त्रों पुराणों और दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकांड पंडितों को इतनी सरलता से पराजित कर दिया हो। इस प्रकार तीसरे सुधार-युग का सूत्रपात हुआ। इसका उद्देश्य था केवल-अद्वैत का प्रतिपादन और प्रचार करना। यह पुरुषार्थी विद्वान दार्शनिक थे शंकर (७८८—८२० ईस्वी) जिन्होंने उपनिषदों द्वारा उद्भूत व्यापक आध्यात्मिक परम्परा के अनुकूल ही वेदान्त को विभिन्न प्रचलित दार्शनिक सम्प्रदायों के समन्वय और सम्मिश्रण का आधार प्रदान किया।

शंकर का अद्वैत वेदान्त महाभारत तथा मैत्री और श्वेताश्वतर उपनिषदों के वेदान्त से सर्वथा भिन्न है। इसका मूलभूत विचार है माया की धारणा। यह धारणा ऋग्वेद में आती है इन्द्र को अपनी माया के बल पर अनेक रूप धारण करते हुए दिखाया गया है। उपनिषदों में इस धारणा का आगे विकास हुआ। श्वेताश्वतर उपनिषद् में संसार की मायिक प्रकृति का वर्णन है और सभी जीवों के स्वामी को 'मायावी' कहा गया है। शंकर ने अपनी माया की धारणा का पूर्ण विकास गौडपाद की कारिका और अविद्या की बौद्धधारणा के आधार पर किया है। शंकर के अनुसार, संसार की उपस्थिति न केवल माया के कारण है वरन् वह स्वयं भी माया है। शंकर में किसी महान धर्मशास्त्री का तीक्ष्ण मस्तिष्क सच्चे दार्शनिक जैसी सहिष्णुता और बौद्धिक व्यापकता तथा सच्चे कवि जैसी कल्पना-प्रवणता का समन्वय था। शास्त्रार्थों में विशिष्टतम विजय प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें 'षण्मतस्थापनाचार्य' की पदवी मिली।

शंकर का जन्म मलाबार के कलादि नामक गांव में एक नम्बूदरी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् महान संन्यासी गुरु गोविन्दपाद से दीक्षा लेकर उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। योगी के रूप में उन्हें इतनी ख्याति मिली कि उनके गिर्द अनेक जनश्रुतियां चल पड़ीं। कहा जाने लगा कि शिव के आशीर्वादस्वरूप

उन्होंने धर्मधारण किया था तथा बचपन में ही वे सारी विद्याओं में पारंगत हो गए थे। कहा जाता है कि उनकी माँ को स्नान के लिए काफी दूर चलकर वेगवती नामक एक नदी तक जाना पड़ता था इसलिए उन्होंने नदी को ही बाध्य कर दिया कि वह माँ के घर के पास से बहा करे। गोविन्दाचार्य सातवीं शताब्दी के गौड़पाद के—जिन्होंने बौद्ध विज्ञानवाद और माध्यमिक सम्प्रदायों द्वारा विकसित कुछ महत्वपूर्ण आध्यात्मिक विचारों को धर्मशास्त्रों अथवा दैवी सन्देश का सहारा लिए बिना अद्वैतवाद में समन्वित किया था—शिष्य थे। गौड़पाद शायद बंगाल (गौड़) के निवासी थे। बंगाल के बौद्धिक वातावरण में बौद्धधर्म का अत्यधिक प्रभाव था यही कारण है कि गौड़पाद ने अनेक बौद्ध रूपकों और शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ विद्वान तो यहाँ तक सोचते हैं कि वे स्वयं बौद्ध थे। किन्तु कुल मिलाकर अधिकांश विद्वानों की सम्मति यही है कि एक बंगाल में जन्मे वेदान्ती ने बौद्धधर्म से स्वतन्त्र रहकर अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार हम पाते हैं कि शंकर की आध्यात्मिक परम्परा जिसके आदिस्रोत गौड़पाद थे तर्क एवं अपरोक्षानुभूति के समन्वय पर आधृत है।

गुप्तोत्तरकालीन युग की विशेषता थी कि विभिन्न पुराणों और तन्त्रों का प्रभाव अधिक व्यापक और गंभीर हो गया तथा आपसी मतभेदों को नजरअन्दाज करके संयुक्त होने की प्रवृत्ति इनमें उत्पन्न हुई। फिर भी ये ग्रन्थ जिनमें अक्सर सम्प्रदाय विशेष के आराध्यदेवों की महत्ता को जनसाधारण के सम्मुख अतिरंजित किया जाता था धर्म ग्रन्थों में निहित ज्ञान का सागर जन-सामान्य के लिए बहुत गहरा और पहुँच से बाहर था। साथ ही बौद्ध विद्वान अनेकानेक पीढ़ियों से प्राचीन धर्मग्रन्थों की व्याख्या करते आ रहे थे। ब्राह्मण-ज्ञान का नवनीत 'भगवद्गीता' है किन्तु वह भी जनसामान्य की दृष्टि से अपेक्षया अधिक गहन और अमविज्ञता में अनिश्चित है। अर्थात् उस काल में जन प्रचलित परिवर्तनधर्मी धर्मशास्त्रों पुराणों और दर्शन-सिद्धान्तों की जटिलता अद्भुत थी तान्त्रिक धर्म (बौद्ध सहज अथवा हिन्दू) ने उपासना को अनेकानेक विभिन्न विधियों को समाज में प्रचलित किया, फलस्वरूप विशृंखलता और अधिक हो गई।

हिन्दूधर्म का अभिनवीकरण

शंकराचार्य को एक महान काम—ब्राह्मणधर्म का नवीन एकीकरण एवं समन्वय—करना था। उनके 'ब्रह्मभाष्य' (२ २ २७) में लिखा है कि बौद्ध समस्त समाज को आन्दोलित कर रहे हैं (व्याकुलीकियते)। अधिकांशतः शंकर के ही प्रयत्नों का परिणाम था कि हिन्दूधर्म का अभिनवीकरण इस सीमा तक सफल हो सका कि वह लोक-प्रचलित बौद्ध दर्शन और जीवन प्रणाली पर भी हावी हो गया। सातवीं शताब्दी ईस्वी में ह्वेन त्सांग भारत आया था और तभी उसने पाया था कि भारत में बौद्धधर्म ह्रासोन्मुख है। वज्रयान के धर्मसंस्कारों तथा बौद्धविहारों और भिक्षुणी-मठों की अनैतिकता के कारण बौद्धधर्म लोगों की दृष्टि में गिर गया। अनुश्रुति है कि बौद्धधर्म की शुद्धता को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से नागार्जुन ने हजारों भिक्षु-भिक्षुणियों को निष्कासित कर

किया था। शून्य और अध्यात्मवाद के बौद्धसिद्धान्त जनसामान्य के उपयुक्त न थे और साथ ही उनमें जीवन के सामाजिक पक्ष की अवहेलना भी थी। शंकर ने गौडपाद के विख्यात कारिका सिद्धान्तों को और विस्तृत करके ब्रह्म की अद्वैतता का प्रतिपादन किया। शंकर का यह विचार महायान के विज्ञानवाद के समानान्तर था। शंकर के आध्यात्मिक पितामह महायान शून्यवाद के अत्यधिक निकट थे। गौडपाद अनुभवगम्य वस्तुओं तथा कारणत्व और परिवर्तन की यथार्थता को अस्वीकार करते हैं। मायिक संसार मस्तिष्क के तीव्र स्पन्दनों से निर्मित है वह अग्नि के उस चक्र (अलातचक्र) के समान है जो किसी जलती हुई लकड़ी को लगातार गोलाई में घुमाने पर बन जाता है। आनुभविक संसार की सत्ता केवल अविद्या के कारण है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(न किसीका नाश है, न उत्पत्ति है, न बन्धन है और न कोई साधक है न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त। यही परमार्थ है।) वेदान्त को बौद्ध विज्ञानवाद की विशुद्ध आत्मनिष्ठता से मुक्त करने का तथा ब्रह्म एवं जगत् (जो उनके अनुसार प्रत्यक्षदर्शी पर निर्भर नहीं है) दोनों को प्रतिष्ठित करने का श्रेय शंकर को ही है। अपनी 'उपदेश-साहस्री' में शंकर ने लिखा है

यो वेदालुप्तदृष्टित्वमात्मनोऽकर्तृतां तथा।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः॥

(जो ब्रह्मज्ञता के अभिमान को छोड़कर आत्मा के अलुप्तचैतन्यत्व तथा अकर्तृत्व को जानता है वही आत्मज्ञ है अन्य कोई नहीं।) राधाकृष्णन के अनुसार शंकर का अध्यात्म वाद नास्तिक है प्रमावादी नहीं। 'वे किसी वस्तु के सारतत्त्व तथा हमारे द्वारा उसकी प्रतीति को समानार्थी माननेवाले सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। आत्मतत्त्व आधारभूत सत्ता है ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि हमें उसकी प्रतीति होने पर ही वस्तु की सत्ता है। पश्चिमी विचारक अक्सर अद्वैत वेदान्त को निराशामूलक अमानवीय और निस्सार समझ लेते हैं पर वे बादरायण और शंकर के बुद्धिनाशक व तर्क-विनाशी विरोधाभासों के माध्यम से प्राप्त निर्मल मौन में निहित आत्मब्रह्म की महिमा को समझ नहीं पाते। और ब्रह्मवादी व्यवहारिक राम के चरमोत्कर्ष 'वेदों की सम्पूर्ण शिक्षा के सार' (वेदान्त) का अर्थ तो यही है।

ब्राह्मण-संस्कृति के सामने एक नया खतरा आ खड़ा हुआ था। मुसलमान लोग जबरदस्ती हिन्दुओं को मुसलमान बना रहे थे। शंकर को इस खतरे से भी लोहा लेना था। मलाबार-तट के अनेक हिन्दू कस्बों जैसे कौलम में मुसलमान व्यापारियों को बसे हुए लगभग सौ साल हो चुके थे और वे मप्पिल्ला नाम से जाने जाते थे और कोडंगलूर के अन्तिम मलाबारी शासक राजा चेरामन पेरुमल ने इस्लामधर्म स्वीकार कर लिया था। इस्लाम धर्म परिवर्तन लगातार जारी था। मस्जिदें खड़ी की जा रही थीं। दक्षिणभारत में मंत्रियों सेनानायकों और कर उगाहनेवाले किसानों के पदों पर नियुक्त मुसलमान नेता मस्जिद-निर्माण-कार्य में जोरशोर सहायक थे। इस प्रकार इस्लाम की शक्ति

बढ़ती जा रही थी और इसकी जड़ें जमती जा रही थीं। शंकर ने अवश्य अनुभव कर लिया होगा कि यह हिन्दू-संस्कृति के लिए कितना घातक है। समाचार के राजा का धर्म परिवर्तन एक रोमांचक और अप्रत्याशित घटना रही होगी।

हठवादी मीमांसादर्शन का विध्वंस

शंकर का प्रथम बौद्धिक संघर्ष बौद्धों अथवा जैनों के साथ नहीं वरन् मीमांसा दर्शन के प्रतिपादकों के साथ हुआ। इसकी संस्थापना जैमिनि ने की थी और शबर प्रभाकर व कुमारिल (सातवीं और आठवीं शताब्दी) के प्रभाव में इसका विकास हुआ। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में इस दर्शन का प्रभुत्व था। मीमांसादर्शन विशुद्ध कर्मकाण्ड है और इस विश्वास पर आधारित है कि शास्त्रों द्वारा व्यवस्थित कृत्या—जैसे यज्ञ हवन और दान—को करने तथा निषिद्ध कृत्यों—जैसे मद्यपान और परपीड़ा—से विरत रहने पर मानव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। बुद्ध की भांति महावीर शबरस्वामी और कुमारिल भी ईश्वर के विषय में मौन हैं। जीवन के प्रति मीमांसकों का दृष्टिकोण हठवादी है और वे मानव के दायित्वों पर बहुत जोर देते हैं। वैदिक संस्कारों के अनुसार मानवीय दायित्वों की दृष्टि से मानव का सम्बन्ध विश्वव्यापी जीवन विधान के साथ है। यह दर्शन सामाजिक दृष्टि से न्यायसंगत तो सिद्ध किया जा सकता था किन्तु गुप्तकालीन प्राचीनतर भागवत धर्म तथा गुप्तोत्तरकालीन पौराणिक ईश्वरवाद (जिसे तमिल आध्यात्मिक आन्दोलन से नया बल प्राप्त हुआ था) के लिए एक बड़ा खतरा भी था। मीमांसादर्शन के तत्कालीन प्रतिपादक मंडन मिश्र के साथ शंकर का अविस्मरणीय शास्त्रार्थ हुआ। इसी शास्त्रार्थ पर एक मूलभूत प्रश्न का निर्णय निर्भर था। आत्माविहीन कर्मकांड स्वयंपूर्ण धर्म अथवा अन्तरात्माविहीन दायित्वों और संस्कारों की व्यवस्था—भारत इनमें से किसे देशव्यापी धर्म के रूप में स्वीकार करेगा? शंकर की विजय हुई और गीता के अनुसार मिथ्याचार (जो सातवीं और आठवीं शताब्दियों में भारत में खूब प्रचलित था) तथा मन्दिर-पूजा से भारत की रक्षा हो गई। किन्तु इससे इतनी कटुता उत्पन्न हो गई कि मीमांसक शंकर को 'छद्मवेशी बौद्ध' कहने लगे।

शंकर ने वैदिक कर्तव्य-व्यवस्था और विशुद्ध ज्ञान की अभ्यर्थनों का समन्वय स्थापित किया है जिसका आधार यही नैतिक एवं आत्मिक विकास (अधिकारभेद) है। केवल कर्म ही मुक्ति का साधन नहीं है यह तो आत्मसंयम और आत्मबोध का सहायक है और इसलिए अप्रत्यक्ष एवं परोक्ष साधन (उपकारिका) है। मीमांसा के अनुसार केवल कर्म मुक्ति का साधन है और आज उसका महत्त्व अधिकांशतः उसके विवेचना एवं व्याख्या के तर्कसंगत विधान और मानदण्ड—अर्थात् बौद्धिक अनुशासन की विधि—के कारण है। शताब्दियों तक भारत के न्यायालयों में मीमांसकों का समावेश आवश्यक समझा जाता था। शंकर द्वारा ध्वस्त पूर्व मीमांसा का आरम्भ 'धर्मान्वेषण' से होता है किन्तु इसके विपरीत शंकर के दर्शन का आरम्भ 'ब्रह्मान्वेषण' से।

केवल अद्वैत का गम्भीर दार्शनिक समन्वय

शंकर के अनुसार उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता वेदान्त के त्रिगुण आधार हैं। अपने 'प्रस्थानत्रय' के सुविख्यात भाष्यों में शंकर ने भारत के समस्त तत्कालीन दार्शनिक सम्प्रदायों—सांख्य न्याय वैशेषिक पूर्व-मीमांसा पांचरात्र पाशुपत बौद्ध और जैन—के विचारों का विवेचन करके उन्हें अग्राह्य ठहराया। उन्होंने गौडपाद के माध्यम से बौद्ध और शैव धर्मों से महायान के विज्ञानवाद और शून्यवाद एवं पशुपत के स्पन्दवाद को अपने अनुसार ढालकर सम्मिलित कर लिया। शंकर के कई सिद्धान्त तो और भी प्राचीन हैं। दासगुप्त का कथन है 'बौद्धों ने व्याख्या के दुहरा मापदंड—पारमार्थिक सत्य एवं संवृत्ति सत्य—का उपयोग किया था तथा उनका अविद्या का सिद्धान्त भी शंकर के सिद्धान्त से अधिक भिन्न नहीं है। भर्तृहरि ने जगत् को ब्रह्म का परिणाम न मानकर विवर्त माना था। अध्यास का सिद्धान्त—अथवा आत्मतत्त्व पर अनात्मतत्त्व का मिथ्या आरोपण—सांख्य दर्शन की देन है। इन विभिन्न सिद्धान्तों का समन्वय ही शंकर का सिद्धान्त है जो भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वथा नवीन है। शंकर की आश्चर्यजनक सफलता का कारण है उनकी व्यापक बौद्धिकता प्रतिभा और उदारता। बौद्ध और शैव धर्मों की अनेक बातों को अग्राह्य मानकर भी उन्होंने उनके मुख्य सिद्धान्तों को सम्मिलित कर लिया फिर भी उनकी अद्वैत की धारणा सीधे उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों की सैद्धान्तिक परम्परा में थी। पद्मपुराण में लिखा है कि माया का सिद्धान्त असत्य और प्रच्छन्न बौद्धमत मात्र है। किन्तु यहाँ माया के गलत अर्थ लगाए गए हैं। वेदान्त के अनुसार अविद्या के कारण यथार्थ पर मिथ्या का आवरण ही माया है।

विवेकचूडामणि' शंकर का एक गंभीर दार्शनिक ग्रन्थ है। उसमें इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया गया है

यावद् भ्रान्तिस्तावदेवास्य सत्ता
मिथ्याज्ञानोज्जृम्भितस्य प्रमादात्।
रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव
भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत्॥

(जिस प्रकार भ्रम की स्थितिपर्यन्त ही रस्सी में सांप की प्रतीति होती है और भ्रम का नाश होने पर फिर सांप प्रतीत नहीं होता उसी प्रकार जब तक भ्रम है तभी तक प्रमादवश मिथ्या ज्ञान से प्रकट हुए इस—जीव भाव—की सत्ता है।) सीमा निर्धारक उपाधियों रहित आत्मा अविवेक अथवा भ्रम से परे है। नाम रूप कर्म धर्म गुण और विभाग ये सभी उपाधियां हैं। एक अन्य विख्यात ग्रंथ 'आत्मबोध' में शंकर का मत है

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यतः।
विद्यादैक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनो॥

तुम्ही आत्मब्रह्म हो यद्यपि स्वयं इस तथ्य को नहीं जानते। विख्यात धारणा 'नेति नेति' बृहदारण्यक उपनिषद् (२, ३ ६) से लिया गया है। कुछ महान वैदिक सूक्तियाँ हैं

[१] 'तत्त्वमसि' (सामवेद छान्दोग्य उपनिषद् ६ १० ३) [२] 'अयम् आत्मा ब्रह्म' (अथर्ववेद मांडूक्य उपनिषद् बृहदारण्यक उपनिषद् २ ५ १९) [३] 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऋग्वेद ऐतरेय उपनिषद् ५, ३) और [४] 'अहं ब्रह्मास्मि' (यजुर्वेद बृहदारण्यक उपनिषद् १, ४ २०)।

आत्मब्रह्म के ध्यान के लिए विभिन्न महावाक्यों और मंत्रों का चयन शंकर ने वेदों और उपनिषदों से किया है तब से देश के साधु और जनसामान्य सभी इन्हींका पालन करते आ रहे हैं। नवब्राह्मणवाद के नेता शंकर ने वैदिक सत्य के विशाल सागर में जिसकी गहराई को नापना सामान्य बुद्धि के व्यक्ति के लिए असम्भव है, डूबकर वेदान्ती ज्ञान के महावाक्यों को ढूंढ निकाला है।

ब्रह्म और जीव का ऐक्य

एक तथ्य द्रष्टव्य है। शंकर ने अपने केवल-अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में बौद्धदर्शन का खंडन अपेक्षया कम किया है अन्य प्रचलित दर्शनों का अधिक। वस्तुतः अपने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य में उन्होंने सांख्यदर्शन की अत्यधिक तीखी और विस्तृत आलोचना की है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, सभी सांसारिक विषय एक अद्वैत विश्वातीत किन्तु फिर सर्वव्यापी नियम (ऋत) की अभिव्यक्ति हैं इसीसे नाम और रूप का संसार उद्भूत है, तथा यही संसार में अन्तर्हित है और इसे चलाता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त पुरुष और प्रकृति के सांख्य द्वैतवाद को पीछे छोड़ देता है। सांख्य की दोनों आधारभूत धारणाओं—जीव द्रव्यों की अनेकता और प्रकृति (अथवा संसार) की द्रव्यवादिता—को वेदान्त में पूर्णतः अस्वीकार कर दिया गया है। वेदान्त के अनुसार, आत्मा एक ऐकान्तिक चरम निर्गुण और अनिर्वचनीय तत्त्व है वह 'ईश्वर' से भी जो सबसे बड़ा और सबसे सूक्ष्म भ्रम है, उच्चतर है। यहां पर शंकर और ऋग्वेद का मत समान है। आत्मा ही एकमात्र सत्य है चैतन्य उपाधिरहित परिमाणरहित, निर्गुण और असीम—चरम आनन्द—है। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' पर उनका विख्यात भाष्य अत्यन्त विस्तृत है इसके अन्त में आग्रह है कि ब्रह्म ज्ञाता अथवा ज्ञेय को नहीं जानता वह तो स्वयं विशुद्ध ज्ञान है ब्रह्म किसी वस्तु में आनन्द प्राप्त नहीं करता वह तो स्वयं विशुद्ध आनन्द है।

किन्तु अनेक पश्चिमी विचारकों के मतानुसार, उपनिषदों के अध्यात्म द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की अच्छ धारणा वास्तविक दर्शन नहीं है। मांडूक्य उपनिषद् तथा गौडपादकृत कारिका पर अपने भाष्य में शंकर ने दर्शन के उद्देश्य का स्वच्छ निरूपण किया है। मानव की तीन अवस्थाओं—जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्त—के समन्वय पर आधृत समस्त ज्ञान का निरूपण दर्शन में होता है। केवल जाग्रदवस्था पर आधारित दर्शन-प्रणालियां बहुमुखी और अन्तर्विरोधी हो जाती हैं। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं से परे एक चौथी, अथवा तुरीय विश्वातीत अवस्था भी है, जो सर्वोपरि, अमर और अपरिवर्तनशील—आत्मतत्त्व—है। शंकर ने इस चौथी अवस्था का आह्वान निम्न शब्दों में किया है

'तुरीय (माया के माध्यम से) समस्त ब्रह्मांड के साथ एकाकार होकर (जाग्रत अवस्था में) अविद्या और मोह के बल पर सुख की स्थूल वस्तुओं का अनुभव करता है

स्वप्नावस्था में स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित सूक्ष्म की सूक्ष्म वस्तुओं का जो उसके आन्तरिक अंगों द्वारा सत्ता प्राप्त करती है, अनुभव करता है सुषुप्तावस्था में (स्थूल एवं सूक्ष्म) सभी वस्तुओं को अपने भीतर समेट लेता है और इस प्रकार सभी भवों और अन्तरों से परे हो जाता है यही निर्गुण तुरीय हमारी रक्षा करे।

चैतन्य की चार अवस्थाओं—जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त और चौथी अथवा विश्वातीत—के सिद्धान्त का सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन गौडपादकृत 'कारिका' में है वेदान्त में इसे वह 'सीढ़ी' माना गया है जिसके द्वारा आत्मतत्त्व भ्रमोत्पादक विचारों भावनाओं और अनुभूतियों से ऊपर पहुँचकर अन्ततः महिमा-मण्डित हो उठता है। तभी— 'जीव आनन्दमय हो उठता है जो संसार के आरम्भ और अन्त का एकमात्र कारण है।" (शंकरकृत 'निर्वाणमंजरी')। चार अवस्थाओं का स्तरीकरण वास्तव में वेदान्तयोग की आत्मपरीक्षणात्मक मनोवैज्ञानिकता का सार है।

वेदान्तीय समाधि में मानव योगी के आनन्द का भी अनुभव नहीं करता क्योंकि मस्तिष्क आत्मब्रह्म से अलग नहीं होता और आनन्द शाश्वत है अपने सत्यस्वरूप को *सुषुप्तावस्था की अक्रियता अथवा विस्मृति या जाग्रदवस्था में बाह्य वस्तुओं के प्रति* आकर्षण या भौतिक आनन्द के प्रति लगाव से पहचानना मस्तिष्क का कार्य नहीं है उसे तो पूर्ण मौन में अनायास ऐसा करना चाहिए, जब वह किसी भी बाह्य वस्तु या क्रिया में नहीं उपस्थित रहता वरन् उसी प्रकार इस संसार के सभी गुणों और नामों में अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार करता है मस्तिष्क तब वायुरहित स्थान में रखे प्रकाश के समान हो जाता है (गौडपाद 'कारिका' ३ ४४–४६ पर शंकर की टीका)। यह अनुभूति अनिर्वचनीय और गहन आध्यात्मिक है। शांकर वेदान्त का अन्तिम सत्य यह है कि केवल एक इकाई है, जिसका नाम है जीव या ब्रह्म उनमें कोई भेद नहीं है।

आत्मतिरस्कार और आत्मोत्कर्ष का विरोधाभास

शांकर दर्शन में शंकर की वैयक्तिक अद्वैतवादिता के अतिरिक्त एक गहन आध्यात्मिक धारा भी प्रवाहित है जिसका उद्गम अद्वार और अलवार नामक प्रभावशाली दक्षिणभारतीय भक्तिमार्गी आन्दोलनों में है पाँचवीं शताब्दी के बाद इन आन्दोलनों की शक्ति लगातार बढ़ती गई थी और इनमें पाप, आत्मग्लानि वैयक्तिक उत्तरदायित्व तथा सबसे अधिक ईश्वर के सर्वव्यापकत्व एवं तुच्छ व निम्न जीवों के प्रति उद्धारक प्रेम पर अधिक जोर दिया गया है। विष्णु की स्तुति शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं

> "हे प्रभु जब कभी मैं द्वैत के अधीन नहीं भी होता तब भी
> सत्य यह है कि मैं तुम्हारा हूँ यह नहीं कि तुम मेरे हो
> लहरें सागर में निहित होती हैं,
> किन्तु सागर कभी लहरों में निहित नहीं होता।

दुर्गा देवी की स्तुति में प्रस्तुत अपने 'देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र' में वे कहते हैं —

> कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि ।
एवं ज्ञात्वा महादेवी यथायोग्यं तथा कुरु ॥

किन्तु शंकर मानवरूपधारी आराध्यदेव के पूजक नहीं हैं वे तो विश्वातीत, अज्ञेय परब्रह्म के उपासक हैं। उसीसे विश्व तथा ईश्वर दोनों का उद्भव होता है। अन्नपूर्णा की स्तुति शंकर इस प्रकार करते हैं

दृश्यादृश्यविभूतिवाहनकरी ब्रह्माण्डभाण्डोदरी
लीलानाटकसूत्रभेदनकरी विज्ञानदीपाङ्कुरी ।
श्रीविश्वेशमनःप्रसादनकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥
आदिक्षान्तसमस्तवर्णनिकरी शम्भुप्रिया शाङ्करी
काश्मीरत्रिपुरेश्वरी त्रिनयनी विश्वेश्वरी शर्वरी ।
स्वर्गद्वारकपाटपाटनकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥
उर्वीसर्वजनेश्वरी जयकरी माता कृपासागरी
नारीनीलसमानकुन्तलधरी नित्यान्नदानेश्वरी ।
साक्षान्मोक्षकरी सदा शुभकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥
देवी सर्वविचित्ररत्नरचिता दाक्षायणी सुन्दरी
वामा स्वादुपयोधरा प्रियकरी सौभाग्यमाहेश्वरी ।
भक्ताभीष्टकरी सदा शुभकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥

शंकर ने तांत्रिकवाद के गर्हित कर्मों और असंयम का परिष्कार किया तथा भैरवों, वाम-पन्थों, कापालिकों और पाशुपतों के वामाचार शाक्तधर्म के विरुद्ध समयाचार का समर्थन किया। शाक्तधर्म के एक प्रामाणिक ग्रन्थ 'प्रपंचसारतंत्र' की रचना शंकर ने की थी। यहां पर आद्य शक्ति की कल्पना भी अन्तर्हित परब्रह्म की कल्पना के समान महत्त्वपूर्ण है। शंकर को 'आनन्दलहरी' का रचयिता भी माना जाता है इसमें भक्ति की अत्यन्त प्रगाढ़ और सहज भावना से पूरित जगन्माता-स्तुति है। उन्होंने कर्मकाण्ड और मूर्तिपूजा दोनों का खंडन किया। अपनी कृति 'अपरोक्षानुभूति' में उन्होंने योग के प्रतिबंधित दावों को सुलझाया। सभी पदार्थों के प्रति तटस्थ भाव ही सर्वोत्तम योगस्थिति है। संसार के मिथ्यात्व का चिन्तन ही सर्वोत्तम प्राणायाम है। इंद्रियों से तादात्म्य की स्थापना ही सर्वोत्तम इंद्रिय-निग्रह है। पूर्ण निरपेक्ष सत्ता अथवा परब्रह्म की अनुभूति ही सर्वोच्च ध्यानस्थिति है। सब प्रकार की मानसिक क्रियाओं का पूर्ण निग्रह ही सर्वश्रेष्ठ समाधि अवस्था है। शंकर परात्परक अद्वैतवाद के परम समर्थक थे। अपने विरोधाभासी मस्तिष्कविनाशी सूत्रों द्वारा वे आत्मतत्त्व की इन्द्रियातीत तर्कातीत व वर्णनातीत महिमा एवं महत्ता की स्थापना करने में सफल हुए। विश्व के धर्मों के इतिहास में यह एक अद्वितीय उदाहरण है।

न मृत्युर्न शङ्का न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य
श्चिदानन्दरूप शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥
अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो
विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
न चासंगतं नैव मुक्तिर्न बन्ध
श्चिदानन्दरूप शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥ (निर्वाणषट्कम्)

शंकर की बहुमुखी प्रतिभा

शंकर में तत्त्वज्ञानी और रहस्यवादी धार्मिक तार्किक और कवि तथा नेता और समाज-सुधारक के गुणों का विरल समन्वय था इसी कारण वे ब्राह्मण-संस्कृति की पुन स्थापना जैसा अभूतपूर्व कार्य करने में सफल हुए। 'आनन्दलहरी' 'दक्षिणामूर्ति' 'शिव अपराधक्षमापन' 'हस्तामलक' और 'भजगोविन्दम्' जैसी कुछ स्तुतियों में आध्यात्मिक पीठिका के बावजूद अत्यधिक सौन्दर्य कोमलता और प्रवाहपूर्ण लय है। उनकी 'मोहमुद्गर' जिसके प्रत्येक पद पर अपभ्रंश काव्य का स्पष्ट प्रभाव है संस्कृत-साहित्य की सर्वोत्तम कविताओं में से एक है। नीचे इसीका एक अंश प्रस्तुत है भारत के हजारों व्यक्ति इसे जानते हैं

नलिनीदलगतजलमतितरलं
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ।
क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका ॥

आधुनिक भारत के अधिकांश बुद्धिजीवी अद्वैत वेदान्त के अनुयायी हैं वे शंकरकृत ब्रह्मसूत्रभाष्य को मानते हैं तथा ब्रह्मसूत्रों की धारणाओं और विरोधाभासों की पुष्टि आधुनिक भौतिकी गणित और अध्यात्मविद्या के परिणामों से करने को उत्सुक हैं।

युवक भिक्षु-विद्वान शंकर में व्यावहारिक ज्ञान और प्रशासनिक क्षमता भी थी। भारतीय धार्मिक इतिहास में पहली बार बौद्धों और जैनों के ही नमूने पर, शंकर ने ब्राह्मण मठवाद की नींव रखी भारत के विभिन्न भागों में—दक्षिण में शृंगेरी पूर्व में गोवर्धन पश्चिम में द्वारका और उत्तर में बद्रीनाथ—चार मठों की स्थापना की और सारे अधिकार इन्हींको सौंप दिए। उन्होंने संन्यासियों की दस श्रेणियां (दशनामी) बनाई और व्यवस्था की कि इनके अन्तर्गत उपर्युक्त चार मठों द्वारा समस्त भारतीय हिन्दू समाज पर धर्मानुशासन किया जाए। संन्यासियों का वर्गीकरण भी उनकी स्वानुभूति की कोटि के अनुसार चार वर्गों में किया गया—ब्रह्मचारी दण्डी परिव्राजक और परमहंस। साथ ही बौद्ध भिक्षुओं जैसा जातिभेद कर्मकाण्ड अथवा पुरोहितवाद उनमें न था। यह व्यवस्था आज भी देश में प्रचलित है। शंकर ने स्त्रियों को संन्यास का अधिकार न प्रदान करके बुद्ध की त्रुटि का परिमार्जन किया। जन-सामान्य के लिए शंकर ने उपदेश दिया कि सर्वकर्मफल-त्याग की भावना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति की दिशा में प्रारंभबिन्दु है

निस्संदेह ज्ञाननिष्ठ विद्वानों तथा अज्ञानियों दोनों के लिए सर्वकर्मफल-त्याग ही एक मात्र प्रशस्त मार्ग है (श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य १२ १२)। 'उपदेशसाहस्री' में शंकर ने जोर दिया है कि ब्रह्मज्ञान होने से पूर्व सभी कर्तव्य तथा कार्य निश्चयतः करने चाहिए। भगवद्गीता पर उनके भाष्य में सर्वकर्मफल-त्याग और साधुत्व को प्रथमम सन्यास से श्रेष्ठतर बताया गया है। अतः वैदिक जीवन प्रणाली के अनिवार्य अंग हैं—कठोर नैतिक अनुशासन तथा आत्माभिमानरहित कर्तव्यपालन। सत्य है मोक्ष ज्ञान विज्ञान व्यर्थ हैं। ओ मूर्ख तभी गोपाल की आराधना कर समय आने पर जब मृत्यु तेरे सामने खड़ी होगी तब पाणिनि के नियमों का उच्चार तेरा सहायक न हो सकेगा। यदि बत्तीस वर्ष की अल्प आयु म शंकर की अकालमृत्यु न हो गई होती तो उनके दसनामा सन्यासियों के प्रयत्नों द्वारा उपलब्ध भारत की आध्यात्मिक एकता आगे चलकर देश की राजनीतिक सामूहिक चेतना में बदल जाती और भारत मुसलमानों के आक्रमणों को विफल करने में सफल हो जाता।

भगिनी निवेदिता का कथन है पश्चिमी संसारवासी शंकराचार्य जैसे व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। उन्होंने केवल कुछ वर्षों के दौरान दस महान धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना की जिनमें से चार आज भी अपनी महिमा को अक्षुण्ण रखे हैं संस्कृत का इतना विशाल ज्ञान अर्जित किया कि एक पृथक दर्शन की नींव डाली और भारत के ज्ञानमंडल पर इतने उज्ज्वल नक्षत्र बनकर चमके कि बारह सौ वर्षों की अवधि बीतने पर भी उनकी उच्चस्थिति अक्षत है ऐसी कविताओं की रचना की जो अपने साहित्य के कारण विरोधी और अनभ्यस्त लोगों की भी समझ में आ जाती हैं इसके अतिरिक्त अपने शिष्यों के साथ सन्तों के समान निर्मल कान्ति और सहृदयता के साथ जीवन बिताया—इस महानता की स्तुति करते हुए भी हम इसे समझने म असमर्थ हैं। हमें असीसी के फांसिस की भक्ति अबेलार्ड की बुद्धि मार्टिन लूथर की अदम्य शक्ति और स्वाधीनता भावना तथा इग्नातियस लोयोला की राजनीतिक कुशलता पर आश्चर्य मिश्रित सुख होता है किन्तु इन सारी प्रतिभाओं को एक ही व्यक्ति में पाने की कल्पना कौन कर सकता था। बहुमुखी प्रतिभा के अतिरिक्त उनमें यौवनमय ओज और असीम उत्साह भी था यही कारण है कि उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करके पांडित्य धर्म प्रचारक और संगठनकर्ता तीनों के कार्य किए, शास्त्रार्थ किए, सिद्धान्त प्रतिपादन किया आलोचनाएं कीं तथा अपनी वचन प्रणाली की भव्यता एवं एक संगठित आध्यात्मिक भारत की कल्पना से सबको सम्मोहित किया।

वेदान्त का प्रभाव

यह संगठित भारत समान रूप से संन्यासियों और गृहस्थों शासनिकों और संसारी व्यक्तियों तथा ब्राह्मणों शूद्रों और स्त्रियों के लिए था। बुद्ध की अनेक शताब्दियों बाद शंकर ने जोर दिया कि ब्रह्मज्ञान का अधिकार शूद्रों और स्त्रियों को भी है उनके अनुसार वर्ण और आश्रम के कर्तव्य ब्रह्मज्ञान में बाधक नहीं हैं। पुष्योत्तरकाल में महाभारत और पुराणों को, जिन्हें अक्सर पांचवां वेद कहा जाता है शूद्रों और स्त्रियों

के लिए फिर से लिखा गया। किन्तु वैदिक ज्ञान के सन्दर्भ में शंकर ने अनेक उदाहरण (जैसे महाभारत के विदुर और धर्मव्याध तथा उपनिषदों की वाचक्नवी) देते हुए, शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति और विशेषाधिकारों की समानता पर जोर दिया। उन्होंने कहा प्रत्येक ज्ञानार्थी के लिए ज्ञान का द्वार उन्मुक्त है ज्ञान की शर्त केवल स्तुति है। शंकर के कट्टर प्रतिद्वन्द्वी रामानुज ने शंकर की भर्त्सना की कि उन्होंने आत्मब्रह्मज्ञान का अधिकार शूद्रों को भी प्रदान करके गलती की है। निम्नतम जातियों और स्त्रियों के अधिकारों तथा वर्ण के आध्यात्मिक सिद्धान्तों (जिसमें महत्त्व जन्म का नहीं वरन् आध्यात्मिक स्थिति का है) पर शंकर ने जोर दिया यह मात्र हमें अजीब-सा लगता है। इसका कारण केवल यही है कि रूढ़िवादी धर्मसम्प्रदायों के विरोधों और कुत्सित कार्यों के बावजूद शंकर ने जिस महान धर्मसुधार का सूत्रपात देश में किया था उसे मुसलमानों की विजय ने विफल कर दिया।

शांकर वेदान्त भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की एक महान उपलब्धि था क्योंकि इसमें शताब्दियों के बौद्ध दर्शन की उपपत्तियों—अविद्या शून्यता तथा संसार की मायिक प्रकृति के सिद्धान्तों—का समावेश था। शांकर वेदान्त से प्रेरणा पाकर, आगामी कई शताब्दियों तक केवल-अद्वैत के अद्वैतवाद और अध्यात्मवाद पर विशाल परिमाण में साहित्य लिखा जाता रहा ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दियों के बीच रामानुज मध्व निम्बार्क और वल्लभ के सम्प्रदायों का उदय हुआ जिनमें विभिन्न मतों में अद्वैत को स्वीकार किया गया था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के आध्यात्मिक दर्शनों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन वेदान्तसूत्रों के आधार पर शंकर की परिपाटी के अनुसार, किया जाता रहा। दक्षिण के वैष्णव और शैव मतों उत्तर-पूर्व में तांत्रिक और चैतन्य वैष्णव मतों तथा गुजरात से लेकर बंगाल तक उत्तरभारत में मध्ययुगीन रहस्य वादी मतों के दार्शनिक विकासों का आधार शंकर के आत्मब्रह्म-तादात्म्य तथा माया के सिद्धान्त थे। शिव और दुर्गा कृष्णगोपाल अथवा रामचन्द्र बासव अथवा विठोबा के पूजक अनेक रहस्यवादी और सन्त भारत के धार्मिक इतिहास में हुए हैं जो पूर्णरूपेण वेदान्ती भी हैं। बारहवीं शताब्दी में गगेश ने 'नव-न्याय' का प्रतिपादन किया इसमें तार्किक धारणाओं निर्णयों और निगमों की युक्तियुक्त परिभाषाएं और विवेचन दिए गए थे और शीघ्र ही समस्त भारत में इसका अध्ययन किया जाने लगा किन्तु यह स्वयं वेदान्त दर्शन पर आश्रित होकर रह गया। इस प्रकार, अद्वैत द्वैत विशिष्टाद्वैत शुद्धा द्वैत और भेदाभेद सभी के विस्तृत दार्शनिक विवेचन वेदान्त की दर्शन-प्रणाली के अनुकूल थे। यहां तक कि सम्पूर्ण अलंकारशास्त्र का आधार आनन्दरस से सम्बन्धित ज्ञान है और यह उपनिषदों तथा वेदान्तसूत्रों के ब्रह्मानन्द के समान था। शांकर वेदान्त का प्रभाव इतना व्यापक था। वेदान्त उच्चतम आध्यात्मिक उपलब्धि के महानतम भारतीय माध्यमों में से एक है। इसमें रूढ़िवादिता कर्मकाण्ड तथा सामाजिक व सत्तागत सदर्भों से सर्वथा मुक्त दर्शन तथा विश्वातीत अध्यात्म का समन्वय है इसके अतिरिक्त यह विशिष्ट पुस्तकों सन्तों और जातियों द्वारा उद्भूत मतों और धार्मिक विश्वासों की सीमाओं से सर्वथा मुक्त भी है।

अध्याय १५

तान्त्रिक समन्वय और उसकी विजय

वज्र से सहज और योग से करुणा तक

नारी-पूजन की प्राचीनता

यौन पूजा का भारत में अत्यन्त प्राचीन और अस्पष्ट इतिहास है। भूमध्यसागरीय क्षेत्र के समान सिन्धुघाटी में भी लिंगपूजक तथा मातृकापूजक सम्प्रदाय थे। हड़प्पा की एक देवी के गर्भ से निकले हुए कमल का पौधा तथा सिन्धु संस्कृति में सर्वत्रप्राप्य पुरुष और स्त्री के अंगों के प्रतीक वे साक्ष्य और परम्पराएं हैं जो आज भी तांत्रिक धर्मों में जीवित हैं। यौन पूजा के अतिरिक्त जादू-टोना भी जिन्होंने अथर्ववेद में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया है सिन्धु-सभ्यता की ही देन है। ऋग्वैदिक संस्कृति में अनेक देवियां उपलब्ध हैं जिनमें से प्रमुख हैं अदिति पृथ्वी और सरस्वती तथा सरस्वती की रूपान्तर इडा और भारती ये भारतीय आर्यों की महान मातृकाएं हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा में सरस्वती को माताओं और देवियों में सर्वोपरि माना गया है। ऋग्वेद का विख्यात देवीसूक्त जो पौराणिक शक्ति-उपासना का उद्गम है देवी मां के प्रति एक ऋचा है जिसमें देवी मां को ब्रह्म और वाक् कहा गया है। उपनिषदों और ब्राह्मणों के युग में उमा (बेबीलोनियाई अम्मा) तथा अम्बिका भवानी भद्रकाली और दुर्गा के नाम आते हैं। उमा-हैमवती ने ही इन्द्र को ब्रह्मज्ञान दिया था। महाभारत में उमा-हैमवती को सरस्वती और सावित्री के समान महादेवी अथवा महेश्वरी वेदों की माता तथा समस्त ज्ञान की स्रोतस्विनी कहा गया है।

बहुत प्राचीन समय से ही यौन पूजा को वैध और अवैध करके अलग-अलग देखा गया है। इसका प्रमाण हमें गुणाढ्य में मिलता है। उसने लगभग पहली शताब्दी ईसापूर्व में उज्जयिनी में तांत्रिक कर्मकाण्ड के अनुसार हुई महाकाल की पूजा का वर्णन किया है। इस समय तक उचित और अनुचित उपासनाओं में स्पष्ट अन्तर स्थापित हो चुका था। प्राचीन आगमग्रन्थों में वैध दक्षिणपंथी तांत्रिकवाद के सिद्धान्त निहित थे इन्हीं के आधार पर लगभग १० ईस्वी म अभिनवगुप्त ने अपनी कृति 'तन्त्रालोक' की रचना की। महायान बौद्धधर्म पर शुरू से ही शक्ति की उपासना का प्रभाव था। 'सद्धर्मपुण्डरीक' में धारणियों पर एक सम्पूर्ण अध्याय है जिसमें एक नारी देवी अथवा शक्ति का आह्वान है सूत्रों तथा उनके पाठकों की रक्षिकाओं के रूप म अर्धदेवियों का भी जिक्र है। धारणियों के चीनी भाषानुवाद का कार्य तीसरी शताब्दी ईस्वी में प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार, ब्राह्मणधर्म और

बौद्धधर्म दोनों को ही समान रूप से इस दीर्घकालीन पूजा-परम्परा ने प्रभावित किया। अनुमान है कि इस पूजा को व्यवस्थित और सुसंगठित रूप पहली बार बौद्ध गुह्यकल्प और गुह्य-समाजतन्त्रों में मिला, ये तान्त्रिक धर्म के प्राचीनतम ग्रंथ थे और इनकी रचना विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार दूसरी और तीसरी शताब्दी ईस्वी में हुई थी। महान महायान धर्माध्यक्ष असंग (चौथी शताब्दी ईस्वी) ने अपनी 'प्रज्ञापारमिता' में शक्ति की उपासनाओं की मूल धारणाओं को ही दुहराया है कहा है कि उपर्युक्त तान्त्रिक ग्रन्थ में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार शक्ति की उपासना करके प्रज्ञा विद्या अथवा शून्यता प्राप्त की जा सकती है। उनके 'महायान-सूत्रालंकार' में कई यौन-धार्मिक कृत्यों का जिक्र है। पृथक बौद्ध-परम्पराओं के अनुसार असंग अथवा नागार्जुन में से कोई एक वर्माभ्यास बौद्ध तान्त्रिकवाद का प्रथम व्याख्याता था उन्होंने क्रमशः तुषित हीवेन के मैत्रेय अथवा बुद्ध वैरोचन से प्रेरणा पाई थी।

गुप्तकाल में शक्ति-उपासना की लोकप्रियता

तान्त्रिकवाद के विकास पर गुप्तकाल का जिसमें स्पष्टीकरण और समन्वय की प्रक्रियाएं उत्कर्ष पर थीं अगाध प्रभाव पड़ा। पुराणों से स्पष्ट है कि ब्राह्मणधर्म के अन्तर्गत देवताओं के अतिरिक्त देवियों की संख्या में भी अतिशय वृद्धि हुई इसका आधार था निर्गुण ब्रह्म का लिंगों में वस्तुनिर्वैज्ञानिक विभाजन—पुरुष और प्रकृति ब्रह्म और माया शक्ति। गुप्तकाल में सांख्यदर्शन की पुरुष और प्रकृति तथा वेदान्तदर्शन की ब्रह्म और माया सम्बन्धी लिंगीय द्विक्-रचना को तान्त्रिकवाद का आधार बनाकर पुराणों और तन्त्रों का समन्वय स्थापित हुआ शिव और शक्ति का कार्य पुरुष और प्रकृति के कार्य के समान है।

प्राचीन ब्राह्मणदर्शन में प्रकृति अथवा माया शक्ति है—ब्रह्म अथवा पुरुष की शक्ति। इसलिए सभी संसारी देवता मात्र नारी-शक्ति अथवा देवी के समक्ष नत हैं। कालिका पुराण में शिव तक को ब्रह्मा की यही सलाह है कि शिव-मोक्षार्थ उन्हें विवाह कर लेना चाहिए। रघुवंश के मंगलाचरण में तान्त्रिक संस्कृति की मूल धारणा—ब्रह्माण्ड के सर्जक शिव और पार्वती तथा द्वैत में एकता की अभिन्नता—अभिव्यक्त है ब्रह्म की तरह शक्ति भी विरोधी गुणों का समन्वय स्थापित करने में समर्थ है। भगवद्गीता में परब्रह्म को बीजधारी तथा शक्ति को विश्व जननी कहा गया है।

गुप्तकाल में दुर्गा की पूजा अनेक नामों के अन्तर्गत की जाती थी—अम्बिका महिषासुरमर्दिनी कात्यायनी पार्वती गौरी भवानी भगवती अथवा मात्र देवी। एक गुप्तकालीन शिलाभिलेख (क्रमांक १०) में मातृपूजा के लिए एक मन्दिर के निर्माण की बात लिखी है 'यह एक अत्यन्त भयानक स्थान है जहां डाकिनियों का आवास है ये खुशी से अट्टहास करती हैं तथा तान्त्रिक कर्मकाण्डों के फलस्वरूप उठनेवाली तेज हवाओं से समुद्र तक को हिला सकती हैं। कुनमाह् भवभूति और बाण के उल्लेखों से स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी ईस्वी के बाद तान्त्रिक उपासना—तथा तत्-भाव विकसित भैरव और भैरवी सम्प्रदायों—का प्रचलन उत्तर भारत में खूब हो गया फिर भी कला और मूर्ति

कला के क्षेत्र में पुरानी परम्पराओं का ही प्राधान्य रहा। शक्ति-उपासना के आदिस्थान बंगाल तक में कला और मूर्तिकला पर तान्त्रिकवाद का प्रभाव उत्तरगुप्त तथा पाल और सेन कालों में पड़ चला। इसी सन्दर्भ में एक घटना का स्मरण होता है। गया के मैदान में अपनी यात्राओं के दौरान एक बार ह्वेनसांग दुर्गा की प्रतिमा के सम्मुख बलि होते-होते बचा था।

देवीपुराण–जिसकी रचना आर० सी० हाजरा के अनुसार 'सातवीं शताब्दी ई० के अन्त में या आठवीं शताब्दी के शुरू में हुई थी' –ब्राह्मण शाक्त धर्म का प्रधान ग्रन्थ है। इसका दुर्गा सप्तशती अथवा चण्डी खंड तो देवी के भक्तों के लिए अत्यन्त पवित्र है। देवी पुराण में अक्सर तन्त्रों और आगमों का तथा अपने ढंग से मातृपूजा करनेवाले पाषण्ड (अर्थात् तान्त्रिक) शूद्रों का जिक्र आता है। इसमें दक्षिणपंथी और वामपंथी अनुयायियों में अन्तर बताया गया है। वामपंथियों के गढ़ राढ़ और वरेन्द्र (बंगाल) कामरूप और कामाख्या (असम) भोट्टदेश (तिब्बत) आदि हैं। देवी पुराण में उल्लिखित कुछ स्थानों के नामों से पता चलता है कि उसकी रचना बंगाल में हुई थी। द्रष्टव्य है कि इस पुराण में पुक्कसों चांडालों तथा अन्य अस्पृश्य जातियों को देवी की पूजा का अधिकार प्रदान किया गया है तथा धर्मनिष्ठ शूद्र को उच्चतर जातियों के अकर्मण्य लोगों से श्रेष्ठतर माना है। इससे महाभारत के परिशिष्ट हरिवंश के कथन की पुष्टि होती है कि दुर्गा की उपासना मांस मदिरा की अभ्यस्त शबर, बर्बर व पुलिन्द जैसी असभ्य जातियां करती थीं। कादम्बरी में भी लिखा है कि दुर्गा की उपासना शबर करते थे। आठवीं शताब्दी ईसवी के प्राकृत ग्रन्थ 'गौडवहो' में विन्ध्याचल की शबर जाति द्वारा पूजित देवी पर्ण-शबरी का उल्लेख है। गुजरात में गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाएं मिली हैं जिनमें पार्वती को शबर-कन्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है—सिर पर पत्तियों का मुकुट है और कमर के गिर्द सिंहचर्म। देवी पुराण में अनेक अवसरों के लिए विवाहिता स्त्रियों अथवा कन्याओं के देवीरूप में पूजन तथा मांस-मदिरा के सेवन की व्यवस्था है।

उपासना की तान्त्रिक विधि जल्दी ही हिन्दूधर्म के विभिन्न मतों द्वारा स्वीकार कर ली गई। इस प्रकार कम से कम पांच हिन्दू मतों का तान्त्रिकवाद मौजूद है—शैव तान्त्रिकवाद शाक्त तान्त्रिकवाद वैष्णव तान्त्रिकवाद, सौर तान्त्रिकवाद तथा गाणपत्य तान्त्रिकवाद। इन सभी पर आकर वेदान्त (जिसमें ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप माना गया है) तथा तान्त्रिक मनोवैज्ञानिक-शारीरिक अनुशासन सूत्रों और विधियों का समान प्रभाव है। मन्त्र यन्त्र चक्र न्यास मुद्रा दीक्षा भूतशुद्धि और मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा जैसी तान्त्रिक विधियां क्रमश विभिन्न ब्राह्मण धार्मिक मतों में भी—जिनमें पांचरात्र वैष्णव मत और आगम शैव मत भी सम्मिलित थे—प्रविष्ट हो गईं।

बौद्ध महायान और वज्रयान में शक्तियां

बौद्धदर्शन के अन्तर्गत शक्ति की उपासना का निश्चित आरम्भ महायान के विकास के साथ हुआ। तारानाथ ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि तन्त्र और तान्त्रिक रहस्य वादी और गुप्त वे विन्दु थे महायान बौद्ध धर्माध्यक्ष नागार्जुन के समय से चले आ रहे

थे। ह्वेनसांङ् ने नालन्दा-विहार में तारा और हारीति जैसी महायान देवियों की उपासना की बात लिखी है। उसी युग की अन्य महायान देवियों—जैसे प्रज्ञापारमिता वसुधारा और वागीश्वरी—की मूर्तियां भी नालन्दा में प्राप्त हुई हैं। साथ ही तारा, मारीची वसुधारा और सरस्वती की प्रारम्भिक प्रतिमाएं भी मिली हैं—तारा की प्रतिमाएं आसनस्थ और खड़ी हुई दोनों हैं। चतुर्मुखी तारा की एक प्रतिमा (जिसमें आभूषणों को अत्यन्त बारीकी से उकेरा गया है) तो अतिशय सुन्दर है। तारा और प्रज्ञापारमिता की उपासना का आरम्भ महायान बौद्धधर्म के अन्तर्गत एक नये मत वज्रयान के उदय के साथ हुआ। वज्रयान का उदय निम्न ढंग से हुआ। गुह्य समाज तन्त्र (दूसरी-तीसरी शताब्दी ईस्वी) के अनुसार, बुद्ध ने स्वयं को पांच ध्यानी बुद्धों में परिवर्तित कर लिया जिनमें से प्रत्येक की अपनी शक्ति, प्रज्ञा अथवा विद्या थी। इस प्रकार अक्षोभ्य और लोचना वैरोचन और तारा रत्नकेतु और मामकी अमिताभ और पांडरा तथा अमोघवज्र और आर्यतारा हैं। इस बौद्धतन्त्र में प्रत्येक ध्यानी बुद्ध-शक्ति की उपासना के लिए विशिष्ट मन्त्र मुद्रा मंडल आदि दिए गए हैं ताकि मानव शून्य की उपलब्धि कर सके—यहां मायिक संसार, समस्त सुख-साधन तथा सुख स्वयं पूर्णतः अस्तित्वहीन हो जाते हैं। शून्य को ही 'वज्र' कहा गया है क्योंकि वह वज्र की भांति दृढ़, अभेद्य अविभाज्य और अमर है। इसीलिए नई व्यवस्था का नाम वज्रयान पड़ गया। शून्य और करुणा के सम्मिलन से बोधिचित्त बनता है। उनके मद्रय का प्रतीक हेरुक और प्रज्ञा नामक वज्रयान इष्टदेवों का यब-युम आसन अथवा युगनद्ध का परस्पर आलिंगन है।

वज्रयान के शून्य और माध्यमिक अथवा योगाचार-सम्प्रदायों के शून्य में अन्तर है। वज्रयान के शून्य में शून्य विज्ञान और महासुख नामक तीन तत्त्व निहित हैं। यही कारण है कि हिन्दूधर्म के साथ पुनर्मिलन अब अधिक सरल हो गया क्योंकि गुप्त और गुप्तोत्तर काल ने धार्मिक औदार्य और समन्वय के फलस्वरूप इस प्रकार के पुनर्मिलन की नींव पहले से तैयार हो चुकी थी।

पालवंश के अन्तर्गत तांत्रिक पुनरुत्थान

सातवीं और आठवीं शताब्दियों के दौरान धर्मपाल (७७०—८१०) और देवपाल (८१ —८५०) के दीर्घ शासनकालों में पूर्वी भारत में संस्कृति और कला का बौद्ध पुनरुत्थान हुआ। इन्हीं शताब्दियों में नालन्दा में निम्न नवीन इष्टदेवियों की पूजा शुरू हुई अपराजिता वज्र-धारवा भर्तास्सी वराली वराली वराहमुखी तारा व पर्णशवरी। इसी काल के तांत्रिक इष्टदेव थे वज्रसत्व मंजुवर अथवा मंजुघोष अमास्तक त्रैलोक्य विजय हेरुक जम्भल और मारीची। इन्हीं शताब्दियों के दौरान बौद्ध मठों तथा अन्य विद्यापीठों में उद्भूत वज्रयान तांत्रिकवाद ने तिब्बत को भी प्रभावित किया और तिब्बती संस्कृति और धर्म को एकदम बदल दिया। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रभाव शान्तरक्षित (७०५—७६२ ईस्वी) का पड़ा। वे बंगाल के एक प्रकाण्ड विद्वान और नालन्दा विहार के प्रधानाचार्य थे। उन्होंने 'तत्त्वसंग्रह' की रचना की। यह पुस्तक संस्कृत और तिब्बती दोनों भाषाओं में उपलब्ध है तथा इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने हिन्दू और बौद्ध दर्शन

मनीषियों का गहन अध्ययन किया था और उनमें अद्भुत विवेक था। वे कई अन्य महत्वपूर्ण वज्रयान-ग्रन्थों के रचयिता भी थे। राजा ठी सोंग-दे-त्सन के आमन्त्रण पर वे तिब्बत गए और तेरह वर्ष तक वहीं रहे इस अवधि में उन्होंने विख्यात ओदन्तपुरी विहार के नमूने पर प्रथम तिब्बती विहार का निर्माण स्साम-या नामक स्थान पर कराया। उन्होंने तथा उनके दो शिष्यों—कमलशील और पद्मसम्भव—ने अनेक बौद्ध धर्मग्रन्थों को तिब्बती भाषा में अनूदित किया। शान्तरक्षित अपने पीछे आध्यात्मिक गुरुओं और शिष्यों की एक लम्बी परम्परा छोड़ गए, कोर्डियर की तांजुर नामावली में उनके नाम हैं। पद्मसंभव अथवा पद्मवज्र अनंगवज्र इन्द्रभूति लक्ष्मींकरा लीलावज्र, दारिक सहज योगिनी चिन्ता और डोम्बी हेरुक। तिब्बत में बौद्ध तांत्रिकवाद की स्थापना करने वाले वज्र और सहज के अनेक आचार्य बंगाल निवासी थे, वे सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और आठवीं शताब्दी में जीवित थे। इसी अवधि में बंगाल असम नेपाल और तिब्बत के बीच प्रगाढ़ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अन्तरंगता का सूत्रपात हुआ यह अन्तरंगता बारहवीं शताब्दी के अन्त तक कायम रही।

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब पूर्वी बंगाल में चन्द्रवंश का शासन था तथा ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में वज्रयान परोक्ष महायान पर हावी हो गया तथा लोकनाथ अथवा सिंहनाद लोकेश्वर के अनेक रूपों हेरुक और जम्भल और तारा (श्यामा अथवा खदिरवणी वज्र और भृकुटी) एकजटा मारीची (अशोककान्ता), प्रज्ञा पारमिता वागीश्वरी चुंडा उष्णीषविजया महाप्रतिसारा पर्णशबरी हारीति तथा अन्य शक्तियों की पूजा की जाने लगी। बंगाल के महान बौद्ध विहारों—मोदन्तपुरी सोमपुर और विक्रमशील—में जिनका सम्बन्ध नेपाल और तिब्बत के साथ था तांत्रिक ग्रन्थों का अध्ययन किया जाने लगा और विश्लेषण किया जाने लगा तथा तांत्रिक इष्टदेवों की पूजा होने लगी। इन सारी बातों का स्पष्ट संकेत था कि संस्कारित धर्म-सम्प्रदाय का समय आ गया है।

बौद्धधर्म का ह्रास और सहज का उदय

अब हम धार्मिक विकास की ऐसी अवस्था में—जिसमें वज्रयान और सहजयान का समन्वय हुआ—प्रवेश करते हैं जो अव्यवस्थित और अस्पष्ट होते हुए भी अत्यधिक रोचक है। इस अवस्था के अनुशीलन के बिना भारत से बौद्धधर्म के विलोप को समझा ही नहीं जा सकता। बौद्धधर्म के सन्दर्भ में, वज्रयान के विकास का अर्थ था महायान सर्वास्तिवाद, योगाचार, माध्यमिक तथा अन्य सम्प्रदायों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों की तुलना में अपरोक्ष ज्ञानवाद और रहस्यवाद की प्राथमिकता एवं विभिन्न तांत्रिक योगविधियों का समन्वय। विकास की अगली अवस्था में और परिवर्तन हुए। वज्रयान की इष्टपूजा और कर्मकांड के स्थान पर सहज यौगिक ध्यान का महत्त्व स्थापित हुआ तथा आन्तरिक यौगिक अनुभूति के दृष्टिकोण से वज्रयान की मुद्रा मन्त्र तथा धर्म के अन्य बाह्य रूपों की व्याख्या की जाने लगी। यह तांत्रिकवाद की पूर्ण विजय थी और सुविधानुसार इसे हिन्दू अथवा बौद्ध तांत्रिकवाद कहा गया तथा इसका वर्णीय नाम 'सहज सिद्धि' पड़ गया कारण परम शून्य (नैरात्म्य) और महासुख के योग-स्तर पर बौद्ध महायान अथवा वज्रयान तथा

थे। ह्वेनसांग ने नालन्दा-बिहार में तारा और हारीति जैसी महायान देवियों की उपासना की बात लिखी है। उसी युग की अन्य महायान देवियों—जैसे प्रज्ञापारमिता वसुधारा और वागीश्वरी—की मूर्तियां भी नालन्दा में प्राप्त हुई हैं। साथ ही तारा मारीची वसुधारा और सरस्वती की आरम्भिक प्रतिमाएं भी मिली हैं—तारा की प्रतिमाएं आसनस्थ और खड़ी हुई दोनों हैं। चतुर्मुखी तारा की एक प्रतिमा (जिसमें आभूषणों को अत्यन्त बारीकी से उकेरा गया है) तो अतिशय सुन्दर है। तारा और प्रज्ञापारमिता की उपासना का आरम्भ महायान बौद्धधर्म के अन्तर्गत एक नये मत वज्रयान के उदय के साथ हुआ। वज्रयान का उदय निम्न ढंग से हुआ। गुह्य समाज तन्त्र (दूसरी-तीसरी शताब्दी ईस्वी) के अनुसार, बुद्ध ने स्वयं को पांच ध्यानी बुद्धों में परिवर्तित कर लिया जिनमें से प्रत्येक की अपनी शक्ति प्रज्ञा अथवा विद्या थी। इस प्रकार अक्षोभ्य और लोचना वैरोचन और तारा रत्नकेतु और मामकी अमिताभ और पांडरा तथा अमोघवज्र और आर्यतारा हैं। इस बौद्धतन्त्र में प्रत्येक ध्यानी बुद्ध-शक्ति की उपासना के लिए विशिष्ट मन्त्र मुद्रा मंडल आदि दिए गए हैं ताकि मानव शून्य की उपलब्धि कर सके—जहां मानिक *विकार, समस्त गुण-साधन तथा गुण स्वयं पूर्णत अस्तित्वहीन हो जाते हैं। शून्य को ही* 'वज्र' कहा गया है, क्योंकि वह वज्र की भांति दृढ़ अभेद्य अविनाश्य और अमर है। इसीलिए नई व्यवस्था का नाम वज्रयान पड़ गया। शून्य और करुणा के सम्मिलन से बोधिचित्त बनता है। उनके अद्वय का प्रतीक हेरुक और प्रज्ञा नामक वज्रयान इष्टदेवों का यब-युम आसन अथवा युगनद्ध का परस्पर आलिंगन है।

वज्रयान के शून्य और माध्यमिक अथवा योगाचार-सम्प्रदायों के शून्य में अन्तर है। वज्रयान के शून्य में शून्य विज्ञान और महासुख नामक तीन तत्त्व निहित हैं। यही कारण है कि हिन्दूधर्म के साथ पुनर्मिलन अब अधिक सरल हो गया क्योंकि गुप्त और गुप्तोत्तर काल के धार्मिक औदार्य और समन्वय के फलस्वरूप इस प्रकार के पुनर्मिलन की नींव पहले ही तैयार हो चुकी थी।

पालवंश के अन्तर्गत तांत्रिक पुनरुत्थान

सातवीं और आठवीं शताब्दियों के दौरान धर्मपाल (७७०—८१०) और देवपाल (८१—८५) के दीर्घ शासनकालों में पूर्वी भारत में संस्कृति और कला का बौद्ध पुनरुत्थान हुआ। इन्हीं शताब्दियों में नालन्दा में निम्न नवीन इष्टदेवियों की पूजा शुरू हुई अपराजिता वज्र-शारदा वर्ताल्मी मदाली वराली वाराहमुखी तारा व पर्णशबरी। इसी काल के तांत्रिक इष्टदेव थे वज्रक्रमि मंजुवर अथवा मंजुघोष यमान्तक त्रैलोक्य विजय हुरुक जम्भल और मारीची। इन्हीं शताब्दियों के दौरान बौद्ध मठों तथा अन्य *विद्यापीठों में उद्भूत वज्रयान तांत्रिकवाद ने तिब्बत को भी प्रभावित किया और तिब्बती* संस्कृति और धर्म को एकदम बदल दिया। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रभाव शान्तरक्षित (७०६—७६२ ईस्वी) का पड़ा। वे बंगाल के एक प्रकाण्ड विद्वान और नालन्दा बिहार के प्रधानाचार्य थे। उन्होंने 'तत्त्वसंग्रह' की रचना की। यह पुस्तक संस्कृत और तिब्बती दोनों भाषाओं में उपलब्ध है तथा इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने हिन्दू और बौद्ध दर्शन

प्रणालियों का गहन अध्ययन किया था और उनमें अद्भुत विवेक था। वे कई ग्रन्थ
महत्त्वपूर्ण वज्रयान-ग्रन्थों के रचयिता भी थे। राजा ठी-स्रोंग-ल्दे-त्सन के आमन्त्रण पर
वे तिब्बत गए और तेरह वर्ष तक वहीं रहे। इस अवधि में उन्होंने विख्यात ओदन्तपुरी
विहार के नमूने पर प्रथम तिब्बती विहार का निर्माण ब्साम-या नामक स्थान पर कराया।
उन्होंने तथा उनके दो शिष्यों—कमलशील और पद्मसंभव—ने अनेक बौद्ध धर्मग्रन्थों को
तिब्बती भाषा में अनूदित किया। शान्तरक्षित अपने पीछे आध्यात्मिक गुरुओं और शिष्यों
की एक लम्बी परम्परा छोड़ गए। कोर्डियर की तांजुर नामावली में उनके नाम हैं:
पद्मसंभव अथवा पद्मवज्र, अनंगवज्र, इन्द्रभूति लक्ष्मीङ्करा लीलावज्र दारिक सहज
योगिनी चिन्ता और डोम्बी हेरुक। तिब्बत में बौद्ध तान्त्रिकवाद की स्थापना करने
वाले वज्र और सहज के अनेक आचार्य बंगाल-निवासी थे। वे सातवीं शताब्दी के उत्त
रार्ध और आठवीं शताब्दी में जीवित थे। इसी अवधि में बंगाल असम नपाल और तिब्बत
के बीच प्रगाढ़ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अन्तरंगता का सूत्रपात हुआ यह अन्तरंगता
बारहवीं शताब्दी के अन्त तक कायम रही।

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब पूर्वी बंगाल में चन्द्रवंश का शासन था तथा
ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में वज्रयान परोक्षतः महायान पर हावी हो गया तथा
लोकनाथ अथवा सिंहनाद लोकेश्वर के अनेक रूपों हेरुक और जम्भल और तारा
(श्यामा अथवा खदिरवणी वश्य और भृकुटी) एकजटा मारीची (अशोककान्ता) प्रज्ञा
पारमिता वागीश्वरी कुरुकुल्ला उष्णीषविजया, महाप्रतिसरा पर्णशबरी हारीति तथा अन्य
शक्तियों की पूजा की जाने लगी। बंगाल के महान बौद्ध विहारों—ओदन्तपुरी सोमपुर
और विक्रमशील—में जिनका सम्बन्ध नेपाल और तिब्बत के साथ था तान्त्रिक ग्रन्थों का
अध्ययन किया जाने लगा और शिक्षण दिया जाने लगा तथा तान्त्रिक इष्टदेवों की पूजा होने
लगी। इन सारी बातों का स्पष्ट संकेत था कि संस्कारित धर्म-सम्प्रदाय का समय आ गया है।

बौद्धधर्म का ह्रास और सहज का उदय

अब हम धार्मिक विकास की ऐसी अवस्था में—जिसमें वज्रयान और सहजयान
का समन्वय हुआ—प्रवेश करते हैं जो अव्यवस्थित और अस्पष्ट होते हुए भी अत्यधिक
रोचक है। इस अवस्था के अनुशीलन के बिना भारत से बौद्धधर्म के विलोप को समझा ही
नहीं जा सकता। बौद्धधर्म के सन्दर्भ में वज्रयान के विकास का अर्थ था महायान सर्वास्ति
वाद, योगाचार, माध्यमिक तथा अन्य सम्प्रदायों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों की तुलना में
अपरोक्ष ज्ञानवाद और रहस्यवाद की प्राथमिकता एवं विभिन्न तान्त्रिक योगविधियों का
समन्वय। विकास की अगली अवस्था में और परिवर्तन हुए। वज्रयान की इष्टपूजा और
कर्मकांड के स्थान पर सहज यौगिक ध्यान का महत्त्व स्थापित हुआ तथा आन्तरिक यौगिक
अनुभूति के दृष्टिकोण से वज्रयान की मुद्रा मंत्र मंडल तथा धर्म के अन्य बाह्य रूपों की
व्याख्या की जाने लगी। यह तान्त्रिकवाद की पूर्ण विजय थी और सुविधानुसार इसे हिन्दू
अथवा बौद्ध तान्त्रिकवाद कहा गया तथा इसका बहुचर्चित नाम 'सहज सिद्धि' पड़ गया। कारण,
परम शून्य (निरंजन) और महासुख के बोध-स्तर पर बौद्ध महायान अथवा वज्रयान तथा

से मिली थी जिन्होंने उसे महाज्ञान के रहस्यवाद की दीक्षा दी थी'। इसी उपाख्यान के हिन्दी रूप में उसे धारा नगरी के गन्धर्वसेन की बेटी कहा गया है। बंगाल में वह देवी मानी जाती है और उसकी मन्दिरों में विशेषकर उत्तर के जिलों में पूजा होती है। तिब्बत में उसे तांत्रिक डाकिनी या वज्रदेवी माना जाता है।

गोरखनाथ ने बुद्ध की तरह मध्यममार्ग चुना। उन्होंने हिन्दू और बौद्ध तांत्रिक-वाद की पराकाष्ठाओं और धर्मोत्तेजनाओं का, हिन्दू और बौद्ध परम आदर्शवाद के आध्यात्मिक सूक्ष्मीकरण का, सभी सम्प्रदायों में प्रचलित मानसिक-शारीरिक योगक्रियाओं के अतिरंजित दावों का एकसाथ विरोध किया। उनका सिद्धान्त था : पेट भर खाना मृत्यु है। बिल्कुल न खाना भी मृत्यु है। दिन-रात महाग्नि का ध्यान करो। कठोर शारीरिक साधनाओं और आलस्य दोनों से बचो। गोरख कहते हैं, बेटा, केवल संयम ही तुझे सागर के पार ले जा सकेगा। या फिर वे इसपर जोर देते हैं कि केवल पढ़ना बेकार है; उस पार पहुंचने के लिए शास्त्र के सारतत्त्व का भी मनन करना चाहिए। परमज्ञान को गोरख एक ऐसा वृक्ष बताते हैं जिसमें न बीज है, न पत्ते हैं और न फूल है, पर फिर भी वह फल देता है। वह बांझ स्त्री की सन्तान है। वह बिना गगन का चांद और बिना संसार का सूर्य है। गोरख के अनुसार, सहज अर्थात स्वाभाविक और स्वतःस्फूर्त जीवन-प्रणाली ही सर्वोच्च है। उनके मत से इस सहज की उत्पत्ति सहज शून्य से हुई है और वह दृढ़ और कोमल दोनों है। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। योग में परम निष्णात गोरखनाथ जीवमात्र पर दया का उपदेश देते थे और जीव को शिवरूप मानते थे। उन्होंने मांस भक्षण और हर प्रकार की जीव-हिंसा की निन्दा की है, क्योंकि वे (जीव) हमारे ही बन्धु-बान्धव हैं (हंस-पोतम पोतन)। एक सुन्दर रूपक में गोरखनाथ सच्चा तपस्वी उसे बताते हैं जो सुरम्य जगत को स्वेच्छा से जब चाहे छोड़ सके और जब चाहे उसमें आ सके, समस्त माया को नष्ट कर सके और आत्मज्ञान अनुभव कर सके। उसका शरीर निरंजन का मन्दिर बन जाता है। साथ ही वे बराबर इसपर जोर देते हैं कि आत्म प्रकाश का आसन और प्राणायाम की योगक्रियाओं की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व है। "आन्तरिक प्रेरणा के बिना प्राणायाम और आसन अध्यात्म की राह में रोड़ बन जाते हैं और प्राणी पहली अवस्था से आगे नहीं बढ़ सकता।"

इस रहस्यवादी आन्दोलन के अनेक कवियों में सबसे प्राचीन सरह(-पा) सिद्धाचार्य थे जिनका समय कभी कभी ७५० ई० से पूर्व बताया जाता है और जो बंगाल के धर्मपाल के समकालीन माने जाते हैं। उन्हें आदिसिद्ध या सिद्धनाथ पंथ का संस्थापक तक कहा जाता है। तिब्बती तनजुर (बस्तन ह ग्युर) उन्हें पच्चीस तांत्रिक ग्रंथों का रचयिता मानता है जिनमें से छः से अधिक दोहाकोषगीति और चर्यागीति से सम्बद्ध हैं। अनुश्रुति के अनुसार उनका जन्म पूर्वभारत के राज्ञी नामक स्थान पर हुआ था। उड़ीसा के एक राजा ने उन्हें तांत्रिक बौद्धधर्म की दीक्षा दी। वे नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य थे और वहां उन्होंने नागार्जुन को एक रहस्यवादी दर्शन और रसायनविद्या की दीक्षा दी थी। ९५० और १२०० ई० के बीच बंगाल, कामरूप, नेपाल, तिब्बत और उड्डीयान में कवि रहस्यवादियों की एक पूरी नक्षत्रमाला जगमगाई थी। वे चौरासी सिद्धों के अंतर्गत हैं जो नेपाल

हठयौगिक महासुख काया-साधना तथा शरीर के भीतर अप्सरायोग के जागरण (युग की प्रतिमा) पर जोर दिया जाने लगा। विभिन्न सम्प्रदायों में अप्सराओं के विभिन्न नाम थे बौद्ध वज्रयान में प्रज्ञा नैरात्मा नैरात्मणि मणवाशून्यता मद्रा म दोम्बी चाण्डाली रजकी और नटी। नाथ-सम्प्रदाय में शबरी और अवधूतिका तथा हिन्दू शाक्तिकवाद में योगिनी और कुल-कुंडलिनी शक्ति। ये नारियां हाड़-मांस की सुन्दरियां नहीं वरन् प्रतिमाएं अथवा शाश्वत नारियां—ज्ञानमुद्राएं—हैं। अछूत स्त्रियों के नामों को ग्रहण करके प्राचीन 'अप्सरायोग' को जो ब्राह्मणों के दम्भियज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान दोनों से परे है एक नवीन सांकेतिकता प्रदान की गई है। योग की भाषा में ये स्त्रियां ध्यान करानेवाली 'नाड़ियां' (इड़ा पिंगला और सुषुम्ना अथवा ललना रसना और अवधूती) अथवा धमनियां और मुद्राएं हैं। आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के समान 'सम्पुटिका' में कहा गया है कि अति श्रेष्ठ शाश्वत और अविनाशी मोक्ष का उद्भव भौतिकता से होता है कि यौन मानव-स्वभाव का एक अभिन्न अंग है जिसे दमित अथवा अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। अतः सत्य की अनुभूति के लिए यौन भावना को यौगिक क्रियाओं में परिवर्तित करना ही श्रेयस्कर है (पाण्डुलिपि शशिभूषण दासगुप्त द्वारा उद्धृत)।

बौद्ध तांत्रिक वाङ्मय में अभिमुक्तिमा अर्थात् बोधिचित्त अथवा वज्र और आसय अथवा करुणा के पुरुष-नारी-संयोग को चार मुद्राओं में वर्गीकृत किया गया है। शरीर और आचरण सम्बन्धी (कर्ममुद्रा) भावना और आवेग सम्बन्धी (ज्ञानमुद्रा) अमूर्त और सार्वभौम (महामुद्रा) तथा परात्पर अथवा निरपेक्ष (समयमुद्रा अथवा फलमुद्रा)। आद्य नारी अथवा (युग के अर्थों में) मानव प्रकृति में निहित अदम्य नारीत्व भावना को 'मुद्रा' कहा गया है। क्योंकि वह विशुद्ध चेतना या शून्य की सच्ची मुद्रा है। मुद्रा का अर्थ सुख भी (मुन्म् तथा रतिम्) है जो सम्बन्ध और अनुभूति के प्रत्येक स्तर पर तब तक उद्भूत होता रहता है जब तक शून्यता तक नहीं पहुंच जाता। ज्ञानी व्यक्तियों के लिए वह महासुखैकरूपा प्रज्ञा और शून्यता तीनों है। अद्वयवज्र ने अपनी 'सेकानिर्देशिका' में लिखा है वह अलिंगनहीना है। वह परिज्ञेय वस्तुओं को ढके रहनेवाले पर्दे आदि से मुक्त है। वह शरद् ऋतु के मध्याह्न के निर्मेघ आकाश की भांति चमकती है। वह सभी सफलताओं की आधारशिला है। वह संसार और निर्वाण का तादात्म्य है। उसका शरीर करुणा है जो किसी एक वस्तु तक सीमित नहीं है। *(गेन्थर के अंग्रेजी अनुवाद से अनूदित)।*

सहज-परम्परा गोरखनाथ और सरह से बाउल और सहजीय तक

सहज-सिद्धि और नाथपंथ ने वज्रयान के स्त्री प्रतीक की रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि और शक्ति के दृष्टिकोण से पुनर्व्याख्या की और योगाभ्यास पर जोर दिया और ये सम्प्रदाय अपने जन्मस्थान बंगाल और असम से फैलते हुए समस्त उत्तरभारत में लोकप्रिय हो गए। बंगाल उत्तरप्रदेश और महाराष्ट्र के विभिन्न उपाख्यानों में चौरासी सिद्धों और नौ नाथों का उल्लेख मिलता है। बंगाल के राजा गोविन्दचन्द्र के गीतों में जिनकी रचना संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी राजा गोविन्दचन्द्र की माता मयनामती का बहुत ही पहुंचा हुआ सिद्ध बताया गया है। वह 'सोलह सौ शिष्यों के साथ गोरखनाथ

से मिली थी जिन्होंने उसे महाज्ञान के रहस्यवाद की दीक्षा दी थी'। इसी उपाख्यान के हिन्दी रूप में उसे पाटलिपुत्र नगरी के गन्धर्वसेन की बेटी कहा गया है। बंगाल में वह देवी मानी जाती है और उसकी मन्दिरों में विशेषकर उत्तर के जिलों में पूजा होती है। तिब्बत में उसे तांत्रिक डाकिनी या अर्धदेवी माना जाता है।

गोरखनाथ ने बुद्ध की तरह मध्यममार्ग चुना। उन्होंने हिन्दू और बौद्ध तांत्रिकवाद की पराकाष्ठाओं और अतिरिक्तताओं का हिन्दू और बौद्ध चरम आदर्शवाद के आध्यात्मिक सूक्ष्मीकरण का सभी सम्प्रदायों में प्रचलित मानसिक-कायिक योगक्रियाओं के अतिरंजित दावों का एकसाथ विरोध किया। उनका सिद्धान्त था पेट भर खाना मृत्यु है। बिलकुल न खाना भी मृत्यु है। दिन-रात ब्रह्माग्नि का ध्यान करो। कठोर शारीरिक साधनाओं और आलस्य दोनों से बचो। गोरख कहते हैं बेटा, केवल संयम ही तुझे सागर के पार लगा सकेगा। या फिर वे इसपर जोर देते हैं कि ग्रन्थ पढ़ना बेकार है उस पार पहुंचने के लिए शास्त्र के सारतत्त्व का भी मनन करना चाहिए। परमज्ञान को गोरख एक ऐसा वृक्ष बताते हैं जिसमें न बीज है, न पत्ते हैं और न फूल है, पर फिर भी वह फल देता है। वह बांझ स्त्री की सन्तान है। वह बिना गगन का चांद और बिना संसार का सूर्य है। गोरख के अनुसार सहज अर्थात स्वाभाविक और स्वतःस्फूर्त जीवन-प्रणाली ही सर्वोच्च है। उनके मत से इस सहज की उत्पत्ति सहज शून्य से हुई है और वह दृढ़ और कोमल दोनों है। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। योग में परम निष्णात गोरखनाथ जीवमात्र पर दया का उपदेश देते थे और जीव को शिवरूप मानते थे। उन्होंने मांस भक्षण और हर प्रकार की जीव-हिंसा की निन्दा की है, क्योंकि वे (जीव) हमारे ही बन्धु-बान्धव हैं (हठ-योगिन पोतन)। एक सुन्दर रूपक में गोरखनाथ सच्चा गृहस्थी उसे बताते हैं जो सुख बन्धन को स्वेच्छा से जब चाहे छोड़ सके और जब चाहे उसमें आ सके समस्त माया को नष्ट कर सके और आत्मज्ञान अनुभव कर सके। उसका शरीर निरंजन का मन्दिर बन जाता है। साथ ही वे बराबर इसपर जोर देते हैं कि आत्म प्रकाश का आसन और प्राणायाम की योगक्रियाओं की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व है। आन्तरिक प्रेरणा के बिना प्राणायाम और आसन अध्यात्म की राह में रोड़े बन जाते हैं और साधी पहली अवस्था से आगे नहीं बढ़ सकता।

इस रहस्यवादी आन्दोलन के अनेक कवियों में सबसे प्राचीन सरह(-पा) सिद्धाचार्य थे जिनका समय कभी कभी ७२ ई० से पूर्व बताया जाता है और जो बंगाल के धर्मपाल के समकालीन माने जाते हैं। उन्हें प्रारंसिद्ध या सिद्धनाथ पंथ का संस्थापक तक कहा जाता है। तिब्बती तनजुर (ब्स्तन ह ग्युर) उन्हें पच्चीस तांत्रिक ग्रंथों का रचयिता मानता है जिनमें से ७ से अधिक वाह्लोकोपयोगिता और धर्मनीति से सम्बद्ध हैं। अनुश्रुति के अनुसार उनका जन्म पूर्वभारत के राज्ञी नामक स्थान पर हुआ था। उड़ीसा के एक राजा ने उन्हें तांत्रिक बौद्धधर्म की दीक्षा दी। वे नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य थे और वहां उन्होंने नागार्जुन को एक रहस्यवादी दर्शन और रसायनविद्या की दीक्षा दी थी। ९५० और १२०० ई० के बीच बंगाल कामरूप नेपाल तिब्बत और उड्डीयान में कवि रहस्यवादियों की एक पूरी श्रृंखला जगमगाई थी। वे चौरासी सिद्धों के अंतर्गत हैं जो नेपाल

और तिब्बत में महायान के आचार्य और भारत में शैव संत मानकर पूजे जाते हैं। उनकी रचनाएं चर्यापद या गुह्य मंत्र बंगला साहित्य का मूल-स्रोत हैं और वे अधिकतर तिब्बती अनुवादों और बंगला दोहों में सुरक्षित हैं। वे जिस मध्यकालीन बोली में रचे गए हैं उसे भाषाशास्त्रियों ने विभिन्नरूप से 'प्राचीन बंगला असमी (कामरूपी) उड़िया और मैथिली की संज्ञा दी है। परन्तु उसे सीधीस कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी में ब्रह्म-मेघनी पूर्वदेश में प्रचलित पूर्वी लिपि को गौड़ धर्मभाषा कहता है।

महान सहज-आचार्यों में से एक इन्द्रभूति (लगभग ६८७–७१७ ई०) थे जो उड्डी भाग के राजा थे और ज्ञानसिद्धि तथा सहजयान के उत्थान से सम्बन्धित कई अन्य संस्कृत ग्रंथों के रचयिता थे। उनकी बहनीकूरा देवी नाम की अत्यन्त प्रसिद्ध पुत्री थी जिसने अपने 'अद्वयसिद्धि' ग्रंथ में एक बहुत ही अनोखे मत की स्थापना की। उसने तपस्या कर्म काण्ड और पूजा का निषेध करते हुए मानव-शरीर पर ध्यान जमाने पर जोर दिया, जिसमें सभी देवताओं को प्राप्त किया जाता है। इससे बंगाल में सहजीय सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जो आज भी जीवित है। सहजयोगिनी चिन्ता का भी जो एक प्रमुख तंत्रसेविका हुई है, बंगाल में सहजीय सम्प्रदाय के उत्थान स सम्बन्ध हो सकता है।

बौद्ध सहजयान उत्तरभारत के रहस्यवादी संप्रदायों और पंथों की सामान्य बपौती बन जाने से ब्राह्मण तांत्रिकवाद में जो जनसाधारण का मत था, बिलकुल घुल-मिल गया। सहजयान बौद्ध और हिन्दु तांत्रिकवाद से चलकर प्रारम्भिक वैष्णवमत और बंगाल के सहजीय साहित्य म पहुंचा। यह परम्परा यद्यपि मध्ययुग के रहस्यवादियों और उत्तरभारत के संत कवियों को उत्तराधिकार में मिली पर बीच-बीच में आस्तिक स्वर और पकड़ लेता था और तब सहज के अलेख स्वरूप को स्वामी राम या कृष्ण से मिला दिया जाता था। इस समय विस्मृत बौद्ध सहजयान के चिह्न अभी भी सनातन हिंदु धर्म के घेरे से बाहर बाउलों नाथों कनफटों (योगी) अवधूतों और बंगाल के सहजीयों के जीवन और आत्मनिग्रह मे मिलते हैं।

परम सहज की प्राप्ति

सहजयान के अनुसार मनुष्य का हृदय भौतिक तथा पार्थिव जीवन में शांति और स्वत स्फूर्ति प्राप्त करता है। इन्द्रियों के विषयों का उसे बिना आयास और निरोध के पूर्ण पवित्रता और स्वतन्त्रता के साथ उन्हें प्रकृति म सहज मानते हुए, उपभोग करता है। भवसागर में बहते जहाज का मस्तूल सहज ही है, जिसपर मन को इधर-उधर भट कने के बाद फिर लौटना पड़ता है। दादू कहते हैं "मस्तूल पर बैठा काग सागर की यात्रा कर रहा है। वह चारों ओर चक्कर काटता है और थककर जहाज के मस्तूल पर शांति से बैठ जाता है।" दादू की यह वाणी सरहसिद्ध के पद की याद दिलाती है जिसमें कहा गया है 'जो व्यक्ति इन्द्रिय जगत् की पवित्रता में आनन्द नहीं लेता और केवल शून्य की चिन्ता करता है वह जहाज के काग की तरह है। वह आकाश म चाहे कितना ही ऊंचा क्यों न उड़ जाए, पर अंत में उसे जहाज पर ही वापस आना पड़ता है।

तांत्रिक योग प्रतीकवाद और कर्मकाण्ड की सामान्य पृष्ठभूमि के कारण, साधारण इन्द्रिय-सुख मात्त्विक सम्प्रदायों में भी एक उच्च व गहन आत्मिक संताप में परिवर्तित हो गया। हिन्दू कुलार्णवतंत्र में इन्द्रियों और इच्छाओं के पवित्रीकरण पर निम्नलिखित पद मिलता है : परमेश्वर का शिवतंत्र में यह आदेश है कि आत्मिक उन्नति उन्हीं उपायों से प्राप्त करनी चाहिए जो मनुष्य के पतन का कारण हैं। जो इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर आत्मा से जोड़ता है वही वस्तुतः भोजन करता है और तो केवल पशुओं का वध करते हैं। पशु (पाशविक मनुष्य) की शक्ति सुप्त होती है कौल (दिव्य मनुष्य) की शक्ति जागरित होती है। इस शक्ति का उपभोग करनेवाला ही शक्ति का भोक्ता है। पराशक्ति और आत्मा के संयोग से उत्पन्न आनन्द का उपभोग करनेवाला ही सच्चा सम्भोग प्रेम पाता है, और तो केवल स्त्रियों के भोक्ता हैं। जो पांच प्रकार के इन्द्रिय विषयों में उनका यथार्थ अभिप्राय जानते हुए, भाग लेता है वही मुक्त है।

मध्ययुग के सुप्रसिद्ध रहस्यवादी दादू मुनि-सहज का वर्णन जिसमें शून्य या गगन गहरे आनन्द और अमरत्व से जुड़ा हुआ है इस प्रकार करते हैं "सहज द्वैत से रहित है जहां सुख और दुःख एक हो जाते हैं यह सहज न तो मरता है और न जीता है यह पूर्णनिर्वाण की अवस्था है : समस्त द्वैत के बीच अपने मन को सहज शून्य में निश्चल रखो और निग्रह की अन्तिम अवस्था प्राप्त कर अमृतपान करो तो काल का कोई भय नहीं है। रहस्यवादी गाता है 'और इस प्रकार नैन रंग से तृप्त हो रहे हैं, कान संगीत से, दादू आश्चर्यजनक रूप से फूलों से युक्त है। और हमें लगता है कि देह आत्मा के लिए लालायित है, आत्मा देह के लिए फूल सुगन्ध के लिए लालायित है सुगन्ध फूल के लिए शब्द सत्य के लिए लालायित हैं, सत्य शब्दों के लिए रूप भाव के लिए लालायित है भाव रूप के लिए और यह सब परस्पर आराधना उस अवर्णनीय अन्तर्निहित सत्य की ही आराधना है जिसकी उपस्थिति से प्रत्येक दीप्तिमान है। दादू संघर्ष नहीं करता वह तो प्रेम की इस वर्षा में अपने हृदय को बस खुला रखता है, और इस प्रकार सदा वसन्त का आनन्द लेता है।"

कबीर ने भी सहज-समाधि की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है

> साधो, सहज समाधि भली'
> जहं-जहं डोलौं सो परिकरमा जो कछु करौं सो सेवा
> जब सोवौं तब करौं दण्डवत पूजों और न देवा।
> कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खावौं-पियौं सो पूजा
> गिरह-उजाड़ एक सम लेखौं भाव मिटावौं दूजा।
> आंख न मूंदौं कान न रूंधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं
> खुले नैन पहिचानौं हँसि-हँसि सुन्दर रूप निहारौं।
> शब्द निरन्तर से मन लागा मलिन वासना त्यागी
> उठत-बैठत कबहुं नहिं छूटै, ऐसी तारी लागी।
> कह कबीर यह उनमनि रहनी सो परगट करि गाई,
> दुख-सुख के कोइ परे परमपद तेहि पद रहा समाई।

मध्यकालीन बंगला काव्य में सहज प्रेम रहस्यवाद

सहजपथ में कामवासना पर व्यावहारिक संयम और नियंत्रण की तथा नारी की काल्पनिक आराधना की एक विधि थी जिसका मूल मानवीय अनुराग के विश्वीकरण में था। उस प्रेम का विवाह से मेल नहीं बैठता क्योंकि विवाह के सामाजिक दायित्व स्त्री पुरुष की कामुक और सौन्दर्यमय अन्तरंगता अनुभूतियों और सतृप्ति के सहज और स्वतः-स्फूर्त प्रवाह में बाधक होते हैं। इसी प्रकार यह प्रेम कुण्ठित आवेगों के दबाव और तज्जन्य शारीरिक तनाव और कसाव से भी मुक्त है। सहज की शांत और निर्लेप अन्तरंगता भौतिक अनुभव से परे की चीज है—चौदहवीं शताब्दी में कनुभट्ट ने बंगाल में सहज प्रेम के ऐसे ही गीत गाए थे। परन्तु सहज-प्रेम के सबसे कुशल गायक चण्डीदास थे जो बंगला काव्य के संस्थापकों में से हैं और जिनका समय चौदहवीं शताब्दी था। जातिच्युत धोबिन रामी के लिए उनका प्रेम (जो सहज-आराधना में अनन्त सुन्दरी रजकी का प्रतिनिधित्व करती है) उसी प्रकार का था जैसाकि बीट्रिस के लिए दांते का था। चण्डीदास गाते हैं "प्रिये मैंने तुम्हारे चरणों में शरण ली है। जब तुम नहीं दिखती हो तो मन व्याकुल रहता है। एक असहाय बालक के लिए मां-बाप का जो स्थान है वही तुम्हारा मेरे लिए है। तुम साक्षात् देवी हो—मेरे गले की माला हो—मेरा संसार हो। तुम्हारे बिना सब कुछ अन्धकार है तुम मेरी प्रार्थनाओं का भाव हो। तुम्हारा सौन्दर्य तुम्हारा लावण्य मैं भूल नहीं सकता—फिर भी मेरे हृदय में कोई चाह नहीं है। इस प्रेम के नितान्त मानवीय वासना और समर्पण में अध पतन पर भी ध्यान दिया गया है। सहज जितना धार्मिक रूपक से दूर है उतना ही भौतिक रूपक से भी है। कवि कहते हैं "मेरी बात सुनो! नारी के प्रेम द्वारा यदि मुक्ति प्राप्त करनी है तो अपनी काया को सूखी लकड़ी जैसा बना लो क्योंकि विश्वव्यापी वह अदृश्य केवल उसीको मिल सकता है जो प्रेम का रहस्य जानता है।

पुरुष या स्त्री किसीको भी वासना के वशीभूत नहीं होना चाहिए और न वासना का दमन ही करना चाहिए, जिससे कि अनिष्ठतम अंतरंगता के क्षणों में एक सहज और अक्षुब्ध शांति सर्वोच्च आत्मानुभूति के लिए द्वार खोल सके। इसके लिए अवसर चूकना नहीं चाहिए, पुरुष और स्त्री प्रेम की सबसे ऊंची उड़ान तभी लगा सकते हैं जबकि वे समान रूप से इच्छा और कुण्ठा दोनों से मुक्त हों। यह आवश्यक है कि वे दोनों एक-से धार्मिक धरातल पर हों। 'स्त्री को चाहिए कि वह अपने-आपको बदनामी के सागर में डुबा दे और फिर भी वस्तुतः निषिद्ध जल का पान न करे। सच्चा प्रेम उसे उस धीमी धीमी सुलगती आग में जानना चाहिए जो आनन्द और पीड़ा दोनों को जलाकर राख कर देती है। सुमेरु शिखर को माला में गूंथने या हाथी को मकड़ी के जाले से बांधने के लिए, पुरुष में सांप के मुंह में मेंढक की तरह नाचने की क्षमता होनी चाहिए। रहस्यवादी प्रेम की धारा मानवीय सम्बन्धों और पारिवारिक कर्तव्यों की सीमा से परे है और नित्य है यही नियति है। 'यह उस समय से चला आ रहा है जब न तो धरती थी और न दिन और रात ही प्रकट हुए थे।"

मध्ययुगीन मूर्तिशिल्प में सहज-शृंगारिक प्रतीकवाद

रहस्यवादियों और धर्मानुयायियों की सहज प्रणाली का भारत में समग्र प्रेम और विवाह के आदर्श पर गहरा असर पड़ा। भारतीय चिन्तन में रति-क्रिया अनुष्ठान है काम काम की मुक्ति की ओर ले जाता है। वस्तुतः जितने आसन योग ध्यान के हैं उतने ही कामकला के हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में इसकी व्याख्या की गई है और इनमें से अनेक खजुराहो कोणार्क और भुवनेश्वर में उत्कीर्ण किए गए हैं। शृंगारिक मूर्तियों या मिथुनों की रचना मध्ययुगीन वास्तुकला और कर्मकाण्ड पर वज्र और सहज प्रतीकवाद के प्रभाव के कारण हुई। तांत्रिक मूर्तियों में न तो प्रेम न विषयासक्ति है और न काम को लेकर नाक भौं ही चढ़ाई गई है। उनमें नर-नारी असंख्य प्रकार के आलिंगनों में दिखाए गए हैं जो ईश्वर में लीन हो रही आत्मा के परमानन्द के प्रतीक हैं। कामोत्तेजना की अभिव्यक्ति प्रायः स्तनों की गोलाई के साथ कटि की कोमलता का और बाहुओं की सरलता के साथ टांगों के बांकपन का विरोध दिखाकर की गई है या अंगों और भंगिमाओं की कोमलता और अत्यधिक सुकुमारता के साथ कुचों और आभूषणों की गुरुता का विरोध दिखाकर की गई है। कोणार्क में ऐसा लगता है कि वज्र और सहज पंथों के साथ सूर्य की उपासना भी जुड़ गई थी और उसे सार्वभौम उर्वरा शक्ति माना जाता था। यहां जो नाना प्रकार के मिथुन बनाए गए हैं उनमें अंगों और शृंगारिक भाव के लालित्य की पूर्ण एकलयता मिलती है। खजुराहो और कोणार्क का प्रत्येक मिथुन एक अत्युत्कृष्ट कलाकृति है जिसमें मानवीय प्रेम के एक पृथक प्रसंग या स्वर को मूर्तरूप दिया गया है और युगल अपने तरंगित अंग विक्षेप और शरीर के उत्तेजक प्रदर्शन के माध्यम एक तात्विक पूर्णता में घुल जाते हैं। वज्र और सहज विचारधाराओं के अनुसार वियोग नहीं बल्कि यह पूर्णता ही जीवन का अभिप्राय है। मिथुन का आध्यात्मिक महत्व मंदिर की निर्माण-शैली में भी स्पष्ट है। जहां इसके तमाम मूर्ति-अलंकरण अनिवार्यरूप से मिलन की ओर संकेत करते हैं वहां स्वयं मंदिर सुमेरुपर्वत मेरु की तरह बनाया जाता है, जो स्वर्ग और पृथ्वी को विभाजित करता है या आदिविश्वपुरुष के शरीर की तरह बनाया जाता है जो अपने को माया और यथार्थ के गुणों में विभाजित करता है।

समस्त उपासना का ध्येय आद्यपूर्णता की पुनःस्थापना है जिसका महान प्रतिरूप और प्रतीक भारत में मिथुन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कितनी ही शताब्दियां पहले यह कहा गया था "प्रियतमा के आलिंगन में बद्ध मनुष्य को भीतर या बाहर की कुछ सुध नहीं रहती। यहां मिथुन आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य का प्रतीक है। इस पद की असंग के महायानसूत्रालंकार के एक पद से तुलना की जा सकती है जिसकी व्याख्या सिल्वेन लेवी और विन्टरनित्ज ने अलग-अलग की है सम्भोग की पराकाष्ठा में सर्वोपरि महानता अर्थात् बुद्धसुख की प्राप्ति होती है और पुरुष अपनी पत्नी की ओर बिना किसी मलिन विचार के देखता है।

वज्र और सहज आन्दोलन अपने धार्मिक रूपों में तांत्रिकवाद के साथ बृहत्तर भारत और भारतीय द्वीपसमूह में भी फैले। परन्तु दक्षिण-पूर्वी कला में शिव-शक्ति के

विरोधी तत्त्वों की प्रतिद्वन्द्विता उमामिगनों और मिथुनों की मूर्तियों द्वारा नहीं बल्कि धीर्यकों के प्रतीकों द्वारा व्यक्त हुई। फोर्बहैमर ने ऊपरले बर्मा के पगन पिन्या और अवा स्थानों से जो अभिलेख एकत्रित किए हैं उनमें से पन्द्रहवीं शताब्दी (१४४२ ई०) के एक अभिलेख में एक राज्यपाल और उसकी धर्मपत्नी द्वारा बुद्धसंघ को २९५ ग्रंथ एक विहार भूमि और दास दान में दिए जाने का उल्लेख है। इन ग्रंथों में न केवल व्याकरण अलंकार फलित और गणित ज्योतिष और युद्धकला के संस्कृतग्रंथों के अनुवाद शामिल थे बल्कि मृत्युवञ्चना महाकालमायिका और महाकालचक्रटीका जैसे वज्रयान और सिद्धनाथ पंथों के ग्रंथ भी शामिल थे। इनमें से पहला ग्रंथ मत्स्येन्द्रनाथ की शिक्षा से सम्बन्धित है। वे हठयोग और नाथपंथ के संस्थापक थे जिसने अंत में बौद्धधर्म के परवर्ती रूपों और आचारों को देश के प्राचीनतर धर्म में पूरी तरह पचा लिया। सिद्ध देह द्वारा महाकाल पर विजय या इस देह में ही मुक्ति को सिद्धनाथ पथ में हठयोग की पराकाष्ठा माना गया है।

रहस्यवाद के क्रमिक विकास का चक्र

भारत में धर्म जिन मुख्य अवस्थाओं या पक्षों में से गुजरते हैं उन्हें यहां निर्दिष्ट करना उपयुक्त होगा। पहले एक नया धार्मिक परिवर्तन आध्यात्मिक परिष्कार के आधार पर स्थापित किया जाता है। अध्यात्म भारत में केवल ज्ञान का ही प्रतिनिधि नहीं है बल्कि और सर्वाधिक मुक्ति मोक्ष और निर्वाण का भी एक मार्ग है। दूसरे, जैसे ही वह अपनी स्पष्ट आकृति धारण करता है, अध्यात्म से वह एक मत में अपर्णनीय रहस्यवादी अनुभव में पूजा और कर्मकाण्ड से योग में स्थानान्तरित हो जाता है। योग ही वह द्वार है जिसमें से भारतीय विराट पूर्णता में प्रवेश करता है। ऋग्वेद में प्राकृतिक देवताओं की जो व्यावहारिक और उपयोगी पूजा थी जिसके साथ एक सुविस्तृत और बलि का कर्मकाण्ड जुड़ा था उसका स्थान उपनिषदों के रहस्यवाद और परमतत्त्व या ब्रह्म के साथ आत्मा के तादात्म्य ने ले लिया। बुद्ध और महावीर की शिक्षा रूढ़ मत और कर्मकाण्ड के विरुद्ध उपनिषदों के उस विद्रोह का ही सिलसिला था जो एक अखण्ड रहस्यवादी चेतना और जीवमात्र की समष्टि पर जोर देता था। हीनयान बौद्धधर्म के सीधे-सादे सिद्धान्त ने अपने-आपको अधिकतर आत्मसंयम और करुणा के नियमों और धर्म के कुछ बाह्य पहलुओं तक ही सीमित रखा। उसने धार्मिक अनुभूति की उन ऊंचाइयों में उड़ान नहीं लगाई जो साधारण मनुष्य के लिए अगम्य हैं। महायान ने जो हिन्दूधर्म के परम्परागत रहस्यवाद और तान्त्रिक मत दोनों से प्रभावित था हीनयान से एक बिलकुल पृथक मार्ग अपनाया। उसकी जड़ें एक ओर जहां ध्यान के परमानन्द और भक्ति में थीं वहां दूसरी ओर जीवमात्र में ईश्वर की विद्यमानता की आनन्दानुभूति में थीं। महायान में पूजा और रहस्यवाद का जो स्वर था उससे बौद्धधर्म विश्वविजय के योग्य हो गया। बोधिसत्त्व का भारत में भास्कर, लोकनाथ या शिव से और चीन में अवलोकितेश्वर की प्रतिमूर्ति देवी कुआन-यिन से तादात्म्य हो जाना और महायान के भीतर ही शक्तिपूजा का उभरना परम्परागत रूढ़मत से रहस्यवादी प्रेरणा के प्रतीकों में एक और स्थानान्तरण

का द्योतक था।

महायान में न केवल ऐतिहासिक की जगह आध्यात्मिक बुद्ध की स्थापना की बल्कि बुद्ध और बोधिसत्त्व के विभिन्न रूपों के लिए शक्तियों की कल्पना कर उनके आधार पर अपने धर्मशास्त्र और ध्यान की रहस्यवादी पद्धतियों की भी रचना की। इससे वज्रयान के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। वज्रयान में परमतत्त्व के बोध को केवल शून्यता ही नहीं बल्कि करुणा भी कहा गया है। महासुख एक निस्सीम अनुभूति है जिससे मनुष्य में अपरिमित प्रज्ञा और क्रियाशीलता आती है। इस प्रकार करुणा गतिशील हो जाती है। जीवमात्र के प्रति अपरिमित करुणा से मुक्त बोध ही वज्र है अर्थात् पूर्ण की अखण्डता और निर्विकल्पता वज्र की तरह है। शून्यता की यह रहस्यवादी अनुभूति जो शून्यता ही है, सभवर्तिनी संज्ञाओं में आवृत है पुरुषरूप उपाय सर्वव्यापी करुणा है और स्त्रीरूप प्रज्ञा शून्यता है। "जब शून्यता और करुणा के योग के साथ एकाकार चित्त की उपलब्धि होती है तो वज्र धर्म और संघ की शिक्षा की उपलब्धि होती है।

मध्ययुग के दौर में वज्रयान और नाथपंथ एक-दूसरे में मिल जाते हैं और इससे तांत्रिकवाद को सामाजिक सन्दर्भ के अनुसार, हिन्दू या बौद्ध शैव या वज्र का पुन विजयी हो जाता है। परन्तु यहां यह बात ध्यान देने की है कि जहां शैव तांत्रिकवाद शुद्ध चैतन्य या पुरुष (शिव) की पुरुषरूप में और यथार्थ की गतिशीलता (शक्ति) को स्त्रीरूप में व्याख्या करता है, वहां बौद्ध तांत्रिकवाद शून्यता की स्त्रीरूप में और गतिशीलत्व की पुरुष रूप में कल्पना करता है। यह अन्तर सम्भवत व्याकरण के लिंग के कारण आया है।

प्रज्ञा और योग से सहज और करुणा तक

इस प्रकार, बौद्धधर्म की परवर्ती अवस्थाओं में तांत्रिक प्रज्ञा और योग का आरम्भ करुणा और वज्र या प्रज्ञा और उपाय के स्त्री और पुरुष तत्त्वों के संयोग में बोधिचित्त या वज्रतत्त्व की उपलब्धि द्वारा होता है। जीवमात्र पर करुणा प्रज्ञा की अत्यावश्यक स्थिति बन जाती है। उपाय वह है जिसके द्वारा बोधिचित्त या वज्रतत्त्व को प्राप्त करता है। प्रज्ञा शून्यता और करुणा ये सब यहां सत्य का स्त्री स्वरूप और उपाय पुरुषस्वरूप माना गया है। "जब कोई यह जान लेता है कि समस्त माया शून्यता का प्रतीक है तो वह प्रज्ञा के द्वार पर पहुंच जाता है। क्योंकि वह विभिन्न हेतुओं से उठ रहे दुःख के ज्वार से पीड़ित सभी जीवों को प्रभावित करती है इसलिए करुणा को अनुराग (राग) कहा गया है।"

यहां महत्त्व की बात यह है कि सहज सुख जिसमें न सत् है और न असत् न द्वैत है और न अद्वैत सार्वभौम करुणा की ओर ले जाता है। वेदान्त का अद्वैत समभाव और समरस या चेतना और अनुभूति के तादात्म्य की ओर ले जाता है। महायान का चरम आदर्शवाद भी निर्वाण का सार्वभौम एकता और दया के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। बौद्ध तांत्रिकवाद के शास्त्रीय ग्रन्थ जिनका आरम्भ गुह्यसमाजतंत्र से होता है, शून्यता और करुणा और उपाय और प्रज्ञा के संयोग को बोधिचित्त का स्वरूप बताते हैं और उनकी व्याख्या चैतन्य और राग के पुरुष और स्त्री तत्त्वों के रूप में करते हैं। इसी

प्रकार सहज भी शून्यता स्वतःस्फूर्ति या सत्य के परम स्वरूप का करुणा के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करता है। अद्वयवज्र कहते हैं शून्यता और कृपा की एकता कोई बौद्धिक समस्या नहीं है (बल्कि एक अनुभूति को वास्तविक रूप देना है)। शून्यता और उसकी अभिव्यक्ति स्वभावतः एक-दूसरे से जुड़े हुए (युगनद्ध) हैं। शून्यता और करुणा की अभिन्नता बोधिचित्त है। कम्बलाम्बरपाद (कामलि) करुणा की अपनी भाव को शून्यता के स्वर्ण से भरते हैं। कान्हुपाद सहज सिद्धि की व्याख्या शतरंज के रूपक से करते हैं जिसमें करुणा को शतरंज की बिसात बताया गया है। योग की परिणति एकसाथ महासुख और सभी प्राणियों की मुक्ति के लिए सर्व-करुणा में होती है। सहज का अभ्यास यह है कि महासुख निष्क्रिय तटस्थ है, और माया की लीला करुणा उपाय के गतिशील तत्त्व द्वारा होती है जो वस्तुओं को व्यक्तरूप में रखता है जिस प्रकार कि यह बोधिसत्त्व को निर्वाण से और सिद्ध को इन्द्रियातीत समाधि या परमानन्द से रोकता है। अतः चित्त प्रक्रिया करुणा है जो शून्यता और सहज-शून्यता करुणा भी कहलाती है।

अन्तिम अवस्था में इस प्रकार बौद्ध महायान या वज्रयान और हिन्दू तांत्रिक देवता शून्यता महासुख और करुणा के धरातल पर निस्तेज और लुप्त हो जाते हैं। और उसपर सहज के सरल और स्वतःस्फूर्त योग का उदय होता है जिसमें इन्द्रियों का उपभोग करते हुए ध्यानावस्था की प्रज्ञा और अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जा सकती है और शारीरिक प्रेम और अन्तरंगता के अत्यन्त तनावपूर्ण क्षणों तक में करुणा की परम उपलब्धि हो सकती है। घर घर में पवित्रता की चर्चा है पर कोई यह नहीं जानता कि महासुख का वास कहाँ है। सरह कहते हैं जगत् चित्त के पाश में जकड़ा है, और कोई भी अचित्त की स्थिति अनुभव नहीं कर रहा है।

तांत्रिक कला में रोमांटिक अभिव्यंजना

रहस्यवादी अनुभूति प्रचण्ड और धर्ममीय है जिसमें नीरवता और क्रियाशीलता विराग और उपभोग दोनों हैं। यह एक ऐसा विषय है जिसका सम्बन्ध एकसाथ वैयक्तिक विकास सांस्कृतिक शिक्षा और जातीय स्वभाव से है। इससे कामवासना का चिन्तन भावात्मक और प्रतीकात्मक रूप से विष्णु के पृथ्वी पर पतन और पार्थिव के विष्णु की ओर उत्थान के एक प्रसंग के रूप में किया जा सकता है। ईसाईधर्मी पश्चिम में प्रथम पाप के सिद्धान्त और मानव-शरीर के प्रति पादरीवर्ग की घृणा के कारण धर्म कला और काम का पूर्ण समन्वय नहीं हो सका। तांत्रिक पूर्व में काम और विवाह के प्रति एक स्वस्थ और हितकर रुख था जिससे कला मिथ्या विनय और कामलोलुपता दोनों से मुक्त रही और मानव-शरीर को एक सूक्ष्म जगत् मानते हुए उसके सौन्दर्य और रहस्य के लिए एक गहरी भावना पैदा हो गई। तांत्रिक परम्परा विशेषकर उसके सहज-रूप का भारतीय कला पर जो प्रभाव पड़ा उसका सर्वश्रेष्ठ रूप उत्तर-मध्ययुग (लगभग ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी ई०) की पूर्वी भारत की शिव और उमा की संयुक्त प्रतिमाओं (उमा लिंगन मूर्तियों) में मिलता है। उनमें सान्निध्य और शक्ति का मानवीय संवेदनशीलता और आत्मिक भावमग्नता का शारीरिक कामलता और कमनीयता तथा आकारमानु

का और रूप के कड़े संयम का अद्भुत संयोजन हुआ है।

इससे बहुत पहले हमें उमा-सहित प्रतिमाएं गुप्तकालीन देवगढ़मन्दिर के द्वार भाग पर और सुदूर इण्डोनेशिया में लगभग छठी शताब्दी के समय की मिलती हैं जिनपर गुप्तकला का प्रभाव है। यह मोटिफ तांत्रिकवाद की प्रधानता के काल में दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक बंग कलिंग मध्यभारत और राजपूताने में विशेष लोकप्रिय रहा। खजुराहो बंग और कलिंग की मध्ययुगीन मूर्तियां एलोरा बादामी और एलिफेंटा की मूर्तियों से अधिक कामुक हैं और फिर भी वे अपने संतुलन और भाव में फूल जैसी लगती हैं। शिव और पार्वती के विवाह की पूर्व-मध्ययुगीन मूर्तियां हमें एलोरा और एलिफेंटा में मिलती हैं और विभिन्न शिव उमा युगल तथा उनके आलिंगन और मान की मूर्तियां एलोरा के कैलाश पर हैं। किन्तु तांत्रिक और बाद में सहज-पूजा की कोमलता रहस्य शान्ति और मानवीयता ने पाल और सेन वंशकालीन और फिर दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक की उमालिंगन प्रतिमाओं को बोटिसेली की सी मधुरता और कमनीयता तथा फ्रा एंजेलिको की सी प्रफुल्लता और पवित्रता का ऐसा संयोजन प्रदान किया जैसाकि भारतीय मूर्तिकला में और कहीं मुश्किल से ही मिलेगा। शिव की बायीं जंघा पर बैठी देवी इसका एक सुन्दर उदाहरण है। उसके बायें हाथ में दर्पण है जिसमें उसके अपने रूप का संसार प्रतिबिम्बित है, दायां हाथ अर्धालिंगन में शिव के दायें कंधे पर पड़ा है। शिव भी देवी का आलिंगन कर रहे हैं या उसके कपोल को प्रेम से छू रहे हैं। उनके एक हाथ में नीलकमल है जो उन्मीलित विश्व का प्रतीक है। शंकराचार्य की 'आनन्दलहरी' में शिव के अंक में बैठी त्रिपुर सुन्दरी का सुप्रसिद्ध विवरण है। साधक इसी के इस रूप का योग-समाधि के लिए ध्यान करते हैं। 'इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है कि उत्तर मध्ययुग में पूरे उत्तर और पूर्व भारत में पूजा और ध्यान के लिए आलिंगन प्रतिमाओं की बड़ी मांग थी। ✓

तांत्रिकवाद की प्रबल कल्पना और उसके तत्त्वज्ञान ने पूरे बंग में एक रोमांटिक रमणीय कलावादी कला को जन्म दिया जो असाधारण साहित्य बोध और कल्पना प्रदर्शित करती है। इसके अंग साधनमाला और <u>विष्णुधर्मोत्तरम्</u> में दिए गए हैं जिनमें ध्यान पूजा और कलात्मक सृजन के लिए सौ देवियों और देवताओं के रूपों गुणों और मुद्राओं की व्यवस्था की गई है। तांत्रिकवाद की सृष्टि और विनाश जीवन और मरण सुन्दर और रौद्र की सहचारी शक्तियों की अनोखी कल्पना से और भौतिक विषयी जीवन में दिव्य तत्त्व की व्यापकता की उसकी धारणा से भोग और विराग सुन्दर और मरण के बीच की खाई फिर से पट गई। यह बीज तांत्रिक कला में सुरसुन्दरी अप्सरा या नायिका की मूर्ति के प्रतीक द्वारा आकर्षक ढंग से व्यक्त हुई है। मध्ययुगीन मन्दिरों के हर ताखे दीवार या कोने में वह प्रायः हमें मिलती है। अपनी ही छवि और कांति में मग्न कहीं वह गेंद खेल रही है, कहीं अपने स्तन को छू रही है कहीं शृंगार कर रही है कहीं दर्पण में अपना मुख देख रही है, और अपने निकट उपस्थित देवताओं या अपने उपासकों की धार से बिलकुल बेसुध है। पुतलियों का प्रायः अभाव उसकी अन्तर्मुखता और सुषुप्तावस्था का प्रतीक है। यह सर्वव्यापी शक्ति है, महामाया है, विश्वमोहिनी है।

अध्याय १६

राजपूत पुनरुत्थान का शौर्य और आकर्षण

राजपूत और मुसलमान शक्तियों में संघर्ष

पहले की शताब्दियों के यूनानी व्यापारियों के समान सातवीं शताब्दी और उसके बाद फारसी तथा अरब व्यापारियों ने मलाबार और काठियावाड़ के समुद्रतटों तथा लंका में अपनी बस्तियां बसाईं। हिन्दू राजाओं और सामन्तों के संरक्षण में इस प्रकार की बस्तियां फूली-फली। किन्तु जिस समय मुहम्मद साहब मक्का से भागकर मदीना पहुंचे उसके सौ वर्षों के भीतर भीतर इस्लाम का उदय हुआ और पूर्व में चीन की सीमा से लेकर पश्चिम में स्पेन तक अरबी साम्राज्य का विस्तार हो गया। इससे सम्पूर्ण एशिया की राजनीतिक स्थिति ही बदल गई। ६७० ईस्वी में सीरिया और फारस को पराजित करने के पश्चात् अरबों ने फारस की खाड़ी पर अधिकार कर लिया तथा वे फारस के समुद्री व्यापार पर कर वसूल करने लगे। कैम्बे की खाड़ी और पश्चिमी तट के समृद्ध बन्दरगाहों पर कब्जा करने के उद्देश्य से वे अरबसागर पर भी यात्राएं करने लगे। यही उद्देश्य लेकर पुर्तगाली साढ़े आठ शताब्दियों बाद भारत आए।

लंका के शासक ने इराक के शासक को कुछ मुसलमान लड़कियां भेजीं। कच्छ के समुद्री डाकुओं ने उनका अपहरण कर लिया। सिन्ध के शासक लड़कियों को वापस न कर सके। केवल इसी कारण ७१२ ईस्वी में कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण कर दिया। कासिम ने सिन्ध के साथ-साथ काठियावाड़ मुल्तान भड़ौंच और गुजरात व मालवा के कुछ भागों पर भी अधिकार कर लिया। आठवीं शताब्दी के मध्य में सिन्ध के अरब सूबेदारों ने गुजरात और मालवा में प्रवेश करने का बेहद प्रयत्न किया किन्तु उन्हें सफलता न मिली। दक्षिण के पुलकेशिन चालुक्य तथा अवन्ति के नागभट्ट ने वीरतापूर्वक भारत की रक्षा की। इन्हीं दो शासकों के कारण भारत खलीफा की सेनाओं को हरा सका। इससे पूर्व पश्चिमी और मध्य एशिया अफ्रीका अथवा स्पेन में कोई शक्ति अरब सेनाओं को पराजित करने में सफल न हो सकी थी। यदि हम ध्यान दें कि अरबसागर में अरबों का मजबूत जहाजी बेड़ा था और आक्रमण के लिए सिंध एक विश्राम तथा सुविधाजनक अड्डा था तो पुलकेशिन और नागभट्ट की यह विजय और अधिक महत्वपूर्ण मालूम पड़ती है। कवि बाण।विरय के शब्दों में 'देवताओं जैसे कार्य करनेवाले शत्रुओं' अर्थात् म्लेच्छों की शक्तिशाली सेना पर गुर्जर प्रतिहार शासक नागभट्ट की विजय के फलस्वरूप सिंध पर फिर हिन्दू अधिकार तथा आगामी ढाई शताब्दियों के लिए भारत में शान्ति की

स्थापना हो गई—यह शान्ति महमूद गजनवी के आक्रमण से ही टूटी। नवीं शताब्दी के आरम्भ में भोज प्रथम के शासनकाल में प्रतिहार-साम्राज्य की राजधानी महोदयथी थी और उसका विस्तार बंगाल में पहाड़पुर, आधुनिक पंजाब के करनाल म पहोआ अथवा पृथूदक और दक्षिण में विन्ध्याचल तक था।

गजनी के सबुक्तिगीन (९७७–९९७ ईस्वी) और उसके बेटे महमूद (९९८–१०३० ईस्वी) ने खुरासान अफगानिस्तान और मध्य एशिया के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया यहाँ से पंजाब के मैदानों तक पहुँचना बड़ा आसान था। इसके अतिरिक्त हिन्दू राज्यों की सीमाओं से सटे हुए सिंध और मुल्तान पर अरबों का आधिपत्य था। इन दोनों कारणों से विदेशियों को विशेष सैनिक सुविधाएं मिलीं और उत्तर-पश्चिम की सुरक्षा बिलकुल न रखी जा सकी। इन्हीं के बल पर महमूद ने थानेश्वर मथुरा और कन्नौज नगरों तथा गुजरात के सोमनाथ मंदिर को लूटा तथा लूट से प्राप्त धन से उसने अपनी राजधानी गजनी में मस्जिदें न बांध बनवाए और पुस्तकालयों की स्थापना की। गजनी की शानदार मसजिद के द्वार पर सोमनाथ के शिवलिंगम् के खण्ड गड़े थे ताकि मुसलमान उन्हें अपने पैरों से रौंद सकें। १०३० ई० में महमूद की मृत्यु के पश्चात् लगभग डेढ़ शताब्दियों तक भारत पर (यदि हम पंजाब की गिनती न करें) मुसलमानों के आक्रमण नहीं हुए। इसी काल में चहमान वंश ने राजपूताना और पूर्वी पंजाब (उनकी राजधानी शाकम्भरी अथवा सांभर और अजमेर थी) तथा गहड़वाल वंश ने मध्यप्रदेश पर अधिकार कर लिया (उनकी राजधानी कन्नौज और बनारस थी)। दिल्ली के एक स्तंभ पर ११६४ ईस्वी के एक अभिलेख में लिखा है कि विग्रहराज चतुर्थ अथवा विशालदेव (११५३–११६४ ईस्वी) ने समस्त उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करके तथा म्लेच्छों अथवा मुसलमानों का विनाश करके उत्तरी भारत को आर्यों का वास्तविक देश बना दिया है। इसी बीच गौर के अफगानों के उदय के फलस्वरूप गजनी-साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। मुहम्मद गोरी ने गजनी के सुल्तानों को अपदस्थ कर दिया और उन्होंने पंजाब के लाहौर में शरण ली। ११९२ ईस्वी में मुहम्मद गोरी ने सिंध और पंजाब को भी पराजित किया। भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रवेश-द्वार की पराजय के कारण उत्तरी भारत पर तुर्क-अफगानों का आधिपत्य होना सरल हो गया। ११९४ ईस्वी में गोरी के सबसे अधिक विश्वासपात्र अफसर कुतुबउद्दीन ऐबक ने जयचन्द्र को पराजित करके मार डाला तथा कन्नौज पर अधिकार कर लिया। ११९७ और ११९९ ईस्वी के बीच बख्तियार खिलजी ने एक छोटी-सी सेना लेकर बंगाल और बिहार को पददलित किया। नालन्दा विक्रमशील और ओदन्तपुरी के बौद्ध विश्वविद्यालयों के विनाश तथा नदिया की लूट ने हिन्दू संस्कृति तथा ज्ञान को बड़ा धक्का पहुँचाया। १२१० ईस्वी में कुतुबउद्दीन की मृत्यु के समय उसके साम्राज्य का विस्तार पंजाब से बंगाल तक था। केवल राजपूताना, मालवा और गुजरात का एक भाग अपराजेय रहे।

कुतुबउद्दीन के सिंहासनारोहण से १५२६ ईस्वी में बाबर के आक्रमण तथा दिल्ली पर अधिकार तक की तीन शताब्दियों का दिल्ली सल्तनत का इतिहास वास्तव में शाही दरबार के अमीरों और सरदारों के षड्यंत्रों हत्याओं तथा उत्तराधिकार के लिए युद्धों

का इतिहास है। फिर भी इन सबके बावजूद मुसलमानों की शक्ति बढ़ती गई। १३४० ई० में मुहम्मद बिन-तुगलक के अन्तर्गत साम्राज्य का विस्तार सर्वाधिक था और उसमें दक्षिण का एक बड़ा भाग तथा मलाबार कोरोमंडल तट के कुछ भाग सम्मिलित थे। इसके पश्चात् मुसलमान-साम्राज्य तेजी से सिकुड़ने लगा। उत्तरी भारत में हिन्दू विरोध और पुनरुत्थान के केन्द्र रणथम्भौर और चित्तौड़ थे। रणथम्भौर में वीर हम्मीरदेव नायक थे तथा चित्तौड़ में राणा रतनसिंह व कुम्भा से लेकर सांगा और प्रताप तक गुहिल राजपूत शासकों के *साहस और वीरता ने 'केसरिया झंडा' और 'हिन्दुआना सूरज' को ऊंचा उठाए* रखा। इसी विरोध का एक भव्य रूप था राजपूत स्त्रियों का रोमांचक और करुण जौहर। सम्राट अकबर की सैनिक शक्ति और उदार नीति भी राणा प्रताप को मुगलों के पक्ष में न जीत सकी।

राजपूत जातियों की उत्पत्ति

भारतीय इतिहास के मध्ययुग—अर्थात् ६४८ ईस्वी में हर्ष की मृत्यु से लेकर सोलहवीं शताब्दी के मध्य में महान मुगल-सम्राट अकबर द्वारा उत्तरी भारत पर आधिपत्य तक—की विशेषताएं थीं राजपूत वीरों के वीरतापूर्ण और साहसिक कार्य राजपूत स्त्रियों की आत्माहुति राजपूत दरबारों की शान-शौकत तथा राजपूताना अजमेर, ग्वालियर, मालवा और गुजरात में वास्तुशास्त्र मूर्तिकला और साहित्य का विकास। राजपूत उन अनेक विदेशी जातियों के वंशज हैं जो उत्तर-पश्चिम से विशेषतः पांचवीं और छठी शताब्दी ईस्वी में भारत आई थीं और हिन्दूधर्म स्वीकार कर लेने पर जिन्हें हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया था। ये मुख्यतः गुर्जर, परिहार, हूण और *अन्य मध्य-एशियाई जातियों तथा गोंड भर, गूजर, जाट, आभीर खसिया* और भोटिया जैसे पिछड़े हुए कबीलों के वंशज हैं। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में समस्त उत्तरी पश्चिमी और मध्य भारत में महान राजपूत जातियां फैली थीं। वे स्वयं को अग्निकुल का वंशज कहती थीं और प्रथम मुसलमान-आक्रमणों से लगभग चार शताब्दियों तक वीरता और बलिदान की भावना से प्रेरित होकर भारत में स्वाधीनता-युद्ध में रत रहीं। महोदयश्री के प्रतिहार राजा भोज प्रथम भटिंडा के जयपाल एहड़वाल धारा के भोज परमार कन्नौज और बनारस के जयचन्द गहड़वार, अजमेर और दिल्ली के पृथ्वी राज चौहान गुजरात के मूलराज सोलंकी और बुंदेलखंड के चन्देल मध्यप्रदेश के कलचुरी तथा बयाना के पास राजाओं ने वीरता की नई परम्पराएं कायम कीं। भाटों और चारणों ने इन परम्पराओं की प्रशस्ति गाई तथा अन्य शासक इन्हें अपना पथ प्रदर्शक मानते।

एक के बाद एक होनेवाले विदेशी—दूसरी शताब्दी ईसापूर्व में इंडो बैक्ट्रियाइयों शकों और कुषाणों से लेकर पांचवीं शताब्दी ईस्वी में श्वेत हूणों और परिहारों के—आक्रमणों और विजयों ने प्राचीन क्षत्रिय-वर्गों को लगभग समाप्त कर दिया था। विदेशियों के साथ पांच सौ वर्षों से अधिक समय तक युद्ध करते रहने के कारण प्राचीन क्षत्रिय जातियों का लगभग लोप हो गया। इस विनाश की स्मृति परशुराम की पौराणिक कथाओं में मौजूद है। एक कथा में जब देश शासक-विहीन हो गया तो देवताओं ने समस्त अग्नि

कुल राजपूतों—परमार अथवा पवार, प्रतिहार अथवा परिहार, चौहान और सोलंकी—को आबू पर्वत पर उद्धार किया। किन्तु राजपूत-कथा कल्पनामात्र न थी। इस कथा ने एक महत्वपूर्ण काम किया। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद लगभग ३६ विभिन्न विदेशी जातियां भारत आई और उन्हें स्वीकार करके समाज में सम्मिलित कर लिया गया। अब राजपूतों ने ही प्राचीन क्षत्रियों का स्थान ले लिया। महमूद गजनवी के सत्रह आक्रमणों में मृत राजपूतों की जगह लेने के लिए नई राजपूत-जातियों का उदय हुआ। दिल्ली की तोमर, कन्नौज और बनारस की गहड़वाल तथा अजमेर की चौहान इसी प्रकार की जातियां थीं। आर्यावर्त की अनेक पिछड़ी हुई स्वदेशी जातियों का सामाजिक स्तर ऊंचा उठने तथा ब्राह्मण व वैश्य वर्णों के साथ राजपूतों के विवाह के फलस्वरूप भी राजपूतों की संख्या बढ़ी। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में राजपूत समस्त आर्यावर्त में फैल गए तथा अब राजपूत-क्षत्रियों और उच्चवर्णों में बड़ी संख्या में विवाह होने लगे। इसी समय में अंतर्वर्ण विवाह को भी मान्यता प्राप्त थी। सोमदेवकृत 'कथासरित्सागर' में जिसका रचनाकाल १०६३–१०८१ ईस्वी माना जाता है, ऐसे समाज का चित्रण है जिसमें जातियों और वर्णों का खूब अन्तर्मिलन हो रहा था तथा गंधर्व-विवाह का प्रचलन था।

राजपूत-स्वभाव

राजपूतों में प्रथा थी कि किशोरावस्था प्राप्त करते ही बालक को 'खड्ग-बन्धन' करा दिया जाता था। इसी समय से उसकी महत्वाकांक्षा हो जाती थी—युद्ध। शिकार और बाज की मदद से शिकार उसके मनोरंजन थे। भारतीय महाकाव्यों के नायक उसके आदर्श थे। यह बड़ा ही साहसी और निडर तथा अक्खड़ क्रोधी जिद्दी और मनमानी करनेवाला होता था। किन्तु पराजित को प्राणदान देना, स्त्रियों का सम्मान करना उसका नियम था तथा वह अपने साथियों और शत्रुओं के प्रति भी सहृदय होता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि युद्ध और प्रेम किसीमें भी वह छल नहीं करता था। अपने व्यवहार में राजपूत योद्धाओं और यूरोप के मध्ययुगीन 'नाइट्स' में आश्चर्यजनक समानता थी। राजपूतों के इतिहासकार टॉड का कथन है : "राजपूतों में आत्मा में पश्चिमी नाइटों के सभी गुण तो थे ही, साथ ही उनकी मानसिक उपलब्धियां पश्चिमी नाइटों की उपलब्धियों से श्रेष्ठतर थीं।" मध्ययुगीन यूरोपीय योद्धाओं के सर्वथा विपरीत अनेक राजपूत शासक कुशल कवि और वैज्ञानिक भी थे। कम से कम तीन महान राजपूत राजा थे : धारा के विख्यात राजा भोज (ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी) जिन्होंने व्याकरण, राजनीतिशास्त्र, ज्योतिष और वास्तुशास्त्र जैसे अलग-अलग विषयों पर अपने वृहद् ज्ञान के बल पर ग्रंथ लिखे; कन्हूरि मयूरराज (लगभग ८ ईस्वी) और अजमेर के विग्रहराज चतुर्थ चौहान (लगभग ११५३ ईस्वी)। इन्होंने समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन तथा कन्नौज के महान शासक हर्ष की परम्पराओं को पुनर्जीवित किया।

राजपूत स्त्री वीरबालिनी, स्वतन्त्र और सती होती थी और स्वयंवर के प्राचीन क्षत्रिय-अधिकार का उपयोग करती थी। वह युद्ध और शिकार में अपने पति की सहचरी थी तथा अपमान, सतीत्वहरण एवं दासता की अपेक्षा चिता पर जीवित जल जाना अधिक

पसन्द करती थी। 'रक्षाबन्धन' एक आकर्षक प्रथा थी। कलाई पर बंधनेवाला यह रेशमी धागा विभिन्न व्यक्तियों अथवा परिवारों के बीच एक अटूट मैत्री का प्रतीक था ऐसी मैत्री जो समृद्धि अथवा निर्धनता से परे थी। सहायतार्थी अथवा शरणार्थी को कभी निराश नहीं लौटाया जाता था फिर चाहे कितना बड़ा खतरा उठाना पड़े। स्वदेश अथवा संस्कृति की रक्षा के लिए वीरतापूर्ण युद्ध करने की प्रवृत्ति ने इस भावना को जन्म दिया 'जीवन एक पुराना कपड़ा है इसे फेंक दिया जाए तो क्या बिगड़ जाता है? वीरतापूर्ण मृत्यु अमर जीवन है। राजपूताना के भाट अथवा चारण पुराने प्रशस्तिगान गाया करते थे जिनमें राजपूत योद्धाओं की अपनी जाति अथवा राजा के प्रति भक्ति वीरता और साहस तथा उनकी रानियों के सतीत्व सहनशीलता और बलिदान का वर्णन होता था। नीचे एक सुप्रसिद्ध प्राचीन राजपूत-कथा दी जाती है। यह टॉडकृत 'राजस्थान' में मौजूद है तथा इसमें चित्तौड़ की रानी के आत्मबलिदान की कथा है। राणा युद्ध में वीरगति प्राप्त कर चुके हैं। रानी राणा के एक अनुचर से पूछती है

दूत मेरे प्रस्थान करने से पहले मुझे बताओ कि मेरे स्वामी ने किस प्रकार युद्ध किया?

'युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के सिर उतार दिए उन्होंने। मैं तो उनके पीछे-पीछे चल रहा था। सम्मान के रक्तरंजित पलंग पर उन्होंने मृतकों का बिस्तर बिछा दिया। एक म्लेच्छ राजा को मारकर तकिया बनाया और अब अपने मृत शत्रुओं के बीच सो रहे हैं।

दूत एक बार और बताओ कि मेरे स्वामी ने कैसा युद्ध किया?

'हे मां! उनके कृत्यों का वर्णन कौन कर सकता है? उन्होंने एक भी शत्रु जीवित नहीं छोड़ा जो उनसे डरे या उनका आदर करे।

रानी ने मुस्कराकर दूत से विदा ली कहा देर करूंगी तो मेरे स्वामी नाराज होंगे। और आग की लपटों में कूद पड़ी।

आठ शताब्दियों तक चित्तौड़ के निवासियों और योद्धाओं ने वीरतापूर्ण कार्य किए तथा हृदय-विदारक यंत्रणाएं सहीं और इन स्मृतियों को मेवाड़ के चारणों ने जीवित रखा। राजस्थान में चित्तौड़गढ़ से अधिक किसी अन्य गढ़ के शौर्य और बलिदान ने भारतीय योद्धाओं को उत्साहित नहीं किया। चित्तौड़ सदैव राजपूतों के विद्रोह का केन्द्र रहा। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में रत्नसिंह चित्तौड़ के राणा थे और उनकी अनुपम सुन्दरी रानी का नाम था पद्मिनी। १२९७ ईस्वी में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर घेरा डाल दिया तथा पद्मिनी को अपनी मलिका बनाने की इच्छा प्रकट की। पद्मिनी ने चित्तौड़ की समस्त राजपूतानियों के साथ जौहर किया। और १५६० ईस्वी में राजा जयमल और राजा पत्ता ने अकबर की सेनाओं से चित्तौड़ की रक्षा की। किन्तु चित्तौड़ का पतन अन्ततः होकर ही रहा जिसमें ३०,००० निवासी निर्दयतापूर्वक मार डाले गए। इसके बावजूद, प्रतापसिंह ने बचे-खुचे आदमियों को इकट्ठा करके पचीस साल तक मुगल साम्राज्य के सम्मिलित प्रयत्नों का मुकाबला किया। कभी वे मैदानी इलाकों पर धावा मारते तो कभी पहाड़ों के बीच अपनी जान बचाते फिरते। पहाड़ियों पर उगनेवाले

जंगली फलों से उनके परिवार का पेट भरता था। इस प्रकार, जंगली जानवरों और लगभग उतनी ही जंगली जातियों के बीच राणाप्रताप के उत्तराधिकारी बालक अमरसिंह का पालन-पोषण हुआ—और अमरसिंह ने स्वयं को अपने पिता के साहस और प्रतिशोध भावना का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध किया। (टॉड)।

राजपूतों की जातीयता और सामन्तवाद के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई राष्ट्रीय दुर्बलता

राजपूत स्वयं को सर्वाधिक कुलीन 'रघुकुलतिलक', मानते थे। अतः शीघ्र ही उनमें अपने वंशाभिमान स्थानीय देशभक्ति और संकुचित जातीयता की भावनाएं घर कर गईं। फलस्वरूप किसी स्थायी संगठन अथवा बड़े संघ का निर्माण न हो सका ताकि मुसलमान आक्रमणों और विजयों का सफल विरोध किया जा सकता। सामाजिक रूप से राजपूत योद्धाओं ने धर्मसैनी वर्ग अख्तियार करके स्वयं को शेष समाज से अलग कर लिया। इस प्रकार अब एक धर्मी और सैनिक अभिजात-वर्ग का निर्माण हुआ। वे चारणों और चापलूसों से सदैव घिरे रहने लगे जिन्होंने राजपूतों की पृथक्त्व और अपने को बड़ा समझने की भावना को कृत्रिम रूप से और बढ़ाया।

परस्पर पृथक और विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि वाले अनेकानेक जातीय समुदाय आसानी से उस प्रकार का राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं अपना सकते थे जो विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध गुप्तकालीन संघर्ष की विक्रमादित्य-परम्परा में होता। कुछ राजपूत राजाओं—जैसे, चेदि के गांगेयदेव कलचुरि, मालवा के सिंधुराज और कल्याण के त्रिभुवनमल्ल—ने 'विक्रमादित्य अथवा 'नव-साहसांक' की पदवी धारण की किन्तु वे नये आक्रमणकारियों के आक्रमणों को रोकने में सर्वथा असफल रहे। हम्मीर-महाकाव्य' में अवश्य हिन्दू-पुनर्जागरण किसी सीमा तक परिलक्षित था, किन्तु उसका स्वर बहुत धीमा था और मेवाड़ के चारों ओर की पहाड़ियों से बाहर नहीं पहुंच सका। गुप्त काल में विदेशी आक्रमणों के समय सभी राजा और जातियां एक हो जाते थे किन्तु मुसलमान आक्रमणों के समय में इस प्रकार की राष्ट्रीयता भारत में न थी। राजपूतों की सैनिक जाति ने संकटाविकाल में भारत का साथ न दिया। या यों कहना चाहिए कि ब्राह्मण-संस्कृति ने ही इन नवीन राजवंशियों को, जिनके भाटों, विद्वानों व कवियों द्वारा प्रोत्साहित राजपूतों के अभिमान कोप और वंशभक्ति के कारण एक व्यापक राष्ट्रीय प्रयत्न संभव न हो सका, सहारा न दिया। सागर से सागर तक विस्तृत साम्राज्य (आसमुद्र क्षितीश) का प्राचीन हिन्दू सिद्धान्त इस समय की नवीन व्यवस्था में खो गया। तत्कालीन व्यवस्था में अनेक जातियों और गोत्रों के छोटे-छोटे राजाओं के अलग-अलग राज्य थे। गुर्जर, राष्ट्रकूट, चन्देल कलचुरि, परिहार, पवार सोलंकी तोमर और गहड़वार इसी प्रकार की जातियां थीं। इन्होंने उत्तरभारत में अपने अलग-अलग साम्राज्य स्थापित कर लिए थे और इनमें आपस में खूब लड़ाइयां हुआ करती थीं। परम्परावादी हिन्दू साम्राज्यवाद एक सुदृढ़ राष्ट्रीय एकता की स्थापना और मुसलमान आक्रमणकारियों से भारत की रक्षा कर सकता था किन्तु राजपूतों की जातीयता और राजपूत सामन्तवाद

पसन्द करती थी। 'रक्षाबन्धन' एक भावपक्ष प्र,
रेशमी धागा विभिन्न व्यक्तियों अथवा परिवारों के
ऐसी मैत्री जो समृद्धि अथवा निर्धनता से परे थी। र
निराश नहीं लौटाया जाता था फिर चाहे जितना ब
संस्कृति की रक्षा के लिए वीरतापूर्ण युद्ध करने की प्रव
'जीवन एक पुराना कपड़ा है' इसे फेंक दिया जाए तो व
अमर जीवन है। राजपूताना के भाट अथवा चारण
जिसमें राजपूत योद्धाओं की अपनी जाति अथवा राज
तथा उनकी रानियां के सतीत्व सहनशीलता और व
एक सुप्रसिद्ध प्राचीन राजपूत-कथा दी जाती है। य
तथा इसमें चित्तौड़ की रानी के आत्मबलिदान की क
कर चुके हैं। रानी राणा के एक अनुचर से पूछती है

दूत मेरे प्रस्थान करने से पहले, मुझे ब
किया ?

'युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के सिर उतार दि
रहा था। सम्मान के रक्तरंजित पर्यंक पर सन्द्रा
म्लेच्छ राजा को मारकर तकिया बनाया और प

'दूत एक बार और बताओ कि म
है मां! उनके कृत्यों का वर्णन
जीवित नहीं छोड़ा जो उनसे डरे या उनका
रानी ने मुस्कराकर दूत से ि
मारात्र हूँगि। और आग की लपटों में

आठ शताब्दियां तक चित्तौ
किए तथा हृदय-विदारक यंत्रणाएं स
रखा। राजस्थान के चित्तौड़गढ़ से
भारतीय योद्धाओं को उत्साहित न
रहा। तेरहवीं शताब्दी के मध्य म
सुन्दरी रानी का नाम था पद्मिनी।
घेरा डाल दिया तथा पद्मिनी को प्रा
चित्तौड़ की समस्त राजपूतानियों
जयमल और राजा पत्ता ने अकबर व
का पतन अवश्य होकर ही रहा किन
इसके बावजूद,प्रतापसिंह ने बप-कुचे था
साम्राज्य के सम्मिलित प्रयत्नों का मुका
मारते तो कभी पहाड़ों के बीच अपनी ज

से पटे पड़े हैं। पवित्र ब्राह्मण और बौद्धधर्मी काव्य और लोककथा के तत्वों ने मिलकर समस्त जनता में सामान्य-बुद्धि के स्थान पर आश्चर्य रोमांच और उत्तेजना की प्रवृत्ति जागरित की। कभी अत्यन्त प्रचलित प्राचीन आत्मानुशासन भावना तथा श्रद्धा और आत्मा के अन्वेषण के बदले विवेकशून्यता और तात्कालिकता के प्रति लालसा को बढ़ावा दिया। स्वयं कन्नौज अथवा महोदयश्री के दरबारी कवि राजशेखर ने अपनी 'कर्पूरमंजरी' में जो १०वीं शताब्दी के अन्त में प्राकृत में लिखी गई थी वैदिकधर्म की निन्दा तथा तान्त्रिक कौलाचार की प्रशंसा की है। ऐन्द्रजालिक भैरवानन्द अपने तान्त्रिक जादू के बल पर राजा और कद में पड़ी सुन्दरी कर्पूरमंजरी का प्रथम मिलन और विवाह सम्पन्न कर देता है। मन और तंत्र के प्रति उसमें श्रद्धा है उसके गुरु उस ज्ञान एवं ध्यान के प्राचीन भारतीय अनुशासन से मुक्त कर देते हैं। अनेक ब्राह्मण और बौद्ध तान्त्रिकग्रन्थों में जादू वासना और यौन रहस्यात्मकता का अति भयानक मिश्रण उपस्थित है। इन ग्रन्थों में पत्नी को जीतने या फुसलाने गुप्त धन पाने और शत्रु को पागल बनाने या मारने के उपाय बताए गए हैं। और इस सबका प्रवेश शिक्षाप्रद कथाओं तथा लोककथाओं में भी हो गया।

मुक्ति शराब और वासना के अपवित्र संयोग के कौलधर्म में प्रवेश के अतिरिक्त देवी (गौरी या लक्ष्मी) का सार्वजनिक झूला-त्योहार (जो एक मास तक चलता था और दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक खूब प्रचलित था) प्रेम-क्रीड़ाओं और विलास का अवसर बन गया। मकानों की अमहन्य छतों और चित्र-भित्तिनिवेशों के समान सार्वजनिक उद्यान भी प्रेमियों के क्रीड़ा-स्थल बन गए। प्रेमीजन देवी की मूर्ति के सामने अपनी-अपनी प्रेमिकाओं को झूला झूलते ऊपर-नीचे आते जाते देखते थे। प्रेमिकाओं की लहराती चोटियां ऊपर उठ-उठ जाती थीं सफेद चमकदार साड़ियां दीखती थीं और घुंघरू बजते थे।

सामाजिक जीवन—विशेषतः नगरों और कस्बों के सामाजिक जीवन—की सम्पूर्ण प्रवृत्ति में ही गिरावट आ गई। गुप्तकालीन प्रेम विवाह और परिवार की पवित्रता पर बर्बरों की जीवन-संहिता से उत्पन्न अनाचार अविश्वास और भोग-विलास हावी हो गए। दामोदरगुप्तकृत 'कुट्टनीमतम्' (नवीं शताब्दी) और क्षेमेन्द्रकृत 'समयमातृका' (ग्यारहवीं शताब्दी) जैसे संस्कृत-काव्यों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित है। इनमें वेश्याओं के कारनामों का वर्णन है और 'कामसूत्र' के गहन अध्ययन पर आधारित ये काव्य स्पष्टतः अश्लील हैं। इसी प्रकार, अत्यधिक लोकप्रिय 'शुकसप्तति' में वर्णित है कि छिनाल स्त्रियां कैसे अपने सीधे-सादे पतियों की आंखों में धूल झोंकती हैं चकमा देती हैं। ये कहानियां मनोरंजक हैं, और साथ ही युग की सामान्य शिथिलता और पारिवारिक सचाई के अभाव को भी व्यक्त करती हैं।

राजपूतों में एकता और रणनीति का अभाव

तुर्क-आक्रमणों से युद्ध करने का दायित्व जिन सत्ताधारियों ने ले रखा था उन्होंने अपने अहंकार के कारण स्वयं को शेष समाज से एकदम अलग कर लिया तथा आपस में लड़ना आरम्भ कर दिया। तेरहवीं शताब्दी के भारत में पाटन के भीमदेव अजमेर के पृथ्वीराज और कन्नौज के जयचन्द्र ने कुछ समय तक अलग-अलग मुसलमान आक्रमण-

के सामाजिक संगठन ने इसकी संभावना न रहने दी।

जातिप्रथा और पर्दे की रूढ़ियां

राजपूत जातियों के घमंड और पृथक्त्व भावना की प्रतिक्रिया शीघ्र ही सम्पूर्ण भारतीय समाज पर हुई। भारतीय संस्कृति को अवनति की ओर ले जानेवाली दो मर्म-भर सामाजिक कुरीतियां मुख्य-कुख्यात राजपूतों की देन हैं। ये कुरीतियां हैं जन्म के आधार पर वर्ण-विभाजन तथा जीवन के उच्चतर क्षेत्र से स्त्रियों को निकाल देना। घमंडी और समाज से अलग राजपूत सामन्त स्वयं को उच्च सामाजिक स्थिति और विशेषाधिकारों के दावे प्रस्तुत करते थे। इसके अतिरिक्त मुसलमान हिन्दुओं को मुसलमान बनाते तथा इस प्रकार हिन्दू विधर्मियों को उच्चपद देने को तैयार थे और यह समाज के लिए एक बड़ा खतरा था। समाज के सभी स्तरों पर वर्गों की वृद्धि वास्तव में उपर्युक्त दो कारणों के प्रतिक्रियास्वरूप जन्मी। मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध राजपूतों के संघर्ष के लम्बे समय में राजपूतों के जातिगत अभिमान और मुसलमानों की संकीर्णता से ही भारत के जातीय बन्धनों खानपान-निषेध पर्दा-प्रथा और उच्च वर्गों की स्त्रियों को घर की चहारदीवारी के भीतर रखने की कट्टरता की नींव रखी। लड़कों और लड़कियों का कम उम्र में विवाह सती प्रथा तथा घर के भीतर ही स्त्रियों को रखने की प्रथा के कारण हैं राजपूत सामन्तों के एक अलग वर्ग की स्थापना तथा उत्तरी भारत में सामूहिक धर्म परिवर्तन और मुसलमानों की सामाजिक विजय के असली खतरे। इस युग में मुसलमान आक्रमणकारियों ने जनसामान्य में असुरक्षा की भावना पैदा कर दी थी तथा स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक स्थिति में बहुत अवनति हुई। हां इसी युग की सुन्दर और गुणवती पद्मिनी रूपमती और पद्मावती अवश्य अपवाद थीं।

समाज की परम्परावादी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जिसकी व्याख्या गुप्तकाल में महाभारत याज्ञवल्क्यस्मृति और मनुस्मृति में की गई थी मध्ययुग में एकदम टूट गई। इसके दो कारण थे। दूसरी शताब्दी ईस्वी में बर्बरा के साथ जातीय सम्मिश्रण का प्रारम्भ हुआ तथा छठी से ग्यारहवीं शताब्दी तक खूब तेजी से होता रहा। दूसरे इस प्रकार बनी मिश्रित जातियां विभिन्न राजपूत शासक जातियों में संगठित हो गईं तथा राजपूतों के देववंशीय होने के दावों का खंडन करना ब्राह्मणों के लिए केवल धर्मशास्त्रों का हवाला देकर कर पाना सम्भव न था।

ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म की अवनति

उत्तर-मध्ययुग में आर्यावर्त में अवनति स्पष्ट दीख रही थी। ब्राह्मण-व्यवस्था अव्यवस्थ हो गई। गुप्तकाल के सुदृढ़ चिन्तनप्रधान धर्म का स्थान मध्ययुग में वामपंथी तांत्रिक धर्म ने ले लिया जिसमें वासना जादू-टोने और मानव-बलि का प्राधान्य था। भवभूतिकृत 'मालतीमाधव' (लगभग ७१२ ईस्वी) और सोमदेवकृत 'कथासरित्सागर' (१०६३–१०८१ ईस्वी) में इसका भयंकर वर्णन है। क्षेमेन्द्रकृत 'कलाविलास (ग्यारहवीं शताब्दी) तथा सोमदेवकृत 'वैताल पंचविंशतिका' रोमांच अंधविश्वास व चालबाजियों

से पटे पड़े हैं। पतित ब्राह्मण और बौद्धधर्मों काव्य और लोककथा के तत्त्वों ने मिलकर समस्त जनता में सामान्य-बुद्धि के स्थान पर आश्चर्य रोमांच और उत्तेजना की प्रवृत्ति जागरित की; कभी सर्वत्र प्रचलित प्राचीन आत्मानुशासन भावना तथा ब्रह्म और आत्मा के अन्वेषण के बदले विवेकशून्यता और तात्कालिकता के प्रति लालसा को बढ़ावा दिया। स्वयं कन्नौज अथवा महोदयश्री के दरबारी कवि राजशेखर ने अपनी 'कर्पूरमंजरी' में जो नवीं शताब्दी के अन्त में प्राकृत में लिखी गई थी वैदिकधर्म की निन्दा तथा तांत्रिक कौलाचार की प्रशंसा की है। ऐन्द्रजालिक भैरवानन्द अपने तांत्रिक जादू के बल पर राजा और कैद में पड़ी सुन्दरी कर्पूरमंजरी का प्रथम मिलन और विवाह सम्पन्न कर देता है। मंत्र और तंत्र के प्रति उसमें श्रद्धा है उसके गुरु उसे ज्ञान एवं ध्यान के प्राचीन भारतीय अनुशासन से मुक्त कर देते हैं। अनेक ब्राह्मण और बौद्ध तांत्रिकग्रन्थों में जादू वासना और यौन रहस्यात्मकता का अति भयानक मिश्रण उपस्थित है। इन ग्रन्थों में पत्नी को जीतने या झुकाने पुत्र धन पाने और शत्रु को पागल बनाने या मारने के उपाय बताए गए हैं। और इन सबका प्रवेश शिक्षाप्रद कथाओं तथा लोककथाओं में भी हो गया।

मुक्ति, शराब और वासना के अपवित्र संयोग के कौलधर्म में प्रवेश के अतिरिक्त देवी (गौरी या लक्ष्मी) का सार्वजनिक झूला-त्योहार (जो एक मास तक चलता था और दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक खूब प्रचलित था) प्रेम-क्रीड़ाओं और विलास का अवसर बन गया। मकानों की अलंकृत छतों और चित्र-भित्तिनिवेशों के समान सार्वजनिक उद्यान भी प्रेमियों के क्रीड़ा-स्थल बन गए। प्रेमीजन देवी की मूर्ति के सामने अपनी-अपनी प्रेमिकाओं का झूला झूलते ऊपर-नीचे आते-जाते देखते थे। प्रेमिकाओं की सहराती चोलियां ऊपर उठ-उठ जाती थीं सफेद चमकदार मणियां दीखती थीं और घुंघरू बजते थे।

सामाजिक जीवन—विशेषतः नगरों और कस्बों के सामाजिक जीवन—की सम्पूर्ण प्रवृत्ति में ही गिरावट आ गई। गुप्तकालीन प्रेम विवाह और परिवार की पवित्रता पर बर्बरों की जीवन-संहिता से उत्पन्न अमार्जन अविश्वास और भोग-विलास हावी हो गए। दामोदरगुप्तकृत 'कुट्टनीमतम्' (नवीं शताब्दी) और क्षेमेन्द्रकृत 'समयमातृका' (ग्यारहवीं शताब्दी) जैसे संस्कृत-काव्यों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित है। इनमें वेश्याओं के कारनामों का वर्णन है और 'कामसूत्र' के गहन अध्ययन पर आधारित ये काव्य स्पष्टतः अश्लील हैं। इसी प्रकार, अत्यधिक लोकप्रिय 'शुकसप्तति' में वर्णित है कि छिनाल स्त्रियां कैसे अपने सीधे-सादे पतियों की आंखों में धूल झोंकती हैं, चकमा देती हैं। ये कहानियां मनोरंजक हैं और साथ ही युग की सामान्य शिथिलता और पारिवारिक सचाई के अभाव को भी व्यक्त करती हैं।

राजपूतों में एकता और रणनीति का अभाव

तुर्क-आक्रमणों से युद्ध करने का दायित्व जिन सत्ताधारियों ने ले रखा था उन्होंने अपने अहंकार के कारण स्वयं को शेष समाज से एकदम अलग कर लिया तथा आपस में लड़ना आरम्भ कर दिया। तेरहवीं शताब्दी के भारत में पाटन के भीमदेव अजमेर के पृथ्वीराज और कन्नौज के जयचन्द्र ने कुछ समय तक अलग-अलग मुसलमान आक्रमण-

कारी से संघर्ष किया। लेकिन जब शत्रु दूनी सैनिक शक्ति के साथ वापस आया तो तीनों शासक एक न हो सके। अब तक कन्नौज की राज्य परम्परा (१२०–१२०० ईस्वी) नष्ट हो चुकी थी। प्रतिरक्षा के अलग-अलग केन्द्र थे—गुजरात मारवाड़ सपादलक्ष अथवा मेन्पैत—किन्तु विभिन्न राजपूत-जातियों ने जिनके बीच देश उस समय बंटा हुआ था, आपस में एकता नहीं स्थापित की। बहुविवाह और सामन्तशाही के कारण राजवंशों के विनाश के फलस्वरूप राजपूतों की एकताहीनता और अधिक तीव्र हो गई। इसके विपरीत तुर्क अफगान आक्रमणकारियों की सेनाओं में अधिकांश सैनिक घुमक्कड़ और लूट-पाट के लोभी थे तथा जानते थे कि उनके लिए पराजय का अर्थ था पूर्ण विनाश। इसलिए प्रभाव और धर्मदेश में लूटमार के उद्देश्य से आयोजित अभियानों की खतरों से उत्पन्न उद्दंडता और दृढ़ निश्चय से वे लड़ते थे। खुले मैदानों में मुसलमान सेनाओं के सामने राजपूतों के पांव आसानी से उखड़ गए। इसके कारण थे प्राचीन ग्रंथों पर आधारित पुरानी हिन्दू रणनीति पैदल और घुड़सवार दोनों सेनाओं में प्रशिक्षण का अभाव तथा तेजी से काम करनेवाली सुप्रशिक्षित तुर्क-अफगान घुड़सवार-सेना के सामने युद्ध के हाथियों की अकर्मण्यता। भारत में प्रशिक्षित घोड़े या खच्चर न थे इसके लिए पंजाब अरब या फारस पर निर्भर रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त तुर्क-अफगान धनुर्विद्या में पारंगत थे जिसके आगे राजपूतों की तलवारबाजी किसी काम न आ सकती थी क्योंकि तलवार का उपयोग केवल द्वन्द्वयुद्ध में सम्भव था। मुसलमानों के घुड़सवार धनुर्धारी सैनिक अचानक हमला कर देते थे तथा सिद्धान्तहीन उपायों का भी प्रयोग करते थे। इस प्रकार की एक तरकीब थी हिन्दू सेना के पीने के पानी को अपवित्र कर देना ताकि समस्त सेना में निराशा और दुःख का वातावरण भर जाए। उनका सिद्धान्त था युद्ध में सब उचित है। इसके विपरीत हिन्दू राजा अपने युद्ध के नियमों का सख्ती से पालन करते थे उन्हें सैनिक चालबाजियों अथवा सिद्धान्तहीन उपायों से घृणा थी और कभी-कभी तो वे विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी उसका पूरा लाभ नहीं उठाते थे। मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की एक दुःखद घटना है तराइन का प्रथम युद्ध (११९१ ईस्वी) जिसमें शाहबुद्दीन को परास्त करने के बाद भी पृथ्वीराज उसका पूरा लाभ नहीं उठा सके। शाहबुद्दीन की सेनाएं आराम से बिना किसी कठिनाई के अफगानिस्तान वापस चली गई। फिर शाहबुद्दीन ने पहले से कहीं बड़ी सेना लेकर दुबारा आक्रमण किया और तराइन के द्वितीय युद्ध (११९२ ईस्वी) में अपने पहले युद्ध के विजेता को परास्त किया।

मुसलमान सैनिकों में वीरोचित गुणों का सर्वथा अभाव था फलस्वरूप निर्दयता अधिक थी। उनमें 'पवित्र जेहाद' का जोश था और वे धर्मान्ध होकर पूरी शक्ति से लड़ते थे और किसीके साथ—स्त्रियों और बच्चों के साथ भी—दयापूर्ण व्यवहार नहीं करते थे। भारत के नगर और मन्दिर लूटे गए विनष्ट और अपवित्र कर दिए गए शूरवीर राजा और सामन्त एकदम निराश हो गए तथा स्त्री-पुरुषों ने मिलकर सामूहिक आत्महत्याएं कीं। इसका प्रभाव जनसाधारण पर यह पड़ा कि उनमें रहा-सहा साहस भी जाता रहा। इसके अतिरिक्त हिन्दू सामाजिक व्यवस्था भी ऐसी न थी कि जनता के सहयोग से आक्रमणकारियों का डटकर अन्त समय तक मुकाबला किया जा सकता।

हूण आक्रमणकारियों के पुराने अनुभव के पश्चात् हिन्दुस्तान की सैनिक जातियों का सामना पहली बार इतने सिद्धान्तहीन कपटी और निर्दय शत्रु के साथ हुआ था। हिन्दू योद्धाओं ने अपना रक्त पानी की तरह बहाया किन्तु वे युद्ध के प्रत्येक नियम का उल्लंघन करनेवाले शत्रु को आगे बढ़ने से रोक न सके। मध्ययुग के हिन्दू योद्धाओं के दुर्भाग्य के बारे में हिन्दुस्तान के अद्भुत और प्रख्यात विजेता बाबर ने कहा था कि भारतवासी 'मरना जानते थे लड़ना नहीं'।

स्वाधीन राज्यों में साहित्यिक सक्रियता

तुर्क-अफगान आक्रमणों की विशिष्टता यह थी कि अलग-अलग तुर्क-अफगान सरदारों ने समय-समय पर सफल अभियान अवश्य किए किन्तु एक संगठित शक्ति से दिल्ली सल्तनत पर विजय प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया गया। हाँ दिल्ली सल्तनत ने आक्रमणों के धर्मान्ध जोश और आक्रमणों का पूरा लाभ अवश्य प्राप्त किया। सच तो यह है कि दूर के क्षेत्रों पर दिल्ली सल्तनत का नियंत्रण प्रारम्भ से ही संदिग्ध था। अतः राजपूताना, गुजरात, मालवा और सबसे बढ़कर विजयनगर नामक स्वाधीन राज्यों में साहित्यिक सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियाँ वर्षों तक चलती रहीं। बुंदेलखंड में कालिञ्जर और बिहार में मिथिला जैसे छोटे राज्यों में भी अनेक विद्वानों और कवियों ने आश्रय ग्रहण किया अतः इन राज्यों ने भी हिन्दू सांस्कृतिक पुनरुत्थान में भाग लिया। राजपूताना में 'हम्मीरविजय' में रणथम्भीर के हम्मीरदेव की उज्ज्वल राष्ट्रभक्ति और वीरता का गुणगान किया गया है। राजपूत भाट अथवा चारण अपने आश्रयदाताओं के साहसिक कृत्यों का गुणगान हिन्दी वीरगाथाओं में करते रहे थे। इन वीरगाथाओं के कारण जनसाधारण में युद्ध के प्रति उत्साह जगने लगा। तुर्क अफगान आक्रमण के विरुद्ध धरती और संस्कृति के लिए भीषण संघर्ष के दौरान जनभाषा में साहित्य रचना का आरम्भ हुआ।

सर्वाधिक प्रसिद्ध राजपूत भाट था चन्दबरदाई, जिसने 'पृथ्वीराजरासो' की रचना की। इसमें दिल्ली और अजमेर के पृथ्वीराज चौहान के शौर्य का गुणगान किया गया है। पृथ्वीराज सर्वाधिक वीर और साहसी राजपूत नायकों में से एक था तथा वह भारतीय इतिहास का एक आकर्षक अद्भुत और रोचक व्यक्तित्व था। सुन्दरी पद्मावती और पृथ्वीराज (बाद में पृथ्वीराज पद्मावती को अपनी पत्नी बनाने के लिए अपहृत कर ले गया) के मिलन का चन्दबरदाई का वर्णन प्रख्यात है

पद्धरी (पद्धडी)

सोभन्त हार मौतिन जराय। स्वम्हल करंत दीपक जराय॥
पेमह सखिद्द लिय सहस बाल। एकमिलिय चेम सभ्मत मराल॥
पूजियह गवरि सकर मनाय। दच्छिनहिं अंग करि लगिय पाय॥
फिर देखि देखि पृथिराज राज। हँस मुद्ध मुद्ध कर पट्ट लाज॥
कर पकरि पीठ हय पर चढ़ाय। लै चल्यौ नृपति दिल्ली सुराय॥
भइ पकरि नगर बाहिर सुनाय। पदमावतीय हरिलीय जाय॥

बाजी सुबन हय गय पमांन। धीरे सुसज्जि विस्वह विसांन॥
सुम्ह सेहु-सेहु सुप जपि जोध। हल्लाह सूर सब पहिरि क्रोध॥
सगो सु राज प्रथिराज भूप। पच्छे सु भयो सब सेन रूप॥
पहुच सुजाय तब तुरंग। सुम भिरम भूप जुरि जोध जंग॥
उलटो सु राज प्रथिराज बाग। थकि सूर गयन धर बसत भाग॥
सामंत सूर सब कास रूप। गहि मोह छोह बाढ़े सुभूप॥
हम्मीर बीन सूटहि अपार। लागत मोह हमि धार धार॥
बमसान धीन सब बीर पत। बन मोन पब रक्त रेत॥
मारे बरात के जोध जोह। परि रुंड मुंड धरि पत छोह॥

दूहा

परे रुहत रिन पत धरि, करि दिल्लिय सुप रुप्प।
जीति चम्पी प्रथिराज रिन सकम सूर मम सुप्प॥

चन्दबरदाई के समकालीन जगनायक ने अपने 'आल्हाखंड' में महोबा के आल्हा और ऊदल के शौर्य और प्रेम का वर्णन किया है। एक अन्य कवि सारंगधर ने रणथम्भौर के राय हम्मीर के वीरतापूर्ण कार्यों को अपनी कृतियों 'हम्मीर रासो' तथा 'हम्मीर काव्य' का आधार बनाया।

राजपूताना ने संस्कृत साहित्य की वृद्धि में भी सक्रिय भाग लिया। जयसिंह सूरी ने एक महत्त्वपूर्ण नाटक 'हम्मीर-मद मर्दन' की रचना की (१२१६–१२२६ ईस्वी)। मेवाड़ के राणा कुम्भा स्वयं कवि थे। उन्होंने संगीतशास्त्र पर एक पुस्तक 'संगीतराज' तथा जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' की टीका लिखी। 'गीतगोविन्द' की रचना बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में—जिसके पंचरत्न थे जयदेव उमापतिधर, धोई, शरण और गोवर्धन नामक कवि—हुई थी। इन कवियों में सर्वाधिक विख्यात निस्सन्देह जयदेव थे जिन्हें संस्कृत-साहित्य में अन्तिम महाकवि माना जाता है।

गीत-गोविन्द में प्रतीक विधान और रचना-शैली की परिपूर्णता

बारहवीं शताब्दी के मध्य में जयदेव द्वारा रचित 'गीतगोविन्दकाव्यम्' विश्व साहित्य में एक अद्भुत और आश्चर्यजनक रूप से मौलिक काव्य है। इसमें गीत-नाट्य संगीत लोक प्रदर्शनों और नृत्य के तत्त्वों का सम्मिश्रण है। इसका रचना-विधान भिन्न तथा संवेदनात्मक एवं जटिल है जिसमें गीत, वार्तालाप, विवरण और वर्णना को मनोवैज्ञानिक स्थिति के उद्घाटन के साथ-साथ बांधा गया है और मनोवैज्ञानिक स्थिति मानव आत्मा में धार्मिक भावनाओं की परिपक्वता की प्रतीक है। कारण स्पष्ट है। 'गीत गोविन्द' में राधा तथा अन्य ग्वालिनों की लालसा और आशा निराशा और पीड़ा की मानवीय भावनाओं का आध्यात्मिक भक्ति और आनन्दातिरेक की भावनाओं से अलग नहीं माना जा सकता। काव्य का श्रेष्ठ उद्देश्य भी यही आध्यात्मिक भक्ति और आनन्दा

विशेष है। जयदेव का शब्द चयन सर्वोत्तम है शब्दों के अर्थ और ध्वनि में पूर्ण सामञ्जस्य है। प्रेम की अभिव्यक्ता आध्यात्मिक ताने-बाने से एक अत्यन्त श्रेष्ठ और सुन्दर वस्त्र तैयार करती है जो समकालीन बंगाल के बने हुए वस्त्रों अथवा आबू पर्वत के मन्दिरों के मध्य हाथों तराशे गए संगमरमरी अलंकरण के समान मोहक है और इस काव्यरूपी वस्त्र को प्रत्येक भाव भंगी का जयदेव ने उत्तम पूर्णत व्यक्त कर पाए हैं। यह एक भावप्रिय 'गाथा है और मन्दिरों अथवा त्योहारों में प्रदर्शन हेतु इसकी रचना हुई थी फिर भी भाव अथवा अर्थ में कहीं बिखराव नहीं है। कीथ के अनुसार, "जयदेव की कृति एक महान ग्रंथ है क्योंकि इसका समग्र प्रभाव किसी भी अन्य भारतीय काव्य से अधिक होता है। संस्कृतकाव्य में बहुप्रचलित लघु छन्दविधा का पूर्णत्व तथा अरस्तू के अनुसार विस्तार और संयम से सम्पन्न सौंदर्य दोनों इसमें है।"

'गीतगोविन्द' भारत के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथों में से एक है। इसकी रचना के बाद सौ वर्षों के भीतर ही इसके एक श्लोक को गुजरात के अणहिलवाड़ पट्टन के अभिलेख में उद्धृत किया गया। पन्द्रहवीं शताब्दी में कुम्भा ने इसकी टीका लिखी और दक्षिण में वल्लभाचार्य ने सर्वाधिकृत ग्रंथ के रूप में इसका जिक्र किया। बंगाल में चैतन्यपंथ में के वैष्णव सदा इसे अपने साथ रखने लगे। नाभादासकृत 'भक्तमाल' में अनेक कथाएं उद्धृत हैं जिनसे पता चलता है कि जयदेव कृष्ण के भक्त थे। संस्कृत में 'गीतगोविन्द' की अनेक नकलें की गई हैं तथा इसके सुन्दर, निर्दोष गीतों को कण्ठस्थ करके आज भी गाया जाता है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि इसकी आत्मा और प्रकृति पर उदीयमान हिन्दी साहित्य का गंभीर प्रभाव पड़ा था। नीचे 'गीतगोविन्द' का एक पद प्रस्तुत है। इसमें एक सखी राधा से कहती है कि लाज छोड़ उस कुंज में चलो जहां माधव उसकी प्रतीक्षा में बैठे हैं। यह पद वास्तव में ईश्वर के प्रति मानव आत्मा के प्रयास का प्रतीक है।

मञ्जुतरकुञ्जतलकेलिसदने
विलस रतिरभसहसितवदने।
प्रविश राधे! माधवसमीपमिह।

नवभवदशोकदलशयनसारे
विलस कुचकलशतरलहारे।
प्रविश राधे! माधवसमीपमिह।

कुसुमचयरचितशुचिवासगेहे
विलस कुसुमसुकुमारदेहे।
प्रविश राधे! माधवसमीपमिह।

एक अन्य पद में कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन है

चन्दनचर्चित नीलकलेवर पीतवसन वनमाली
केलि चलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे।

पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम्
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम्।
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे।

कापि विलासविलोलविलोचनखेलनजनितमनोजम्
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदनवदनसरोजम्
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे।[1]

राजपूत-वास्तुकला की समृद्धि और गीतात्मकता

शैली के माधुर्य के विचार से 'गीतगोविन्द काव्य' का संस्कृत काव्य में वही स्थान है जो [illegible] खजुराहो उदयपुर, भुवनेश्वर और कोणार्क के मन्दिरों का भारतीय वास्तुकला में। राजपूत श्रेष्ठ वीर होने के साथ-साथ श्रेष्ठ वास्तुक भी थे। चित्तौड़ रणथम्भौर जोधपुर मांडू ग्वालियर, चन्देरी, दतिया और ओरछा के शानदार किले राजपूतों के वीरतापूर्ण संघर्ष के विशिष्ट गढ़ तथा कला के सुन्दर आकर्षक नमूने हैं। नागरिक वास्तुकला के श्रेष्ठतम उदाहरण अम्बर उदयपुर जोधपुर और ग्वालियर के राजमहल हैं। श्रेष्ठ वास्तुक और इंजीनियरिंग कौशल के बल पर यहां की पहाड़ियों और झीलों का उपयोग इस प्रकार किया गया है कि शत्रुओं से सुरक्षा रह सके और सौन्दर्य में भी वृद्धि हो। अम्बर के राजमहल को 'समय की आधी उम्र का गुलाब की तरह लाल नगर' कहा गया है। राजपूत किलों के बारे में सम्राट बाबर ने कहा था "ये बेहद खूबसूरत हैं गुम्बद तांबे के पत्तरों से ढके हैं। चारों ओर की दीवारों पर रंगीन चौकों से केले के वृक्ष बनाए गए हैं।" राजपूत शासकों ने अनेक कृत्रिम झीलों जलाशयों स्नान घाटों और छतरियों का भी निर्माण कराया था। इनके निर्माण में प्रशंसनीय वास्तुक और इंजीनियरिंग कौशल लगा था। ये दोनों आज भी राजपूताना की जीवित परम्पराएं हैं।

फिर भी राजपूत-संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट आकर्षण है गुजरात से उड़ीसा और मध्यभारत से पंजाब हिमालय तक फैले हिन्दू बौद्ध और जैन मन्दिरों का वास्तु। कहीं कहीं पर मन्दिरों की दीवारों व छतों पर भित्तिचित्र आज भी शेष हैं। तथा महोबा खजुराहो उदयपुर भुवनेश्वर और कोणार्क की मूर्तियों की मृदुता सुन्दरता और कौशल श्रेष्ठता भारतीय कला में अन्यत्र अप्राप्य है। अनेक कला-समीक्षकों और इतिहासकारों की सम्मति में खजुराहो का कन्दरिया महादेव का मन्दिर भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर कोणार्क का मन्दिर तथा ग्वालियर का तेली का मन्दिर भारतीय मन्दिर वास्तु की सर्वोत्तम उपलब्धियां हैं। उदयादित्य परमार द्वारा उदयपुर (ग्वालियर) में १०५९ और १०८० ईस्वी के बीच निर्मित नीलकंठ अथवा उदयेश्वर मन्दिर एक अपेक्षाकृत अल्प प्रसिद्ध मध्ययुगीन मन्दिर है किन्तु यह भारत के सुन्दरतम मन्दिरों में से एक है अतः कला-इतिहासकारों को इसपर अधिक ध्यान देना चाहिए। परमार सुन्दरतापूर्वक पर

---

१ मूल संस्कृत पाठ निर्णयसागर प्रकाशन बम्बई द्वारा प्रकाशित 'श्रीजयदेवकविविरचितं गीतगोविन्दकाव्यम्' (नवां संस्करण, १९४९) से उद्धृत है।

स्तर सम्बन्धित प्रवेशमण्डपों छोटे मन्दिरों, सभामण्डप और चबूतरा-युक्त वेदी के कारण यह मन्दिर वास्तव में एक धार्मिक प्रस्तरगीत है। क्षैतिज ऊर्ध्व और वृत्ताकार रेखाएं तथा सतहों और आयतनों में अत्यन्त कलात्मक ढंग से तराशा हुआ हीरा है। इस प्रकार एक चक्र-चरम रेखाकार पिरामिड बन गया है जो समस्त आकार को सन्तुलन और अप्रतिम सौन्दर्य प्रदान करता है। मन्दिर के सौंदर्य में वृद्धि के लिए पतली-पतली समतल पट्टियां मन्दिर के पाद से शीर्ष तक जाती हैं तथा मुख्य मन्दिरों की चारों दीवारों पर मुख्य अट्टालक के छोटे-छोटे प्रतिरूप पंक्तियों में ऊपर उठते चले गए हैं और सरलता एवं अधिक ऊंचाई का आभास देते हैं। दूर से मन्दिर ऐसा प्रतीत होता है मानो अपना सुन्दर एवं विशाल मुकुट धारण किए शिव स्वयं विराजमान हैं। मन्दिर के भवन की तर्कसंगत सम्बद्धता एवं दृढ़ता के साथ-साथ उसकी सतह पर, तथा वेदिकाओं स्तम्भों दीवारों और छतों पर मूर्तियों की संख्या तथा अलंकरण वास्तव में अविश्वसनीय है।

बुन्देलखण्ड में खजुराहो के मन्दिर चन्देल राजपूतों ने ९५० और १०५० ईस्वी के बीच बनवाए थे। ये भी भारत के सुन्दरतम मन्दिरों में से हैं। भुवनेश्वर कोणार्क और उदयपुर के समान यहां भी वास्तुक 'तरहों' का ऐसा समन्वय है जो किसी अन्य युग अथवा भारत के किसी क्षेत्र में नहीं पाया जाता। मध्ययुगीन भारतीय मन्दिर का आकार गुंथा हुआ और स्पष्ट है इसके विभिन्न अंग अर्धमण्डप मण्डप अन्तराल और गर्भगृह आपस में संयुक्त होकर एक सम्पूर्ण वास्तुक इकाई का निर्माण करते हैं। गॉथिक गिरजाघरों के समान इसके बाहरी ढांचे के क्रमिक उभार और गहराइयां दर्शक की आंख को ऊंचे स्तर पर ले जाते प्रतीत होते हैं। ऊपर उठने का यह आभास केन्द्रीय अट्टालक के चारों ओर कई एकसमान शिखरों अथवा शृंगों तथा कलशों से और बढ़ जाता है। दूर से यह मन्दिर अनेक चोटियों (शृंगों) वाला कैलाश पर्वत अथवा जटामुकुट धारण किए स्वयं शिव-सा मालूम पड़ता है।

मध्ययुगीन मंदिर-वास्तु सदैव गीतात्मक है। मूर्तियों और पुष्पाकृति से इन मन्दिरों को खूब सजा दिया गया है। ये अलंकृतियां भारतीय पूजा के केन्द्रीय विचार —धार्मिक मानवीय और स्वर्गिक सुन्दर और असुन्दर आकर्षक और भयानक सभी रूपों और आकारों में देवता की उपस्थिति—की प्रतीक हैं। राजपूत-पुनरुत्थान के समय में आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक राजपूताना मालवा गुजरात काठियावाड़ और कच्छ के मैदानों में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ और इन सभी की विशेषताएं हैं—*गीतात्मकता और प्रकृति के प्रति ऐन्द्रिय प्रेम (जो गुप्त-पुनरुत्थान की विशेषताओं* का स्मरण दिलाते हैं) तथा कोमलता एवं विशालता। राजाओं व्यापारियों और सामन्तों की दानशीलता तथा कारीगरों और शिल्पियों के धार्मिक उत्साह के लगभग छः शताब्दियों के प्रवाह में इन मन्दिरों का निर्माण हुआ किन्तु दुःख है कि समय प्रवाह तथा मुसलमानों की इमारतों को नष्ट करने की प्रवृत्ति के कारण अधिकांश मन्दिर अब खण्डहर मात्र हैं। वास्तव में मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा आक्रमण और विनाश के भय ने ही इतनी तीव्र भक्ति भावना को प्रोत्साहन दिया और मन्दिरों की मूर्तिकला की समृद्धि एवं बहुलता का मुख्य कारण यही भक्ति भावना थी। धर्मनिष्ठा और सौन्दर्य-भावनाजन्य अलंकरण

की इस अद्वितीय शोभा और प्रवणता ने वास्तु और मूर्तिकला सम्बंधी कुछ ऐसी कृतियों को जन्म दिया है जो संसार भर में अप्रतिम हैं।

मूर्तिकला के प्रमुख प्रकार

उत्तर मध्ययुगीन मूर्तिकला को चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। सर्वप्रथम है इन्द्र के दरबार की नर्तकी—सुरसुन्दरी नायिका अथवा अप्सरा। आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के पांच सौ वर्षों से अधिक समय तक भारतीय मूर्तिकला को नवीन रूपाकार प्रदान करने का श्रेय तांत्रिक अध्यात्मविद्या और कल्पनाशीलता को है। प्रदेश पाल-सेन और कलिंग के गंगराज कला-सम्प्रदायों की विशेषताएं थी—आश्चर्यजनक गतिमयता स्वाभाविकता और जीवन की परिव्याप्ति की भावना। इन विशेषताओं का मूलाधार है ब्रह्माण्ड में देवता की रूपाकार-धारणा (शक्ति)। पृथ्वी की नायिका अथवा स्वर्ग की अप्सरा का घर और परिवार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता और भारतीय संस्कृति में वे नारी के प्रियवचना और सौंदर्य की प्रतीक हैं। नारी-सौंदर्य के प्रति मानव की शाश्वत प्रसन्नता को अभिव्यक्ति देनेवाले मध्ययुगीन मूर्तिकारों को नारी को अनेकानेक उत्तेजक मुद्राओं में अंकित करने में रस मिलता था। भारतीय भूमि की अकृत्रिम स्वाभाविकता से उत्पन्न और तांत्रिक पौराणिकता द्वारा विकसित नारी का भारतीय कला में वही स्थान है जो यूरोपीय कला में वीनस और माडना बीच का। उत्तेजक सौंदर्य से दीप्त ये देव-बालाएं अनेक मोहक भावभंगियों (जो निश्चय ही मानवीय मॉडलों से प्राप्त नहीं हुई) में प्रदर्शित हैं। अपने ही सौंदर्य में लीन (उनके हाथों में पकड़े आइनों में प्रतिबिम्ब इसीके प्रतीक हैं) वे अपने में ही डूबे तथा संसार से परे हैं—और बाह्य का भी तो यही विनोद और आनन्द है। ध्यान देने की बात है कि अप्सरा मिथुनता को व्यक्त करने के उद्देश्य से भास्कर आलों की पुतलियां बनाई ही नहीं गई। प्रत्येक आले प्रत्येक स्तम्भ तथा मंदिरों की सभी दीवारों पर ये स्वर्गिक सुन्दरियां अंकित हैं। यह पुनरावृत्ति स्वयं प्रसन्नता तथा आराध्य देवता की सर्वव्यापकता की आह्लाद भावना की प्रतीक है। आखिर यह सुरसुन्दरी अथवा नायिका अबाध मानवीय आत्मा के अतिरिक्त और क्या है जो अपनी प्रवृत्ति एवं गति में ईश्वर के समान है।

दूसरे प्रत्येक मन्दिर में और विशेषत शैव मन्दिरों में हमें रतिमग्न युगल मिलते हैं, जिन्हें अद्भुत गुरुता कोमलता और मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता के साथ तराशा गया है। इसका कारण है तांत्रिक साधनमाला जो उच्चतर व आदर्श अनुभूतियों तथा इन्द्रियगत व संवेगात्मक जीवन के अन्तर को इस प्रकार पाटती है कि यह पश्चिमी दर्शनार्थियों को कुछ विचित्र मालूम पड़ सकता है। विश्व-कला के इतिहास में कहीं पर भी असांसारिकता तथा इन्द्रियसुख अमूर्त तथा सौंदर्य का ऐसा संयोग प्राप्त नहीं है जैसा मध्ययुगीन कला के तराशे हुए युगलों में है। इस संयोग का रहस्य है तांत्रिक कल्पना एवं कर्म द्वारा उपलब्ध इन्द्रियों का रूपान्तर तथा जीवन के प्रति पूर्णविकसित एवं गम्भीर आस्था। मिथुन वास्तव में आध्यात्मिक सत्य हैं जिनमें एकत्र अस्ति और नास्ति (जो प्रकृति और पुरुष में नर और नारी की विरोधी शक्तियों को व्यक्त करते हैं) की अविभाज्यता के प्रतीक हैं।

तीसरे बुर्जों को छोड़कर मन्दिर के सभी भागों पर सेना की टुकड़ियों प्रदर्शनों त्योहारों खेल-कूद और युद्ध नृत्य सुरापान तथा ऐश्वर्यशाली दरबारी जीवन के लौकिक दृश्यों का अंकन है। ये दृश्य इस युग की शान-शौकत और जोश के प्रमाण हैं जब युद्ध एक स्वाभाविक बात थी तथा शान्ति का अर्थ था—युद्ध की जोरदार तैयारी।

अन्तिम विशेषता यह थी कि मध्ययुगीन मन्दिरों में शिव नटराज की तांडवनृत्य की मुद्रा में कुछ सुन्दरतम मूर्तियां हैं। नटराज की प्राचीनतम मूर्तियां छठी और सातवीं शताब्दी ईस्वी की हैं तथा बादामी ऐहोल तथा एलोरा में मौजूद हैं। एक अलग सम्प्रदाय के रूप में नटराज की पूजा का प्रचलन किसी समय समस्त भारत में था। इसी कारण नटराज की अप्रतिम मूर्तियां बनीं। विभिन्न क्षेत्रों की मूर्तियों का अन्तर स्थानभेदों के अन्तर पर आधारित था। उज्जैन में शिव नटराज की एक सुन्दर मूर्ति है जिसका समय आठवीं-नवीं शताब्दी ईस्वी है। शिव नटराज की ही एक अन्य प्रतिमा नीलकण्ठ उदयेश्वर मन्दिर के मुख्य शिखर के फुल्ले के केन्द्र पर है। इसका समय ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी है। इसके दोनों ओर नृत्यलीन कासी अथवा योगिनी तथा उड़ती हुई अप्सराओं की मूर्तियां हैं मर्माकृति की नृत्यगति पूर्णतः घुमावदार है तथा सबसे ऊपर सर्पकेशी स्त्री अभिप्राय है। इनसे नटराज की मूर्ति के नृत्य में और वृद्धि होती मालूम पड़ती है। फुल्ले पर खुदे हुए अनेक छोटे मन्दिर प्रसरणशील नृत्यगति को और अधिक प्रभावशाली बनाते हैं। प्रकृति जीवन और विचार सम्बन्धी हिन्दू सिद्धान्त में नटराज गति के शाश्वत समतुलन का प्रतीक हैं। मृत्यु और जीवन दुःख और सुख शान्ति और युद्ध के अविनाशी चक्र का निर्देशन स्वयं शिव नटराज करते हैं जिनके तांडवनृत्य का एक-एक पद-संचालन प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक युग में होनेवाली गति और अगति सृजन और संहार के अनन्त क्रम का एक-एक मनका है। भाजा और मामल्लपुरम् की भारतीय कला में कई शताब्दियों का अन्तर है, फिर भी दोनों में जीवन और मृत्यु, अवतरण और विमुक्ति को मायावी माना गया है, तथा एक सद्यात्मक अस्तित्व एवं शाश्वत तनाव के रूप में जीवन का सर्वाधिक तर्कसंगत और सुन्दर प्रतीक नटराज हैं। मध्ययुगीन शिल्पकला और कला में सर्पराज पर विजय प्राप्त करने की प्रसन्नता में नृत्यलीन कालिय कृष्ण का चित्र भी है। यह भी मध्ययुगीन मन्दिर-वास्तु की सुपरिचित विषयवस्तु है।

राजपूत-मूर्तिकला में सुख और दुःख के प्रतीक

राजपूत-संस्कृति में उपस्थित जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख की पारस्परिक प्रक्रिया की सशक्त अभिव्यक्ति शिव काली अथवा चामुंडा, कृष्ण और गणेश की इन कॉस्मिक नृत्य-मूर्तियों में हुई है। ये केवल मंदिरों में ही नहीं वरन् प्रकृति की कठोर और निर्मम शक्तियों में—जो नैराश्यपूर्ण संघर्ष पराजय और विनाश के उस युग में और अधिक स्पष्ट थीं—सदैव नृत्यशील रहते हैं। मध्ययुगीन मूर्तिकला की इन मूर्तियों में सर्वव्यापी दुःख सुख और बल का (नीत्शे के ढंग से) भारत में स्वीकार किया है। शिव नटराज की—असीम अतिमानवीय सुख और सौन्दर्य से परिपूरित मूर्ति विश्वव्यापी भय की आध्यात्मिक कराना तथा प्रकृति और मानव जीवन के उल्लास की प्रतीक है,

तथा बंसीवादन करते हुए भुवनमोहन कृष्ण की मानवीय सुन्दरता तथा सुकुमारता से परिपूर्ण मूर्ति में भी उसी 'क्लासिक' भक्ति की अभिव्यक्ति है। ये दोनों 'मोटिफ' जीवन के प्रति दो विरोधी दृष्टिकोणों—कोमल और कठोर, वीरतापूर्ण और विनय—के प्रतीक हैं। इन्हीं विरोधी दृष्टिकोणों का विचित्र समावेश राजपूतों के व्यवहार में था तथा राजपूतों के जटिल व्यक्तित्व के निर्माता भी ये ही थे। राजपूत-समाज के अनुशासन के दो पर्वों—आध्यात्मिक शांति तथा सैनिक उत्साह—के पारस्परिक विरोध के फलस्वरूप ही प्रेम और क्रोध सहृदयता और निर्दयता जैसे पूरक तत्त्वों का निर्माण हुआ है।

राजपूत युद्धों में विजयी होते और अपने निर्मम सिद्धांतहीन शत्रुओं को पराजित कर पाते तो शायद राजपूत संस्कृति के सहृदय एवं प्रसन्नतापूर्ण पक्ष का विकास हो पाता। राजपूत संस्कृति के उग्र एवं अंधकारमय पक्ष के दर्शन विकट जौहर प्रथा में होते हैं। (महाभारत में यही लाक्षागृह है जिसमें सभी पांडवों को जीवित जला देने का उपक्रम किया गया था।) जौहर राजपूत आत्मा की मृत्यु और अपमान पर विजय का प्रतीक भी है और उत्सव भी। राजपूत इतिहास में जौहर के विशिष्टतम उदाहरण हैं—महमूद गजनवी द्वारा पराजित होने पर उदबन्ध के जयपाल अलाउद्दीन खिलजी द्वारा पराजित होने पर रणथम्भौर के हम्मीरदेव चित्तौड़ के राणा रतनसिंह की रानी पद्मिनी मुहम्मद तुगलक द्वारा पराजित होने पर कपिल के राजा क्रमशः शेरशाह और बाबर द्वारा पराजित होने पर चंदेरी के भैया पूरनमल और मेदिनीराय तैमूर के हत्याकांड के दौरान दिल्ली के सामान्य निवासियों तथा अकबर के आक्रमण व निर्मम हत्याकांड के दौरान चित्तौड़ के चारों ओर से घिरी हुई सेना के आत्मबलिदान। चित्तौड़ के जौहर का वर्णन टॉड ने इस प्रकार किया है

'विशाल भूमिगत तहखानों में ऐसे प्रकोष्ठों में जहाँ दिन का प्रकाश तक नहीं पहुँच सकता था चिता की अग्नि प्रज्वलित की गई। चित्तौड़ के रक्षकों की आँखों के सामने ही रानियाँ उनकी अपनी पत्नियाँ और बेटियाँ हजारों की संख्या में जुलूस बना कर चलीं। सबसे पीछे थीं रानी पद्मिनी। तहखानों तक लोग उनके साथ गए। सब भीतर प्रवेश कर गईं तो बाहर से द्वार बन्द कर दिया गया। पवित्र अग्नि ने शत्रुओं के हाथों अपमान से उन सबकी रक्षा की।

सामूहिक आत्महत्या की मुक्त प्रशंसा स्वयं मुसलमानों ने की। अलबरूनी से लेकर बाद के मुसलमान इतिहासकार इस प्रथा के प्रशंसक थे। इस प्रथा को जन्म देने का श्रेय भी मुसलमानों को है। वे बर्बर होकर निर्दयतापूर्वक बेहाल लोलते थे तथा उनसे किसी प्रकार की सहृदयता की आशा नहीं की जा सकती थी। मुसलमान आक्रमणकारियों की क्रूरता शौर्यहीनता और न्यायविहीनता की प्रतिक्रियास्वरूप इस प्रथा का उदय हुआ था।

पुरुषार्थी और वीर राजपूत जाति ने दुर्भाग्य और विपत्ति का सामना असीम श्रम भय और मिथ्या के साथ किया। राजपूतों के ये गुण उस युग के वास्तुकार और शिल्पिक बाहुल्य में अभिव्यक्त हैं तथा प्रतीकरूप में उपस्थित हैं। वास्तव में उस युग की वास्तुकला एवं मूर्तिकला का आधार ही है तत्कालीन व्यस्त संवेगात्मक जीवन। गुजरात के बन्दरगाह—जैसे खंभ और सूरत—मध्ययुगीन समुद्री व्यापारमार्गों पर स्थित थे और

पूर्व तथा पश्चिम के मध्य व्यापार की महत्त्वपूर्ण कड़ी थे। फलस्वरूप यहाँ खूब धन सम्पत्ति एकत्र हो सकी तथा वैभव का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक नगरों में मंदिर निर्माण यूरोप के मध्ययुगीन गॉथिक गिरजाघर-निर्माण की भांति एक सामुदायिक काम था। सभी प्रकार के कारीगर और शिल्पी इस काम में लगे रहते थे। जनसाधारण की चिंता पीड़ा और विनम्रता के आदि संवेगों से अनुप्रेरित और शिल्पियों और संगतराशों की पीढ़ी दर पीढ़ी चलनेवाली छेनियों ने छतों स्तम्भों द्वारों, खिड़कियों और आलों में अत्यन्त सूक्ष्म विस्तृत एवं बहुल अलंकरण किया तथा गुजरात दक्षिणी राजपूताना बुन्देलखण्ड और उड़ीसा में विभिन्न मुद्राओं और भावस्थितियों में अनायास दैवी आकृतियों का पुन पुन अंकन किया—ये सब निश्चय ही संगमरमर पर जाली के काम तथा पत्थर की तराश के यथार्थ स्वप्न थे, किसी भी अन्य स्थान की कला से श्रेष्ठ। उस युग की गम्भीर उग्रता और मार्मिकता के ज्वलन्त प्रमाण हैं—आबू पर्वत की संगमरमर का शिल्प सूक्ष्म और अल्प चारवर्ती काम बुन्देलखण्ड और उड़ीसा के वास्तुक विन्यास में (पृथकता और सरलता के अभाव) अनेकता और अलंकरण के सिद्धान्त का उपयोग तथा उत्तर के अनेक नागर मंदिरों में अलंकरण (जिसमें चैत्य के मेहराब में सजावटी रंगीन शीशे और पत्थर जड़े हैं) की अनुपस्थिति। खजुराहो और भुवनेश्वर, कोणार्क और उदयपुर, दिलवाड़ा (देवल वाड़ा) और अन्हिलवाड़ा सभी जगह वास्तुक एवं शिल्पिक विन्यास में बाहुल्य ही सौंदर्य है और प्राचुर्य ही शृंगार। यह विशिष्टता राजपूत राजदरबारों के वैभव और धर्मनिष्ठा की प्रतीक तथा राजपूत जाति—जिसके लिए शिव कृष्ण और दुर्गा की भक्ति में लीन हो जाने के सुपरिचित अनुभव के समान असुरक्षा भी एक स्थायी स्थिति बन चुकी थी—के उच्चतम संवेगों की अभिव्यक्ति है।

पवित्र पर्वत पर बसा रमणीय नगर

राजपूत संस्कृति की समृद्धि कलात्मकता और धर्मनिष्ठा ने जयपुर, दिलवाड़ा खजुराहो, भुवनेश्वर, गिरनार और शत्रुंजय नामक मध्ययुगीन नगरों पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। इनमें से कुछ नगर तो अज्ञात हैं। नीचे दिया हुआ शत्रुंजय नगर का वर्णन गुजरात के सुप्रसिद्ध इतिहासकार फॉर्बेस का है। इसमें दिखलाया गया है कि राजपूत जाति—जिसका जीवन युद्धों तथा भाटों चारणों पुजारियों और नर्तकियों के मध्य आमोद-प्रमोद में बीतता था—में जब धार्मिक भावनाओं का उफान आया तो उन्होंने एक सम्पूर्ण नगर तथा उसके धार्मिक-अधार्मिक निवासियों को संगमरमर में ढाल दिया। यहाँ भी अविश्वसनीय रूप से सूक्ष्म और प्रचुर अलंकरण मौजूद है, जो राजपूतों को अत्यन्त प्रिय था।

"सम्पूर्ण भारत में सिंधु नदी से पवित्र गंगा नदी तक और हिमालय के हिम किरीटों से उसकी कुमारी कन्या रुद्र की भावी वधू के सिंहासन तक कोई भी नगर ऐसा नहीं है जिसने कभी न कभी पालिताना पर्वत पर बने भवनों की समृद्धि में योग न दिया हो। प्रत्येक पथ और प्रत्येक चोटी पर जैनधर्म के ये मंदिर मौजूद हैं। इनके संगमर-

आभा बिखेरते हैं मानो ये किसी दूसरे संसार के प्रासाद हों और साधारण मानव के स्पर्श से दूर खूब ऊंचाई पर स्थित हों। प्रत्येक मन्दिर के अंधेरे प्रकोष्ठ में अजित के आदिनाथ अथवा कुछ तीर्थंकरों की एक या अधिक मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। मूर्तियों के प्रस्तरीय अंग-उपांग जिनमें परम शान्ति का भाव है चांदी के लैम्पों की धीमी रोशनी में धुंधले धुंधले दीखते हैं। हवा में धूप की सुगंधि भरी होती है तथा लाल व सुनहरे वस्त्र पहने हुए उपासिकाएं चिकने फर्श पर नंगे पांव चुपचाप परिक्रमा करती तथा अपरिवर्तित किन्तु मधुर स्वर में भजनों का पाठ करती रहती हैं। शत्रुंजय को वास्तव में आसानी से पूर्वीय प्रणय गाथाओं का एक रमणीक नगर माना जा सकता है जहां के निवासी अचानक में संगमरमर में परिवर्तित हो गए हैं किन्तु यहां अमानवीय हाथ सदैव सक्रिय रहते हैं धूप जलाते हैं, सब कुछ साफ-सुथरा और चमकदार रखते हैं तथा अमानवीय स्वर देवताओं की प्रशंसा में भजन गाते हैं जो हवा में गूंजते रहते हैं।"

अध्याय १७

चतुर्थ सुधार-युग

हिन्दू और इस्लाम धर्म के मध्य सेतु समान भक्ति और सूफी आन्दोलन

द्राविड़ संस्कृति का वैभव

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब उत्तरभारत तुर्क अफगान आक्रमणकारियों के बार बार होनेवाले विनाशकारी आक्रमणों से त्रस्त था दक्षिणभारत में एक अत्यन्त गौरवशाली राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण का समय था। सुबुक्तिगीन के प्रथम आक्रमण से केवल एक वर्ष पूर्व चोल शासक राजराज महान (९८५–१०१४ ईस्वी) ने तंजोर में शासन भार ग्रहण किया था। उनके शासनकाल में चोलवंश का उदित साम्राज्य शीर्ष पर पहुँच गया। चोल साम्राज्य भारत का सर्वाधिक विस्तृत समुद्रीय साम्राज्य था तथा लंका निकोबार द्वीपसमूह, मलय प्रायद्वीप का एक भाग और पूर्वी द्वीप समूह इसके अंग थे। राजराज के सुयोग्य पुत्र राजेन्द्र चोल प्रथम (१०१२–१०४४ ईस्वी) ने अपने मजबूत जहाजी बेड़े के बल पर बंगाल के शासक महीपाल प्रथम को पराजित करके वहां पर भी चोल-साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित किया। दक्षिणभारत के विशाल और वैभवशाली शिव मंदिर जो चर्तुविहार होते थे तथा जिनमें एक तालाब भी सीमित था इसी युग में निर्मित हुए। इसी युग में प्रेम और धर्मनिष्ठा से परिपूर्ण तमिल साहित्य कोरोमंडल से लंका जावा और कम्बुज तक प्रसारित हुआ। सदियों से ग्यारहवीं शताब्दियों तक दक्षिण-पूर्वी एशिया में द्राविड़ संस्कृति के प्रसार के उद्घोषक पगान बारोबुदूर और अंगकोर बन गये थे। इसी प्रकार दक्षिणभारत के जहाजी बेड़े की शक्ति का प्रमाण यह था कि राजेन्द्र चोल प्रथम ने सुमात्रा के शैलेन्द्रवंश के सम्पत्तिशाली समुद्रीय उपनिवेशों को पराजित किया।

द्राविड़ संस्कृति प्रबल और आत्मसंयुक्त थी। उसमें धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता, अमूर्तता और गीतात्मकता का अपूर्व समन्वय था। द्राविड़ मूर्तिकला की आत्मा के दर्शन बादामी, एलोरा और एलीफैन्टा में शिव के अलौकिक वैभव और निर्लिप्तता में होते हैं। द्राविड़ मंदिरों के गोपुरमों में धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक दृश्य परत पर परत रिलीफ में बने हैं, इनके पीछे यही धारणा है कि देवता सर्वव्यापी है। मंदिरों के भीतर विमानों में विशाल विग्रह अथवा क्षीरसागर में विश्राम करते विष्णु की विशाल मूर्तियां हैं—ये दोनों ही ईश्वर की पारलौकिकता के प्रतीक हैं। इनके अतिरिक्त शिव नटराज की कलात्मक मूर्तियां भी हैं। सुन्दरतम कांस्य मूर्तियों को चोल-साम्राज्य के वैभवशाली समय में

गढ़ा गया था। सातवीं से नवीं शताब्दियों तक भ्रमणशील भजनीकों अथवा आलवारों का दक्षिणभारत में प्राधान्य था। इन्होंने एक प्रेममय एवं कोमल मानवीय तथा दवी भावना धारा को जन्म दिया। इस धारा के कारण भी शिव और कृष्ण की अनेक सुन्दर मूर्तियां बन सकीं। उदाहरणत कला एवं साहित्य के संरक्षक शीनवायक शिव तथा सर्पनृत्य में लीन कालिय कृष्ण।

आलवार धर्म का अंशदान

आलवार वास्तव म रामानुज रामानन्द परम्परा के सच्चे सन्देशवाहक थे। वे ईश्वरीय कृपा और मानव की भक्ति को मुक्ति का महान मार्ग मानते थे। सर्वप्रसिद्ध आल् वार थे नम्मालवार। उन्होंने 'तिरविरुत्तम्' की रचना की जिसमें ईश्वर के प्रति असीम प्रम का समावेश है।

आलवार केवल एक सोरशाह ईमानदार धर्म के पक्षधर मात्र न थे। उन्होंने ब्राह्मण धर्म पुजारीवाद और वर्णव्यवस्था तक को अस्वीकार कर दिया। वर्णव्यवस्था के विरोध म कपिल ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया: 'जड़िया म्लेच्छ, हूण सिहली पतली कमरवाले जावक यवन और चीनी लोगों के विभिन्न देशों में ब्राह्मण नहीं है किन्तु आपने इस देश में चातुर्वर्ण विभाजन कर दिया मानो यह व्यवस्था स्वयं प्रकृति ने की है। उच्च और निम्न योनियां का अन्तर आचरण से होता है। गाय और भैंस अलग-अलग जातियों के होते हैं क्या कभी किसीने देखा है कि इन जातियों के नर और मादा आपस में मिलकर सन्तान पैदा करते हैं? किन्तु हे मनुष्यो आप सब एकही जाति के हैं, फिर भी इतनानहीं समझते कि जिन जातियों को आप अलग अलग घोषित करते हैं उनके स्त्री-पुरुष के सम्पर्क से सन्तानोत्पत्ति हा सकती है। क्या किसी पुरुष स्त्री और ब्राह्मण के संयोग से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण-दम्पति से उत्पन्न पुत्र के समान नहीं होते? अपने भजनों में आलवारों ने सदैव इसीपर जोर दिया है कि परमात्मा की कृपा सभी जीवों पर समानरूप से होती है फिर चाहे उनका जन्म कैसे भी हुआ हो और जीवन में उनकी कोई भी स्थिति हो। आल् वार धम में सार्वभौम मुक्ति का स्थान था तथा ईश्वरीय दया और मानव की प्रपत्ति को परस्पर सम्बन्धित माना गया है। यही बाद में भगवत धर्म का केन्द्रबिन्दु बना।

नश्वर प्राणियों के प्रति ईश्वरीय अनुकम्पा का जितना ललित और उदात्त वर्णन आलवार पेरिय के भजन में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भजन का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है

तुमने उसे जब जीवन-दान भा भीख
नहीं कहा बल्कि दया दिखलाई
तुम्हारी कृपा उसपर हुई और बोले
'वह भील हिरनी के से सलज्ज नयनोंवाली
तुम्हारी सखी है—और बन्धु तुम्हारी है
और हर्ष से जब वह आगे बढ़ आया
तो तुमने कहा 'तुम मेरे सखा हो यहीं रहो।

ये चरण मेरे हृदय में बस गए हैं
और मैं तुम्हारे चरणों में आ गया हूँ
हे सागर श्यामवर्ण
हे सुन्दर कुंज सुशोभित श्री रंगम स्वामी।

पवन-पुत्र को तुमने वानर जानकर
अन्य जाति का मानकर अवहेलना नहीं की
बल्कि उससे प्रेम किया जिससे
उसकी प्रीति और चाह समुद्र से भी बढ़ गई
और बोले 'जो कुछ मेरे लिए तुमने किया है
उसका कोई प्रतिदान नहीं हो सकता
ओ निर्मल सत्यधर्मी मैं तुम्हें गले लगाता हूँ।'
ऐसा उज्ज्वल वरदान मुझे मिले इस लालसा से
मैंने तुम्हारे चरणों की शरण ली है,
हे सुन्दर कुंज सुशोभित श्री रंगम स्वामी।

सुन्दर सरोवर में सुगन्धित सुमनों से घिरा
गजेन्द्र कमलों को तोड़ रहा था कि
एक भारी ग्राह ने उसे पकड़ लिया
वह मरणासन्न हो चला तो उसने
तुम्हारे चरणों में शरण लेने की सोची
तुमने ऐसा प्रचण्ड कोप दिखाया कि
उस विकरालमुख पशु का प्राणान्त हो गया
तुम्हारे इस दास ने भी तुम्हारे चरणों की शरण ली है
हे सुन्दर कुंज सुशोभित श्री रंगम स्वामी।

विष-टपकाता सुमुख नाग भयभीत हो
जब तुम्हारी शरण में आया
तो तुमने उसे शरण दी और अपने सुन्दर सेवक
पक्षी की रक्षा में उसे सौंप दिया।
तुम्हारी इस कृपा को जानकर ही मैं
कटुभाषी और क्रूर यमदूतों के भय से
उन कष्टों के भय से जो वे मुझे देंगे
तुम्हारे पास आया हूँ तुम्हारे सेवक ने
तुम्हारे चरणों की शरण ली है,
हे सुन्दर कुंज सुशोभित श्री रंगम स्वामी।

(कुरर के अनुवाद से)

दक्षिणभारत के प्रसिद्ध ज्ञानपीठ कांची में 'श्रीमद्भागवतम्' की रचना शायद ९००–१००० ईस्वी के दौरान हुई। सम्पूर्ण भारत के भक्ति-आन्दोलन पर इस ग्रन्थ का गम्भीर प्रभाव पड़ा। इसका सम्पूर्ण प्रभाव सम्भवतः भगवद्गीता के प्रभाव से भी अधिक था। मध्ययुग में इसे 'महाभागवत' कहा जाने लगा। इसने आलवार-परम्परा को विकसित किया तथा ईश्वर की अगम्य पारलौकिक प्रकृति पर जोर दिया। ग्यारहवीं शताब्दी के पहले दशक में जिस समय उत्तरभारत में महमूद गजनवी अपना लूटपाट से भरे पूरे और विनाशकारी अभियानों का प्रारम्भ कर, तथा उत्तर के सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन की जड़ें तक हिलाए दे रहा था उसी समय दक्षिण में सन्तों और रहस्यवादियों का युग समाप्त था भिक्षुकों और दार्शनिकों का युग आरम्भ हो रहा था। अन्तिम रहस्यवादी थे नम्मालवार जिनके शिष्य नाथमुनि ने १ ० ईस्वी में भजनों (प्रबन्धों) का विख्यात संग्रह किया। ये प्रबन्ध आज भी दक्षिणभारत के बड़े मन्दिरों में गाए जाते हैं।

नाथमुनि के पौत्र यामुनाचार्य उनके आध्यात्मिक पौत्र भी थे तथा रामानुज के अग्रज थे। इसी समय वैष्णवों और शैवों का ईश्वर की एकता और व्यक्तिगत देवता की उपासना-सम्बन्धी पारस्परिक अन्तर समाप्त हो गया। बौद्ध और जैन धर्मों का तीव्रता पूर्वक पतन हो रहा था। नियम-निष्ठता तथा वर्णव्यवस्था के विरुद्ध भावना दृढ़ होती जा रही थी। बौद्धिक स्तर पर 'पूर्वमीमांसा' के विरुद्ध विधि-विधान के विरुद्ध आवाजें दृढ़तर होती जा रही थी तथा शंकराचार्य का माया-सिद्धान्त कमजोर पड़ रहा था।

रामानुज की नैतिक निष्ठा और भक्ति

यही वह बौद्धिक वातावरण था जिसमें महान दार्शनिक रामानुज (१०१७–११३७ ईस्वी) ने—जिन्होंने कांची में शंकर के 'केवल अद्वैत' का सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त किया था—अपने सुविख्यात 'विशिष्टाद्वैत' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। विशिष्टाद्वैत में विवेक और अन्तर्ज्ञान सर्वव्यापकता और पारलौकिकता का समन्वय है। यही कारण है कि शंकर के कट्टर पारलौकिक अद्वैत की तुलना में विशिष्टाद्वैत समकालीनों को कई अर्थों में अधिक प्रभावित कर सका। इस सिद्धान्त के अनुसार, ब्रह्म की प्रकृति तथा ब्रह्म एवं यथार्थ भासमान जगत व शाश्वत जीव के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्टतः समझना ज्ञान नहीं प्रत्युत ज्ञान और ज्ञान के आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान के बल पर ही सम्भव है। जीव ब्रह्म का एक रूप है—ब्रह्म के ही समान 'चित्' और अचित् दोनों है अर्थात् वह अनमुक्त अपरिवर्तनीय और सर्वोपरि भी है तथा कर्म-बन्धनों में जकड़ा हुआ तथा पार्थिव वस्तुओं से सम्बन्धित भी। अपने बन्धनों और परिवर्तनशीलता से मुक्ति पाने के बाद ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो सकता है जो उसका वास्तविक लक्ष्य है। जीव की यह मुक्ति 'विष्णु पुराण' के अनुसार, (शंकर के ठीक विपरीत रामानुज ने विष्णुपुराण का अधिक सहारा लिया है) नम्मालवार जैसे रहस्यवादियों के समान (रामानुज नम्मालवार के अनन्य भक्त थे) तीव्र आध्यात्मिक स्पृहा के पश्चात् ही सम्भव है। भक्ति द्वार प्रपत्ति के दुर्गम पथ पर चलनेवाली आत्मा के सहायक ईश्वर स्वयं होते हैं। कारण ईश्वर मुक्तिदायक प्रेम है और जीव के साथ सम्मिलन के लिए लालायित है। इस प्रकार, परिसीमित एवं अज्ञानी जीव

ऊपर उठकर अपनी अनिवार्य अनन्तता एवं सर्वज्ञता में समाहित हो जाता है तथा मानव के प्रत्येक कार्य—प्रेम सहयोग और सेवा—में सत्य और धर्म का समावेश हो जाता है।

शंकर का सिद्धान्त था कि स्थूल पदार्थ एक मायावी भ्रम मात्र है। इसके विपरीत रामानुज के सिद्धान्तानुसार पार्थिव जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है। रामानुज का यह सिद्धान्त टंक द्रमिड गुहदेव कपर्दिम और भरुचि के पहले के उपदेशों पर आधारित था। नाथमुनि और उनके पौत्र यामुनाचार्य ने भी जिन्होंने दक्षिण की आलवार-परम्परा में पांचरात्र का समावेश किया विशिष्टाद्वैत को बहुत प्रभावित किया था। विशिष्टाद्वैत वास्तव में उत्तरभारत के पुराने भागवत धर्म तथा दक्षिणभारतीय आलवारों के रहस्यात्मक भावोन्माद के सम्मिश्रण का सुफल है। इसमें वेदान्त के 'ज्ञान तथा भक्ति' दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। जीव की अन्तरात्मा का नाम है वासुदेव और इसका रूप इस प्रकार है "ओ पावन परमेश्वर, मैं तू हूँ और तू मैं।" शंकर वेदान्त के परम पावन और निर्विकार ईश्वर विशिष्टाद्वैत में शासक न रहकर मुक्तिदाता हो गए हैं और उनकी कृपा कर्म से परे है। ब्रह्मन और प्रभु (नारायण और श्री) के द्वैतरूप ग्रहण करता है। वह सौंदर्य (भुवनसुन्दर) और शिव भी है। जो सांसारिकता से परे है। वह अपने ही जीव नश्वर प्राणी (महात्मन्) के साथ संयोग करना चाहता है और इसलिए मानवीय शरीर के भीतर प्रेम का रूप धारण कर अवतीर्ण होता है। भगवद्गीता में लिखा है "वे सब (धर्म का पालन करनेवाले चारों वर्ण) श्रेष्ठ हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष मैं स्वयं को ही समझता हूँ।" भगवद्गीता की अपनी टीका में रामानुज प्रश्न करते हैं कि इस ज्ञानी की प्रकृति क्या है और उत्तर देते हैं "मेरा जीवन ही उसपर निर्भर है।" यदि पूछा जाए कि यह कैसे तो इसका कारण यह है कि जिस प्रकार वह मेरे—अपने अन्तिम सत्य—के बिना नहीं रह सकता उसी प्रकार मैं उसके बिना नहीं रह सकता। शुद्ध निष्पाप मानव अपने भक्ति और ज्ञान के बल पर ईश्वर को प्राप्त कर लेता है तथा मानवता को मुक्ति दिलाने के प्रयास में ईश्वर का सहयोगी बन जाता है। अन्ततः मानवता को शाश्वत सामूहिक आनन्द और सुख की प्राप्ति होती है। रामानुज की सेवा और प्रेम की यह मांग शंकर के परात्परता और माया-सिद्धान्तों से अधिक सुनिश्चित है।

वैष्णव धर्म का प्रजातन्त्रीकरण

शंकर वेदान्त में विश्व की दुर्बलताओं और दुर्गुणों पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है इसीलिए उसमें नैतिकता की असमर्थता है। विश्व की दुर्बलताओं और दुर्गुणों को ऐसे ब्रह्म की आवश्यकता नहीं है जो संसार और मानव का सृजन करने के पश्चात् उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ दे वरन् ऐसे ब्रह्म की आवश्यकता है जो आदेश दे, प्रोत्साहित करे और अभमय हो। रामानुज ने किसी अमूर्त शुद्ध निर्विकार और निराकार ब्रह्म के विचार पर नहीं बल्कि उसके असीम शिवम् और सुन्दरम् गुणों पर जोर दिया (सगुण ईश्वर)। शंकर के माया-दर्शन के अनुसार इस पापमय संसार में ईश्वर की कृपा तथा भक्तों के प्रार्थना आनन्द और सुख का कोई स्थान नहीं है अतः रामानुज ने इसका खण्डन किया। विशिष्टाद्वैत का नैतिक पहलू है। ईश्वर को अन्तर्यामी माना गया तथा कर्म-

सिद्धान्त को—जो सृजन और विनाश की विश्वव्यापी प्रक्रियाओं के बीच भी महत्त्वपूर्ण है—ईश्वरेच्छा एवं ईश्वरोद्देश्य का प्रतिफल माना गया। दोनों ही जीव को धर्म की ओर प्रवृत्त करनेवाले हैं। भक्ति अथवा प्रपत्ति स्वयं धर्मानुशासित जीवन का प्रतिफलन है और ईश्वर की कृपा उसका शाश्वत सहारा और प्रेरणा है। धार्मिक दृष्टिकोण से वेदान्त के शुद्ध निराकार और निर्विकार ईश्वर के स्थान पर ऐसे ईश्वर को मान्यता दी जिसकी 'लीला' का एक अंश है मानव का सहयोगी बनना यह ईश्वर प्रेममय और निष्पक्षपाती है तथा मानव उसकी स्थिति की आकांक्षा कर तथा सदैव के लिए उस तक पहुंच सकता है। सामाजिक पहलू भी है विशिष्टाद्वैत का। इसके अनुसार मानव के सभी अच्छे और आदर्श कार्यों में ईश्वर की उपस्थिति होती है फिर चाहे कार्य करनेवाला कोई भी हो। यह धारणा असीम सामाजिक सद्भावना और सहिष्णुता को जन्म देती है जो वर्ण और सम्प्रदाय की विभिन्न सीमाओं को तोड़कर प्रेम सेवा और सहयोग की भावनाओं द्वारा शासित धार्मिक समाज का निर्माण करती हैं। अपने श्रीभाष्य में रामानुज ने मानव-पूर्णता और ईश्वर भक्ति के निम्नलिखित सात साधन गिनाए हैं विवेक विमोक अभ्यास क्रिया कल्याण अनवसाद और अनुद्धर्ष। इस प्रकार रामानुज-वेदांत अथवा ब्रह्मज्ञान का अर्थ है अथक प्रयास और सहयोग। विशिष्टाद्वैत नैतिक दृष्टि से ईमानदार, धार्मिक दृष्टि से स्फूर्तिमय और सामाजिक दृष्टि से समतावादी है।

रामानुज एक गम्भीर दार्शनिक मात्र न थे बरन् अत्यधिक साहसी और उदार सामाजिक दृष्टिकोण वाले आध्यात्मिक नेता भी थे। शंकर के समान उन्होंने भी उत्तर भारत की यात्रा की तथा वे बनारस अयोध्या द्वारका जगन्नाथ और बदरी भी गए। बनारस और जगन्नाथ में उन्होंने बौद्ध विचारकों के साथ शास्त्रार्थ किया। श्रीरंगम वापस पहुंचकर उन्होंने विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रसारार्थ सम्पूर्ण दक्षिणभारत को चौहत्तर इलाकों में विभाजित किया और प्रत्येक इलाके का दायित्व एक सामान्य आचार्य को सौंपा। चोल-सम्राट के अत्याचारों के कारण उन्हें लगभग बीस वर्ष होयसल राज्य में बिताने पड़े। इस दौरान उन्होंने सिंचाई के लिए कई तालाबों मठों और मंदिरों का निर्माण कराया। श्रीरंगपट्टम के उत्तर में मालीकोट (दक्षिण बदरिकाश्रम) का मंदिर भी उन्हींका बनवाया हुआ है। पंचमों को अधिकार दिया गया कि वर्ष में एक बार वे पूजार्थ उसमें प्रवेश कर सकते थे। किंवदन्ती है कि वे अपनी मुसलमान पत्नी के साथ-साथ रामप्रिय (कृष्ण) की एक मूर्ति दिल्ली से मालीकोट लाए थे और इसमें अछूतों ने उनकी सहायता की थी। उनकी व्यापक दृष्टि और सामाजिक न्याय-भावना को देखते हुए यह किंवदन्ती सत्य मालूम पड़ती है। उनके जीवनी-लेखकों का कथन है कि वे जात-पांत से ऊपर थे और शिष्य थे ब्राह्मण—जैसे पिल्लई और उरंगविल्लिदास—थे। वैष्णवधर्म सामाजिक क्रान्ति फैलाए बिना किसी सीमा तक दक्षिणभारत में जनता में फैल गया। इसके कारण थे तमिल ग्रन्थों के अध्ययन और प्रसार, मंदिर-उत्सवों की प्रथा ब्राह्मणों को वैष्णव-धर्मावलम्बियों के जाति-चिह्नों और जीवन-पद्धति को अपनाने की आज्ञा तथा कम से कम ईश्वर के एक मंदिर में पंचमों को प्रवेशाधिकार और इन सबपर रामानुज का व्यापक प्रभाव था।

रामानन्द के नेतृत्व में चौथा महान धर्मसुधार

रामानुज जिस दार्शनिक आंदोलन के नेता थे उसमें संसार की यथार्थता एवं जीव की वास्तविकता पर जोर दिया गया था तथा उन्हें शरीरस्थित आत्मा एवं ब्रह्म से अलग बताया गया था। रामानुज के पश्चात् उनसे मतभेद रखने वाले समकालीन निम्बार्क (जिनकी मृत्यु ११६२ ईस्वी के आसपास हुई) माधव (१२००–१२७५ ईस्वी) लोकाचार्य (१२११ ईस्वी) और वेदान्तदेशिक (१२६८–१३६९ ईस्वी) ने मत को आगे बढ़ाया। सन् १३०० ईस्वी में मुसलमान शक्ति का प्रसार दक्षिण की ओर होने लगा साथ ही विनाश और लूटपाट का भी बोलबाला रहा। मलिक काफूर के दक्षिण-अभियान का अन्त १३११ ईस्वी में हुआ। इसके परिणाम से देवगिरि के यादववंश तथा मैसूर के होयसल वंश की पराजय मलाबार और कोरोमंडल तटों पर लूटपाट मंदिरों का विनाश एवं स्वर्ण तथा हीरों व स्त्रियों पर अधिकार। मुसलमानों के अत्याचारों और हत्याकांडों से अपनी जान बचाने के लिए लोकाचार्य और वेदान्तदेशिक जैसे विचारकों तक को भागना पड़ा। सेतुबन्ध पर एक मसजिद का निर्माण हुआ तथा श्रीरंगम् को जहाँ अनेक वैष्णव सन्त रहे थे तथा रामानुज ने उपदेश दिए थे १३२६ ईस्वी में खूब लूटा गया।

१३०० ईस्वी तक सम्पूर्ण भारत को मुसलमानों की विनाशलीला और अत्याचारों का अनुभव हो चुका था। किन्तु उसी वर्ष दक्षिण में रामानन्द (लगभग १२९९–१४१० ईस्वी) का जन्म हुआ। रामानन्द ने उत्तरभारत में एक सामाजिक-धार्मिक आंदोलन का सूत्रपात किया जो अनेक दृष्टियों से बौद्धधर्म के समान था। इस आन्दोलन ने जात-पांत के बन्धनों और वाह्यिक कर्मकाण्डवाद की कमर तोड़ दी सभी जातियों और वर्गों के लोगों को बिना भेदभाव शिष्यत्व प्रदान करने की व्यवस्था की तथा धर्म-प्रचार में जनभाषा का उपयोग किया। इसी संदर्भ में दक्षिण में वीर शैवमत के उत्थान की बात आती है। इस धर्म की स्थापना एक जैन राजा के प्रधानमंत्री बसव ने की थी। बसव ने शैवमत में मौलिकता व्यावहारिक सहज ज्ञान तथा यथार्थवाद का समावेश करके उसे नया जीवन प्रदान किया। बसव ने शारीरिक श्रम की महत्ता और जीवन निर्वाह के लिए व्यवसाय अपनाने पर जोर दिया जात-पांत के भेदभाव को समाप्त किया तथा स्त्रियों को समान सामाजिक स्थिति प्रदान की। बसव ने लगभग ११६० ईस्वी में 'अनुभव मंडप' नामक एक संस्था स्थापित की। स्पष्ट है कि बसव के सिद्धांत तथा संस्था दोनों ही इस्लाम के प्रसार और धर्म परिवर्तन-नीति के प्रतिक्रियास्वरूप जन्मे थे। किन्तु चौथे महान धर्मसुधार का सूत्रपात न तो बसव ने किया और न उनके प्रथम समकालीन रामानुज ने। इसका आरम्भ किया रामानन्द ने। भारत के जन-सामान्य के जीवन पर शंकर के तीसरे धर्मसुधार से कहीं अधिक और विस्तृत प्रभाव चौथे धर्मसुधार का पड़ा। तीसरे धर्मसुधार ने भारतीय जनता का स्पर्शमात्र किया था—उसका प्रभाव उच्च बौद्धिक स्तरीय व्यक्तियों उच्च धार्मिक मठों और संस्कृत विद्यापीठों पर हुआ। पराजित और निराश उत्तरभारत को चौथे महान धर्मसुधार की प्रेरणा दक्षिण से मिली। उस समय इस्लाम-धर्मानुयायी जोर-जबरदस्ती करके रिश्वत देकर, अकाल के समय में

मुसलमान मौलवियों का वितरण करके तथा समस्त देश में फैले हुए मुसलमान सन्तों और फकीरों के उपदेशों के बल पर हिन्दुओं को मुसलमान बना रहे थे। चौथे महान धर्मसुधार ने इसका उत्तर दिया एक वर्णविहीन हिन्दू धर्म-परिवर्तन आंदोलन चलाकर। इस आन्दोलन के फलस्वरूप निम्न जातियों से भारत के कुछ महत्तम रहस्यवादियों और भक्तों का उद्भव हुआ।

तिरमुलर जिनका जीवनकाल इस सहस्राब्दी से पहले था का कथन था कि केवल एक जाति है और केवल एक ईश्वर। नम्मालवार के अनुसार जाति के कारण कोई व्यक्ति बड़ा या छोटा नहीं हो जाता केवल ईश्वर की पहचान ही वह कसौटी है जिसके बल पर लोगों को बड़ा या छोटा ठहराया जा सकता है। एक रहस्यवादी पत्तकिरियार सम्पूर्ण मानव-जाति में बन्धुत्व के पक्षपाती थे

जाति-प्रथा की यंत्रणाओं से मुक्त
हमारी जाति कब एक विशाल बिरादरी बन पायगी
इस यन्त्रणा को कपिल ने सहा था
और सिखाया था कि कभी मनुष्य केवल मनुष्य था।

उत्तरभारत में रामानन्द और कबीर महाराष्ट्र में नामदेव और उनके उत्तराधिकारियों तथा पूर्वीय भारत में चैतन्य और उनके शिष्यों के उपदेशों के निम्नलिखित परिणाम हुए हिन्दू मतों की ईश्वरवादी प्रवृत्ति सामाजिक समता का आंदोलन तथा स्वदेशी भाषाओं के साहित्य का उत्थान। पंजाब में नानक और उनके अनुयायियों ने इन प्रवृत्तियों में एक और प्रवृत्ति का समावेश किया। यह थी राजनीतिक एकता की प्रवृत्ति—भ्रातृत्व और त्याग के बल पर समस्त सिख-समुदाय को एक सूत्र में बांधना। एक और तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है। दो प्रक्रियाएं उस समय साथ साथ चल रही थीं। एक ओर चौथे धर्मसुधार के नेता रामानन्द विजयनगर के मालीकोट नामक स्थान से (जहां दो शताब्दियों से अधिक समय पहले रामानुज ने राजमिस्त्रियों के द्वार पंचमों के लिए भी खोल दिए थे) रवाना होकर भारत की यात्रा पर चल पड़े थे और विभिन्न वर्णों व धर्मों के व्यक्तियों के बीच नवीन अनुभव प्राप्त कर रहे थे। वास्तव में यही कारण था कि रामानन्द ने परम्परा से हटकर निम्न वर्गों को पूर्ण धार्मिक समानता प्रदान की तथा एक ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना की जो हिन्दू और मुसलमान दोनों की भक्ति की अभिव्यक्ति कर सके। दूसरी ओर विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हो रही थी (१३३६ ईस्वी)। आगामी तीन शताब्दियों में दक्षिणभारत में मुसलमानों की प्रगति को रोकने का काम केवल विजयनगर राज्य ने किया। सामाजिक-धार्मिक आंदोलन तथा राजनीतिक एकता आंदोलन समसामयिक थे। यह तथ्य भारतीय इतिहास में तथाकथित 'अन्धयुग' में हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठ कोटि शक्ति एवं ओजस्विता का अकाट्य प्रमाण है।

रामानन्द का क्षेत्रीय एवं सामाजिक समन्वय

चौथे महान धर्मसुधार (अथवा सामाजिक-धार्मिक क्रांति) का प्रसार और प्रभाव क्रमशः महाराष्ट्र से बंगाल और पंजाब से उड़ीसा तक समस्त उत्तरभारत में हो गया। रामानन्द को भारतीय इतिहास और संस्कृति के महानतम व्यक्तियों में से एक

समझा जाना चाहिए। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक के उत्तरभारत के अधिकांश धार्मिक आंदोलनों का उद्गम एक प्रकार से रामानन्द ही थे और उन्हीं के कारण भारत का जनसामान्य विभिन्न मतों का अनुयायी बन गया। दक्षिण सन्तों की रहस्यवादी भक्ति विशिष्टाद्वैत का प्रपत्ति-सिद्धांत और ईश्वर का आसन्नमुक्तिप्रेम व महत्ता पर विश्वास उन्होंने दक्षिण से ग्रहण किया। किन्तु उन्होंने दक्षिण की जाति-रूढ़िवादिता के विरुद्ध आवाज उठाई (दक्षिण में शूद्रों को धार्मिक समानता और बन्धुत्व प्रदान करना तो दूर धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने का भी अधिकार न था क्योंकि रामानुज के आचरण नियमों में इन आदर्शों को व्यवहार में नहीं लाया जा सका था)। उन्होंने मीमांसा-सम्प्रदाय तथा वैदिक जीवन पद्धति के अर्थ रूढ़िशासन को भी अस्वीकार किया। वैदिक जीवन-पद्धति को तो उन्होंने समय के उपयुक्त ही नहीं ठहराया। चौदहवीं शताब्दी में कर्ममीमांसा पर पार्थसारथि मिश्र की कृतियों और सायणाचार्य की वेदों की टीका में लोगों की रुचि जागी। इसके अतिरिक्त वे समकालीन समाजव्यवस्था तथा जाति परिवार और विवाह के नियमों को बनाए रखने के पक्ष में भी न थे यद्यपि समसामयिक सुप्रसिद्ध 'स्मार्त'—जैसे विजयनगर के माधवाचार्य बंगाल के कुल्लूक और मिथिला के चण्डेश्वर—उनपर पूरा ज़ोर दे रहे थे। बौद्धधर्म का जिसमें तांत्रिक प्रवृत्तियों का समावेश पहले ही हो चुका था पतन शीघ्रता से होना आरम्भ हो गया था यद्यपि प्रसिद्ध है कि रामानन्द ने बनारस और गोवर्धन में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया था। उन्होंने अपने विस्तृत भारत भ्रमण में अवश्य देखा होगा कि मथुरा प्रयाग और बनारस जैसे पवित्र नगरों में कैसी विनाश-विध्वंसलीला मुसलमानों ने मचाई थी। उन्होंने यह भी देखा होगा कि हिन्दू जनता को इस्लाम धर्म स्वीकार करके मुसलमानों के सामाजिक भ्रातृत्व में सम्मिलित होना कितना रुचिकर मालूम पड़ा होगा।

हिन्दू धर्म और संस्कृति की इस शोचनीय अवस्था को देखकर रामानन्द की सम समन्वयात्मक बुद्धि फौरन जागी। भक्ति उनका प्रवेशपथ था और यह सन्देश जनता के सम्मुख जनभाषा में ही रखा जाता था क्योंकि उपदेशों और प्रवचनों की भाषा अब संस्कृत न रहकर हिन्दी हो गई थी। रामानन्द ने रामभक्ति पर ज़ोर दिया। कारण स्पष्ट है। मथुरा और वृन्दावन के सामाजिक सन्दर्भ में कृष्ण को स्थानीय और वासनात्मक विशिष्टता प्राप्त थी और यह शायद मुसलमानों को स्वीकार्य न होती। इसके विपरीत हिन्दू कथाओं और उपासना में राम इस विशिष्टता से सर्वथा मुक्त थे। रामभक्ति में ईश्वर के अवतार पुरुषोत्तम राम के आदर्श और धर्मपरायण जीवन का खूब यशोगान किया जाने लगा। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू धर्म और इस्लाम के समन्वय में रामभक्ति की पुनःस्थापना का महत्त्वपूर्ण योगदान था। रामानन्द का उद्देश्य ईश्वरभक्ति सबके सामान्य सामाजिक समानता एकविवाह तथा जनता के सुनिश्चित अनुशासन की सम्यक नींव पर पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना करना था।

आस्तिकता और समानता के भजन और गीत

रामानन्द-आन्दोलन क्रमशः तीन शाखाओं में विभक्त हो गया। रामभक्तिशाखा

प्रधान थी। दूसरी थी कृष्णभक्तिशाखा। तीसरी शाखा नाथ और सहज परम्पराओं से उद्भूत थी तथा इसके प्रमुख कबीर एवं अन्य निर्गुण सन्त थे। इस शाखा में अद्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत वेदान्ती धारणाओं योग और ब्रह्मध्यान का सम्मिलन था। मुसलमान भक्तों और हिन्दू भक्तों को इस तीसरी शाखा ने ही अधिक प्रभावित किया। उपदेश और प्रवचन जन भाषा में भजनों और गीतों के रूप में जनता के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते थे तथा रहस्यवादी सन्त और कवि—जिनमें से अनेक महिलाएं थीं—हजारों की संख्या में इन भजनों और गीतों की रचना करते थे। इस दृष्टि से रामानन्द और उनके सर्वप्रथम शिष्य यूरोप के मार्टिन लूथर और उनके साथियों के समान थे। ठीक इसी प्रकार मार्टिन और उनके साथियों ने जनभाषा में भजनों की रचना करके प्रोटेस्टेंट आन्दोलन का प्रसार किया था। यूरोप में पापतंत्र के अनुयायी एक पादरी ने कहा था कि लोग भजन गाते हुए नास्तिक बनते जा रहे हैं। भारत में भी दूर-दूर तक इस 'नास्तिकतावाद' का प्रसार हुआ तथा इस काम में प्रमुख जनभाषाएं गुजराती, मराठी हिन्दी और बंगला थीं। इस सामूहिक आंदोलन के लिए एक और महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि सामाजिक और धार्मिक बन्धुत्व तथा क्षमा और दया पर जोर दिया गया था। रामानन्द द्वारा संस्थापित रामभक्ति अथवा वैरागी धार्मिक वर्गों के विशिष्ट गुण थे—सामाजिक समानता तथा जाति व लिंग सबंधी प्राचीन पक्षपात का समूल विनाश। रामानन्द का एक बहुप्रचलित उपदेश है 'किसी व्यक्ति की जाति मत पूछो और न यह पूछो कि उसका खानपान किसके साथ है। यदि कोई व्यक्ति हरि से प्रेम करता है तो वह हरि का आत्मीय होता है।' रामानन्द के धार्मिक सम्प्रदाय में प्रत्येक जाति और धर्म के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हो सकते थे तथा सभी एक साथ खान-पान और आराधना कर सकते थे। पृथ्वी पर रामराज्य की पुन स्थापना व्यक्ति और समाज को परिशुद्ध करनेवाले कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक सुधारों पर निर्भर है। ये सुधार हैं समाज से जाति-पांति के बन्धन की समाप्ति तथा पुरोहितवाद का उन्मूलन पारिवारिक जीवन में एक विवाहप्रथा शरीर की परिशुद्धि तथा मन और धर्म के ईश्वर का चिन्तन करते हुए उसके समक्ष आत्मसमर्पण।

वैरागी सम्प्रदाय के बहिष्कृत सन्त

परम्परा यह है कि भक्ति का उद्भव द्रविड़ देश में हुआ रामानन्द ने उसका प्रवेश उत्तरभारत में कराया तथा कबीर ने उसका प्रसार संसार के सातों महाद्वीपों और नौ खिण्डों में किया। हिन्दूधर्म के इतिहास में पहली बार किसी ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना हुई जिसके द्वार द्विजों के अतिरिक्त निम्नतम जातियों तथा स्त्रियों के लिए भी खुले थे। शंकर रामानुज निम्बार्क और मध्व ने अपने प्रवचन संस्कृत में दिए। रामानन्द और उनके शिष्यों ने अपने उत्तरभारत भ्रमण के दौरान प्रादेशिक भाषाओं में उपदेश दिए। रामानन्द के धर्मप्रचारक अनेक जातियों के थे यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है चमार रविदास मुसलमान जुलाहा कबीर नाई सेना राजपूत पीपा तथा जाट धिन्ना (धन्ना) के अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण भी थे जो पहले रामानुज के अनुयायी थे और रामानन्द के साथ ही उस पंथ से अलग हो गए थे। उनके प्रथम धर्मप्रचारक-दल में पायद एक कसाई सदना

[जो शालिग्राम की बटिया (विष्णु का प्रतीक) से मांस तोलता था] चमार रैदास तथा दो स्त्रियां पद्मावती सुरसुरी और सुरसुरानन्द की पत्नी भी थे। ये थे रामानन्द के सर्वप्रथम बारह-तेरह शिष्य। इनके अतिरिक्त उनके अन्य अनेक शिष्य थे जो अधिकांशतः नीची जातियों के थे। गंगा नाम की एक वेश्या भी उनकी शिष्या थी। रामानन्द ने दो स्त्रियों को अपना धर्म प्रचारक नियुक्त करके स्त्रियों को महत्त्वपूर्ण दरजा प्रदान किया। सामाजिक दृष्टि से यह काम अत्यन्त विशिष्ट था।

सूफ़ी मत का उद्भव और प्रसार

'भविष्यत्पुराण' में लिखा है कि रामानन्द के प्रभाव से अनेक म्लेच्छों (अर्थात् मुसलमानों) ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था और उनके गले में तुलसी की माला जीभ पर राम का नाम तथा माथे पर वैष्णव तिलक था। उन्हें 'संयोगी' कहा जाता था और वे अयोध्या के समीप बस गए थे। अब तक मुसलमान सन्त और रहस्यवादी अपने सरल अद्वैतवाद तथा सामाजिक धार्मिक समानता के बल पर हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन करते रहे थे किन्तु अब हिन्दूधर्म परिवर्तनकारियों के रूप में उन्हें अपना प्रभावशाली प्रतियोगी मिल गया। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में एक तीव्र आध्यात्मिक सचेतनता आयी। इस सचेतनता के फलस्वरूप एक ओर तो मुसलमान सूफ़ी मत का प्रादुर्भाव हुआ तथा दूसरी ओर हिन्दू भक्तों (ईश्वर के स्वतन्त्र पुजारी और मानवता के प्रेमी) को बल मिला। नीचे रामानन्द का एक गीत दिया जाता है। यह सिखों के 'आदिग्रंथ' में सम्मिलित है और शायद उनका यही एक गीत बच पाया है। इससे स्पष्ट है कि रामानन्द तथा सूफ़ी सन्तों के विचारों में कितनी समानता थी

कत जाइये रे घर लागो रंगु,
मेरा चित न चलै मन भयउ पंगु।
एक दिवस मन उठी उमंग,
घसि चन्दन चोवा बहु सुगन्ध।
पूजन चाली ब्रह्म ठाइ
सो ब्रह्म बतायो गुरु मनहिं माहि।
जहां जाइए तह जल-पखान
तू पूरि रह्यो है सब समान।
वेद पुरान सब देखे जोई,
वहां न जाइए जहँ तू न होई।
सत गुरु मैं बलिहारी तोर
जिनि सकल बिकल भ्रम काटे मोर।
रामानन्द स्वामी रमत ब्रह्म
गुरु का सबद काटै कोटि करम॥

इस युग में सूफ़ी सम्प्रदाय भारत में विकसित हुआ और फैला। यह हिन्दू और मुसलमान धार्मिक विचारों तथा रीतियों के मध्य एक सेतु के समान था। सूफ़ीवाद क

स्रोत अनेक और जटिल थे। इस्लाम का अपना एक रहस्यवादी ढंग था ही, किन्तु शीघ्र ही सूफीवाद ईसाईमत नास्तिक सम्प्रदाय नवप्लेटोवाद तथा हिन्दू भागवत धर्म के सम्पर्क में आ गया। ये कारण निस्संदेह सूफीवाद के विकास में सहायक हुए। फारस के सूफी आन्दोलन में सादी रूमी और हाफिज जैसे विख्यात कवि भी सम्मिलित थे। वे अद्वैत सर्वेश्वरवाद से प्रभावित थे तथा मानवीय एवं ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने कलात्मक धार्मिक प्रतीकों और बिम्बों का आविष्कार किया था। सूफी आध्यात्मिक विचारों पर हिन्दूधर्म का स्पष्ट प्रभाव है। उदाहरणत फना की धारणा का उद्गम है ब्रह्म और निर्वाण के विचार। सूफी कथन मैं ही सत्य हूं म वेदान्त के सिद्धान्त-वाक्य तत् त्वमसि की प्रतिध्वनि है। सूफियों ने हिन्दू प्राणायाम (पास अन्फस) विस्तृत विधियों और मंत्रों के पुनरुच्चारण (जिकर) को भी अपना लिया। भारत में सूफीवाद के विकास को सामान्यत दो तथ्यों से सम्बद्ध माना जाता है दिल्ली में मुइनुद्दीन चिश्ती (११४२–१२३६ ईस्वी) द्वारा ११६१ ईस्वी में चिश्ती पथ तथा मुल्तान में बहाउद्दीन जकरिया मुल्तानी (११६६–१२६१ ईस्वी) द्वारा सुहरावर्दी पंथ की स्थापना।

भक्ति और सूफी सिद्धान्तों एव आचरणों का अन्तर्मिश्रण

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में भक्ति-आन्दोलन का प्रसार दूर-दूर तक हो जाने के पश्चात् सूफीवाद ने रहस्यवादी भक्ति तथा नाथ व सहज योग परम्पराओं से अनेक बातें ग्रहण की इससे उसम परिवर्तन हुआ तथा उसकी लोकप्रियता बढ़ी। साथ ही सूफीवाद ने विभिन्न विचारधाराओं वाले अन्य हिन्दू सम्प्रदायों को भी प्रभावित किया। पन्द्रहवीं शताब्दी म तीन महत्त्वपूर्ण सूफी पंथों की स्थापना हुई। मकनपुर (उत्तर प्रदेश) के बदीउद्दीन शाह मदार (मृत्यु १४३६ ईस्वी) द्वारा संस्थापित मदारी अथवा उजायदी पंथ उच क मुहम्मद गिलानी (१४८२ १५१७ ईस्वी) द्वारा संस्थापित क़ादरी पंथ तथा दिल्ली क मुहम्मद बाकी बिल्लाह (मृत्यु १६०३ ईस्वी) द्वारा संस्थापित नक़्शबन्दी पथ। तीनों पंथों की ओर बहुसंख्यक मुसलमान और इस्लाम स्वीकार करने वाले हिन्दू आकर्षित हुए। विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों और सूफी पंथों के बीच आध्यात्मिक प्रेम की भावप्रणिकता और क्रियाओं का खूब आदान-प्रदान हुआ। यह आदान प्रदान बाबर से अकबर तक के राज्यकाल में खूब हुआ क्योंकि इस समय धार्मिक सहिष्णुता का प्राधान्य था जिसके फलस्वरूप सांस्कृतिक एवं धार्मिक तादात्म्य तथा समन्वय स्थापित होता था। मुल्ला दाउद (लगभग १४४० ईस्वी) कुतबन (लगभग १२० ईस्वी) मंझन जायसी (१५४० ईस्वी) और उस्मान (१६१३ ईस्वी) जैसे प्रसिद्ध कलामी मुसलमान लेखकों ने भारतीय साहित्य में भी सूफीवाद का प्रवेश किया। इन्हीं रूमानी रचनाकारों ने मजनू और लैला क प्रम और विरह की तीव्रता एवं प्रतीकात्मकता को भारतीय काव्य और धम म प्रवेश कराया। कबीर भी सूफी सन्तों से सम्बद्ध हो गए। यह भी एक कारण था कि ईश्वर तक पहुचने के साथ क रूप में फारसी की प्रेम प्रतीकात्मकता को अपनाया गया। यह प्रतीकात्मकता बाद मे खूब प्रचलित हुई।

मुसलमान सन्तों का निकट-सम्पर्क एक ओर तो नाथ और सहज सम्प्रदायों की

योग-साधना के साथ हुआ और दूसरी ओर वैष्णवधर्म के वैयक्तिक आराध्यदेव के प्रति गम्भीरतम प्रेम (जिसका उद्गम प्राचीन भागवत धर्म में था) के साथ। इन्हीं सम्पर्कों ने भारतीय सूफीवाद का स्वरूप निर्धारित किया। मुसलमान अपनी शक्ति क्रमशः सुदृढ़ करते गए, किन्तु जनसामान्य के जीवन का रवैया अछूता ही रहा। निम्न जातियों के लोगों का मुसलमान बनना जारी रहा। इस धर्म-परिवर्तन के कई कारण थे। हिन्दुओं की जातीयता की रूढ़ि के कारण उत्पन्न नीची जातियों की असमर्थताएं तथा अन्य सामाजिक असुविधाएं, और जज़िया से मुक्ति अकाल के समय भूख की यंत्रणा से छुटकारा व युद्धों के दौरान गुलाम न बनाए जाने की आशा। किन्तु इससे सामाजिक ढांचे में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। कारण मुसलमान बननेवाले हिन्दू गाय का मांस न खाते थे विधवा विवाह से बचते थे और सामान्यतः हिन्दूपद्धति के अनुसार ही जीवन व्यतीत करते थे। देहातों में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए समानरूप से हानिकर थी महामारी अथवा फसल की हानि। इससे बचने के लिए हिन्दू जनता भी मुसलमान फकीरों और संतों का सम्मान करती थी पीरों के मकबरों को पूजती थी तथा सम्मिलित पूजागृहों में मुसलमानों के साथ-साथ पूजा करती थी। हिन्दू और मुसलमान रूढ़िवादी लोग अविश्वास पूर्वक यह सब देखते थे किन्तु दोनों धर्मों की रूढ़ियों में विश्वास न करनेवाले लोगों— हिन्दू भक्तों और बैरागियों तथा मुसलमान सूफी और फकीरों—ने जाति और धर्म की दीवारों को तोड़ने तथा जातीयता की सीमाओं (जिनके भीतर हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों का परिवेश था) से परे ईश्वर के प्रति उत्कृष्ट प्रेम के उपदेश देने की जिम्मेदारी अपने पर ले ली। इस प्रकार भारतीय भूमि पर इस्लाम के सूफी सिद्धांतों और हिन्दूधर्म की भक्तिभावना का अन्तर्मिश्रण हुआ।

पांडुआ की अदीना मसजिद आगरा का ताजमहल गौड़ की सोना मसजिद व कदम रसूल तथा मांडू के हिंडोला और जहाजमहल में हिन्दू और मुसलमान कला एवं कारीगरी को अलग अलग पहचानना असम्भव है। ठीक इसी प्रकार रामानन्द कबीर, नानक दादू और मीराबाई जैसे हिन्दू तथा सचल शाह लतीफ और गुरु अर्जुन जैसे सूफियों के भजनों में हिन्दू और मुसलमान तत्त्वों को अलग कर पाना भी असम्भव है। मध्ययुग के धार्मिक विद्रोहियों अर्थात् भक्तों और सूफियों ने अपने उदार उपदेशों और भक्ति-गुण के बल पर आधुनिक भारत के धार्मिक विश्वास और भक्ति का स्वरूप निर्धारित किया है। एक विश्वसनीय अनुमान है कि भारत के दो तिहाई मुसलमान किसी न किसी सूफी पंथ से प्रभावित हैं। धर्म का बाहरी खोल मतों और जातियों को पृथक करता है। इसके विपरीत सूफीवाद और भक्ति-आन्दोलन वास्तव में इस्लाम और हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक सार-तत्त्व हैं और इन्होंने राजनीतिक सम्बन्धों की उथल-पुथल के बावजूद दोनों संस्कृतियों को एकसूत्र में बांधने का काम दृढ़तापूर्वक किया है।

कबीर, दादू और नानक के उदार उपदेश

भारत के धार्मिक इतिहास में तीन सुविख्यात धार्मिक व्यक्तित्व झिलमिलाते हैं कबीर दादू और नानक। तीनों रामानन्दी परम्परा के थे। तीनों ने साहसपूर्वक हिन्दूधर्म

और इस्लाम को एक करने का प्रयास किया, तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के बहु संख्यक लोग उनके अनुयायी बने। दोनों ने ही समानरूप से अंधविश्वास और कर्मकांड का विनाश चाहा। कबीर (१४१०–१५१८ ईस्वी) में रामानन्दी गोरखनाथी और सूफी परम्पराओं का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ और वे अत्यन्त उदार सर्वधर्मसारसंग्राही तथा गम्भीर चिन्तक बन गए। उन्होंने संस्थात्मक धर्म को एक ढकोसला मात्र माना। जाति प्रथा साम्प्रदायिकता तपस्या तथा अन्य पूजाविधियों का दृढ़तापूर्वक खंडन किया और सीधे आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान (सहज) द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की बात कही। सत्य तो यह है कि ईश्वर का निवास प्रत्येक मनुष्य के हृदय में है। मुसलमान का एक खुदा है किन्तु कबीर का ईश्वर सर्वव्याप्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर इस्लाम के रूढ़िवादी अद्वैतवाद को नहीं मानते

> मोको कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।
> ना मैं देवल ना मैं मसजिद ना काबे कैलास में।
> ना तो कौनो क्रियाकर्म में नहीं जोग-बैराग में।
> खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं पल भर की तालास में।[1]

अहमदाबाद के संत दादू (१५४४–१६०० ईस्वी) जाति से जुलाहे और कबीर पंथी थे। उन्होंने सम्पूर्ण उत्तरभारत का खूब भ्रमण किया तथा एक अवसर पर सम्राट अकबर से भेंट की। उनमें गम्भीर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तथा काव्यात्मक दृष्टि का अपूर्व सम्मिलन हुआ जिसके फलस्वरूप विश्व के धार्मिक काव्य के कुछ अत्यन्त मूल्यवान रत्नों का जन्म हुआ। उनकी एक विशेषता यह भी थी कि वे हिन्दी सिंधी गुजराती मारवाड़ी मराठी और फारसी में काव्यरचना करने में सक्षम थे। वे कहते हैं

> सखी मेरे हृदय की व्यथा सुनो
> मैं अपने प्रिय के बिना व्याकुल हूँ।
> जैसे बिना पानी के मछली तड़पती है,
> उसी तरह मैं अपने प्रिय के बिना अशांत हूँ।
> अपने प्रिय के लिए पागल होकर मैं रात-दिन गीत गाती हूँ
> मैं अपना दर्द मैना की तरह उँडेलती हूँ।
> कौन मुझे मेरे प्रिय के पास ले जायेगा ?
> कौन मुझे उसकी राह दिखाएगा और मेरे हृदय को सांत्वना देगा ?
> दादू कहते हैं कि हे ईश्वर !
> मुझे एक क्षणमात्र के लिए दर्शन देकर कृत कृत्य कर दे।

नानक (१४६९–१५३८ ईस्वी) ने पंजाब में सिखधर्म की संस्थापना की। केवल सत्ताईस वर्ष की अवस्था में नानक की भेंट कबीर से हुई। उस समय वे कबीर के भक्त

1. प्रस्तुत पद श्री वियोगी हरि सम्पादित 'सन्त-सुधा-सार' (प्रथम संस्करण १९५३) से उद्धृत है।
—अनुवादक।

से सुपरिचित थे। आज भी सिख प्रतिदिन कबीर के भजनों का पाठ करते हैं। अपने जीवन भर नानक साहसपूर्वक हिन्दू और इस्लाम धर्मों की कट्टरता अन्धविश्वास और लौकिकता को दूर करने का प्रयास करते रहे। उन्होंने सत्य को ईश्वर (सद् श्री अकाल—ईश्वर सत्य है) मानकर केवल एक ईश्वर पर तथा मनुष्यों के पारस्परिक बन्धुत्व पर जोर दिया। साथ ही उन्होंने आदर्श एवं धर्मपरायण जीवन व्यतीत करने अर्थात् श्रम दान और सहयोग के सामाजिक गुणों को अपनाने का आग्रह किया। उन्होंने धार्मिकता की वेदी पर धार्मिक लौकिकता एवं कर्मकांड का बलिदान कर दिया यह एक मुसलमान को सम्बोधित निम्न भजनों से स्पष्ट है

मिहर मसीति सिदकु मुसला हकु हलालु कुराणु।
सरम सुंनति सीलु रोजा होहु मुसलमाणु॥

अर्थात् (प्राणियों के ऊपर) दया को मसजिद (बनाओ) श्रद्धा को मुसल्ला[1] और हक की कमाई को कुरान। (बुरे कर्मों के प्रति) लज्जा को सुन्नत (मानो) शील-स्वभाव को रोजा (बनाओ) (हे भाई इस विधि से) मुसलमान बनो।

पांच नमाजें[2] हैं नमाजों के लिए पांच समय हैं तथा उनके पृथक-पृथक पांच नाम हैं

पहिला सचु हलाल दुइ तीजा खैर खुदाइ।
चउथी नीअति रासि मनु पंजवीं सिफति सनाइ॥

अर्थात् सच बोलना पहली नमाज है हक की कमाई दूसरी नमाज का नाम है परमात्मा से सबका भला मांगना तीसरी नमाज है। चौथी नमाज है नीयत को साफ रखना तथा परमात्मा के यश की महिमा की प्रशंसा करना पांचवीं नमाज है।[3]

हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लोगों के मन में नानक के प्रति असीम प्रेम और श्रद्धा थी यहां तक कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनमें विवाद होने लगा कि उनके शव को दफनाया जाए या जलाया जाए। किन्तु कबीर के शव की भांति नानक का शव भी गायब हो गया और उसके स्थान पर कुछ ताजे फूल मात्र रह गए।

इस्लाम की आस्तिकता में परिवर्तन

कबीर दादू और नानक के उपदेशों में एक ओर तो इस्लाम की आस्तिकता की कट्टरता और व्यक्तिवादहीनता का खण्डन और दूसरी ओर हिन्दू पुरोहितवाद बहुदेववाद व जातिप्रथा का दृढ़ विरोध स्पष्ट परिलक्षित है। इससे दोनों धर्मानुयायियों के मस्त

1 वह वस्त्र जिस पर बैठकर नमाज पढ़ी जाती है।
2 मुसलमानों की पांच नमाजों के नाम हैं : नमाज-ए-सुबह नमाज-ए-पेशीन नमाज-ए-दीगर, नमाज-ए शाम, तथा नमाज-ए-खुफ्तन।
3 गुरु नानक के 'सलोकु' के ये दोनों अंश तथा इनके शब्दार्थ जोधसिंह [illegible] सिंह सम्पादित 'नानकवाणी' (प्रथम संस्करण १९६१) पृ० १०६–१८ से उद्धृत हैं। —[illegible]।

मिश्रण को प्रोत्साहन मिला। इतना ही महत्त्वपूर्ण यह तथ्य भी है कि कबीर और नानक दोनों का सीधा सम्पर्क गोरखनाथ-परम्परा के साथ हुआ तथा उन्होंने सूफी-आन्दोलन के विशुद्ध रसामृत का भी पान किया। यहां हमें हिन्दूधर्म की प्राचीन अनिवार्य प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। यह प्रवृत्ति सहिष्णु व उदार है तथा धार्मिक समुदाय के असीम विस्तार के लिए उत्सुक है। निश्चय ही यह प्रवृत्ति विदेशी विजेता और उसके धर्म-परिवर्तन-कार्य के समक्ष पराजय वृत्ति नहीं है।

रामानन्द के महान धर्म-सुधार के कारण भक्ति-आन्दोलन तमिलनाड से उत्तर भारत में आया तथा उनके जीवनकाल (चौदहवीं शताब्दी) और फिर पन्द्रहवीं व सोलहवीं शताब्दियों में क्रमशः फैलता गया। किन्तु भक्ति रहस्यवाद उत्तरभारत के समान दक्षिण में सामाजिक और धार्मिक स्वाधीनता और समानता का जन-आन्दोलन न बन सका जाति और पद को नकार अभ्यास करके कार्य की महत्ता को प्रोत्साहित न कर सका और न इसके साथ-साथ लोकोपयोगी साहित्य का अद्भुत उत्थान हो सका। कारण यह था कि विजय नगर साम्राज्य के शानदार शासनकाल में न तो मुसलमान आक्रमणकारी दक्षिण में पहुंच सके और न इस्लाम का विघटनकारी प्रभाव। फिर भी उत्तरभारत में भक्ति राष्ट्रीय पराजयवाद अथवा पलायनवाद की नहीं वरन् एक महान प्रजातांत्रिक उत्थान तथा गतिमय धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति थी। भक्तिधारा ने इस्लाम की धार्मिक और सामाजिक चुनौती का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना किया तथा इस्लाम के कट्टर अद्वैतवाद और फिरकापरस्ती को अपने अनुसार संशोधित करके उसके ही विविध पृथक सूफी सम्प्रदाय को सुदृढ़ किया।

अध्याय १८

मुगल संस्कृति व कला की उदारता और मानवीयता

प्रांतीय नगरों में इस्लामी संस्कृति

तुर्क-अफगान आक्रमणों ने सर्वप्रथम भारत भूमि पर मार-काट मचा रखा था। उनके कुछ दिल्ली-अधिपति प्रबुद्ध स्वेच्छाचारी शासक थे तथा कुछ निर्दय तानाशाह। किन्तु सबके सब कट्टर मुसलमान और मूर्तिभंजक थे। तुर्क-अफगान शासनकाल में अनेक हिन्दू-मन्दिर और बौद्ध संघाराम धराशायी कर दिए गए। फिर भी भारत में सच्ची मुसलमान संस्कृति का प्रतिनिधित्व दिल्ली (अपने चरमोत्कर्ष काल में भी) न कर सकी थी। तुगलकवंश के शासनकाल में हिन्दू-विरोध के फलस्वरूप दिल्ली-सुलतान का प्रभुत्व काफी घट गया तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में इस्लामी सभ्यता का केन्द्र दिल्ली से हटकर जौनपुर, गौड़ अहमदाबाद और मांडू पहुंच गया। इन विभिन्न मुसलमान राज्यों में हिन्दू परम्परा और मुसलमान-संस्कृति के संश्लेषण के आधार पर कला वास्तु और विद्या का महान पुनरुत्थान हुआ। संश्लेष संभव होने का कारण यह था कि अपने मूर्तिभंजक आवेग के बावजूद अफगान लोग भारतीय जीवन से सर्वथा अपरिचित न थे क्योंकि कंधार विभिन्न समयों में विभिन्न भारतीय साम्राज्यों का अनिवार्य अंग रह चुका था।

वास्तु में मुसलमान और हिन्दू परम्पराओं का समन्वय

गुलाम और खिलजी वंशों के शासनकाल में अनेक इमारत दिल्ली में बनीं सुविख्यात कुतुबमीनार, कुव्वतुलइस्लाम मसजिद निजामुद्दीन औलिया दरगाह तथा अलाई दरवाजा। इस स्थापत्य में मुसलमान प्रभावों का आधिक्य है। फिर भी कुतुब मसजिद के विशाल खम्भों पर हमें हिन्दू-कला के 'मोटिफ'—मन्दिर के घण्टे और जंजीरें—मिलते हैं तथा इसके महराबों की सज्जित भित्ति पर भी हिन्दू प्रभाव स्पष्ट है। भारत के प्राचीनतम मुसलमान नगर तथा दिल्ली के सात मुसलमान नगरों में से सर्वप्रथम नगर में कला और वास्तु की हिन्दू और मुसलमान परम्पराओं की परम्पराओं और तकनीकों का समन्वय सिरसंदिग्ध स्पष्ट है। किन्तु मांडों में यह समन्वय अधिक सूक्ष्म अधिक विवेकपूर्ण अधिक सृजनशील है, तथा क्षेत्रीय शैलियों में विदेशी प्रभाव नहीं वरन् भारतीय प्रज्ञा का प्रभाव दीखता है। सर जॉन मार्शल ने भी जिन्होंने तुर्क-अफगान काल में नवीन 'भारतीय' वास्तु-शैलियों (बंगाल बीजापुर, गुजरात और मालवा में अलग-अलग विशिष्ट शैलियां थीं) के विकास का अध्ययन किया है, उपर्युक्त निष्कर्ष पर जोर दिया है।

उनका कथन है बौनपुर और दक्षिण में स्थानीय शैलियों का प्राधान्य था किन्तु बंगाल में विजेताओं ने ईंटों से भवन निर्माण करने की प्रथा अपना ली तथा हिन्दू नमूनों के आधार पर टकञ्छिम्न एवं लेप्य चित्रों से उन्हें अलंकृत भी किया।" पश्चिमी भारत में भी कुछ अफगानों ने गुजरात की आकर्षक शैली को लगभग ज्यों का त्यों अपना लिया जिसके फलस्वरूप मध्ययुगीन भारत के कुछ सुन्दरतम भवनों का निर्माण हुआ। काश्मीर में भी उन्होंने आकर्षक काष्ठ-वास्तुकला को जो हिमालय के उस भाग में बहुत समय से प्रच लित रही होगी लगभग अपरिवर्तित अपना लिया। पांडुआ की अदीना मसजिद, गौड़ की सोना मसजिद व कदम रसूल अहमदाबाद की जामी मसजिद तथा मांडू के हिंडोला महल व जहाजमहल मध्ययुगीन भारतीय वास्तु के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। इनमें इस्लामी प्रभावजन्य संरचनात्मक आधार की भव्यता व प्रतिविधानता तथा हिन्दू अलंकरण 'मोटिफों' और 'तरहों' की सुन्दरता परिष्कृति व सूक्ष्मता का विवेकपूर्ण समन्वय है। हिन्दू वास्तुकों और कारीगरों ने अत्यन्त कौशलपूर्ण दोनों प्रभावों को एक में मिला दिया है। मसजिद का गुम्बद विशेषतया हिन्दूरूप—जो प्राचीन बौद्ध स्तूप और द्राविड़ मन्दिर से प्राप्त है—धारण कर लेता है तथा पादविन्यास प्रतीकात्मक हिन्दू पंखरला-योजना की अनुकृति है। मन्दिर के खम्भों और शिखरों को फूलों की पंखुरियों और तन्तुओं से सजाया गया है यह भी फारसी और हिन्दू कला 'मोटिफों' के विशिष्ट समन्वय का प्रतीक है। हिन्दू वास्तु शैली ने सोलहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच राजपूताना और मध्य भारत में अपनी स्वाधीनता और सृजनात्मक उपक्रम क्रमशः पुनः प्राप्त कर लिया। उसमें संरचना के प्रतिविधानत्व और उद्देश्य तथा अलंकरण की कोमलता और रूमानी ओज स्विता का विशिष्ट समन्वय है। बीकानेर और अम्बर से ग्वालियर और दतिया तक ऊँची-नीची पहाड़ियों की पीठिका पर खड़े ऊंचे परकोटों वाले किलों और प्रासादों के लटकते हुए छज्जे जालीदार खिड़कियां आगे को बढ़े हुए कगार या मुंडेर हवादार प्रकोष्ठ और गुलम्मायुक्त गुम्बद राजपूत जाति की रूमानी और साहसिक प्रवृत्ति के जीवित प्रतीक हैं।

हिन्दुस्तानी युग का प्रारम्भ

इलियास शाह वंश के शासनकाल में गौड़ राज्य के मुसलमान शासकों और उनकी हिन्दू प्रजा के बीच काफी मात्रा में सौहार्द और सहयोग था। इसका विशिष्ट प्रभाव प्रशासन एवं सामाजिक जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों पर पड़ा। सुल्तान हुसेन शाह ने हिन्दुओं को राज्य के उच्चतम पदों पर नियुक्त किया। बंगाल में रूप और सनातन के समान मालवा में मेदिनीराय की नियुक्ति मुसलमान शासक द्वारा हुई। बीजापुर और गोलकुंडा मुसल- मान रियासतें थीं और वहां भी हिन्दू उच्चतम पदों पर थे। इस युग में हिन्दू और मुसल मान शासनाधिकारियों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी अक्सर होते थे। इनसे भी पृथक संस्कृतियों के समन्वय को प्रोत्साहन मिलता था। १५२९ ईस्वी में बंगाल के नासिरशाह सूर ने अपने प्रधानमंत्री और सेनापति हेमू, जो एक हिन्दू था को मुगलों के विरुद्ध राष्ट्रीय विरोध का नेता नियुक्त किया हिन्दू-मुसलमान सम्मिश्रण का चरमबिन्दु तथा एक

उदार, हिन्दू-पक्षधर नीति का प्रारम्भ यहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों के पुनर्मिलन के इस सामाजिक वातावरण में, उत्तरभारत में साहित्य और ललित कलाएं तेजी से एक सुस्पष्ट 'हिन्दुस्तानी' युग की ओर अग्रसर हुईं। गौड़ में सुल्तानों की प्रेरणा पर मूल संस्कृत से बंगला में 'रामायण' और 'महाभारत' के कई अनुवाद कराए गए। सुल्तानों ने इस काम के लिए विद्वानों को नियुक्त किया। सुल्तान नुसरतशाह, सुल्तान हुसेनशाह के सेनापति परगलखां और चटगांव के सूबेदार छुतिखां के संरक्षण में उत्पादित 'महाभारत' के अनुवाद महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार सुल्तान हुसेनशाह की प्रेरणा से 'भागवत' का अनुवाद मूल संस्कृत से बंगला में हुआ। कृत्तिवास कृत रामायण का सुप्रसिद्ध बंगला अनुवाद जिसका पारायण आज भी होता है, गौड़ केएक सुल्तान के संरक्षण में हुआ था।

क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य में फारसी और संस्कृत विषय-वस्तुओं एवं शैलियों का संयोग 'भारत-तुर्क' अमीर खुसरो

दिल्ली में मुगल वंश के संस्थापक बाबर ने साहित्य, वस्तु, संगीत, वेशभूषा और आचार-व्यवहार के तत्कालीन हिन्दू-मुसलमान अन्तर्मिलन को 'हिन्दुस्तानी तरीका' कहा था। इस हिन्दुस्तानी प्रवृत्ति के साहित्य में अग्रदूत थे चौदहवीं शताब्दी के विख्यात कवि अमीर खुसरो जिन्हें अलाउद्दीन खिलजी ने 'भारत-तुर्क' कहकर सम्मानित किया था। अमीर खुसरो का जन्म पटियाला में हुआ था। उनके पिता तुर्क थे और माता राजपूत (पवार)। वे फारसी, हिन्दी और उर्दू में लिखते थे। उर्दू का शाब्दिक अर्थ है 'दरबारी भाषा' और इसमें हिन्दी व फारसी का सम्मिश्रण है। उन्होंने प्रणयगाथाओं की रचना की। उनकी इस प्रकार की सर्वाधिक सफल कृति थी 'हश्त बिहिश्त' अथवा 'आठ स्वर्ग'। इसमें उन्होंने भारतीय कथाओं का प्रयोग किया था, फारसी कथाओं का नहीं जैसाकि निजामी ने अत्यन्त कौशलपूर्वक किया था। कम से कम फारसी साहित्य के विचार से 'हश्त बिहिश्त' की योजना सर्वथा नवीन थी। उनकी हिन्दी कविता स्फुट गीतों, दोहों और गजलों (जिनमें एक पंक्ति फारसी की है तो दूसरी हिन्दी की) तक सीमित है और इनका प्रचार मौखिक रूप से हुआ। अपनी गजलों के बल पर खुसरो अमर है और यह सर्वथा न्यायसंगत है। सादी और हाफिज जैसे फारसी के शायरों ने खुसरो की गजलों की प्रशंसा की तथा सम्पूर्ण एशिया में खुलकर उनकी नकल की जाने लगी। नीचे उनकी एक बेहतरीन गजल प्रस्तुत है। इसमें संसार की निस्सारता और जीवन की नश्वरता की अभिव्यक्ति है

> तू हमारी मिट्टी में से प्राण निकाल लेता है
> फिर भी हमारे दिलों में रहता है
> तू हमें दर्द पर दर्द देता है
> और फिर उसकी दवा भी।
>
> तेरी चमकती शमशीर ने मेरे दिल के परेशान बगीचे को
> तहस-नहस कर डाला है

फिर भी तेरे बड़े तख्त की किरणें इस खंडहर को कितनी शान देती हैं।

सब कहते हैं कि तेरी कीमत दो बेकार वाली दुनिया है,
यह कीमत बड़ा यह दाम बड़ा यह बेहद सस्ता है—सब जानते हैं।

मिट्टी में बेकार घर से मेरी रूह एक दिन आजाद होगी
फिर भी मेरा दिल तेरे प्यार से हमेशा-हमेशा भरा रहेगा।

खुसरो तेरे सफेद बाल व बुढ़ापा नयी मूरतों की तलाश प्यार से नहीं करते
फिर भी तेरी रूह हमेशा इस बेमानी तलाश में मुब्तिला रहती है।

संस्कृत काव्य-परम्परा के अनुसार खुसरो ने भी भारत की ऋतुओं का वर्णन अपने काव्य में किया है। किन्तु अपनी इन कविताओं में उन्होंने जनसाधारण की बोलियों के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग करके उन्हें एक विशिष्ट प्रकार की कमनीयता, स्वाभाविकता और ताजगी प्रदान की। आज शताब्दियाँ बीत जाने पर भी उत्तरी भारत के गाँवों में उनके गीत गाए जाते हैं। नीचे उनका एक श्रेष्ठ हिन्दी दोहा उद्धृत है। जनश्रुति है कि इसकी रचना उन्होंने अपने उस्ताद विख्यात सूफी निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु पर की थी :

खूबसूरत आदमी अपने बिस्तर पर पड़ा है और उसके काले बाल
उसके चेहरे पर बिखरे हैं।
ओ खुसरो, अब घर चल क्योंकि सारी दुनिया पर रात घिर आई है।

सूफी रहस्यवादी मुहम्मद जायसी

उर्दू का उद्भव अमीर खुसरो के कारण हुआ। उन्होंने अपना सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन फारसी और हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू भाषा के साहित्य सृजन में लगा दिया। लगभग उसी समय अमीर खुसरो के एक समकालीन तथा 'सूरज और चंदा की कहानी' के रचयिता मुल्ला दाउद (लगभग १४०० ईस्वी) ने हिन्दी रूमानी काव्य को जन्म दिया। कई मुसलमान कवियों ने हिन्दी रूमानी परम्परा को अग्रसर किया। 'मृगावती' (१५०० ईस्वी) के रचयिता कुतबन, 'मधुमालती' के रचयिता मंझन, 'चित्रावली' के उस्मान तथा हुमायूँ के समय में जीवित व 'पद्मावत' के रचयिता जायसी इसी परम्परा के कवि थे। हिन्दी साहित्य की इस प्रेममार्गी धारा में मुसलमान लेखकों का महत्वपूर्ण योग था तथा इस धारा का प्रमुख कथानक था—सामाजिक बंधनों को अस्वीकार करनेवाली प्रेमोन्मत्त आत्मा के निरन्तर संघर्ष में मानवीय और ईश्वरीय प्रेम का अन्तर्मिलन। बाद में यह साहित्यिक आन्दोलन हिन्दू जीवन-दर्शन के प्रभाव में आकर सूफीवाद के परवर्ती आध्यात्मिक-दार्शनिक आन्दोलन में सम्मिलित हो गया। इन मुसलमान कवियों में सर्वश्रेष्ठ मलिक मुहम्मद जायसी थे। उनका जन्म १४६४ ईस्वी में हुआ था और अपने जीवन का उत्तरकाल उन्होंने अवध में अमेठी के निकट रामनगर जंगल के एकान्त में व्यतीत किया। वे हिन्दी साहित्य तथा हिन्दू-मुसलमान सांस्कृतिक

एकता के प्रारम्भिक उन्नायक थे। राजपूत नायिका पद्मावती के जीवन पर आधारित उनके महाकाव्य 'पद्मावत' (१५४० ईस्वी) में प्राचीन हिन्दू योग और मध्ययुगीन सूफी रहस्यात्मकता का सुन्दर समन्वय है। उनपर कबीर (१४१०–१५१८ ईस्वी) के उपदेशों का बहुत प्रभाव था तथा अपनी कृति अखरावट के ठँतालीसवें पद में उन्होंने कबीर का नाम लिखा है। परम्परानुसार जायसी को सूफी कवि माना जाता है। उनकी कृतियां इस बात के भी स्पष्ट प्रमाण हैं कि वह गोरखनाथी योग-परम्परा से भी भली भांति परिचित थे। मध्ययुग में अनेक आत्मसम्मान संतकवि हुए थे जिन्हें विशिष्ट रूप से हिन्दू या मुसलमान कुछ भी न कहा जा सकता था और जिन्होंने धार्मिक धर्मान्तरण की प्रक्रिया का श्रीगणेश किया जो अकबर के समय में अपने उत्कर्ष पर पहुंची जायसी को इनमें सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ सन्तकवि होने का गौरव प्राप्त है।

'पद्मावत' के 'स्तुतिखंड' के निम्न अंश में ईश्वर की सर्वव्यापकता और पारलौकिकता का एकसाथ वर्णन है, और इस अंश में जायसी पर उपनिषदों की विचारधारा का अमिट प्रभाव स्पष्ट है

जीउ नाहिं पै जिये गुसाईं।
कर नाहीं पै करै सबाईं॥
जीभ नाहिं, पै सब किछु बोला।
तन नाहीं, जो डोलाव सो डोला॥
स्रवन नाहिं, पै सब किछु सुना।
हिय नाहीं गुनना सब गुना॥
नैन नाहिं पै सब किछु देखा।
कवन भांति अस जाइ बिसेखा॥[1]

इसपर भी सूफी परम्परा के अनुसार जायसी भी मानवीय और ईश्वरीय प्रेम को आपस में मिश्रित होता हुआ वर्णित करते हैं

जाहि के बोल बिरह का माया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया॥
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा॥[2]

तथा—

जेहि तन पेम कहाँ तेहि मांसू। तहाँ न रकत न नयनहिं आंसू॥[3]

प्रेम वह प्रवेशद्वार है जिसमें प्रवेश करके योगी मोक्ष प्राप्त करता है। भारत में इस प्रकार के प्रेम के अनेक प्राचीन उदाहरण हैं विक्रम (विक्रमादित्य) और सपनावती (चम्पावती) मधुपाल और मुग्धावती राजकुंवर और मृगावती खंडावत और मधुमालती मुरारी और प्रेमावती तथा अनिरुध (अनिरुद्ध) और उषा। कवि ने विराग की लौ का चुम्बन करनेवाले पतंग और केतकी के कांटों को नज़र-अन्दाज़ कर जानेवाली

---

१ 'पद्मावत' सम्पादक वासुदेवशरण अग्रवाल (द्वितीय संस्करण संवत् २०१८), ८/१-५।
२ वही, २३/१-७ ३ वही, १२७/१

मधुमालती के गहन प्रेम का वर्णन भी किया है। फ़ारसी कलाम की लैला की भांति जायसी का प्रेमी भी विरहाग्नि में जलकर राख का ढेर मात्र रह जाता है। प्रेमी हिन्दू यौगिक ध्यान की पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों को पकड़ लेता है (कवि रहस्यवादी जायसी ने नाड़ियों वाली बात गोरखनाथी परम्परा से ग्रहण की थी वे गोरखनाथ को ऐसा सर्वश्रेष्ठ गुरु मानते हैं जो अपने शिष्यों को नया जीवन और नया शरीर प्रदान कर सकते हैं तथा उनकी समाधि के सम्मुख नतमस्तक हैं) तथा उसकी दृष्टि स्थिर होकर ध्यान में डूब जाती है। विरही

बूंद समुद्र जैस होइ मेरा।
गा हेराइ अस मिलै न हेरा॥

यह सब हिन्दू जीवन-दर्शन के साथ समन्वित फ़ारसी और सूफ़ी कलाशिल्प है।

अपने पूर्ववर्ती काव्यों—कुतबनकृत मृगावती और मंझनकृत 'मधुमालती'—की भांति जायसी के पद्मावत की साहित्यिक शैली में फ़ारसी के प्राचीन परिनिष्ठित साहित्य की भावाकुलता और भावावेग तथा हिन्दूचरितकाव्यों के संयम और नियंत्रण का सम्मिश्रण है। यही कारण है कि इन कृतियों के साहित्यिक निरूपण में संस्कृत और *फ़ारसी की विषयवस्तुओं शैलियों और अभिप्रायों का अन्तर्मिश्रण है तथा धार्मिक दृष्टि*कोण से हिन्दूधर्म और इस्लाम के सार्वभौम रहस्यात्मक तत्त्वों का समन्वय है। इसी आधार भूमि तथा पीठिका पर आधुनिक साहित्य—सुपुष्ट एवं निष्प्राण संवेगों का स्फूर्तिदायक पथ जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एककर लिया—का जन्म हुआ है। अमीर खुसरो ने उर्दू को जन्म दिया और जायसी ने हिन्दी को किन्तु दोनों में ही विचारों और भावनाओं *का वही उत्कट सुदृढ़ समन्वय विद्यमान है।*

एक नया विचार सहिष्णु धर्मनिरपेक्ष राज्य

तुर्क-अफ़ग़ान आक्रमणकारियों ने मुसलमान जिहाद की मूर्ति-ध्वंसक प्रवृत्ति की सहायता से भारत को शीघ्र पराजित कर दिया था। सोलहवीं शताब्दी में राजनीतिक *परिस्थितियों के कारण यह प्रवृत्ति बहुत कम हो गई। दक्षिणभारत और बंगाल के मध्य*युगीन मुसलमान राज्यों में एक संयुक्त हिन्दू मुसलमान राज्य के विचार का उद्भव हुआ और राज्य का हिताहित ही इस्लाम का हिताहित समझा जाना बन्द हो गया। मुसलमान और हिन्दू शासकों के बीच स्थायी अथवा अस्थायी संधियों के बल पर हिन्दू और मुसलमान राज्यों के बीच 'शक्ति-सन्तुलन' अधिक दृढ़ हो गया। विजयनगर साम्राज्य (१३३६—*१६१४ ईस्वी) की शक्ति ने मुसलमान बहमनी राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी शाही* राज्य को प्रेरित किया कि वे धार्मिक सहिष्णुता एवं सांस्कृतिक सहयोग की नीति अपनाएं। वास्तव में उत्तरभारत में मुग़ल-साम्राज्य की नीति का जन्म इसी नमूने पर हुआ। मंगोल अथवा मुग़ल ईरान को पराजित करने के पश्चात्, जहां ईरानी संस्कृति की परिपक्वता एवं उत्कृष्टता से वे स्वयं पराजित हो चुके थे, सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में भारत आए। उनके शासकों ने 'बादशाह-ए हिन्द' पदवी धारण की। इस पदवी से ही स्पष्ट है कि तैमूरवंशियों का इरादा हिन्दुस्तान में बसा करने का था।

चंगेज़खां और कुबलेखां के वंशज महान मुगल बादशाहों के पूर्वजों ने भी एक सहिष्णु धर्मनिरपेक्ष राज्य का विचार अपनाया था। मुगल बादशाह इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण करके हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रीय साम्राज्य स्थापित करने में तो सफल हुए ही उन्होंने हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों के विलयन को भी बढ़ावा दिया। बाबर (१५२६–१५३०ईस्वी)से अकबर(१५५६–१६०५ईस्वी) तक क्रमशः दिल्ली म केन्द्रित मुगल साम्राज्य अधिक विस्तृत और अधिक सुदृढ़ होता गया। ऐसा होने के कारण थे विदेशी शासन के कट्टर शत्रु और स्वतन्त्रता प्रेमी राजपूतों की संधियां तथा विवाह सम्बन्ध, विभिन्न राज्यों के हिन्दू शासकों की उच्च पदों पर नियुक्ति साम्राज्य के उच्च तम पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति तथा हिन्दुओं का सामान्य विरोध-शमन। बाबर ने अपने वसीयतनामे में अपने पुत्र हुमायूं को धार्मिक सहिष्णुता की अनिवार्यता का निर्देश किया था। भारतीयों के साथ नवीन मित्रताएं स्थापित करने से हिन्दुस्तान के नवजात राष्ट्रीय साम्राज्य को एक लाभ तो तत्काल हुआ। अकबर के सौतेले भाई ने जो काबुल का शासक था जब भारत पर आक्रमण किया तो मुगलों के नये मित्र राजपूतों की सहायता से ही उसे परास्त किया जा सका।

अकबर ने 'जज़िया' कर को उठा लिया था किन्तु औरंगज़ेब ने उसे फिर लागू कर दिया। मुगलों के कट्टर दुश्मन शिवाजी ने इसके विरोध म एक पत्र लिखा जो सुप्रसिद्ध है और जिसमें अकबर की उदार नीति की प्रशंसा है। शिवाजी ने औरंगज़ेब को याद दिलाया कि औरंगज़ेब का अधिकारी-वर्ग 'वस्तुस्थिति की सूचना औरंगज़ेब को नहीं देता बल्कि धधकती हुई अग्नि को तिनके से ढकना चाहता है।

इतना सत्य है कि अकबर के राष्ट्रीय राज्य के आदर्श की अभिपूर्ति केवल एक शताब्दी तक हो सकी। औरंगज़ेब(१६५८–१७०७ईस्वी) ने सर्वथा विपरीत नीति अपनाई और कुरान के आदेशानुसार शासित एक विशुद्ध मुसलमान साम्राज्य स्थापित करने का प्रयास किया। ध्यान देने की बात है कि सिंहासनारूढ़ होते ही औरंगज़ेब ने 'बादशाह' (सम्राट) और 'आलमगीर' (विश्वविजेता) पदवियों के अतिरिक्त गाज़ी (पवित्र योद्धा) नामक पदवी भी धारण कर ली। किन्तु औरंगज़ेब से भी पहले जहांगीर और शाहजहां दोनों ही मुगल-साम्राज्य की अकबर द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय प्रकृति के प्रति न तो ईमानदार थे और न प्रतिम।

अकबर के 'दीन-ए इलाही' की उदार प्रकृति

अकबर किसी हद तक स्वयं अध्यात्मवादी थे क्योंकि अनेक बार उन्हें गहन किन्तु विभिन्न आध्यात्मिक संवेगों के आकस्मिक उद्गारों का अनुभव हो चुका था। सूफ़ीवाद से उनका प्रथम परिचय शेख मुबारक मीर अब्दुल लतीफ़ और फ़ैज़ी द्वारा हुआ तथा बाद में सलीम चिश्ती द्वारा। कहा जाता है कि उन्होंने मेवाड़ की विख्यात मीराबाई तथा पंजाब के सिख गुरु अमरदास के दर्शन भी किए थे। हरिविजय सूरी विजयसेन सूरी और भानुचन्द्र उपाध्य नामक तीन सुप्रसिद्ध जैन गुरुओं से उन्होंने योग और भक्ति का रहस्य जाना। पारसी धर्मगुरुओं दस्तूर और कैवन तथा गोआ के ईसाई पादरियों ऐक्वावीवा

और मसिराउद के साथ उनके गहरे संबंध थे। उपनिषदों महाभारत और भगवद्‌गीता (जिसका अनुवाद अकबर की आज्ञा से रज्मनामा नाम से हुआ) तथा कबीर मीराबाई सूरदास और तुलसीदास के आध्यात्मिक काव्य की आत्मा को पहचानने तथा हिन्दू सन्तों और मुसलमान फकीरों से उनके आश्रमों व कुटियों के शान्त धार्मिक वातावरण में अक्सर भेंट करते रहने के पश्चात् अकबर ने फतहपुर सीकरी में तत्कालीन भारत के एक नये मत का सूत्रपात किया जिसमें सब धर्मों की विशेषताएं शामिल थीं। इसका नाम था 'दीन-ए-इलाही'। दीन-ए इलाही कोई अलग धर्म नहीं वरन् सूफीवाद का ही एक सम्प्रदाय था। सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए देवताओं धार्मिक संस्कारों मन्त्र कृत्य नियम अनुष्ठान तथा एक सम्पूर्ण एवं सार्वभौम धर्म के लिए आवश्यक अन्य सभी बातों का निर्देश करना दीन-ए इलाही का उद्देश्य था। यह अनेक शताब्दियों के हिन्दू भक्ति-आन्दोलन एवं मुसलमान सूफीवाद के विकास के फलस्वरूप प्राप्त समन्वय के सर्वथा अनुरूप था। सम्राट अकबर सबधर्मसारसंग्रह की आधारभूत प्रवृत्ति के प्रति ईमानदार थे इसीलिए उन्होंने ईसाई मिशनरियों को निश्चित आदेश दे दिया कि वे मुहम्मद के जीवन एवं उपदेशों पर आक्षेप न करें। साथ ही अकबर ने उन्हें गिरजा के निर्माण की आज्ञा दी उनकी सामूहिक प्रार्थनासभा में सम्मिलित हुए, इञ्जील का अनुवाद फारसी में कराया तथा फतहपुर-सीकरी के विशाल प्रवेशद्वार पर ईसा के निम्नलिखित शब्दों को खुदवाया

> *ईसा ने कहा संसार एक पुल है इसपर पार कर जाओ ठहरो मत।*
> *संसार समय के समान बीत जाता है इसका उपयोग उपासना में करो*
> *क्योंकि अदृश्य अत्यन्त समीप है।*

अपने मुसलमान सहधर्मियों से उन्होंने कहा

'राज्यशक्ति के भय से धर्मोपदेशों का पाठ करना खतना कराना अथवा जमीन पर साष्टांग लेट जाना ही ईश्वर की खोज नहीं है। धूल में लेट जाना भक्ति नहीं है। सत्या चरण करो क्योंकि ईमानदारी का जन्म आसानी से नहीं हो जाता। यह तो कबीर, दादू और नानक के उपदेशों की ही प्रतिध्वनि है।

दीन-ए इलाही में पौरोहित्य नहीं था तथा इसके माननेवाले कुछ चुने हुए लोग थे जिन्हें चेला कहा जाता था। अकबर काफी छानबीन के बाद सूफियों के ढंग से ही चेलों का चुनाव सावधानीपूर्वक तथा सीमित संख्या में करते थे। तामुद्दीन मत के खास विधि विधानों का नियमन करते थे तथा अबुल फजल और फैजी इसके मुरशहिद थे। भारत के तत्कालीन सभी धर्मों के अविभाज्य तत्वों से इसका निर्माण हुआ था। इसी लिए हमें उन सबको एक मत का अनुयायी बनाना चाहिए किन्तु इस ढंग से कि वे एक भी रहें और अनेक भी'। हम एक बड़ा लाभ यह है कि किसी धर्म की अच्छाइयां इस मत में हैं तथा किसी अन्य धर्म के श्रेष्ठतर तत्वों को हम ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार ईश्वर का सम्मान होगा जनता में शान्ति का प्रसार होगा तथा साम्राज्य सुदृढ़ होगा।”
किन्तु कट्टरवादी मुसलमानों ने दीन-ए इलाही का छिद्रान्वेषण किया। अबुल फजल के अनुसार मुसलमानों के इस विरोध के निम्नलिखित कारण थे

अनेक कट्टर मुसलमानों ने दीन-ए-इलाही के प्रवर्तक को हिन्दू (ब्राह्मण) धर्म का अनुयायी मानकर निन्दनीय ठहराया। इस गलत धारणा का कारण यह था कि अत्यन्त विशालहृदय मानव होने के कारण सम्राट ने हिन्दू जनता से धर्मतटस्थता स्थापित की प्रशासनिक कारणों से हिन्दुओं की पदोन्नति की और देश के कल्याणार्थ उनके साथ मित्रता व्यवहार किया। सम्राट की निन्दा के तीन कारण थे। प्रथम विभिन्न धर्मों के सन्त राजदरबार में एकत्र होते थे और चूंकि प्रत्येक धर्म में कोई न कोई गुण होता ही है, इसीलिए प्रत्येक सन्त की प्रशंसा होती थी। यह सर्वथा न्यायसंगत है कि किसी धर्म के दोष उसके गुणों को छिपा नहीं सकते। द्वितीय उसीकालों की अदालतों में सुलह-ए-कुल (सबके साथ शान्ति) का सिद्धान्त अपनाया जाता था। तृतीय विभिन्न प्रकृतियों वाले अनेक फिरकों के लोग आध्यात्मिक और आधिभौतिक सफलता प्राप्त कर सके थे।

उत्तरभारत में मुगल-ए-आज़म अकबर (१५५६–१६०५ ईस्वी) दिल्ली और आगरा के शाहजादा दार्शनिक दारा शिकोह (मृत्यु १६५९ ईस्वी) 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास (१५३२–१६२३ ईस्वी) तथा भक्तमाल (लगभग १६०० ईस्वी) के रचयिता नाभादास बंगाल में कृष्णभक्तिरस में डूबे उपदेशक चैतन्य (१४८५–१५३३ ईस्वी) 'चंडीमंगल' (१५९१–१६०१ ईस्वी के बीच रचित) के रचयिता मुकुन्द राम तथा 'महाभारत (लगभग १६०१ ईस्वी में रचित) के रचयिता काशीराम दास, पंजाब के कवि अध्यात्मवादी बुल्लाशाह ऐसी महान आत्माएं थीं जिन्होंने सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में धार्मिक धर्मनिरपेक्ष जाति निरपेक्षता और समानता की भावनाओं की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति की।

दारा कृत 'मजमा-उल-बहरीन'

दारा शिकोह निःसंदेह अपने समय के भारत के सर्वाधिक ज्ञानवान तथा देश के सबकालीन महानतम विद्वानों में से एक थे। शाहजादा की हैसियत से उनमें अशोक हर्ष अथवा अकबर के बीज थे। वह अब्दुल क़ादिर जिलानी द्वारा संस्थापित क़ादिरिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्त बड़े उदार थे। इसके अनुसार, सम्प्रदाय के अनुयायियों और विधर्मियों सभी के लिए ज्ञान के द्वार खुले थे। इसमें अनेक ध्यान योगों का अभ्यास किया जाता था। और इसी सम्प्रदाय के अनुयायी दारा शिकोह ने अनेक धार्मिक ग्रंथों की रचना की जो उनकी धार्मिक उदारता के प्रमाण तो हैं ही इस तथ्य के भी प्रमाण हैं कि वे कितनी आध्यात्मिक ऊंचाई तक पहुंच सकते थे। अपने ग्रंथों में उन्होंने मुसलमान सूफीवाद और हिन्दू योग की शब्दावली का प्रयोग किया था। अनेक हिन्दू सन्तों के साथ उनका निकटतम सम्बन्ध था। अकबर के चरणदास सरहिन्द के बाबूलाल और बनारस के कवीन्द्र ऐसे ही सन्त थे। वह अरबी फारसी संस्कृत और हिन्दी भाषाओं के पण्डित थे तथा उन्होंने हिन्दू और ईसाई धर्मग्रन्थों का अध्ययन अनुवादों के द्वारा किया। उन्होंने विभिन्न उपनिषदों का स्वयं अनुवाद किया तथा शंकरभाष्य का फारसी अनुवाद प्रस्तुत किया। उनके ही निरीक्षण में 'भगवद्गीता' 'योगवाशिष्ठ' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' के अनुवाद किए गए। उनके ग्रंथ का नाम मजमा उल-बहरीन' ('दो सागरों का

मिलन') ही इस्लाम और भारत की विस्तृत सांस्कृतिक धाराओं की संधि एवं अन्तर्मिश्रण का प्रतीक है। यह दुर्भाग्य ही था कि राजाशाओं द्वारा वे इस संस्कृति-संगम का प्रसार नहीं कर सके क्योंकि भारत का भाग्य अध्यात्मवादी शाहजादा और वैध उत्तराधिकारी दारा शिकोह के हाथों में न आकर पक्षपात औरंगजेब के हाथों में आ पड़ा। इसका दुष्परिणाम भी देश को भोगना पड़ा। दारा के शासनान्तर्गत अकबर के उत्तराधिकार का सदुपयोग हुआ होता धार्मिक मान्यता प्रदान के आधार पर हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच और अधिक दृढ़ संधि हो गई होती तथा हिन्दुस्तान के दोनों धर्मानुयायियों के बीच स्थायी शान्ति स्थापित हो गई होती। इसके विपरीत औरंगजेब की कट्टरता का परिणाम हुआ एक क्षुब्ध दुःखी और मृतप्राय देश। यह बेशक इतिहास का एक क्रूर मजाक है।

उस समय हिन्दू धर्म तथा इस्लाम के अन्तर्गत भिन्नमतावलम्बी आन्दोलन चल रहे थे। विभिन्न भक्ति सम्प्रदाय तथा सत हिन्दू-आन्दोलन थे और सूफीवाद महदीवाद व रोशनवाद मुसलमान आन्दोलन। इन सबका उद्देश्य था भारतवासियों में धार्मिक स्वाधीनता एवं समानता का प्रसार करना। इन आन्दोलनों के कारण देश में एक प्रकार की हलचल का वातावरण था। इसी हलचल का एक परिणाम था अकबर की उदारता व सहिष्णुता तथा सुलह ए-कुल'। इनके कारण ही अन्तत दीन-ए-इलाही के निर्भीक सिद्धांतों का जन्म हुआ जिसका राजनीतिक उद्देश्य सुस्पष्ट था। इसी हलचल का दूसरा परिणाम था सूफी धार्मिक और हिन्दू भक्त के एक समान आध्यात्मिक मार्ग को अपनाकर अज्ञात सत्य की उच्चतम अनुभूति प्राप्त करने का दारा का शुद्ध एवं आत्मस्फूर्त प्रयास।

'रामचरितमानस' और 'भक्तमाल' का मानववाद और स्वातंत्र्य

सुविख्यात कवि तुलसीदास (१५३२–१६२३ ईस्वी) एक महान मानववादी और विश्ववादी थे। उनके महाकाव्य 'रामचरितमानस' में जिसका पठन प्राय उत्तर भारत में दस करोड़ से भी अधिक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है लोकप्रिय हिन्दूधर्म के भीतर एक विशिष्ट नवीन अन्तर्मिश्रण उपलब्ध हुआ—ज्ञान और भक्ति पूजा और ध्यान नैतिक निष्ठा और आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का अन्तर्मिश्रण जिसने भारत को अनेक विभिन्न मतों और सम्प्रदायों से बचा लिया है। 'रामलीला' के रूप में इस महाकाव्य का अभिनय अनेक नगरों और गांवों में खुले मैदानों में होता है कहा जाता है कि स्वयं तुलसीदास ने ही रामलीला का प्रारम्भ काशी में किया था। 'रामचरितमानस' में प्रदीप्त है दार्शनिक अद्वैतवाद व समकालीन भक्ति तथा वाल्मीकिकृत 'रामायण' की काव्यात्मकता और गरिमा व 'श्रीमद्भगवद्गीता' के भक्तिजन्य उत्साह और मानववाद का श्रेष्ठतम संयोग है। फिर भी कुल मिलाकर महाकाव्य का मुख्य स्वर है—करुणा और भक्ति तथा मानव सेवा और देवोपासना की भावना। यह भावना भागवत परम्परा की विशिष्टता थी और रामानन्दी सम्प्रदाय द्वारा उस समय तक कायम थी। तुलसीदास रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी और रामानन्द के बाद छठे गुरु नरहरि के शिष्य थे। रामचरितमानस' में पाप के बाद की तीव्र अनुभूति है तथा कहा गया है कि केवल ईश्वर-कृपा से पापनाश सम्भव है फिर भी मानव प्रयास की पवित्रता और मानव शरीर की योग्यता

पर भी जोर दिया गया है क्योंकि ईश्वर स्वयं मानवरूप धारण करने के इच्छुक हैं।

> मानव शरीर जैसा कोई और रूप नहीं है।
> इस शरीर को प्राप्त करने की इच्छा हर जड़-जंगम की होती है। यह स्वर्ग नरक और मोक्ष की सीढ़ी है और मानव-शरीरधारी को बुद्धि वैराग्य और धर्म के वरदान मिलते हैं। जो मानव-शरीरधारी जीव हरि की उपासना नहीं करते बल्कि निम्न-कोटि की शारीरिक वासनाओं में डूबे रहते हैं वे मानव पारसमणि को छोड़कर साधारण कांच को ग्रहण करते हैं।

ईश्वर की कृपा उच्चजाति अथवा शास्त्रीय ज्ञान के प्रदर्शन से नहीं वरन् आंतरिक आध्यात्मिकता और साधुता के बल पर प्राप्त होती है। शबरी-मिलन तथा निषादों और भीलों के बीच रामचन्द्र के भ्रमण-प्रसंग में तुलसीदास ने इस तथ्य पर खूब जोर दिया है। महाकाव्य की एक सुन्दर कथा में तत्कालीन मानववादी भावना का पूर्ण चित्रण है। कथा यों है अत्यन्त घृणित बीमारी में फंसा एक मेहतर कूड़े के ढेर पर पड़ा 'हे राम हे राम' चिल्ला रहा था। हनुमान उधर से ही उड़े जा रहे थे। क्रोध में आकर उन्होंने मेहतर के सीने पर एक लात जमा दी। उसी रात भगवान का शरीर दबाते हुए उन्होंने देखा कि उनके वक्ष पर भी एक भयानक घाव है। यह घाव कैसे हो गया? रामचन्द्र ने बताया एक गरीब मेरा नाम ले रहा था कि तुमने उसके सीने पर लात मारी। तुमने मेरे अधमतम बेटे के साथ जो किया वही मेरे साथ भी हुआ।

किन्तु उस समय के आध्यात्मिक आन्दोलनों की निधिश्रेष्ठता थी मानव के ईश्वरत्व और ईश्वर के मानवत्व की युगल धारणाएं। इन धारणाओं की सर्वश्रेष्ठ एवं सोत्साह अभिव्यक्ति तुलसीदास के एक महान समकालीन नाभादासकृत 'भक्तमाल' (लगभग १६०० ईस्वी) में हुई है। आध्यात्मिक अनुभवों के इस विशाल संग्रह में भक्तों कवियों और सन्तों के विषय में अनेक कहानियां और दन्तकथाएं हैं जो उत्तरभारत के करोड़ों निवासियों की धार्मिक प्रेरणा के अजस्र स्रोत हैं। 'भक्तमाल' के चरित्र मधुर भावप्रवण देवत्वपूर्ण और स्वाधीन हैं वे भक्ति के सभी रूपों के नायक-नायिकाएं हैं। मेवाड़ की रानी कवयित्री मीराबाई हैं जिन्होंने राजमहल को त्याग दिया क्योंकि वे पशु-बलि का दृश्य सहन न कर पाती थीं और जिन्होंने सांवलिया की विरह व्यथा में बंजरों-पर्वतों की खाक छानी। ओरछा की रानी गणेश देरानी हैं जिन्होंने एक पागल योगी द्वारा घायल किए जाने पर सारी यंत्रणा चुपचाप सह ली ताकि उनके पति योगी से प्रतिकार न ले बैठें। अनुताप करनेवाली भारतीय मैग्डलीन हैं पंढरपुर की नर्तकी कन्होपात्रा जिन्होंने के प्रेम में इतनी डूब गई कि उसने बीदर के दुष्ट राजा द्वारा उठाए जाने से भेंटकर मर जाना समझा, और फिर दिल्ली की सुन्दरी वेश्या ने ईश्वर के चरणों पर अपनी नृत्य-कला (केवल यही कला उसे आती थी) को ही अर्पित कर दिया। 'भक्तमाल' में ही एक चरित्र है सुरसुरी जिसके सतीत्व की रक्षा जंगल में एक सिंह ने गुफा से की अथ बिल्वमंगल एक तूफानी रात में बाढ़ आई हुई नदी को पार करके अपनी प्रेमिका के पास जा पहुंचा और प्रेमिका द्वारा दुत्कारे जाने पर उसकी अन्तर्दृष्टि जागी और उसने अपनी

वासना का नाश करने के लिए अपराधी आँखों को ही नोचकर बाहर कर दिया और अनाम राजा ने अपनी वासना के विनाश के लिए अपना दाहिना हाथ काट डाला।

चैतन्य का वैष्णव आन्दोलन

'रामचरितमानस' और 'भक्तमाल' का सृजन मध्यभारत में हुआ था। उत्तर में सिखों के प्रथम गुरु नानक (१४६९–१५३८ ईस्वी) कृत 'ग्रंथसाहब' द्वारा पंजाब वासियों का चरित्र निर्माण हो रहा था साथ ही उन्हें अनेक कष्ट सहने पड़ रहे थे और उनमें सेवा भावना व त्याग-वृत्ति का उदय हो रहा था यह उनकी भावी शहादत की भूमिका थी। पूर्व और दक्षिणपूर्व में ईश्वर-प्रेम-पगे तेजस्वी चैतन्य (१४८५–१५३३ ईस्वी) ने जनसाधारण की धार्मिक और सामाजिक जागृति के लिए समकालीन भक्ति आन्दोलन का जिसे दक्षिण में श्रीमद्भागवत-सम्प्रदाय तथा वृन्दावन में कृष्ण-राधामत के प्रसार से बड़ा बल मिला था आश्रय लिया। अनेक निष्ठावान विचारक कवि और विद्वान उनके अनुयायी बने। उन्होंने अपने आदरणीय गुरु चैतन्य के आध्यात्मिक उद्गारों के आधार पर भक्ति के एक पृथक मनोविज्ञान अध्यात्मविद्या तथा सौन्दर्यशास्त्र का विकास किया। दो से अधिक शताब्दियों तक बंगाल उड़ीसा और असम में एक साहित्यिक धार्मिक पुनर्जागरण को प्रेरित करने का श्रेय इसी आन्दोलन को है। चैतन्य वैष्णव आंदोलन के कारण भारतीय चरित्र में नैतिकता और साधुता का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। इसके अनुसार विशुद्ध मानवीय अनुरक्ति और निष्ठा की प्रौढ़ता तथा परात्परता को देवता के समीप पहुँचने का ही प्रतीक माना जाता था। 'चैतन्यचरितामृत' सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथों में से एक है। इसकी रचना कृष्णदास कविराज ने १६०७ और १६१५ ईस्वी के बीच वृन्दावन में की थी। चैतन्यधर्म में विनम्रता सहनशीलता और आत्म समर्पण पर जोर दिया गया था और इस प्रकार उसने वर्णविहीन समाज व अनुष्ठानरहित पूजा के आदर्श को प्रोत्साहित किया तथा अनेक सामाजिक बन्धनों का विनाश किया। यही कारण है कि मानवीय चरित्र के निर्माण में उसका विशाल प्रभाव पड़ा। मानवीय परिपूर्णता का आदर्श था—'तृण की विनम्रता वृक्षों की सहनशीलता अपने सहचरों के लिए आत्मतिरस्कार तथा ईश्वर नाम का निरन्तर जाप' का सम्मिश्रण।

पूर्वी भारत में पतनोन्मुख बौद्धधर्म अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर रहा था तथा अनेक लोकप्रिय हिन्दू-सम्प्रदाय उसे अपने में मिला रहे थे। यही कारण है कि चैतन्य के शिष्य नित्यानन्द के नेतृत्व में चैतन्य वैष्णव आन्दोलन (जिसमें नित्यानन्द ने हजारों कोटिच्युत बौद्ध भिक्षुओं व भिक्षुणियों को सम्मिलित कर लिया था) वास्तव में धार्मिक औदार्य के अपेक्षा कृत अधिक व्यापक आन्दोलन का एक अंश था। इस काल के अन्य सम्प्रदाय थे धर्मठाकुर मंगलचंडी मनसा कालिका और षष्ठी—और ये सब महायान आराध्यदेवों के ही रूपान्तरण थे। इस प्रकार के लोक-सम्प्रदायों के दो लाभ थे पतनोन्मुख बौद्धधर्म तथा उसके कोटिच्युत अनुयायियों को लोक-प्रचलित हिन्दूधर्म की सीमा में स्थान मिल गया तथा साथ-साथ बंगला-साहित्य के विकास को प्रोत्साहन मिला और इस प्रकार मुसलमानों की विजय के कारण श्रीहीन परम्परावादी ब्राह्मण-संस्कृति ने जो स्थान रिक्त छोड़ दिया

था उसकी पूर्ति हुई। दक्षिण पश्चिमी बंगाल के धर्म ब्राह्मण (जिन्हें मुकुन्दराम ने मठवासी अथवा भिक्षु कहा है) तथा सूफी व धर्मगढ़िया योगी उसी बौद्धधर्म के अवशेष हैं जिसे अब भुला दिया गया है। भारतीय साहित्य में पहली बार इन नये संप्रदायों के जोशीले साहसी और पवित्र नायक-नायिका समाज के निम्नतम और क्षुद्रतम स्तर से आए। मुकुन्दरामकृत 'चंडीमंगलकाव्य' तथा घनराम चक्रवर्ती कृत 'धर्ममंगलकाव्य' ने हिन्दू जनता के मस्तिष्क को जिसपर पूर्वी भारत में बौद्धधर्म और इस्लाम दोनों का अमिट प्रभाव पड़ चुका था पीढ़ियों तक प्रभावित किया है।

'धर्ममंगलकाव्य' के स्रोत थे—रमाई पण्डित (संभवत तेरहवीं शताब्दी) तथा राम मयूर भट्ट (१५२८ ई०) रूपराम (मध्य सत्रहवीं शताब्दी) और माणिकराम गांगुली। इसमें हिन्दू और मुसलमान पूजाओं को एकता के सूत्र में बांधने का विशिष्ट प्रयास है। वास्तव में यह कई शताब्दियों बाद के बंगाल के सत्यनारायण तथा पांचाली सम्प्रदायों का पूर्वाभास था। जनसाधारण को अधिक प्रभावित करनेवाली कृति थी काशीराम दास कृत 'पांडव-विजय' अथवा 'भारत-पांचाली'। यह कृति 'महाभारत' का ही एक पाठ थी और १६०३ ई० में सम्पूर्ण हुई थी। इसमें उत्कट भक्ति भावना तथा काव्य विस्तारमकता व नाटकीय अन्तर्दृष्टि का अद्भुत सम्मिश्रण है, और तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' के समान यह भी निरन्तर सुख और प्रेरणा का स्रोत है। इस कृति में अयोध्या और हस्तिनापुर के राजाओं और योद्धाओं के गुणों का स्थान बंगाल के घरों और कुटियों ने ले लिया है। परिणामस्वरूप पूर्वी भारत का यह 'महाभारत' सामान्यतम व्यक्ति को भी प्रसन्नता बल और शान्ति प्रदान करने में समर्थ है।

पंजाब की रहस्यवादी कविता

औरंगजेब के शासनकाल में उत्तरी भारत के एक अत्यन्त प्रभावशाली और प्रगतिशील सूफी शाह इनायत (मृत्यु १७१२ ई०) लाहौर के एक मदरसे में शिक्षण-कार्य करते थे। भारत के विभिन्न भागों से धार्मिक मुसलमान वहां पहुंचते थे। उनके सर्वाधिक प्रसिद्ध शिष्य थे बुल्ला शाह जिन्होंने इस्लामी रहस्यवाद द्वारा प्रेरित श्रेष्ठतम काव्य का सृजन किया है। वे ईश्वर को एकसाथ तीन रूपों में देखते हैं—वृन्दावन के गोपाल कृष्ण रावण को पराजित करने वाले राम तथा काबा के पैगम्बर मुहम्मद। ईश्वर के बारे में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त था। उनके अनुसार ईश्वर की उपस्थिति समाज के उच्चतम और निम्नतम व्यक्ति राजाओं और घास खोदनेवाले मजदूरों पुजारियों और चोरों सभी में समानरूप से है। यही पंजाब की आत्मा है जिसे बुल्लाशाह ने अपने काव्य में अभिव्यक्ति दी है। उनकी एक कविता नीचे दी जाती है

मैंने पा लिया है कुछ पा लिया है।
मेरे सच्चे गुरु ने अप्रकट को प्रकट कर दिया है।
कहीं वह दुश्मन है, तो कहीं दोस्त
कहीं वह मजनूं है तो कहीं लैला
कहीं वह गुरु है तो कहीं चेला

इन सभी में उसने अपना पथ प्रकट किया है।
कहीं वह चोर है, तो कहीं काजी
कहीं वह मदीनवीन काजी है तो कहीं तेगबहादुर
कहीं वह मस्जिद है तो कहीं मन्दिर
कहीं वह ध्यानलीन बैरागी है, तो कहीं वेस बन गया है।
कहीं वह क्यों बोलता है हर पथ पर तुम (खुदा) मिलते हो।
बुल्लाह कहते हैं मैं खुदा को चाहने लगा
मुझे इनायत मिली और मेरा काम हो गया।

राजपूत चित्रकला में साधारणीकरण

मुगलकालीन धार्मिक सहिष्णुता तथा मानववाद का गंभीर प्रभाव भक्ति और सूफी सम्प्रदायों एवं भारत के विभिन्न भागों की क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यों के साथ साथ चित्रकला के विकास पर भी पड़ा। मुगल और राजपूत चित्रकलाओं में प्रमुख अन्तर यही है कि एक दरबारी कला है और दूसरी लोककला। मुगल सम्राटों के राजदरबारों से सम्बद्ध मुगल-कला-सम्प्रदायों ने राजाओं शाहंशाह दरबारियों और सन्तों के पोर्ट्रेट बनाए तथा शिकार मनोरंजन मनोविनोद और दरबारों के दृश्य अंकित किए। राजपूत और पहाड़ी कला-सम्प्रदायों ने सामान्यत: कृष्ण राधा अथवा शिव-पार्वती के पौराणिक कथानकों को अपने चित्रों का आधार बनाया और ये कलाकृतियां सभी वर्गों के लिए रुचिकर थी। उनकी कृतियों में प्रेम की विभिन्न सूक्ष्म भंगिमाओं का चित्रण है यह प्रेम एक ही साथ मानवीय और ईश्वरीय दोनों है। उनकी कलाकृतियां सम्पूर्ण आध्यात्मिक आन्दोलन तथा क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यों की भक्ति भावना से संपृक्त हैं। सनातन प्रेमी-युगल कृष्ण और राधा पुरुष और नारी के शाश्वत विधिविधान क प्रतीक हैं कि जीवन-सौख्य की उच्चतम परिणति एक-दूसरे को पा लेना है। राजपूत और पहाड़ी कलाओं में कृष्ण और राधा के अतिरिक्त पालतू हिरन और मोर राधि-जागरण अव धारित मिलन और अभिसार, धूम या धूपछांह घने बादल मूसलाधार वर्षा और बिजली की चमक पांव तले रेंगता हुआ साप लिपटनेवाली लता पुष्पित कदम्ब वृक्ष तथा यमुना का उफनता प्रवाह अत्यन्त व्यापक और गम्भीर प्रतीक हैं जो लोक-काव्य तथा चित्रकला की भाषा मे सहज बोधगम्य थे। राजपूतकला में किसी काल्पनिक संसार का सृजन नहीं किया गया वरन् ससार को ही एक बाह्य लाक्षणिक जगत् में रूपान्तरित कर दिया गया है जिसमे पुरुष और नारी की रागात्मक भाव भंगिमाएं तथा पौधो और (वन्य और पालित दोनों प्रकार के) पशुओं की प्रणयोन्मत्त चेष्टाए प्रेम की अनन्त खोज की अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि चित्रकला इतनी लोकप्रिय कभी नहीं रही।

चित्रकला म अंकित दैवरीय एवं मानवीय प्रेम के अनेक नायक और नायिका कवियों क भावपूर्ण काव्य के रसो को ही प्रतिध्वनित एवं पुष्ट करते हैं —ये काव्य अनेक भाषा मे बद्ध है तथा अभिलिखित भी है। राजपूत-चित्रकला के सुपरिचित विषय भारतीय शास्त्रीय संगीत क राग भी है जिनम से प्रत्येक राग किसी विशेष सहज अनुभूति तथा

मनोभाव के अनुरूप है तथा जिन्हें ऋतुओं की भांति सासंगिक एवं मूर्त रूप प्रदान किया गया है। जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' केशवदासकृत 'रसिकप्रिया' तथा अन्य नायिका-काव्यों की सारगर्भित पंक्तियों को राजपूत कलम के चित्रकारों ने अपनी कृतियों में उद्धृत किया है। साथ ही दोहा-चौपाइयों में भिला गया गम्भीर विचार तथा गहन अनुभूति से संतृप्त वैष्णव काव्य किसी अत्यन्त सुकुमार सूक्ष्मचित्र (मिनिएचर) के समान है। अतः काव्य और चित्रकला परस्पर अन्तर्व्याप्त हैं। राजपूत शैली के चित्र में महीन तथा सूक्ष्म रेखाएं तथा अद्भुत रंग-विधान होता है तथा दोहा और चौपाई की भांति वह भी एक समाविष्ट संपुंजन होता है गीत और चित्र दोनों में नायक और नायिका का अपूर्व चित्रण हुआ है तथा उनके कोमल मनोभावों की अभिव्यक्ति हुई है। भावना और भंगिमाओं की ऐसी सघनता तथा शारीरिक और आध्यात्मिक मूल्यों का ऐसा संयोग विश्व की चित्रकला के सम्पूर्ण इतिहास में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। गीतों में अनुभूत और चित्रों में वर्णित वस्तु—प्रकृति के सर्वव्यापी प्रेम-नाटक में कृष्ण की लीला तथा राधा का अनुराग—को लोग गायन और नृत्य में व्यक्त करते थे। जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' तथा हिन्दी गीतों में जिस मानवीय प्रेम-मिश्रित प्रकृति की उत्फुल्लता के दर्शन हमें होते हैं वही राधा-कृष्ण चित्रों में भी परिव्याप्त है धूप और वर्षा में हरित मैदानों का सौंदर्य जहां राधा तथा अन्य गोपिकाएं गोपालों और गौओं के साथ उपस्थित कृष्ण से मिलने पहुंचती हैं वृन्दावन के निकुंजों की सघन छायाओं का छिन्न करनेवाली वसन्त की चांदनी यमुना-तट पर कदम्ब वृक्षों का फूलना श्यामल तमाल वृक्षों पर वर्षा के बादलों के सामने तथा कृष्ण की स्तुति में पक्षियों का कलरव और पशुओं का वात्सल्य। इसी प्रकार शिव-पार्वती चित्रों में हमें कठोर पर्वत उनके शृंग दिखाई और ऊंचे देवदार दीखते हैं, जहां शिव और पार्वती की एकाग्रतपस्या के लिए अबाध मौन परिव्याप्त है।

वृन्दावन के गोपालों के राजकुमार तथा पुष्पालंकृत वंशीवादक कृष्ण एवं सर्पों की माला पहने हुए कैलाश के योगी शिव देवत्व-प्राप्ति के दो विरोधी मार्गों के शाश्वत सनातन प्रतीक हैं। प्रेम और काम में डूबी किन्तु फिर भी भोग से सर्वथा विरक्त मानवात्मा के प्रतीक कृष्ण हैं। इसके विपरीत शिव हैं शान्तिपूर्ण तथा एकान्तप्रिय आत्मा। मानवात्मा के इन्हीं विरोधी तत्वों की व्याख्या का प्रयास भारतीय मैदानों और पर्वतों के कवियों और चित्रकारों ने किया था और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने पुष्पित कुंजों वृक्षों से भरे नदी-तटों तथा हिमालय के बर्फीले शृंगों के दृश्य चुने थे। राजपूत चित्रकला में परिव्याप्त वृन्दावन के मायावी चांदनी से धुले गोचरों तथा ऊबड़-खाबड़ पर्वतों उफनती धाराओं तथा हिमालय में रात्रि-रूमियों में आन्तरिक संघर्ष को समाप्त करने तथा मानवात्मा और विश्वात्मा की एकता—शक्ति और शान्ति की एकता—का अनुभव कराने की शक्तियां हैं।

कला, कविता और संगीत का सहयोग

भारत और चीन दोनों देशों में चित्रकला और साहित्य सजातीय थे तथा चीनी चित्रकला में अमूर्तीकरण की प्राप्ति सुलेख द्वारा हुई और भारतीय चित्रकला में संगीत

द्वारा। भारत में विभिन्न ऋतुओं के अनुकूल रागिनियां हैं 'रागमालाएं' अथवा संगीत के रागों के चित्र हैं तथा बारहमासा हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे चित्र भी हैं जिनमें प्रत्येक आकृति का रूप किसी प्रतीक अथवा प्रतिमा का नहीं वरन् अमूर्तभावित किसी नाटकीय परिस्थिति का होता है तथा जिनमें ऋतु और दिन या रात के समय के अनुरूप सार्वभौम मनोभाव की अभिव्यक्ति होती है। रेखाओं की सहजता और गहरे रंगों द्वारा कौशल-पूर्ण पुंज विन्यास इन चित्रों की विशेषताएं हैं। इन चित्रों का उद्देश्य किसी घटना का चित्रांकन अथवा चित्रोपम प्रभाव उत्पन्न करना नहीं वरन् एक ओजस्वी किन्तु अवैयक्तिक रागों में अमूर्त मनोभावों और स्थितियों का विश्लेषण करना प्रतिरूपक बनाना तथा घनीभूत करना है। संगीत अभिधार्थत एक अमूर्त कला है उसका साथ पाकर चित्रकला भी अमूर्तता की उस मात्रा को प्राप्त कर लेती है जो संगीत के लिए सामान्य है उसीके कारण मानवात्मा अस्ति की ओर उन्मुख हो पाती है—अस्ति जो ध्वनियां आकारों और रंगों के सभी पैटर्नों की पृष्ठभूमि में है। गीतात्मक कविताओं का वर्णनात्मक बिम्बविधान रागों अथवा रागिनियों की सुमधुरता तथा चित्रों में प्राकृतिक *दृश्यों का प्रत्यक्ष सभी समान तथा समवेत रूप से प्रकृति के सान्निध्य में प्रकृति-तत्त्व अथवा* अस्ति के अनुभव से सम्बद्ध सम्पूर्णता विस्मय और भय के शाश्वत एवं सार्वभौम भावों के प्रतीक और आह्वान हैं। वस्तुतः रागमाला चित्रकला का इष्ट अस्ति है तथा इष्ट देती है विस्मय की भावना जिसे मानवात्मा ऋतुओं और पर्वों के चक्र द्वारा अभिव्यक्त और विम्बित करती है। पन्द्रहवीं से अठारहवीं तीन शताब्दियों तक लोक-कला की तीन प्रवृत्तियां—कविता संगीत और चित्रकला—भारत में समानान्तर विकसित हुईं और उनमें विभिन्न शैलियां द्वारा समान अवैयक्तिक मनोभाव व्यक्त हुए। तीनों में 'भागवत' और 'पुराणों' की कथाओं के धार्मिक अभिप्राय परिव्याप्त हैं लोकीय भाषाओं के विभिन्न काव्यों और गीतों में पुनरभिव्यक्त हुए तथा अनेकानेक भाष्ययोगियों कवियों संगीतज्ञों और चित्रकारों द्वारा जनसामान्य तक पहुंच सके। किसी युगविशेष तथा देशवासियों के सामूहिक दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए कलाओं का जैसा सहयोग तत्कालीन उत्तरभारत में हुआ वैसा सहयोग विश्व की संस्कृति के इतिहास में बहुत कम हुआ है।

अध्याय १६

हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान

मुसलमान राज्य की अवधारणा का पतन

मराठों के विरुद्ध अभियान के दौरान 'बादशाह और गाजी' औरंगजेब की मृत्यु हुई तब उसका हृदय टूट चुका था। उसका मकबरा मृत्युस्थल खुलदाबाद (स्वर्ग का नगर) में है। इसी मकबरे में दफन है मुसलमान-राज्य की वह अवधारणा जिसे यह कठोर शासक और असहिष्णु बादशाह भारत पर लादना चाहता था और जिसके फलस्वरूप भारतवासियों को अनेकानेक यन्त्रणाएं सहनी पड़ीं तथा अन्तत मुगल-साम्राज्य का विनाश हुआ। मुगल राजसिंहासन के वैधानिक उत्तराधिकारी प्रबुद्ध और असाधारणत उदार मना दारा शिकोह को औरंगजेब अत्यन्त उपहासास्पद व्यक्ति समझता था और बेसमझ पुजारी कहता था। कट्टर इस्लामधर्म के प्रति वह इतना वफादार था कि टोपिया सिलकर अपनी रोजी कमाता था। उचित ही है कि उस देश के ऐसे भू भाग में दफन किया गया जहां इस्लाम के अनेक कट्टर और पक्षपातपूर्ण धर्मप्रचारकों—जलालुद्दीन इंजराबक्श मुंतजाबुद्दीन बुरहानुद्दीन और जमुद्दीन—के अवशेष भी दफन है। फिर भी उसकी मृत्यु से बहुत पहले ही सिखों मराठों राजपूतों और जाटों ने सम्मिलित रूप म देश म मुसलमान राज्य स्थापित करने के उसके प्रयास का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया था। औरंगजेब स्वयं अपनी भयानक गलती के प्रति सजग था क्योंकि उसने अपनी एकान्त मृत्युशय्या' से अपने पुत्र को लिखा था

> मैं अकेला आया था और अकेला ही वापस जा रहा हूं
> मैंने देश और देशवासियों का कोई भला नहीं किया
> और भविष्य की कोई आशा भी नहीं है।

अठारहवीं शताब्दी के एक प्रख्यात हिन्दी कवि भूषण ने उसकी भर्त्सना करते हुए लिखा

> साहि मरी सिव जू सों मरी सब सैयद मीर पठान पठाइ कै।
> भूषण ह्यां गढ़ कोटनि हारे, ह्यां तुम क्यों मरे छाइ रिसाइ कै।
> हिन्दुन के पति सों न बिसात सतावत हिन्दु गरीबनि पाइ कै।
> लीजै कलंक न दिल्ली के बालम बालम आलमगीर कहाइ कै॥

एक उत्पीड़ित सम्प्रदाय से सांग्रामिक जाति के रूप में सिखों का विकास

मुगल भारत में सबसे पहले पंजाब में आए थे और पंजाब सीमावर्ती प्रदेश था, अतः मुगलों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। किन्तु औरंगज़ेब की मृत्यु के समय तक मुगलों के उत्पीड़न के कारण सिखों ने एक छोटे और संत्रस्त सम्प्रदाय से बदलकर एक शक्तिशाली जाति का रूप धारण कर लिया था तथा १७०७ में (औरंगज़ेब की मृत्यु का वर्ष) में उनके 'सच्चे पादशाह' अन्तिम सिख गुरु गोविन्दसिंह थे। सिखधर्म वास्तव में रामानन्द कबीर, चैतन्य और वल्लभ के नेतृत्व में भक्ति आन्दोलन की ही एक शाखा है। जयदेव नामदेव त्रिलोचन कबीर, रामानन्द सधन बेनी धन्ना पीपा सेन रविदास और सूरदास तथा (अत्यन्त रोचक बात है) दो मुसलमान सन्तों फरीद और भीखन के भजनों को सिखों के धर्मग्रन्थ में सम्मिलित किया गया है। 'ग्रन्थसाहिब' में कबीर के अंश के विस्तार से स्पष्ट पता चलता है कि सिखधर्म कबीर का कितना आभारी है शायद नानक ने कभी कबीर से भेंट भी की थी।—कबीर के भजनों से तो वह भली भाँति परिचित थे। गोरखनाथ रामानन्दी परम्परा से भी नानक ने बहुत कुछ ग्रहण किया है। उन्होंने कहा है कि लालसा और क्रोध को मिटाने तथा सांसारिक माया से मुक्त होने में सहज योग-साधना सहायक है। गुरु गोविन्द ने भी गोरख को 'योगिराज' कहा है। किन्तु पंजाब की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति के संदर्भ में नानक का विश्वास और लक्ष्य था—दाँव पर नये नैतिक मानदंडों की स्थापना जीवन और समाज के मूल्यों की स्थापना के लिए अपनाए गए नानक के रचनात्मक ढंग में गोरख के सहजयोग रामानन्द के साम्यवाद तथा कबीर और सूफियों की हिन्दूधर्म और इस्लाम के ऐक्य की परिपूर्ति और अभिवृद्धि हुई—तथा अमूर्तता किसी दूसरी दुनिया की न रहकर किसी राष्ट्र का निर्माण करनेवाले नैतिक प्रयास की हो गई। मूर्तिपूजा धार्मिक अनुष्ठान जातिप्रथा तथा अनेकेश्वरवाद सभी को अस्वीकार किया गया ताकि व्यावहारिक सुदृढ़ और साहसी व्यक्तियों के निर्माण का मुख्य उद्देश्य पूरा हो सके। इसके साथ ही नानक तथा उनके उत्तराधिकारियों ने समकालीन भारत के भक्ति-आन्दोलन से बहुत कुछ ग्रहण किया। ईश्वर की पारलौकिकता के बारे में नानक का एक उत्कृष्ट भजन है

> गगन मैं थालु रवि चंदु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती।
> धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे सगल बनराइ फूलंत जोती ॥
> कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती। अनहता सबद वाजंत भेरी।
> सहस तव नैन नन नैन हहि तोहि कउ सहस मूरति नना एकु तोही।
> सहस पद बिमल नन एक पद गंध बिनु सहस तव गंध इव चलत मोही ॥
> सभ महि जोति जोति है सोई। तिसदै चानणि सभ महि चानणु होइ।
> गुर साखी जोति परगट होइ। जो तिसु भावै सु आरती होइ ॥[1]

---

१ मूल पाठ श्री वियोगी हरि सम्पादित 'सन्त-सुधासार' (प्रथम संस्करण १९५३) से उद्धृत। हिन्दी रूपान्तर आगे प्रस्तुत है।

नानक के उत्तराधिकारी अंगद, अमरदास और रामदास सभी उच्चतम चरित्रवान व्यक्ति थे। उन्होंने लोगों को न्यायपरायण और मानवीय सामाजिक कर्तव्य की नीति की शिक्षा दी। गुरु अंगद ने 'गुरुमुखी' वर्णमाला का आविष्कार किया। जनसाधारण को उक्त लिपि सीखना अपेक्षाकृत अधिक आसान था, फलतः सिखधर्म के प्रसार और सिख लोगों के ऐक्य में आसानी हुई। लंगर (अथवा सामुदायिक भोजनालय) नामक संस्था—जिसमें राजा और किसान, धनी और निर्धन, उच्चकुलीन और निम्नकुलीन सभी बिना किसी सामाजिक भेदभाव के एकसाथ भोजन कर सकते थे—के कारण मानवप्रेम की भावना का व्यापक प्रसार हुआ और इस प्रकार यह संस्था भी एकता स्थापित करनेवाली शक्ति सिद्ध हुई। अकबर ने अमरदास को अमृतसर में जमीन का एक टुकड़ा प्रदान किया। इसी भूमि पर बाद में सिखों की पूजा, सहधर्मचारिता और सभा के एक केन्द्रीय स्थल के रूप में विख्यात 'स्वर्णमन्दिर' का निर्माण हुआ।

पांचवें गुरु, अर्जुन, विशाल संगठन-क्षमता वाले नेता थे। उनके नेतृत्व में सिखों की संख्या, सम्पत्ति, सम्मान और शक्ति में काफी वृद्धि हुई। किन्तु उनकी जड़ें भागवत व वैष्णव परम्पराओं में गहरी थीं और 'प्रियतम' के लिए उनके हृदय में अपार भक्ति थी:

> यह लाल कुर्ती तुम्हारे शरीर पर भली लगती है,
> तुम सतगुरु को अच्छे लगते हो और तुमने उनका हृदय जीत लिया है,
> तुम्हारे मुख का यह सौन्दर्य तुम्हें किसने दिया है?
> किस रंग से तुम्हारा शरीर इतना चमकीला बना है?
> तुम सुन्दर हो, तुम सुखी पत्नी हो,
> तुम्हारे घर में ही तुम्हारा प्रिय है, और तुम्हारा घर ही स्वर्ग है।

गुरु अर्जुन विद्रोही शाहजादे खुसरो के मित्र थे। केवल इसीकी आड़ लेकर जहांगीर ने उनपर राजद्रोह का अपराध लगाया और फांसी दे दी। शहादत पाने से कुछ पहले गुरु अर्जुन ने अपने उत्तराधिकारी को संदेश भेजा, 'उन्हें अपनी गद्दी पर सशस्त्र बैठना और अपनी योग्यतानुसार सेना रखनी चाहिए।' इसी संदेश में सामरिकता के बीज निहित थे। सर्वप्रथम हर गोविन्द ने अपने अनुयायियों से शस्त्र और घोड़े एकत्र

'आकाश-मंडल थाल है, सूर्य और चन्द्रमा उसमें दो दीपक, तथा तारों के मोती उसपर जड़े हुए हैं।
मलयानिल तेरी धूप है, पवन तुझे चंवर डुलाता है, और हे ज्योतिस्वरूप, सारे वन तेरे फूल हैं।
हे भव-खंडन, यह तेरी कैसी आरती है! अनहद नाद की दुरही बज रही है यहां।
तेरी सहस्रों आँखें हैं, किन्तु तू फिर भी बिना आँख का है;
तेरे सहस्रों रूप हैं, किन्तु फिर भी तू बिना रूप का है;
तेरे सहस्रों निर्मल चरण हैं, किन्तु फिर भी तू बिना चरण का है;
तेरी सहस्रों नासिकाएं हैं, किन्तु फिर भी तू बिना नाक का है।
मैं तो मुग्ध हूं तेरी इस लीला पर।
सब तेरी ही ज्योति से ज्योति पा रहे हैं; तेरे ही प्रकाश से सब प्रकाशित हो रहे हैं।
गुरु के उपदेश से यह ज्योति प्रकट होती है।
जो तुझे प्रिय लगे वही तेरी आरती है।

—अनुवादक

किए। नवें गुरु, तेग बहादुर, ने कुछ उत्पीड़ित कश्मीरी ब्राह्मणों के मामले में हस्तक्षेप किया तो औरंगजेब ने उन्हें फांसी दे दी। तेग बहादुर ने अपना शीश दे दिया किन्तु धर्म नहीं दिया (सिर दिया सर ना दिया)। शहादतों की शृंखला ने पंजाब में एक सामरिक राष्ट्रीयता को और उत्तेजित किया। सिख अब पूर्णतः सामरिक जाति में बदल चुके थे और मुगल उत्पीड़न के विरुद्ध सहायता और सहारे के लिए पंजाब के हिन्दू भी सिखों का मुंह जोहने लगे थे। दिल्ली के शाही तख्त पर बठे हुए औरंगजेब की चुनौती को पंजाब के निवासियों का उत्तर था—धार्मिक और सामरिक राष्ट्रीयता।

खालसा और पाहुल

इस नई सामरिक जाति के नेता थे भारतीय इतिहास के महानतम राजाओं और नायकों में से एक दसवें गुरु गोविन्दसिंह (१६६६–१७०८)। सामान्य हिन्दुओं में गंभीर प्रभाव डालने के उद्देश्य से गुरु गोविन्द ने एक पाहुल संस्कार का आविर्भाव किया जिसके द्वारा सभी सिखों का पुनर्जन्म होता था (फिर संस्कार से पहले वे किसी भी जाति के क्यों न रहे हों) तथा कृपाण से हिला देने के बाद साथ-साथ पानी पीने और 'कड़ाह प्रसाद' खाने से वे सभी द्विज हो जाते थे। अब पंजाब के गांवों में मेहतर और चमार तक ब्राह्मणों के साथ बैठकर भोजन करने लगे। समाज के निम्नतम लोग अब भूमि के शासक थे एक समग्र भाईबन्दी के सदस्य थे खालसा थे और गुरु स्वयं अपने नाम के साथ 'सिंह' लगाते थे। यह एक प्रकार का नव-ब्राह्मणवादी संस्कार था जो धर्म भेद के समूल उन्मूलन तथा सर्वसाधारण की एकता प्रतीक था। वे औरंगजेब के 'जिहाद' के विरुद्ध धर्मयुद्ध प्रारम्भ करने को तैयार थे। इस प्रकार मुगल-नृशंसता के विरुद्ध केवल सिखों के ही नहीं वरन् समग्र हिन्दूजाति के विरोध के अग्रगामी दल के रूप में खालसा का आविर्भाव १६९९ में हुआ।

गुरु गोविन्द ने रामचन्द्र कृष्ण तथा अन्य अवतारों और नायकों एवं दैवी चंडी के साहसिक कृत्यों की नई लाक्षणिक व्याख्या प्रस्तुत की। यह व्याख्या पहले सिख पंथ से भिन्न सुर में थी और इसका उद्देश्य था एक राष्ट्र के रूप में हिन्दुओं में सामरिक राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करना। विलक्षण बात यह है कि वह एक साहसी योद्धा एवं चालाक सेनापति साथ ही कवि एवं विद्वान भी था। गुरु गोविन्द चाहते थे कि उनके सैनिक-सन्त युद्धों में साहस व शौर्य का प्रदर्शन करें अतः उन्होंने देवताओं देवियों अथवा पौराणिक नायकों के साहस और शौर्य का वर्णन काव्य में किया। निस्संदेह सिखधर्म की नवल सामरिक प्रकृति की आधारशिला गुरु गोविन्द की यही काव्यरचना थी और उनके धार्मिक भजनों में उतना ही गम्भीर काव्य-सौष्ठव उपस्थित है। उनका एक भजन प्रस्तुत है

> मोर नाचते हैं, मेढक टर्राते हैं और बादल लगातार गरजते हैं
> पेड़ जंगल में सदा एक पैर पर खड़ा रहता है
> सरयोगी फूंक-फूंककर जमीन पर पैर रखता है,
> पत्थर युग-युगों तक एक ही जगह पर पड़े रहते हैं

कीए और चीलें देस-देसान्तर भ्रमण करते हैं,
वैसे ज्ञानरहित व्यक्ति अगर ईश्वर की उपासना कभी नहीं करता
तो फिर भला उसकी रक्षा कैसे हो सकती है!

सिख संस्कृति

खालसा की एकता और निस्स्वार्थ प्रकृति ने सिखों म एक और विलक्षण व्यक्ति 'पंजाबकेसरी' रणजीतसिंह को जन्म दिया (१७८०–१८३९)। वे अपने समय के महान तम कूटनीतिज्ञों में से एक थे। साथ ही वे सुयोग्य और आश्चर्यजनक रूप से सफल सैनिक प्रतिभावान व्यक्ति—'नैपोलियन बोनापार्ट का लघु संस्करण'—थे। व अपने और सिखों को मिलाकर सामूहिक रूप से खालसा कहते थे। लगभग तीन दशकों के भीतर उन्होंने अपना एक राज्य स्थापित कर लिया जिसमें कांगड़ा कश्मीर और सिंधघाटी का अधिकांश भाग शामिल था। यदि कुछ ईर्ष्यालु सिख सरदारों ने अंग्रेजों से बढ़ावा पाकर उनका साथ न छोड़ा होता तो उन्होंने सतलुज के आसपास की रियासतें भी अपने अधिकार में कर ली होतीं। सम्पूर्ण सिखजाति को खालसा के नेतृत्व मे नहीं लाया जा सका—इस तथ्य का सिखों के बाद के इतिहास पर अत्यन्त विनाशकारी प्रभाव पड़ा। रणजीतसिंह एक निर्भय और शूरवीर योद्धा एव विजेता होने के साथ-साथ दयालु और मानवीय भी थे। एक जर्मन बैरन कार्ल वॉन ह्यूगेल का कथन है इतनी कम अपराधिता के द्वारा इतना बड़ा साम्राज्य एक आदमी द्वारा शायद कभी नहीं स्थापित किया गया। वे स्वयं निरक्षर किन्तु विवेकशील और उदारमना व्यक्ति थे और उनके दरबार म सब धर्मों अथवा जातियों के कुछ सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति मौजूद थे। उनके प्रधानमन्त्री एक मुसलमान थे फ़कीर अज़ीज़ुद्दीन और वित्तमन्त्री एक राजपूत राजा दीनानाथ थे। उन्होंने विभिन्न यूरोपीय देशों के निवासियों को भी अपनी सेना में ऊँचे ओहदे दिए। उनके दरबार में कला और विद्या फूली-फली। प्रधानमन्त्री सूफ़ी थे और हिन्दूधर्म व इस्लाम में कोई अन्तर न देखते थे मैं एक विशाल नदी के बीच में उतराता हुआ व्यक्ति हूँ मैं स्थल की ओर दृष्टि डालता हूँ किन्तु दोनों ओर के तटों मे मुझ कोई अन्तर नहा दीखता। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में एक सिख चित्रकला-सम्प्रदाय प्रथम विकसित हुआ। उसपर औपचारिक व शास्त्रीय मुग़लकला का नहीं वरन् प्रवाहमयी यथार्थवादी लोक-शैली का प्रभाव था। सामान्यत: गुरुओं और सरदारों के 'पोर्ट्रेट' तथा दरबार या शिकार के दृश्यों का अंकन किया जाता था। इसका मुख्य कारण यह है कि सिखधर्म में मूर्तिपूजा का स्थान नहीं है और न उसकी अपनी पौराणिक गाथाएं हैं।

शिवाजी के नेतृत्व में हिन्दू-पुनरुत्थान

औरंगज़ेब की चुनौती को पंजाब में हिन्दुओं की ओर से गुरु गोविन्द ने 'सच्चा पादशाह' के रूप में १६७५ में स्वीकार किया। इससे केवल एक वर्ष पूर्व मराठा वीर शिवाजी ने रायगढ़ में विशुद्ध प्राचीन हिन्दू सम्राटों की परम्परानुसार अपना राज्या-भिषेक किया तथा 'सिंहासनाधीश्वर' और 'श्री शिवा छत्रपति' की चिरसम्मानित उपा-

क्रियां आरम्भ कीं। महाराष्ट्र का सारा हिन्दूधर्म और संस्कृति—'धर्म के देवता' 'माय और ब्राह्मण'—था। शिवाजी में अद्वितीय साहस और सामरिक योग्यता के साथ-साथ महाराष्ट्र की लोक-संस्कृति, गीत और कथाओं के प्रति गम्भीर लगाव था इसी लगाव के कारण वह अनेक बार छद्मवेश में धार्मिक प्रवचन सुनने पूना गए, यद्यपि ऐसा करने में उनकी गिरफ्तारी का बहुत खतरा था। आध्यात्मिक पथनिर्देश प्राप्त करने के उद्देश्य से वे भक्तिपूर्वक सन्त तुकाराम के पास गए, किन्तु तुकाराम ने उन्हें रामदास समर्थ का शिष्यत्व प्राप्त करने की सलाह दी। एक ही लोक के दो सन्तों में परस्पर विरोधाभास इससे अधिक कहीं न था। तुकाराम प्राचीन भक्ति-परम्परा के पालक और विठोबा के प्रेम में लीन थे तथा उन्हें संसार में किसी अन्य वस्तु की परवाह न थी। उनका एक भजन है

> जैसे वधु बार-बार मुड़-मुड़ कर अपने मातृ-गृह को देखती जाती है
> और बहुत बेमन से ही जाती है,
> उसी तरह मेरी आत्मा तुम्हें देखती है और चाहती है
> कि तुम और मैं मिल जाएं।
> जैसे कोई बच्चा अपनी मां को न देखकर
> दुःखी होकर रोने लगता है
> जैसे पानी से निकाली हुई मछली होती है,
> तुका कहते हैं कि यही दशा मेरी है।

तुकाराम का मत है कि आध्यात्मिक आनन्द तथा सांसारिक क्रिया-कलाप दोनों का सामंजस्य असम्भव है 'सांसारिक जीवन और ईश्वर संग जीवन—जो व्यक्ति दोनों जीवन साथ-साथ जीना चाहता है, अन्ततः एक को भी प्राप्त नहीं कर पाता। यदि कोई व्यक्ति प्रकाश की दो वाटियों में एकसाथ प्रवेश करना चाहे तो अन्त में स्वयं को नष्ट कर डालेगा। फिर भी उनके लिए संसार अर्थपूर्ण भी है। 'ईश्वर के द्वारा सम्पूर्ण संसार इससे सम्बन्धित है, रस्सी तानी जाती है तो उसका एक-एक रेशा तनता है। संसार व्यर्थ अथवा निस्तत्त्व नहीं है ध्यान दीजिए कि प्रत्येक जीवन सभी के जीवनों के साथ समन्वित है। जिस प्रकार हमारे सुख-दुःख दूसरों को प्रभावित करते हैं ठीक उसी प्रकार दूसरों के सुख-दुःख हमपर प्रभाव डालते हैं। तुका कहते हैं कि जब इस विशुद्ध नियम का हृदय में वास होता है तो व्यक्ति का बाह्य रूप प्रसन्नता से झिलमिलाता रहता है।"

पंढरपुर के सन्त

पंढरपुर के सन्तों ने एक ओर राष्ट्रव्यापी धार्मिक पुनरुत्थान को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर समानतावादी सामाजिक आन्दोलन को। फलतः एक अखिल हिन्दू आन्दोलन की भूमि तैयार हुई। देवगिरि के शासक के एक मंत्री तथा महानुभव सम्प्रदाय के संस्थापक चक्रधर स्वामी से सन्तों विद्वानों और कवियों की एक शृंखला का आरम्भ हुआ। चक्रधर स्वामी गुरली के मराठा संत गोविन्दाचार्य के शिष्य थे। वे केवल कृष्ण को ईश्वर मानते थे तथा मूर्तिपूजा के विरोधी थे। जिस समय सूफी उपदेशक और इस्लाम

धर्मप्रचारक अपने धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी कार्यक्रम को आगे बढ़ाने देवगिरि पहुंचे उस समय चक्रधर स्वामी एक उग्र हिन्दूधर्म के केन्द्रबिन्दु बन गए। अन्य सन्त और कवि थे—नामदेव (१२७०–१३५०) भूतदेव हेमाद्रि 'गीता' की विख्यात व्याख्या (१२९०) के मर्मज्ञ ज्ञानेश्वर जनार्दनस्वामी तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य एकनाथ (१५४८–१५९९)। कवियों और सन्तों की इस शृंखला ने लोगों के धार्मिक विश्वास को कायम रक्खा और शिवाजी के नेतृत्व में हिन्दू-पुनरुत्थान को प्रेरित किया।

शिवाजी को आध्यात्मिक प्रतिरोध के नेता तुकाराम (१६०८–१६४९) नहीं वरन् रामदास (१६०८–१६८१) प्रतीत हुए। वे तुकाराम की भांति पारलौकिकता का बखान न करके भौतिक और आध्यात्मिक दोनों धर्मपक्षों के समन्वय के लिए प्रयत्नशील थे। रामदास के अनुसार, संसार में सफलता द्वारा ही परमार्थ में सफलता सम्भव है दूसरी सफलता के लिए पहली सफलता एक अनिवार्य शर्त है। महीपतिकृत 'सन्तविजय' के अनुसार जब शिवाजी का आध्यात्मिक कष्ट बहुत बढ़ गया तो स्वामी रामदास के पास पहुंचकर उन्होंने वैरागी के रूप में उनके पास रहने की इच्छा प्रकट की। स्वामी रामदास ने शिवाजी की श्रद्धा भक्ति तो स्वीकार की किन्तु आध्यात्मिक सत्यों का पाठ पढ़ाने के बाद आदेश दिया कि वे संसार में अपने व्यक्तिगत कर्तव्यों का पालन करें। धर्म और सामाजिक कर्तव्यशीलता पर है जो अहंवाद से सर्वथा तटस्थ एवं मुक्त होना चाहिए। रामदास मध्यमान सिद्धान्त के पक्षधर हैं। मानव के नैतिक जीवन का आदर्श न आसक्ति है और न विरक्ति वरन् संयम है। रामदास पंढरपुर के विनोबा की भक्त परम्परा से कुछ अलग हटकर हैं और उनके चिरस्मरणीय ग्रन्थ 'दास-बोध' में जीवन के विभिन्न विभागों और कलाओं का समन्वय धार्मिक खोज के साथ स्थापित किया गया है। सम्पूर्ण दक्षिणभारत में रामदास ने लगभग ८०० मठ स्थापित किए, जिनमें राम और हनुमान की मूर्तियां स्थापित थीं तथा जिनके साथ अखाड़े संलग्न थे। ये मठ समय पाकर देशव्यापी धार्मिक पुनरुत्थान तथा व्यायाम और प्रतिरोध के केन्द्र बने। वास्तव में रामदास की योजना अनिवार्यतः व्यावहारिक और बहुमुखी थी और उसका उद्देश्य था प्रत्येक हिन्दू देशवासी को रामदास की ही भांति समर्थ बनाना। उन्होंने कठिन परिश्रम तथा आलस्य-निवारण की महत्ता पर जोर दिया। उनकी राजनीतिक बुद्धि विलक्षण थी। शिवाजी एक बलशाली राष्ट्र के नायक थे उन्होंने सातवाहन और विजयनगर साम्राज्यों की महान परम्पराओं का दाय प्राप्त किया था और वे हिन्दूधर्म की रक्षा एवं पुनरुत्थान के कार्य की महत्ता को समझते थे तथा रामदास जैसे गुरु उनके अत्यधिक सहायक थे। अपने उद्देश्य में शिवाजी को दक्षिण के क्षत्रिय राजाओं के अतिरिक्त जयसिंह और छत्रसाल जैसे उत्तरभारतीय क्षत्रिय राजाओं का सहयोग भी प्राप्त हुआ। उत्तर भारत के अनेक भाट उनके राजदरबार में सार्वभौम राज्य का गुणगान करते पहुंचे थे।

हिन्दू पद-पादशाही का मराठा आदर्श

अठारहवीं शताब्दी के दौरान मराठों की शक्ति भारत की प्रमुखतम शक्ति हो गई और अनेक महान कूटनीतिज्ञ तथा योद्धा उनमें पैदा हुए। अंग्रेजों को भारत पर

एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए इन कूटनीतिज्ञों और योद्धाओं से लोहा लेना पड़ा। बाजीराव प्रथम ने उत्तरभारत में मराठों के साम्राज्य-विस्तार का सूत्रपात किया। इससे हिन्दू पद-पादशाही अथवा हिन्दू साम्राज्य के आदर्श को बढ़ावा मिला। मालवा गुजरात राजपूताना और बुन्देलखण्ड के हिन्दू राजाओं सरदारों और जमींदारों ने भी इस आदर्श को मान्यता प्रदान की और अपना सहयोग दिया।

मराठा साम्राज्यवाद के युग में साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ। मराठी साहित्य के एक आधार-स्तम्भ थे श्रीधर (१६७०–१७२८) जिन्होंने 'रामविजय' तथा 'पांडव पराक्रम' की रचना की। इस प्रकार महाकाव्यों की कथाएं महाराष्ट्र के जनसामान्य को सुलभ हुईं। श्रीधरकृत 'पोथी' आज भी महाराष्ट्र में उतनी ही लोकप्रिय है जितनी उत्तरभारत में तुलसीदासकृत रामचरितमानस अथवा पूर्वी भारत में कृत्तिवासकृत 'रामायण'। एक अन्य महत्वपूर्ण लेखक हैं महीपति जिनकी 'भक्तविजय' और 'सन्त विजय' उत्तरभारत के नाभादासकृत 'भक्तमाल' के समान हैं। मोरोपन्त भी काफी प्रसिद्ध कवि हैं।

लोकप्रिय हिन्दूधर्म की प्राणशक्ति

भारतीय सभ्यता का एक विशिष्ट गुण है हिन्दूधर्म की प्राणशक्ति जो उसे दो स्रोतों से प्राप्त होती है महाकाव्यों और पुराणों की कथाएं तथा जनसामान्य की भक्ति और आस्था का निरन्तर आगार। हिन्दूधर्म की यह शक्ति समस्त उत्पीड़नों के बावजूद आज भी कायम है। अनेक बार ऐसा हुआ है कि जब कभी विदेशी आक्रमण और संस्कृति से भारतीय धर्म को खतरा पैदा हुआ है तभी राजनीतिक आपत्ति ने धार्मिक रूप अपना लिया है तथा उसे जनसामान्य का सहज स्वाभाविक एवं अमर विश्वास का आधार प्राप्त हुआ है। अतः जब कभी विदेशी विजेताओं द्वारा पुजारियों या साधुओं को प्राणों का भय उत्पन्न हुआ या उनकी हत्याएं हुईं और जब कभी मन्दिरों का विनाश हुआ अथवा मठों और निवासस्थानों को नष्ट किया गया तभी अपने धर्म और अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा राजपूत ही नहीं वरन् जन-साधारण भी उठ खड़े हुए। हूणों तथा अन्य विदेशी शासक म्लेच्छों के विरुद्ध गुप्तवंशीय सम्राटों ने तुर्क अफगानों के हमलों के विरुद्ध राजपूतों ने (जिन्होंने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की) पंजाब में सिखों ने मध्यभारत में जाटों ने और दक्षिण में मराठों ने अपने देश की रक्षा की। ये सब इस तथ्य का प्रमाण है कि संकट के समय हिन्दू भारत के कायाकल्प का क्रम शताब्दियों तक चलता रहा है। पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक चलनेवाला भक्ति-आन्दोलन हिन्दूधर्म की जातिप्रथा पौरोहित्य और लोकाचारों का विरोधी आन्दोलन था। किन्तु इसीने औरंगजेब की कट्टर तथा असहिष्णु नीति के प्रति अन्तिम हिन्दू-विरोध को उकसाया। पंजाब में गुरुगोविन्दसिंह दक्षिण में शिवाजी और भरतपुर व उत्तरप्रदेश में सूरजमल जाट इस विरोध के सैनिक नेता थे। अठारहवीं शताब्दी भर भारत में उथल पुथल और कष्टों का बोल-बाला रहा किन्तु इसी बीच भारत के विभिन्न भागों में अनेकानेक अध्यात्मवादी कवि और सन्त हुए। यह तथ्य भी इस बात का प्रमाण है कि अपने शासकों के संघर्षों कष्टों

और मिलाधर्मों के दौरान जनसामान्य का आध्यात्मिक पुनरुत्थान हो जाता था।

बंगाल के शाक्त अध्यात्मवादी

प्लासी के युग (१७५६–१७७४) में बंगाल में बेमजीर लूटपाट बबरता और छलकपट का बोलबाला था। इसी युग में शाक्त धर्म ने एक अत्यन्त श्रेष्ठ कवि कमाल को प्रदान किया। ये कवि थे भारतचन्द्र राय गुणाकर (१७११–१७६१) जिन्होंने 'अन्नदामंगल कालिकामंगल अथवा विद्यासुन्दर और 'अन्नपूर्णामंगल' अथवा 'मानसिंह' की रचना की। उनके सर्वोत्कृष्ट गीत 'विद्यासुन्दर' में हैं जिनकी परिसमाप्ति पलासी के युद्ध से केवल चार वर्ष पहले हुई थी। १७५७ में उन्होंने 'सत्यनारायण पांचाली' की रचना की जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्मिलित इष्ट 'सत्यपीर' का गुणगान किया गया है। उनकी शैली बंगला कविता में अरबी संस्कृत और फारसी से आत्मसात् शब्दों के सुन्दर उपयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है। भारतचन्द्र राय की तुलना पोप और ड्राइडेन के साथ की गई है। शब्द-विन्यास और तुक पर उनका असाधारण अधिकार था और उन्होंने अठारहवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की बंगला कविता को बहुत प्रभावित किया।

इसी आध्यात्मिक परम्परा ने विख्यात कवि-अध्यात्मवादियों रामप्रसाद सेन (जन्म १७१८) और कमलाकान्त भट्टाचार्य (जन्म १८०१) को उत्पन्न किया। शाक्त गीतों में वैष्णव पदावलियों के ही समान धार्मिक ओज और गांभीर्य है तथा ग्रामीण समाज में दोनों समानरूप से लोकप्रिय हैं। रामप्रसाद का एक विशिष्ट भजन है

> मानवों को मछलियों की तरह पकड़ने के लिए
> ब्रह्मांड के अनन्त गहरे जल में
> अपना विशाल जाल डालकर मछुआ प्रतीक्षा करता है
> और इच्छा होते ही उन्हें बालों से पकड़कर खींच लेता है।
> इस काल-जाल से किसी की मुक्ति नहीं।
> काल के बंधन में पड़ा व्यक्ति अपनी मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है?
> काल-विनाशिनी माँ काली का आवाहन करो
> वह काल के पाश से तुम्हारी रक्षा करेगी।

एक अन्य भजन में रामप्रसाद असमानता के विरुद्ध स्वर उठाते हैं

> ओ माँ क्या मैं तुम्हारी महाकरुणा से परिचित नहीं।
> कुछ को अन्न का एक दाना भी नहीं मिलता
> जबकि दूसरों को विविध व्यंजन और अपरिमित कोष उपलब्ध है।
> कुछ शानदार पालकियों में यात्रा करते हैं और कुछ
> उन्हें अपने कंधों पर ढोते हैं
> कुछ कीमती शाल ओढ़ते हैं और कुछ के पास शरीर की
> नग्नता ढकने को चीथड़े तक नहीं होते।

दूसरे भजन में पूजा के अनेक रूपों के आडम्बर का विरोध है

> ओ मन देवी के बारे में गलत धारणाएं मत बनाओ
> क्या तुम नहीं समझते कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड उसका ही रूप है ?
> फिर तुम उसकी माटी की मूरत क्यों पूजना चाहते हो ?
> माँ अनन्त गहनों से ब्रह्मांड को अभिसिक्त करती है
> उसकी मूर्ति के लिए कुछ सुनहरे गहने बनवाते हुए तुम्हें शर्म नहीं लगती ?
> माँ ही ब्रह्मांड का पालन करती है,
> चावल और चने का भोग उसे लगाते हुए तुम्हें शर्म नहीं लगती ?
> वह बड़े यत्न से ब्रह्मांड की रक्षा करती है
> फिर उसे बकरे की बलि देने का साहस तुम्हें कैसे होता है ?
> माँ की पूजा केवल भक्ति से की जा सकती है।
> *जन-समुदाय के सामने दिखावे के साथ उसकी पूजा मना लो*
> किन्तु तुम्हारी रिश्वत वह कदापि स्वीकार नहीं करेगी।

रामप्रसाद सिद्धपीठ बीनियस' थे। सम्भवतः उन्होंने ही बंगला कविता और र्म में आगमनी और 'विजया' के भजनों का समावेश किया था। ये भजन बंगाल में र्गा पूजा के अवसर पर जब लड़कियां अपने माता-पिता के यहां आती हैं गाये जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी के बंगाल में नादिया के राजा कृष्णचन्द्र राय के दरबार में बंगाल की *उत्कृष्ट प्रतिमाएं मौजूद थीं और राजा के प्रयत्न एवं संरक्षण के* फलस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के मध्य से बंगाल में दुर्गापूजा का महत्त्व बढ़ा है। इन मर्मस्पर्शी आगमनी और विजया गीतों में आराध्य देवी को पुत्री माना गया है जो तीन दिन अपने मायके में साथ से व्यतीत करती है और फिर अपने पति शिव के साथ कैलाश वापस चली जाती है तथा परिवार के लोग विलाप करते रह जाते हैं। उमा अथवा गौरी के प्रति माता-पिता के प्रेम की सूक्ष्म भंगिमाओं में धार्मिक संयम उसी प्रकार उपस्थित है जैसे यौवनमय कृष्ण के प्रति राधा और गोपियों के रूमानी प्रेम में। इस प्रकार गीतों की सहायता से माता-पिता अपनी मात्र मानवीय कोमलता को आध्यात्मिक उच्चाकांक्षा में रूपान्तरित कर सकते हैं। कारण स्पष्ट है। क्या प्रत्येक माता उमा की माता मेनका नहीं है ? क्या देवपुत्री उमा *अजेय होने के साथ-साथ अर्चनीय भी नहीं है ? और क्या तीन दिन के पुनर्मिलन के पश्चात्* उससे अलग होने की व्यथा ईश्वर से अलग रहने की यंत्रणा नहीं है ? प्रत्येक पुत्री उमा का प्रतिबिम्ब है जो प्रेम और सहृदयता की आकांक्षिणी है, किन्तु दुःखद स्थिति यह है कि वह पृथ्वी पर अत्यन्त अल्प अवधि के लिए आती है। रामप्रसादी भजनों में माता *पिता और पुत्री के सम्बन्ध का आदर्शीकरण इष्टदेव की प्राप्ति के एक नवीन उपाय का* प्रतीक है। जब देवी के चण्डी-मण्डपों में इन भजनों को गाया जाता है तो आज भी हजारों श्रोता एकत्र हो जाते हैं। दुर्गा के प्रति आगमनी और विजया गीतों के अतिरिक्त विशिष्ट रामप्रसादी लोकधुन और भजन आज दो शताब्दियों बाद भी लाखों बंगाली घरों में आकर्षण के केन्द्र हैं।

कमलाकान्त के वैकल्पपूर्ण और अगाध गीतों में हम विशुद्ध एकेश्वरवाद तथा काली व कृष्ण की पूजा एवं योग तथा कर्मकांड का समन्वय पाते हैं जिनकी व्याख्या प्रतीकात्मक और आध्यात्मिक है। निर्वाण की देवी काली के प्रति एक उत्कृष्ट बंगला भजन इस प्रकार है

गहन अंधकार में ओ माँ तुम्हारा रूपहीन सौंदर्य दमकता है
जिसका ध्यान गहरी पर्वत-गुफाओं में योगी लगाते हैं
सीमाहीन अंधकार की गोद में महानिर्वाण की तरंगों पर सवार होकर,
निर्मल और अनन्त शान्ति प्रवाहित होती है।
शून्याकार, अंधकारवसना समाधिलीना माँ तुम कौन हो ?
तुम्हारे भयनिवारक चरणकमलों से तुम्हारे प्रेम की विद्युत् चमकती है
तुम्हारा आकारहीन मुख ओमहर्षक अट्टहास से दमक उठता है।

इसी समय 'आउलों' और 'बाउलों' में एक प्रकार की निष्कपट व स्वाभाविक अध्यात्मवादिता का उदय हुआ। इनमें मुसलमान सूफी और हिन्दू सन्त दोनों ही थे तथा उनके भक्तों में बंगाल के हरे-भरे खेतों और विशाल नदियों की विस्तृत शान्ति परिव्याप्त है। बाउलों का कोई आध्यात्मिक अथवा धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। वे गीत-संगीत द्वारा आराधना करते हैं तथा सीधे-सरस रूप से ईश्वर को 'मनेर मानुष' (मनुष्य जिसे आत्मा खोजती है) मानते हैं। इस संयोजक अनुभव के कारण अध्यात्मवादी के समक्ष विश्वात्मा की द्वैत परिस्थिति का उद्घाटन होता है—मनुष्य का प्रयाण ईश्वर की ओर और ईश्वर का प्रयाण मनुष्य की ओर। शाश्वत संसर्ग में 'मनेर मानुष' अपनी प्रिया के साथ विहार करता है इन्द्रियों के द्वार बन्द करके वह प्रिया के शाश्वत सौंदर्य को निहारता है। आत्मा के क्रिया-कलापों में इस प्रकार का मानवतावादी स्वर संसार-भर के धार्मिक काव्य में विरल है

मनुष्य मनुष्य सभी कहते हैं।
मनुष्य क्या है ?
मनुष्य यौवन है मनुष्य जीवन है मनुष्य हृदय रत्न है
पृथ्वी पर विरले ही मनुष्य का सत्य जानते हैं।
मनुष्य को वह प्रेम मालूम है जो अन्य प्राणी नहीं जानते
और केवल मनुष्य ऐसे प्रेम की गहराई को जानता है।
मनुष्य का प्रेम 'मनेर-मानुष' की खोज में उसका सहायक है
इस प्रकार मनुष्य मनेर-मानुष को जान जाता है
मनेर-मानुष के मनुष्य की शक्ति को केवल मनुष्य समझ सकता है।

नीचे एक अत्यन्त मार्मिक बाउल गीत दिया गया है। इसमें दिखाया गया है कि जीवन के प्रवाह में ईश्वर और मानव का अत्यन्त मधुर शाश्वत सम्पर्क है

आत्मा का कमल युग-युग तक खिलता जाता है
और उसमें मैं और तुम ऐसे बंधे हैं कि मुक्ति नहीं।
इसकी पंखुरियाँ निरन्तर खुलती चली जाती हैं
और उसके मधु में इतना माधुर्य है कि तुम आसक्त मधुमक्खी के
समान उसे छोड़ नहीं सकते
और इसीलिए मैं बंधा हूं और तुम भी तथा मुक्ति कहीं नहीं है।

उत्तरभारतीय अध्यात्मवादियों की उदारता और सहिष्णुता

मराठा और मुहम्मद शाह अब्दाली के बीच संघर्ष में कभी मराठों का पलड़ा भारी होता था कभी अब्दाली का। फलस्वरूप समस्त उत्तरभारत में अनिश्चितता और लूट पाट का बोलबाला था। इसी वातावरण में उत्तरभारत में अनेक अध्यात्मवादी सन्त और सुधारक हुए जिनकी निरन्तरता अठारहवीं शताब्दी में कायम रही। उनमें एक प्रमुख थे दिल्ली के मुसलमान सन्त यारी साहिब(१६६८–१७२५)। वे महिला सत बावरी साहबा के शिष्य थे और उत्तरप्रदेश में अपने अनेक शिष्य छोड़कर मरे। यारी साहिब 'रत्नावली' के रचयिता हैं। इसमें सुन्दरतम धार्मिक गीत हैं। ब्रह्माण्ड के बारे में उनका कथन है

> मह स्याही ब्रह्म माँहि तौलौं तो अच्छर नाहिं
> कुल सेती रूप न्यारो न्यारो निकरि आयो है।
> सुन्न के कागद पर मानिक कलम लिये
> चित की कसौटी करि अच्छर बनायो है।
> अरध अच्छर माँहि अंकरै को सूझै नाहिं
> दाना बीना जिन पढ़िके सुनायो है।
> यारी आदि ओंकार चारों मह भयो सलार
> अच्छर अचाह बीच बूड़ै नाँहि पायो है॥

यारी साहिब के एक शिष्य थे फैजाबाद के हलवाहे बुल्ले। बुल्ले ने अपने राजपूत जमींदार और मालिक गुलाल को अपना शिष्य बनाया। नीचे गुलाल का एक भावप्रवण गीत प्रस्तुत है

> 'मन मधुकर खेलत बसंत। बाजत अनहद गति अनन्त॥
> बिगसत कमल भयो गुंजार। जोति जगामग कर पसार॥
> निरखि निरखि जिय भयो अनंद। बाजत मन तब परम फन्द॥
> लहरि लहरि बहै जोति धार। चरन कमल मन मिलो हमार॥
> आवै न जाइ मरै नहीं जीव। पुलकि पुलकि रस अमिय पीव॥
> अगम अगोचर अमल नाम। देखत नैनन भयो सनाथ॥
> कह गुलाल मोरी पुजलि आस। जम जीत्यो भयो जोति बास॥'[१]

१ श्री वियोगी हरि सम्पादित 'सन्त-सुधा-सार' (प्रथम संस्करण १९५३) से उद्धृत।—अनुवादक।

गुलाल के एक शिष्य थे गाजीपुर-निवासी भीखा। निम्न भजन में भीखा के धार्मिक दृष्टिकोण की मार्मिक अभिव्यक्ति है

> साईं शुद्ध मिट्टी है जिससे कुम्हार अनेक बर्तन बनाता है
> और उसके सृजन में बहुत विविधता है।
> नाम सुवर्ण है वे आभूषणों के समान जो है उससे अलग दीखते हैं।
> लेकिन शुद्ध या अशुद्ध, उनका आधार तो सुवर्ण है।
> फेन बुलबुले भाग्य और लहरें अनेक हैं
> लेकिन खारा या मीठा पानी वही है।
> भीखा कहते हैं कि आत्मा की एक जात है
> डाकू और याची दोनों एक ही सरकार के हैं।

यारी साहिब के एक अन्य शिष्य का नाम था केशवदास (१६९ –१७६९)। वे वैश्य जाति के थे और उनकी कृति का नाम है अमीघट। जगजीवनदास (जन्म १६९९) एक विख्यात संत थे। वे बाराबंकी के एक ठाकुर थे तथा कबीर की परम्परा में थे। उत्तरप्रदेश की निम्न जातियों के बीच मुसलमान और हिन्दू विचारधाराओं तथा पूजाविधियों के समन्वय में उनका महत्त्वपूर्ण योग था। उन्होंने सतनामी सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें निम्नतम जाति के लोगों की संख्या विशाल थी। बल्कि कहना यह चाहिए कि औरंगजेब द्वारा दमित इसी नाम के एक सम्प्रदाय का पुनर्गठन जगजीवनदास ने किया। वे अवधी हिन्दी में लिखते थे और उनकी कृतियां हैं ज्ञानप्रकाश' महाप्रलय और परमग्रंथ'। उनके निम्नोद्धृत भजन में सामाजिक समानता पर बहुत जोर दिया गया है

> हे सन्त सबमें एक प्रकाश चमकता है।
> सोचकर देखो प्रकाश दो नहीं है
> रक्त और शरीर एक ही हैं।
> न कोई बड़ा है न कोई सन्त
> कुछ को पुरुष कहा जाता है कुछ को स्त्री
> मनुष्य पुरुष सबमें है।

इस युग के एक अत्यन्त विख्यात संत थे प्राणनाथ (१० •–१७८•)। उनका जन्म बुंदेलखंड में हुआ था कार्यक्षेत्र भी वही भूभाग था और पन्ना के छत्रसाल बुंदेला उनके शिष्यों में से थे। वे बाइबिल कुरान और हिन्दूधर्म-ग्रंथों में पारंगत तथा हिन्दुओं मुसलमानों और ईसाइयों की एकता के प्रबल समर्थक थे। ईसाइयों के समान वे भी प्रेम को ईश्वर मानते हैं प्रेम शाश्वत और अविभाज्य है। प्रेम प्यारे के शरीर में है प्रेम उसके साथ है। प्रियतम की आत्मा में प्रेम है। प्रेम के ही कारण आंखें परे से परे तक देख पाती हैं। प्रेम ही किसीको ईश्वर के अविभाज्य शासन का वरदान देता है।

ईसाइयों के ही समान वे फिर या पढ़ते हैं

अब मैं प्रेम की बात कहता हूं जो स्वयं ईश्वर है और कल्पनातीत है
ईश्वर-सृष्टि उसका एक अंश है पर प्रेम गहनतम शाश्वत आनन्द है।

उनके सम्प्रदाय का नाम धामी सम्प्रदाय है क्योंकि उसमें ईश्वर को 'धाम' अथवा 'घर' माना गया है। इस सम्प्रदाय के माननेवाले हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं।

एक और प्रसिद्ध सन्त थे गरीबदास (१७१७–१७७८)। उनका जन्म रोहतक में हुआ था और वे राम हरि तथा अल्लाह की पूजा एकसाथ करते थे। उनकी उदारता विलक्षण थी और उनके भजनों में अद्भुत भावप्रवणता है। आश्चर्य की बात है कि उनके भजनों में अनेक शब्द अंग्रेजी और फ़ारसी के हैं। शिवनारायण (जन्म १७१०) गाजीपुर के एक सन्त थे। राजपूत सैनिकों में उनके अनुयायी बहुसंख्यक थे। उनके सम्प्रदाय में जातिभेद नाममात्र को भी नहीं है। उन्होंने अनेक भजनों और गीतों की रचना की जिनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं 'सन्तविलास' और 'भजनग्रंथ'। मुगल शहंशाह मुहम्मद शाह उनके शिष्य थे। शहंशाह के सहयोग से भी शिवनारायण के सम्प्रदाय के प्रसार में सहायता मिली।

फ़ैज़ाबाद के पल्टूदास (१७५७–१८२५) एक अन्य सुविख्यात संत थे। यह गुलाल के शिष्य अर्थात् बावरी साहबा की परम्परा के थे और अयोध्या में रहते थे। इन्हें कभी कभी दूसरा कबीर भी कहा जाता है। इन्हें बैरागियों का कोपभाजन बनना पड़ा। उन्होंने स्पष्टरूप से जाति और सम्प्रदाय के विभेद की भर्त्सना की। उनका एक मत यह था कि ऊंची जातियों ने नीची जातियों का तथा स्वयं अपना भी विनाश किया है। यह 'राम कुण्डलिया' और 'आत्मकर्म' के रचयिता हैं। कुण्डलिया छन्द की भावप्रवणता और सुन्दरता विख्यात है। पल्टूदास का कथन है कि आन्तरिक अनुभूति न हो तो कर्मकांड का कोई महत्त्व नहीं 'यदि युवती सुन्दर न हो तो सुरमा लगाने का क्या फायदा।" वे सम्पूर्ण आत्मसमर्पण के हामी हैं "लेकिन मैं अपने स्वामी को यह कहकर शीघ्र मना लूंगा कि दासों से हजारों गलतियां होती हैं।

निम्नलिखित भजन पूर्णतः कबीर की शैली और विचारधारा में है

पूरब में राम है पच्छिम खुदाय है
उत्तर और दक्खिन कहो कौन रहता ?
साहिब वह कहां है कहां फिर नहीं है
हिन्दू और तुरक तोफान करता ?
हिन्दू और तुरक मिलि परे हैं खचि में
आपनी बर्म दोउ दीन बहता।
दास पलटू कहै साहिब सब में रहै
जदा ना तनिक मैं सांच कहता।।

१ प्रस्तुत पाठ श्री वियोगी हरि सम्पादित 'सन्त-सुधा सार' (प्रथम संस्करण १९५३) से उद्धृत है। —अनुवादक।

गोंडा जिले में सहजानन्द (जन्म १७८०) ने 'स्वामी नारायण' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसमें मुसलमानों और नीची जाति के हिन्दुओं का प्रवेश खुला था। सन्त तुलसी साहिब (१७६०–१८४२) बाजीराव द्वितीय के भाई थे और हाथरस में रहते थे। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्मग्रंथों के ज्ञाता और कर्मकांड के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने 'घट रामायण' की रचना की। बिहार के सारन जिले में एक सन्त दरिया थे जो मुसलमान माता-पिता की सन्तान थे। उन्होंने एक ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें मुसलमानों की कौमियत और हिन्दुओं के सिजदा दोनों को स्थान दिया गया है।

अठारहवीं शताब्दी में राज्यों और साम्राज्यों का पतन हो रहा था। सोमनाथ, मथुरा और बनारस के विख्यात मन्दिरों के ध्वंस तथा औरंगजेब द्वारा हिन्दुओं के उत्पीड़न के फलस्वरूप एक कटुता और विरोध का वातावरण पैदा हो गया था और सम्पूर्ण देश में अव्यवस्था व विश्रृंखलता का साम्राज्य था। किन्तु इस दुःखी देश के विभिन्न भागों में समाज के निचले स्तरों से अनेक अध्यात्मवादियों, संतों और कवियों का उद्भव हुआ। इन्हीं लोगों ने पूजा और प्रेम में मानवतावाद और सार्वभौमिकतावाद की व्यापक प्रवृत्ति को जो हिन्दूधर्म और इस्लाम के बाह्य रूपों और कर्मकांडों तथा शासक वर्गों या राजाओं के अत्याचारों से परे थी जीवित रखा। भारतीय इतिहास के इस अन्धकारमय काल में आशा और नवजीवन का संदेश नगरों और कस्बों से नहीं जहां मुसलमान और हिन्दू पतनोन्मुख राजदरबारों का प्रभाव अत्यन्त दूषित व अशिष्ट हो गया था, वरन् गांवों और झोंपड़ियों से मिला जहां की सहिष्णु, सौहार्दपूर्ण एवं आस्थावान संस्कृति अमर है।

अध्याय २०

भारतीय-आंग्ल पुनर्जागरण की उदारता और वैचारिकता

भारत में यूरोपीय फैक्टरियों का उदय

आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के उद्भव का अधिकांशतः कारण है—व्यापार अथवा सुनाम की खोज की प्रवृत्ति। इसी प्रवृत्ति ने जॉन कैबट, कोलम्बस, मैगेलान और वास्को डिगामा के साहसिक अभियानों को प्रेरित किया था। मलाबार तट के गर्म मसालों ने—भारत महासागर के सम्पन्न व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करनेवाले अरबों ने इन मसालों को हिन्द की कुंजी कहा था—आधुनिक यूरोपीय और भारतीय इतिहास का रूप-निर्धारण किया। १४९८ में वास्को डिगामा ने अपनी सुप्रसिद्ध भारत-यात्रा की। वह उत्तमाशा अन्तरीप से होकर कालीकट (अब कोषिक्कोड) पर उतरा। इस प्रकार एशिया में पहली यूरोपीय फैक्टरी और किले का निर्माण पुर्तगालियों ने कोचीन में किया। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष में पुर्तगाल के सम्राट ने बड़ी हेकड़ी और उपहास के स्वर में स्पेन के सम्राट को लिखा कि असली भारत की खोज कोलम्बस द्वारा नहीं बल्कि 'हमारे कुल के एक अभिजात व्यक्ति' द्वारा की गई है जो अपने साथ 'दालचीनी, लौंग अदरख जायफल कालीमिर्च तथा अनेक प्रकार के खूबसूरत पत्थर' लाए हैं 'और इस लिए, यूरोप के इस भाग के समस्त ईसाई-धर्मावलम्बियों को अब इन गर्ममसालों और कीमती पत्थरों की कमी न रहेगी।

पूर्वी समुद्रों में पुर्तगालियों की शक्ति अपने शीर्ष पर सोलहवीं शताब्दी के मध्य में थी। दियू, बेसीन, गोआ, सेंट थोमे, नागापट्टम और हुगली उनके गढ़ थे जिनपर भारत में पुर्तगालियों की व्यापारिक समृद्धि आधारित थी। इस काल में समुद्र यात्राओं में इतना अधिक समय लगता था और वे इतनी खतरनाक थीं तथा छोटे भीड़भरे जहाजों में मौतें इतनी अधिक होती थीं कि पुर्तगालियों ने कभी उपनिवेशीकरण अथवा अन्तर्देश के भू भागों पर अधिकार करने का गम्भीर प्रयास नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने स्वयं को सामरिक महत्व के स्थानों, जलडमरूमध्यों या द्वीपों तक सीमित रखा तथा इनकी रक्षा वे आक्रमणकारियों से सदैव करते रहे ताकि व्यापारिक मार्गों पर उनका प्रभुत्व तथा पूर्वीय व्यापार का उनका एकाधिकार कायम रहे।

ओलन्देजों (हालैण्डवासियों) और अंग्रेजों का भारत में आगमन पुर्तगालियों के लगभग एक शताब्दी बाद हुआ। शुरू से ही स्पष्ट हो गया कि इन दोनों जातियों का

(और विशेषत पहली का) उद्देश्य केवल व्यापारिक सफलता प्राप्त करना ही नहीं था बल्कि उनकी आकांक्षा उपनिवेश स्थापित करने की भी थी। गोएम और वान डीमेन के नेतृत्व में ओलन्देजों ने जल्दी ही भारतीय द्वीपसमूह श्रीलंका और मलाबार में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। अंग्रेजों के सामने अनेक असुविधाएं थीं—उनकी कम्पनी के डायरेक्टरों का व्यापारिक और राजनीतिक उद्देश्यों में से एक को न चुन पाना इंग्लैंड में गृहयुद्ध अंग्रेज सम्राटों की लापरवाही और अमरीका में अंग्रेजों के औपनिवेशिक क्रियाकलापों का शीघ्र विस्तार। १६१६ में अंग्रेजों की फैक्टरियां पश्चिमी भारत म सूरत आगरा अहमदाबाद और भड़ौच तथा कुरमंडल तट पर मसुलीपटम और पेटापोलि में थीं वे भारत फारस और लालसागर के काफी बन्दरगाहों से अपना व्यापार चलाते थे। उसी वर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक रिपोर्ट में लिखा है कि पुर्तगालियों के एकाधिकार के कारण 'गंगा के पास वाले प्रदेशों में' व्यापार आरम्भ करना अव्यावहारिक है। 'छोटे-छोटे जहाजों के लिए जितने बन्दरगाह बंगाल म हैं वे सब पुर्तगालियों के अधिकार में हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाल में पुर्तगालियों की महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मंडियां हुगली चटगांव और पिपली थीं। पुर्तगाली हुगली और चटगांव को क्रमश 'पोर्तो पेक्वेनो' और 'पोर्तो ग्रान्दे' कहा करते थे ये नाम गंगा के छोटे और बड़े मुहानों की ओर इंगित करते थे। सप्तग्राम अथवा सतगांव जो भागीरथी और सरस्वती के संगम पर स्थित था और सोलह शताब्दियों से भी अधिक समय से दक्षिण एशिया का सर्वाधिक विख्यात बन्दरगाह था सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में दोनों नदियों के पेटे में बालू भर जाने के कारण सहसा अवनति के गर्त में जा पहुंचा और उसके स्थान पर हुगली का उत्थान हुआ। १५८५ में राल्फ फिच ने पाया कि 'वस्तुओं और सब वस्तुओं से भरा-पुरा नगर' सप्तग्राम वास्तव में एक सुन्दर नगर है। किन्तु जल्दी ही पड़ोस के हुगली बन्दरगाह नगर ने उसकी समृद्धि को ढक दिया। पुर्तगालियों के लिए बंगाल के पश्चिमी नदी मुख पर स्थित हुगली का वही सामरिक महत्त्व था जो पूर्वी नदी-मुख पर स्थित चटगांव का था कुरमंडल तट पर स्थित नेगापटम का। इन्हीं बन्दरगाह-नगरों से उनका जहाजी बेड़ा बंगाल उड़ीसा और कुरमंडल से मलाक्का और वहां से मलक्का तथा श्रीलंका जानेवाले व्यापारी जहाजों की रक्षा कर सकता था। नई जातियों की चुनौती के बावजूद पुर्तगालियों ने पूर्वी भारतीय व्यापार पर अपना एकाधिकार सम्पूर्ण सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में सफलतापूर्वक कायम रखा।

पूर्वी भारतीय व्यापार के एकाधिकार के लिए यूरोपीयों का संघर्ष

अंग्रेज ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत पर अधिकार कर सकी—यह एक ऐतिहासिक संयोग था। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ओलन्देज कम्पनी पूर्वी द्वीपसमूह में पुर्तगालियों के विरुद्ध संघर्ष में पहले से व्यस्त थी कारण उस समय यूरोपीय लोग पूर्वी द्वीपसमूह को भारत से अधिक मूल्यवान मानते थे और उसपर अधिकार का अधिक महत्त्व था। ओलन्देज जहाजी बेड़े ने भारत, श्रीलंका और मलाबार के द्वीपों पर पुर्तगालियों का

अध्याय २०

भारतीय-आंग्ल पुनर्जागरण की उदारता और वैचारिकता

भारत में यूरोपीय फैक्टरियों का उदय

आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के उद्भव का अधिकांशतः कारण है—व्यापार अथवा भू-भाग की खोज की प्रवृत्ति। इसी प्रवृत्ति ने जॉन कैबट, कोलम्बस, मैगेलान और वास्को डिगामा के साहसिक अभियानों को प्रेरित किया था। मलाबार तट के गर्म मसालों ने—भारत महासागर के सामग्र व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करनेवाले अरबों ने इन मसालों को 'हिन्द की काली' कहा था—आधुनिक यूरोपीय और भारतीय इतिहास का रूप निर्धारण किया। १४९८ में वास्को डिगामा ने अपनी सुप्रसिद्ध भारत-यात्रा की। वह उत्तमाशा अन्तरीप से होकर कालीकट (अब कोझिकोड) पर उतरा। इस प्रकार एशिया में पहली यूरोपीय फैक्टरी और किले का निर्माण पुर्तगालियों ने कोचीन में किया। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष में पुर्तगाल के सम्राट ने बड़ी हेकड़ी और उपहास के स्वर में स्पेन के सम्राट को लिखा कि असली भारत की खोज कोलम्बस द्वारा नहीं बल्कि 'हमारे कुल के एक अभिजात व्यक्ति' द्वारा की गई है जो अपने साथ 'दालचीनी लौंग अदरख जायफल कालीमिर्च तथा अनेक प्रकार के खूबसूरत पत्थर' लाए हैं और इस लिए, यूरोप के इस भाग के समस्त ईसाई-धर्मावलम्बियों को अब इन गर्ममसालों और कीमती पत्थरों की कमी न रहेगी।

पूर्वी समुद्रों में पुर्तगालियों की शक्ति अपने शीर्ष पर सोलहवीं शताब्दी के मध्य में थी। दियू, बेसीन गोआ, सेंट थोमे, नागापटम और हुगली उनके गढ़ थे जिनपर भारत में पुर्तगालियों की व्यापारिक समृद्धि आधारित थी। इस काम में समुद्र-यात्राओं में इतना अधिक समय लगता था और वे इतनी खतरनाक थीं तथा छोटे भीड़भरे जहाजों में मौतें इतनी अधिक होती थीं कि पुर्तगालियों ने कभी उपनिवेशीकरण अथवा अन्तर्देश के नू भागों पर अधिकार करने का गम्भीर प्रयास नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने स्वयं को सामरिक महत्त्व के स्थानों अन्तःसमुद्रमध्यों या द्वीपों तक सीमित रखा तथा इनकी रक्षा वे आक्रमणकारियों से सदैव करते रहे ताकि व्यापारिक मार्गों पर उनका प्रभुत्व तथा पूर्वीय व्यापार का उनका एकाधिकार कायम रहे।

डोमन्देजों (हालैंडवासियों) और अंग्रेजों का भारत में आगमन पुर्तगालियों के लगभग एक शताब्दी बाद हुआ। शुरू से ही स्पष्ट हो गया कि इन दोनों जातियों का

(और विशेषत पहली का) उद्देश्य केवल व्यापारिक सफलता प्राप्त करना ही नहीं था बल्कि उनकी आकांक्षा उपनिवेश स्थापित करने की भी थी। योएम और वान डीमेन के नेतृत्व में ओलन्देजों ने जल्दी ही भारतीय द्वीपसमूह श्रीलंका और मलाबार में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। अंग्रेजों के सामने अनेक असुविधाएं थीं—उनकी कम्पनी के डायरेक्टरों का व्यापारिक और राजनीतिक उद्देश्यों में से एक का न चुन पाना इंग्लैंड में गृहयुद्ध अंग्रेज सम्राटों की लापरवाही और अमरीका में अंग्रेजों के औपनिवेशिक क्रियाकलापों का शीघ्र विस्तार। १६१६ में अंग्रेजों की फैक्टरियां पश्चिमी भारत म सूरत आगरा अहमदाबाद और भड़ोच तथा कुरूमंडल तट पर मसुलीपटम और पेटापोलि में थीं वे भारत फारस और लालसागर के काफी बन्दरगाहों से अपना व्यापार चलाते थे। उसी वर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक रिपोर्ट में लिखा है कि पुर्तगालियों के एकाधिकार के कारण 'गंगा के पास वाले प्रदेशों में' व्यापार आरम्भ करना अव्यावहारिक है। 'छोटे-छोटे जहाजों के लिए जितने बन्दरगाह बंगाल म हैं वे सब पुर्तगालियों के अधिकार में हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में बंगाल में पुर्तगालियों की महत्वपूर्ण व्यापारिक मंडियां हुगली चटगांव और पिपली थीं। पुर्तगाली हुगली और चटगांव को क्रमश 'पोर्तो पेक्वेनो' और 'पोर्तो ग्रान्दे' कहा करते थे ये नाम गंगा क छोटे और बड़े मुहानों की ओर इंगित करते थे। सप्तग्राम अथवा सतगांव जो भागीरथी और सरस्वती के संगम पर स्थित था और सोलह शताब्दियों से भी अधिक समय से दक्षिण एशिया का सर्वाधिक विख्यात बन्दरगाह था सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में दोनों नदियों के पेटे में बालू भर जाने के कारण सहसा अवनति के गर्त में जा पहुंचा और उसके स्थान पर हुगली का उत्कर्ष हुआ। १५८३ में राल्फ फिच ने पाया कि 'दसदसों और सब वस्तुओं से भरा-पुरा नगर सप्तग्राम वास्तव में एक सुन्दर नगर है। किन्तु जल्दी ही पड़ोस के हुगली बन्दरगाह नगर ने उसकी समृद्धि को ढक दिया। पुर्तगालियों के लिए बंगाल के पश्चिमी नदी मुख पर स्थित हुगली का वही सामरिक महत्व था जो पूर्वी नदी-मुख पर स्थित चटगांव का या कुरूमंडल तट पर स्थित नेगापटम का। इन्हीं बन्दरगाह-नगरों से उनका जहाजी बेड़ा बंगाल उड़ीसा और कुरूमंडल से अराकान और वहां से मलक्का तथा श्रीलंका जानेवाले व्यापारी जहाजों की रक्षा कर सकता था। नई जातियों की चुनौती के बावजूद पुर्तगालियों ने पूर्वी भारतीय व्यापार पर अपना एकाधिकार सम्पूर्ण सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में सफलतापूर्वक कायम रखा।

पूर्वी भारतीय व्यापार के एकाधिकार के लिए यूरोपीयों का संघर्ष

अंग्रेज ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत पर अधिकार कर सकी—यह एक ऐतिहासिक संयोग था। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ओलन्देज कम्पनी पूर्वी द्वीपसमूह में पुर्तगालियों के विरुद्ध संघर्ष में पहले से व्यस्त थी कारण उस समय यूरोपीय लोग पूर्वी द्वीपसमूह को भारत से अधिक मूल्यवान मानते थे और उसपर अधिकार का अधिक महत्व था। ओलन्देज जहाजी बेड़े ने भारत श्रीलंका और मसालों के द्वीपों पर पुर्तगालियों व

एकाधिकार समाप्त कर दिया। अंग्रेज ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए यह अत्यन्त सन्तोष प्रद स्थिति थी और इसीके कारण अंग्रेज बाद मे अपना व्यापार सफलतापूर्वक चला सके। अंग्रेजों की कम्पनी को ओलन्देज कम्पनी को भांति नौसेना घस्त्रागार और किलों आदि के रख रखाव का विशाल व्यय नहीं उठाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त कोई भी ऐसी नागरीय शक्ति भारत पर प्रभुत्व-स्थापना में सफल नहीं हो सकती थी जिसके सबसे ज्यादा मजबूत गढ़ केवल मलाबार और श्रीलंका में हों। ओलन्देज सूरत कुरुमंडल और बंगाल पर अपने अधिकार की जिम्मेदारी नहीं लेते थे हालांकि इन्हीं क्षेत्रों से उन्हें सबसे अधिक आर्थिक लाभ होता था। इन्ही तीन क्षेत्रों में अंग्रेजों ने भारतीय शासकों से व्यापारिक विशेषाधिकार क्रमशः प्राप्त कर लिए, जो ओलन्देजों के विशेषाधिकारों से अधिक लाभ दायक थे। व्यापारिक एकाधिकार और राजनीतिक शक्ति ने एक-दूसरे को सहारा दिया तो अंग्रेजों की आय दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ी। क्रमशः स्थिति यह हो गई कि बंगाल में जहां पहले ओलन्देजों को लाखों गिल्डरों[1] की वार्षिक आय होती थी, १७२० के बाद ओलन्देज कम्पनी को घाटा होने लगा। अपनी नौसैनिक वरिष्ठता समाप्त हो जाने के बाद ओलन्देज भारतीय शासकों की चापलूसी करके और उन्हें भेंट देकर व्यापारिक विशेषाधिकार बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील हो गए। इसी बीच उनकेएक अन्य प्रति द्वंद्वी फ्रांसीसियों ने ड्यूप्ले के नेतृत्व में १७५० में मसुलीपटम पर अधिकार कर लिया। ओलन्देजों को इससे बड़ी झुंझलाहट हुई।

फ्रांसीसी कूटनीतिज्ञ कॉल्बर्ट की महान योजना थी कि मद्रास और पूर्वी भारत से लेकर फारस और पूर्वी अफ्रीका के बन्दरगाहों तक फ्रांसीसी बस्तियों की एक शृंखला स्थापित करके ओलन्देज और अंग्रेज व्यापारियों के लाभ का अंश प्राप्त किया जाए। किन्तु सागर में फ्रांसीसी जहाजी बेड़े के दुर्भाग्य और फ्रांसीसी कम्पनी के डायरेक्टरों और अधिकारियों के आपसी झगड़ों के कारण यह योजना सफल न हो सकी। बाद में यूरोपीय युद्ध ने भी फ्रांसीसी व्यापार को धक्का पहुंचाया जिसके फलस्वरूप बंगाल गुजरात मला बार और कुरुमंडल-स्थित कम्पनी की फैक्टरियों की अक्षमता में वृद्धि हुई। पांडचेरी में रहनेवाले एक के बाद एक गवर्नरों की अयोग्यता तथा आर्थिक दिवालियापन ने इस स्थिति को और बिगाड़ा। फिर भी भारतीय नीति और सैनिक संगठन के कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों में अंग्रेजों ने ओलन्देजों का नहीं बल्कि फ्रांसीसियों का अनुसरण किया। फ्रांसीसियों ने ही सबसे पहले भारतीय शासकों और नरेशों के साथ सैनिक सन्धियां की भारतीय सिपाहियों को यूरोपीय युद्ध-कौशल की शिक्षा दी और सागरतट पर स्थित अपने किलों और फैक्टरियों से दूर भीतरी भाग में उन्हीं सिपाहियों को लेकर विजय-यात्राएं की। सच तो यह है कि यूरोपीय शक्तियों में से सबप्रथम फ्रांसीसियों ने ही दक्खन प्रायद्वीप के एक विशाल भूभाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। किन्तु उनका आधिपत्य केवल दो दशकों के लिए था। फ्रांसीसियों की बस्तियां सूरत पांडचेरी मसुली पटम और चन्दननगर और सामरिक महत्त्व के स्थानों पर भी थी किन्तु अन्ततः भारत में

---

[1] गिल्डर का चांदी का सिक्का जो एक सौ बारह पैसे के बराबर था।

उनकी पराजय का कारण था अंग्रेजों की नौसैनिक वरिष्ठता। इसी वरिष्ठता के बल पर अंग्रेज विपुल साधन-सम्पन्न एवं व्यापार-केन्द्रों तथा नदी-मार्गों द्वारा उत्तर से सम्बद्ध सागरतटीय प्रान्त बंगाल को जीत सके। डयूप्ले और क्लाइव दोनों ने भारत में मुगल साम्राज्य के खण्डहरों पर आधारित एक यूरोपीय साम्राज्य का स्वप्न देखा था किन्तु कर्नाटक पर आधिपत्य पर आधारित डयूप्ले का स्वप्न भौगोलिक रूप से असफल और गंगा के डेल्टा पर आधारित क्लाइव का स्वप्न चरितार्थ होने को था।

बंगाल पर अधिकार जमाने के लिए अंग्रेजों ने नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में फ्रांसीसियों को चन्द्रनगर में तथा ओलन्देजों को चिनसुर में हराया। बंगाल पर आधिपत्य के बाद ही अंग्रेजों को हिन्दुस्तान की दौलत पर कब्जा मिल गया और इसीके बल पर वे आखिरकार भारतीय साम्राज्य स्थापित कर सके। किन्तु उस समय भी अंग्रेज कम्पनी के डायरेक्टर इंग्लैंड में बैठे हुए सोचते थे कि अरबसागर के बन्दरगाहों के व्यापार के बल पर ही पूर्वी द्वीपों में उन्हें सफलता मिल सकती है।

भारत सत्रहवीं शताब्दी में विश्व के व्यापार का केन्द्र

लॉर्ड पामर्स्टन का कथन कितना सत्य है 'मूल उपनिवेशियों ने सबसे पहले एक फैक्टरी स्थापित की फैक्टरी बढ़कर किला बन गई किला फैलकर जिला और जिला फैलकर सूबा बन गया। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक एशिया के समुद्रों पर एक त्रिकोणीय संघर्ष लम्बे समय तक चला और इसमें अन्ततः पुर्तगालियों की शक्ति का पतन हुआ। इसके बाद दो पूर्वीय अधिराज्यों का क्रमशः निर्माण हुआ—अंग्रेज अधिराज्य जिसकी राजधानी कलकत्ता थी तथा ओलन्देज अधिराज्य जिसकी राजधानी बटाविया थी। ये अधिराज्य उसी प्रेरणा से बने जिसके कारण मैक्सिको और पेरू में स्पेनियों ने अधिकार किया पुर्तगालियों ने ब्राजील को जीता तथा अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने अमरीका में उपनिवेश और नवीन राज्य स्थापित किए। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक अटलांटिक— भारत और प्रशान्त महासागरों को व्यापार एकसूत्र में बांधे रहा। उन्नीसवीं शताब्दी प्रारम्भ तक भारत से कपड़ा रेशम नील कालीमिर्च तथा शोरा (जिससे यूरोप। निरन्तर हो रही लड़ाइयों के लिए बारूद बनाई जाती थी) यूरोप भेजे जाते रहे तथा उनक कीमत अदा करने के लिए मैक्सिको और पेरू से सोने और चांदी की विपुल मात्राएं भार आती रहीं। औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भ तक इस विश्वव्यापी व्यापार का केन्द्र भार था। लेकिन एशियाई समुद्रों में पुर्तगालियों ओलन्देजों और अंग्रेजों की डाकेजनी कारण भारतीय नौपरिवहन का अन्त हो गया। साथ ही भारत में यूरोपीय कम्पनि और व्यापारियों को असाधारण विशेषाधिकार दिए गए, 'मानो वे भारतीयों से अधिक माने गए जिसके फलस्वरूप उन्हें विशिष्ट व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त हु और भारतीय व्यापार का भी क्षय हुआ। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड भारतीय सूती कपड़े और रेशम के आयात पर रोक लगा दी जिससे इंग्लैण्ड का बाजा भारत के हाथ से जाता रहा ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत में ऊंचे दर्जे के सूती और रेशम कपड़ों के उत्पादन को हतोत्साह करने लगी तथा भारतीय समुद्री व्यापारी जहाजों।

शक्ति के क्षय होने के कारण पूर्वी द्वीपसमूह, फारस और अफ्रीका के पुराने बाजार भी भारत के हाथ से जाते रहे। इन बदली हुई परिस्थितियों के परिणामस्वरूप भारतीय कपास व्यवसाय को भीषण धक्का लगा। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा इंग्लैण्ड के बाजार में बिक्रीत भारतीय सूती वस्त्रों का वार्षिक औसत मूल्य १४ लाख पौण्ड (लगभग २ करोड़ १० लाख रुपये) था। उस समय (१७९१ में) फ्रांस १२ लाख पौण्ड (लगभग १ करोड़ ८० लाख रुपये) मूल्य के भारतीय सूती वस्त्र का आयात करता था। अमरीकी जहाजों में भी सूती वस्त्र काफी परिमाण में (१८१६–१८१७ में अनुमानित मूल्य ५६ लाख रुपये) भेजे जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी जब चुंगी काफी बढ़ी और कुछ मुख्य वस्तुओं के आयात पर रोक लगा दी गई थी भारत से हर साल लगभग २५ लाख पौण्ड (लगभग ३ करोड़ ७५ लाख रुपये) के मूल्य के सूती कपड़े इंग्लैण्ड भेजे जाते थे, जबकि उसे अंग्रेजी कपड़े से आधे मूल्य पर बेचा जाता था। अधिकांश भारतीय कपड़ा उस समय भी हाथकरघों पर बुना जाता था, जिनमें नये मशीनी करघों से पांच गुने आदमी काम करते थे।

भारत का औद्योगिक पतन

अंग्रेजी और ओस्टेण्ड कम्पनियों की संस्थापना के ठीक एक शताब्दी बाद १७०० में भारतीय सूती कपड़ों के इंग्लैण्ड में आयात पर रोक लग गई। भारतीय वस्त्रों से इंग्लैण्ड के बुनाई-उद्योग की रक्षा करने के लिए चुंगी धीरे-धीरे बढ़ाकर ८० प्रतिशत कर दी गई। अपने स्वदेशी उद्योगों के रक्षार्थ अन्य यूरोपीय देशों ने भी इंग्लैण्ड का अनुसरण किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय सूती कपड़े और रेशम का यूरोप भेजा जाना बिलकुल बन्द हो गया और उसके स्थान पर कच्ची कपास का आयात होने लगा—यह भारत के औद्योगिक पतन का अधोबिन्दु था। चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने १८३१ में अनुमान लगाया था कि विदेशी बाजार में बंगाल के सूती कपड़ों के विस्थापन का मान लगभग १ करोड़ रुपये सालाना है तथा घरेलू बाजार में लगभग ८० लाख रुपये। उन्होंने १ करोड़ ८० लाख रुपये के इस विनाश पथ के उपयुक्त उत्पादन करनेवाले भारतीयों में बेरोजगारी की भीषण समस्या की बात भी लिखी। सात वर्ष बाद (१८४१ में) इंग्लैण्ड के चान्सलर ऑफ एक्सचेकर लेबोचेयर ने कहा "अंग्रेजों ने अपने उत्पादनों से भारत के उत्पादनों को एकदम खत्म कर दिया है। अपनी भाप की तरक्की के सामने भारत के मानचेस्टर ढाका जिले का महत्त्व बिलकुल खत्म हो गया है।" १८४६ तक पांसा बिलकुल पलट गया और भारत का सूती कपड़े का आयात बिलकुल बन्द हो गया। उस वर्ष भारत को इंग्लैण्ड से २१३८४०००० गज कपड़ा निर्यात करना पड़ा, इसके विपरीत १८३५ में ५१ करोड़ गज तथा १८१४ में केवल ८ लाख गज कपड़ा निर्यात किया गया था। भारत के उद्योगों के विनाश, कृषि पर अधिकाधिक निर्भरता और एक के बाद एक अनेक अकालों ने पहली बार भारत के आर्थिक ढांचे की कमजोरी का, जो राजनीतिक दासता के कारण कभी भी सबके सामने खोलकर रख दिया।

आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण के जनक राममोहन

प्रारम्भ से ही आंग्ल भारतीय सम्बन्धों के पैटर्न पर क्रमशः यूरोपीय व्यापारवाद उपनिवेशवाद और राष्ट्रीयतावाद का प्रभाव रहा है। ये तीनों 'वाद' संसार की इतनी घातक कल्पनाएं हैं जिन्होंने पश्चिमी सभ्यता के विकास को तीन शताब्दियों तक पंगु बनाए रखा। अंग्रेजों की उपनिवेशीय नीति का हस्तक्षेप प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में होता था केवल सांस्कृतिक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया जाता था। फलस्वरूप तेजी से औद्योगिक पतन हुआ और जनता के जीवन-स्तर में काफी गिरावट आई। इंग्लैण्ड में जो चालू सिद्धान्त मान्य था उसके अनुसार दीवानी हासिल करने के बाद पचास वर्ष तक राज्य की शिक्षा या सुधार-सम्बन्धी कोई जिम्मेदारी न थी इससे भारत की स्थिति को एक वैचारिक आधार प्राप्त हुआ। १८५४ ई० के प्रसिद्ध घोषणापत्र का मसविदा तैयार करने से पहले तक सोचा ही नहीं गया कि भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा प्रदान करने के लिए राज्य-संरक्षण की आवश्यकता है। अंग्रेज धर्मप्रचारकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार काफी हो गया था।

१७९९ में अंग्रेज धर्मप्रचारक विलियम कैरी सेरामपुर में जो डेन्मार्क के अधीन इलाका था बस गया और वहां उसका ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन इलाके से ज्यादा स्वागत हुआ। वहीं पर पहला भारतीय प्रेस शुरू हुआ। तथा बंगला गद्य की गई पुस्तकें प्रकाशित हुई जिनमें संस्कृत मूलपाठों के अनुवाद भी शामिल थे। इससे पहले १७८१ में वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता में एक मदरसे की और १७९२ में लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बनारस में एक संस्कृत कालेज की स्थापना की थी। वस्तुतः अठारहवीं शताब्दी के अन्त से ही एक अधिराज्य के संरक्षकत्व की भावना के लिए धीरे-धीरे आधारभूमि तैयार की जा रही थी। १७७३ में सर्वप्रथम नियामक अध्यादेश जारी किए गए, जिनके द्वारा अंग्रेज व्यापारी न रहकर प्रशासक बन गए। १८१३ में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी का चार्टर दोहराया गया तो उसका व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया और साहित्य के विकास एवं शिक्षा के प्रारम्भ के लिए १० हजार पौण्ड (लगभग १ लाख ५० हजार रुपये) निश्चित किए गए। १८१७ में डविडहेयर राममोहन राय और द्वारिकानाथ ठाकुर के प्रयत्नों के फलस्वरूप कलकत्ता में हिन्दू कालेज (अथवा स्कूल) की स्थापना हुई। अगले वर्ष पहला बंगला समाचारपत्र छपा। १८३३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक व्यापारिक संस्था के रूप में काम करना बन्द कर दिया। उसी वर्ष सिविल सर्विस की उच्च शाखाओं में सैद्धान्तिक रूप से भारतीयों की नियुक्ति की नीति की घोषणा की गई। ये क्रांतिकारी परिवर्तन १८३३ के 'चार्टर ऐक्ट' के कारण सम्भव हुए थे और इस अधिनियम का अधिकांश श्रेय राममोहन राय के प्रयत्न को था।

राममोहन राय (१७७४–१८३३) को सर्वप्रथम आधुनिक भारतीय और वर्तमान काल के भारतीय पुनर्जागरण का जनक समझा जाना चाहिए। वे अतिशय प्रबुद्ध एवं उन्नीसवीं शताब्दी के एक महान मानववादी थे। उनकी आध्यात्मिक क्षमता और प्रभाव शीलता वस्तुतः अग्रगत यूरोपीय विचारकों के समान थी। जेरमी बेंथम ने 'उन्हें मानवता की

सेवा में संलग्न एक बहुप्रशंसित और अत्यधिक प्रिय 'सहयोगी' कहा था। राममोहन ने प्रचलित हिन्दूधर्म की मूर्तिपूजा और अन्धविश्वास की भर्त्सना की तथा उपनिषदों और वेदान्त के पवित्र धर्म के आधार पर 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य था "उस शाश्वत अगम और अविनाशी ईश्वर की पूजा और उपासना जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सर्जक और पोषक है।' हिन्दूधर्म की अनेक विकृतियों की खुले शब्दों में भर्त्सना करने के साथ-साथ उन्होंने ईसा के ईश्वर-पुत्र होने की बात तथा बाइबिल में वर्णित उनके अनेक चमत्कारों की प्रामाणिकता को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सती-प्रथा के विरुद्ध संघर्ष किया तथा सधवा और सच्चरित्र स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन किया। उन्हींके सहयोग से लॉर्ड विलियम बेंटिंक ने सती प्रथा को अवैधानिक घोषित करने का साहसपूर्ण कदम उठाया। उन्होंने प्रेस की स्वतन्त्रता और वास्ता फौजदारी के संहिताकरण का समर्थन किया तथा अंग्रेजों द्वारा लागू भूमि-व्यवस्था को अन्यायपूर्ण और अनुचित ठहराया।

शिक्षा के क्षेत्र में राममोहन ने बहुविख्यात याचिका' लिखी अधिकांशतः जिसके बल पर अन्तिम निर्णय लिया गया कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारत में पश्चिमी शिक्षा दी जाए। उन्होंने तर्क पेश किया था कि प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए अंग्रेजी आवश्यक है—यह उनकी दूरदर्शिता का प्रमाण है। उन्होंने लिखा था यदि अंग्रेजी राष्ट्र को वास्तविक ज्ञान से अवगत रखना होता तो तार्किकों की प्रणाली (जो अज्ञान के प्रसार के लिए बनाई गई थी) का स्थान बेकन के दर्शन ने न ले लिया होता। ठीक उसी प्रकार यदि अंग्रेजी विधानसभा की नीति अज्ञान का पोषण करना होती तो उसके लिए संस्कृत की शिक्षा प्रणाली सर्वोपयुक्त थी। किन्तु सरकार का उद्देश्य चूंकि देशी जनता का विकास करना है इसीलिए वह क्रमशः शिक्षा की अधिक उदार और प्रबुद्ध नीति अपनाएगी। उदार अंग्रेजी शिक्षा में अपने अटल विश्वास के साथ राममोहन ने सिफारिश की कि सरकार के उच्चतम पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की जाए। अधिकांशतः उन्हींके प्रभाव का फल था कि १८३३ का चार्टर ऐक्ट पास हो सका जिसके द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापारिक रूप समाप्त हो गया और उच्चतम पदों पर भारतीयों की नियुक्ति वैधानिक हो गई।

राममोहन संस्कृत फारसी अरबी अंग्रेजी ग्रीक और हिब्रू भाषाओं के ज्ञाता थे। इस कारण वे भारतीय राष्ट्रीयतावाद जिसने उनकी मृत्यु के लगभग पचास वर्ष बाद एक प्रभावशाली आन्दोलन का रूप धारण कर लिया) के ही नहीं वरन् बीसवीं शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के भी सच्चे मसीहा थे। राजा राममोहन का मानवमात्र के भाईचारे के सम्बन्ध में यह तर्क कितना मनोरंजक है। अब तो सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि केवल धर्म से ही नहीं बल्कि पक्षपातरहित सामान्य ज्ञान तथा वैज्ञानिक खोजों के दृढ़ निष्कर्षों से भी यही परिणाम निकलता है कि मानवमात्र का एक विशाल परिवार है तथा अनेक राष्ट्र और जातियां उसी परिवार की शाखाएं मात्र हैं। यही कारण है कि सभी देशों के प्रबुद्ध व्यक्तियों को महसूस होता है कि यथासंभव सारी बाधाओं को दूर करके प्रत्येक प्रकार के मानवीय संसर्ग को प्रोत्साहित किया जाए तथा

सुविधा प्रदान की जाए ताकि सम्पूर्ण मानव-जाति को परस्पर लाभ तथा सुख मिले।'

आधुनिक भारतीय कथा-साहित्य के जनक बंकिमचन्द्र

जिस युग में ब्रिटेन में उदारतावाद और व्यक्तिवाद की विजय हुई दासप्रथा का उन्मूलन हुआ दूरगामी सामाजिक अधिनियम बने तथा वेस्ली, कॉबेट और न्यूमैन से सम्बद्ध धार्मिक पुनरुत्थान हुआ उसी युग म १८३४ मे मैकाले द्वारा तैयार किए गए शिक्षा-सम्बन्धी प्रसिद्ध मसविदे क आधार पर भारत म अंग्रेजी भाषा क माध्यम से पश्चिमी ज्ञान विज्ञान का तेजी से प्रसार हुआ। अंग्रेजी शिक्षा ने विभिन्न प्रान्तों और धर्मों को जिनकी अपनी अलग-अलग भाषाएं थी एकसूत्र में पिरोया और साथ ही प्रान्तीय साहित्यों को नये मूल्य तथा अभिव्यक्ति के नए माध्यम प्रदान किए। इस प्रकार सभी प्रान्तीय साहित्यों ने अपने आधुनिक युग म प्रवेश किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के सबसे महान साहित्यकार थे आधुनिक भारतीय कथा-साहित्य के जनक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (१८३८–१८९४)। उनक उपन्यासो ने बंगला के साथ-साथ सभी भारतीय साहित्यो मे नवजीवन का सचार किया। बंकिम पर अंग्रेजी रोमांटिक आन्दोलन का गहन प्रभाव पड़ा था। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में उन्होंने अतीत को जीवन दिया तथा सम्पूर्ण मानवीय भावनाओ के साथ विदेशी अत्याचारों के विरुद्ध हिन्दुओं की वीरता का गुणगान किया। इनसे भारतीय जनता क सामने सौन्दर्य और कल्पना का एक नया क्षेत्र खुल गया और उनकी राष्ट्रीय भावना भी जागरित हुई। अपने सामाजिक उपन्यासो मे भी बंकिम ने अत्यन्त कोमल और सोत्साह अन्दावली में वैधव्य वैवाहिक असगति और शारीरिक विकार की समस्याओं को उठाया है। उनकी सभी कृतियों में उनके नायक-नायिकाओं दिन-प्रतिदिन की घटनाओं और भारतीय सम्बंधों सभी मे एक दूसरे संसार की दीप्ति परिव्याप्त है, जहां कापालिक भैरवी और फकीर तथा स्वप्न अपने-अपने पाट अदा करते हैं। उनका आनन्दमठ जिसकी आधार भूमि १७६९–७० का बंगाल का भीषण अकाल तथा १७७२ का संन्यासी-विद्रोह है और जिसका कथानक राजनीतिक क्रांति है, अपने समय से बहुत आगे था और तब से आज तक उसे क्रान्तिकारी आन्दोलन की 'बाइबिल' समझा जाता है। इसीमें भारतीय राष्ट्रीयतावाद का विख्यात गीत 'वन्दे मातरम्' है। यह गीत मां काली के लिए है और काली को भारतमाता की आत्मा के अनेक रूपों का प्रतीक माना गया है—गरीब और कृश समृद्धिशालिनी और फलदायिनी किन्तु सदैव सुन्दर और शक्तिमती तथा अपने लाखों पुत्र-पुत्रियों की आस्था और बलि की आकांक्षिणी।

बंकिमचन्द्र और कुछ समय बाद मधुसूदन दत्त व रमेशचन्द्र दत्त अथवा हरि नारायण आप्टे और सी० एस० नरसिंहम् की प्रमुख प्रेरणा थी—यूरोपीय साहित्य की समकालीन रूमानी प्रवृत्ति। सभीने गरीबी और गुलामी के वर्तमान के सामने भारत का सुखद और गौरवपूर्ण अतीत प्रस्तुत किया और देश में राष्ट्रीयता की भावना जगाई। स्काटलैंड में वाल्टर स्काट पोलैंड म सीकिविच और चेकोस्लोवाकिया म जिरासिक ने ठीक यही किया था। किन्तु शीघ्र ही ऐतिहासिक उपन्यासों का स्थान सामाजिक उपन्यासों

सेवा में संलग्न एक बहुप्रशंसित और अत्यधिक प्रिय सहयोगी' कहा था। राममोहन ने प्रचलित हिन्दूधर्म की मूर्तिपूजा और अन्धविश्वास की भर्त्सना की तथा उपनिषदों और वेदान्त के पवित्र धर्म के आधार पर 'ब्रह्मसभा' की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य था "उस शाश्वत अगम और अविनाशी ईश्वर की पूजा और उपासना जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड का सर्जक और पोषक है। हिन्दूधर्म को अनेक विकृतियों की सूखे शब्दों में भर्त्सना करने के साथ-साथ उन्होंने ईसा के ईश्वर पुत्र होने की बात तथा बाइबिल में वर्णितउनके अनेक चमत्कारों की प्रामाणिकता को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध संघर्ष किया तथा सक्षम और सच्चरित्र स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन किया। उन्हींके सहयोग से लॉर्ड विलियम बेंटिक ने सती प्रथा को अवैधानिक घोषित करने का साहसपूर्ण कदम उठाया। उन्होंने प्रेस की स्वतन्त्रता और बाम्बा फौजदारी के संहिताकरण का समर्थन किया तथा अंग्रेजों द्वारा लागू भूमि-व्यवस्था को अन्यायपूर्ण और अनुचित ठहराया।

शिक्षा के क्षेत्र में राममोहन ने बहुविख्यात 'याचिका' लिखी अधिकांशतः जिसके बल पर अन्तिम निर्णय लिया गया कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारत में पश्चिमी शिक्षा दी जाए। उन्होंने तर्क पेश किया था कि प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए अंग्रेजी आवश्यक है—यह उनकी सुदूरदर्शिता का प्रमाण है। उन्होंने लिखा था "यदि अंग्रेजी राष्ट्र को वास्तविक ज्ञान से अनभिज्ञ रखना होता तो तार्किकों की प्रणाली (जो अज्ञान के प्रसार के लिए बनाई गई थी) का स्थान बेकन के दर्शन ने न ले लिया होता। ठीक उसी प्रकार यदि अंग्रेजी विधानसभा की नीति अज्ञान का पोषण करना होती तो उसके लिए संस्कृत की शिक्षा-प्रणाली सर्वोपयुक्त थी। किन्तु सरकार का उद्देश्य चूंकि देशी जनता का विकास करना है, इसीलिए वह क्रमशः शिक्षा की अधिक उदार और प्रबुद्ध नीति अपनाएगी। उदार अंग्रेजी शिक्षा में अपने अटल विश्वास के साथ राममोहन ने सिफारिश की कि सरकार के उच्चतम पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की जाए। अधिकांशतः उन्हींके प्रभाव का फल था कि १८३३ का चार्टर ऐक्ट पास हो सका जिसके द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापारिक रूप समाप्त हो गया और उच्चतम पदों पर भारतीयों की नियुक्ति वैधानिक हो गई।

राममोहन संस्कृत फारसी अरबी अंग्रेजी ग्रीक और हिब्रू भाषाओं के ज्ञाता थे इस कारण वे भारतीय राष्ट्रीयतावाद जिसने उनकी मृत्यु के लगभग पचास वर्ष बाद एक प्रभावशाली आन्दोलन का रूप धारण कर लिया) के ही नहीं वरन् बीसवीं शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के भी सच्चे मसीहा थे। राजा राममोहन का मानवमात्र के भाई चारे के सम्बन्ध में यह तर्क कितना मनोरंजक है अब तो सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि केवल धर्म से ही नहीं बल्कि पक्षपातरहित सामान्य ज्ञान तथा वैज्ञानिक खोजों के पुष्ट निष्कर्षों से भी यही परिणाम निकलता है कि मानवमात्र का एक विशाल परिवार है तथा अनेक राष्ट्र और जातियां उसी परिवार की शाखाएं मात्र हैं। यही कारण है कि सभी देशों के प्रबुद्ध व्यक्तियों को महसूस होता है कि यथासंभव सारी बाधाओं को दूर करके प्रत्येक प्रकार के मानवीय संसर्ग को प्रोत्साहित किया जाए तथा

सुविधा प्रदान की जाए, ताकि सम्पूर्ण मानव-जाति को परस्पर लाभ तथा सुख मिले।"

आधुनिक भारतीय कथा-साहित्य के जनक बंकिमचन्द्र

जिस युग में ब्रिटेन में उदारतावाद और व्यक्तिवाद की विजय हुई दासप्रथा का उन्मूलन हुआ दूरव्यापी सामाजिक अधिनियम बने तथा वेस्ली कार्लाइल और न्यूमैन से सम्बद्ध धार्मिक पुनरुत्थान हुआ उसी युग में १८३४ में मैकाले द्वारा तैयार किए गए शिक्षा-सम्बन्धी प्रसिद्ध मसविदे के आधार पर भारत में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का तेजी से प्रसार हुआ। अंग्रेजी शिक्षा ने विभिन्न प्रान्तों और धर्मों को जिनकी अपनी अलग-अलग भाषाएं थीं एकसूत्र में पिरोया और साथ ही प्रान्तीय साहित्यों को नये मूल्य तथा अभिव्यक्ति के नये आदर्श प्रदान किए। इस प्रकार सभी प्रान्तीय साहित्यों ने अपने आधुनिक युग में प्रवेश किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के सबसे महान साहित्यकार थे आधुनिक भारतीय कथा-साहित्य के जनक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (१८३८—१८९४)। उनके उपन्यासों ने बंगला के साथ-साथ सभी भारतीय साहित्यों में नवजीवन का संचार किया। बंकिम पर अंग्रेजी रोमांटिक आन्दोलन का गहन प्रभाव पड़ा था। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में उन्होंने अतीत को जीवन दिया तथा सम्पूर्ण मानवीय भावनाओं के साथ विदेशी अत्याचारों के विरुद्ध हिन्दुओं की वीरता का गुणगान किया। इससे भारतीय जनता के सामने सौन्दर्य और कल्पना का एक नया क्षेत्र खुल गया और उनकी राष्ट्रीय भावना भी जागरित हुई। अपने सामाजिक उपन्यासों में भी बंकिम ने अत्यन्त कोमल और सोत्साह शब्दावली में बन्ध्य वैवाहिक असंगति और शारीरिक विकार की समस्याओं को उठाया है। उनकी सभी कृतियों में उनके नायक-नायिकाओं दिन-प्रतिदिन की घटनाओं और भारतीय सम्बन्धों सभी में एक दूसरे संसार की दीप्ति परिव्याप्त है, जहां कापालिक भैरवी और फकीर तथा स्वप्न अपने-अपने पाट अदा करते हैं। उनका 'आनन्दमठ' जिसकी आधार भूमि १७६९—७० का बंगाल का भीषण अकाल तथा १७७२ का संन्यासी-विद्रोह है और जिसका कथानक राजनीतिक क्रान्ति है, अपने समय से बहुत आगे था और तब से आज तक उसे क्रान्तिकारी आन्दोलन की 'इंजील' समझा जाता है। इसीमें भारतीय 'राष्ट्रीयतावाद' का विख्यात गीत 'वन्दे मातरम्' है। यह गीत मां काली के लिए है और काली को भारतमाता की आत्मा के अनेक रूपों का प्रतीक माना गया है—गरीब और कृश अमृतविलासिनी और फलदायिनी किन्तु सदैव सुन्दर और शक्तिमती तथा अपने लाखों पुत्र-पुत्रियों की आस्था और बलि की आकांक्षिणी।

बंकिमचन्द्र और कुछ समय बाद मधुसूदन दत्त व रमेशचन्द्र दत्त अथवा हरि नारायण आप्टे और सी॰ एस॰ नरसिंहम् की प्रमुख प्रेरणा थी—यूरोपीय साहित्य की समकालीन रूमानी प्रवृत्ति। सभीने गरीबी और गुलामी के वर्तमान के सामने भारत का सुखद और गौरवपूर्ण अतीत प्रस्तुत किया और देश में राष्ट्रीयता की भावना जगाई। स्काटलैंड में वाल्टर स्काट पोलैंड में सीनकिविच और चेकोस्लोवाकिया में जिरासिक ने ठीक यही किया था। किन्तु शीघ्र ही ऐतिहासिक उपन्यासों का स्थान सामाजिक उपन्यासों

ने भी लिया यद्यपि ये प्रयास अधिक सफल न हुए। बंगला में बंकिमचन्द्र और तारकनाथ गांगुली तेलुगु में वरदसिनम् मराठी में आप्टे और कारेकर हिन्दी में किशोरीलाल गोस्वामी प्रमुख उपन्यासकार थे। अन्य साहित्यों में दूसरे उपन्यासकार थे। सामाजिक उपन्यासों की असफलता का एक बड़ा कारण था भारतीय सामाजिक वातावरण की सीमितता जिसमें जाति और परिवार के दृढ़ बंधन प्रचलित थे और ये बंधन फ्रांसीसी और अमरीकी क्रान्तियों के फलस्वरूप प्राप्त स्वाधीनता और समानता के नए विचारों से कतई मेल न खाते थे। अनेक सामाजिक उपन्यासों में (फिर चाहे वे महान उपन्यासकारों द्वारा क्यों न रचित हों) उच्च-मध्यवर्ग की संकीर्ण पुरातनवादी प्रवृत्तियों के कारण कुंठित नैतिकता और आचारसंहिता के सामने किसी पात्र की सम्पूर्णता अथवा किसी परिस्थिति के स्वाभाविक विकास क्रम तथा अंग्रेजी उदारतावाद और व्यक्तिवाद का भी बलिदान कर दिया जाता था। पुराने सड़े-गले सामाजिक रीति-रिवाजों और आधुनिक बुराइयों की धज्जियां उड़ानेवाले नाटक सामाजिक व्यंग्य भी लिखे गए, और इन्होंने क्रमशः पुराने पौराणिक कथानकों का स्थान ले लिया। उदाहरणतः बंगला में गिरीशचन्द्र मराठी में विष्णुदास भावे और हिन्दी में हरिश्चन्द्र ने पहले-पहल पौराणिक नाटक लिखे। गिरीश घोष क्षीरोद विद्याविनोद और द्विजेन्द्रलाल राय तथा किरलाने के ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता हुई किन्तु सामाजिक नाटक और व्यंग्य (उदाहरणतः अमृतलाल बसु और एस॰ मुदलियार रचित) जो जनता को हंसा-रुला दोनों सकते थे प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य में अधिक प्राणवान और ओजस्वी बन गए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव

सभी भारतीय साहित्यों की कविता का सर्वाधिक विशिष्ट स्वर है रूमानी उत्साह व आवेग तथा एक अतिरंजित भावुकता। काव्य के क्षेत्र में ये विशिष्टताएं स्वयं को परम्परागत आध्यात्मिक उपासनात्मक मुद्रा और संदर्भ से अलग रख सकी हैं। यूरोपीय प्रकृति-काव्य का भी सम्यक हृदयंगम और परिपाक हुआ है किन्तु विभिन्न प्रान्तों की कविता पर इससे कहीं अधिक सक्षम प्रभाव पड़ा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रूमानियत तथा धरती माता एवं प्रकृति की सुन्दरता और समृद्धि (ऋतु-परिवर्तन और दिन-रात का चक्र) के प्रति उनके गहन प्रेम का (यह वास्तव में वाल्मीकि की परम्परा ही थी)। रवीन्द्र के काव्य में प्रकृति-प्रेम मानव और संसार प्रेम तथा ईश्वर-प्रेम वास्तव में सम्पूर्ण ब्रह्मांड में परिव्याप्त असीम ईश्वर की एक ही तीव्र अनुभूति की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। रवीन्द्र की प्रौढ़ गीतिमयता अथवा रहस्यमिक कविता बंगाल तथा अन्य प्रान्तों में एक आदर्श बन गई तथा इसने यथार्थ आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को प्रेरित किया अब यह दूसरी बात है कि रवीन्द्र की मूल बंगला की विशिष्ट चमत्कारकता तथा सात्विक यथार्थता उनमें न हो। उनके उपन्यासों और कहानियों में सामाजिक असमानता के प्रति तीव्र आक्रोश और सामाजिक अन्याय व जातिप्रथा द्वारा उत्पीड़ित व्यक्तियों के प्रति गहन समवेदना की अभिव्यक्ति है इससे प्रेरणा लेकर अन्य साहित्यकार भी काव्य नाटक और कथा-साहित्य में सामाजिक समस्याओं को उठाने लगे। बंगाल तथा अन्य प्रान्तों में साहित्यिक अभिव्यक्ति को एक

नई दिशा मिली—ग्रामीण लोक-काव्य में जो प्राचीन वीरकाव्यों व लोकगीतों से उल्लेखित है तथा सबहारा कथासाहित्य में, जिसमें जनसाधारण की बोली का प्रयोग होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक धार्मिक ग्रान्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के चरण और आगे बढ़े तो भारत पर इंग्लैंड की सामाजिक विजय को विभिन्न क्षेत्रों में चुनौतियां मिलीं। ईसाई धर्मप्रचारकों के साथ शास्त्रार्थों और समाज-सुधार की सक्रिय योजनाओं ने लोगों में भारतीय सामाजिक जीवन तथा संस्थाओं (विशेषतः जाति, परिवार और धर्म) के अध्ययन के प्रति रुचि जागरित हुई। बंगाल में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय भूदेवचन्द्र मुखोपाध्याय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और अक्षय कुमार दत्त तथा पश्चिमी भारत में बी० एल० मलाबारी महादेव गोविन्द रानडे और आर० जी० भंडारकर जैसे प्रभावशाली लेखकों ने भारतीय सामाजिक संस्थाओं का पुनर्मूल्यांकन किया पश्चिमी रीतियों का विरोध किया तथा अतीत के सामाजिक मूल्यों और आदर्शों की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की। कुछ उदार अंग्रेज प्रशासकों ने प्राचीन संस्थाओं और जातीय सिद्धान्तों के अभिसंघन का विरोध किया तथा अंग्रेजों की कानूनी और प्रशासनिक नीति की तीव्र आलोचना की। मेटकाफ और मेन (भारत के ग्रामीण समाज के मामलों से सम्बद्ध) अल्फेड ल्याल (कबायली कानून और प्रशासन से सम्बद्ध) और मनरो (शिक्षा की विभिन्न समस्याओं से सम्बद्ध) ऐसे ही अंग्रेज थे। सुधार और सेवा के उद्देश्य लेकर कम से कम चार सामाजिक धार्मिक आन्दोलन हुए। प्रत्येक ने प्राचीन परम्परा और मूल्यों के साथ पश्चिमी सभ्यता का सामंजस्य बिठाकर सामाजिक समायोजन को सामने रखा तथा इस उद्देश्य से प्राचीन परम्परा और मूल्यों की पुनर्व्याख्या की। वे आन्दोलन थे ब्रह्मसमाज जिसके नेता ठाकुर परिवार के लोग तथा केशवचन्द्र सेन थे आर्यसमाज जिसके अगुआ दयानन्द सरस्वती थे थियोसाफिकल सोसायटी जिसकी नेत्री एनी बेसेंट थी तथा स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में रामकृष्ण मिशन। बंगाल में राजनीतिक और क्रान्तिकारी आन्दोलन एक प्रकार के राष्ट्रीय आदर्शवाद से संतृप्त थे। लोक-संस्कृति ग्रामीण जीवन और संस्थाओं लोकगीतों और कला कौशलों में जनसमाज की रुचि इसी राष्ट्रीय आदर्श की अभिव्यक्ति थी।

राष्ट्रवाद के पहलू

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (१८४८–१९२५) के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीयता की भावना को इन सब आन्दोलनों ने अधिक गंभीरता और आध्यात्मिकता प्रदान की तथा एक उच्चतर, अधिक आदर्शात्मक स्वर उत्पन्न किया—जैसा स्वर इटली में मैज़िनी और बेकोसलोवाकिया में मसारिक का था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी विलक्षण वक्तृत्व शक्ति और विधान बोध जैसे अद्वितीय उपादानों को जीवन भर के लिए राष्ट्र के हित में लगा दिया। बनर्जी की तुलना बर्क अथवा ग्लैडस्टोन से की जाती है। उनके आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय राजनीति का जन्म हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पहली

टोकियो और रोम से सिंगापुर तक सारा संसार जान जाता। उन्होंने १९४३ में रास बिहारी बोस की सहायता से जापान में एक आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की। सुदूर पूर्व में रहनेवाले लगभग २० लाख भारतीयों ने इस सरकार के प्रति वफादारी की शपथ ली तथा धुरी राष्ट्रों ने इसे मान्यता दी। अंग्रेजों को हटाकर भारत की राजधानी दिल्ली के पुराने लाल किले पर तिरंगा झंडा फहराना इस सरकार का दृढ़ निश्चय था। इसीलिए इसके नारे थे—'जयहिंद' और 'दिल्ली चलो'। अंडमान और निकोबार तथा आजाद हिन्द फौज द्वारा विजित भारतीय प्रदेश (जिसमें कोहिमा मणिपुर और विष्णुपुर, जिनका क्षेत्रफल लगभग १५,००० मील था शामिल थे) पर इस सरकार का शासन था। जापान की पराजय के बाद आजाद हिन्द फौज के प्रमुख अफसरों को कैद करके भारत लाया गया और दिल्ली के लाल किले में उनपर मुकदमा चला। इस मुकदमे से क्रान्तिकारी शक्तियों को तो बल मिला ही साथ ही तीनों सेनाओं के जवानों में भी बेहद असन्तोष और मन मुटाव पैदा हो गया। महात्मा गांधी और उनके सहयोगी कांग्रेस नेताओं को जेल में बन्द कर देने पर हुई १९४२ की अगस्त क्रान्ति आजाद हिन्द फौज के प्रति भारतीय जनता की सहानुभूति १९४५ और १९४६ में बम्बई, कराची और मद्रास के नौसैनिक विद्रोह (इसी बीच बंगाल का भयानक अकाल पड़ा जिसमें ३१ लाख व्यक्तियों को जान से हाथ धोना पड़ा) ने आखिरकार अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर बाध्य कर दिया—और राष्ट्र पिता के नेतृत्व में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने यही नारा तो लगाया था 'अंग्रेजो भारत छोड़ो'।

गणतन्त्रात्मक समाजवाद

अंग्रेजों की सहमति से और रक्तपात के बिना भारत ने अपनी स्वाधीनता १५ अगस्त १९४७ को प्राप्त की। स्वाधीनता के साथ-साथ कुछ अनिवार्य राजनीतिक और आर्थिक समस्याएं भी सामने आईं। देश का विभाजन एक दुर्भाग्य था क्योंकि ऐसा होने से उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी सीमावर्ती प्रदेश असुरक्षित हो गए। सिंधु नदी के पार उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती प्रदेश की कमजोरी अथवा काबुल सिंधु घाटी पंजाब और काश्मीर पर विदेशी अधिकार ऐसे कारण हैं जिनके बल पर इतिहास में अनेक बार देश का विघटन हुआ है और उसकी सभ्यता की निरन्तरता टूटी है। विभाजन और भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण इसलिए है क्योंकि दोनों पड़ोसियों में जिन्होंने भारतीय इतिहास के दीर्घ उतार चढ़ाव सहित प्रवाह में कंधे से कंधा मिलाकर स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया था परस्पर अनबन है तथा विभाजनोपरान्त लगभग ६० लाख हिन्दू शरणार्थियों के रूप में भारत आए थे। भारत के भीतर, सरदार वल्लभभाई पटेल की दूरदर्शिता और नीतिज्ञता के कारण लगभग ६०० देशी रियासतें—जो सामन्तवाद निरंकुशता और सामाजिक प्रतिगामिता की गढ़ थीं—भारतीय संघ में मिला ली गईं। फलस्वरूप देश अब जितना विस्तृत और शक्तिशाली हो गया है उतना अनेक साम्राज्यों के काल में न था। रियासतों अथवा मध्ययुगीन और आधुनिक अथवा गणतन्त्रात्मक भारत के एकरूप होने से राष्ट्रीय शक्ति और आर्थिक आयोजना और विकास में बहुत सहायता मिलेगी।

गणतन्त्र का संविधान १६५० में लागू किया गया था। इसके उद्देश्य हैं एक धर्म निरपेक्ष राज्य म गरीबी से मुक्ति, जनसामान्य के जीवन-स्तर का सुधार, साम्प्रदायिक एकता और अस्पृश्यता का निवारण। इन उद्देश्यों की पूर्ति केवल गणतन्त्रात्मक समाजवाद द्वारा सम्भव है और गणतन्त्रात्मक समाजवाद का अर्थ है—जमीन के बन्दोबस्त का सुधार जिसमें राज्य और किसानों के बीच कोई मध्यस्थ न हो तथा प्रमुख व बुनियादी उद्योगों तथा नौकरियों का राष्ट्रीयकरण। श्री जवाहरलाल नेहरू इस आन्दोलन के प्रति आस्थावान नेता और इसके व्याख्याता थे। वस्तुतः यही आन्दोलन भारतीय कृषक-गणराज्य का निर्माण करने और भारत की कृषि-सभ्यता के मूल्यों और गुणों को सुरक्षित रखने तथा विकसित करने में सक्षम है। श्री नेहरू की उद्घोषणा थी "हमारा अन्तिम लक्ष्य है एक वर्गहीन समाज की स्थापना जिसमें किसी भी प्रकार की आर्थिक विषमता और अन्याय न होगा तथा सभी को समान सुविधाएं और अवसर प्राप्त होंगे। मध्यवर्ग के सदस्यों ने ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का निर्माण किया और अन्ततः अंग्रेजों के हाथ से शक्ति छीन ली। अब उनकी सम्पत्ति और महत्त्वाकांक्षा से नहीं वरन् उनकी दूरदर्शिता और आत्मत्याग से ही एक पुराने समाज द्वारा प्रदत्त कठिन समस्याओं—सामन्तवादी तत्त्व जाति-व्यवस्था और धार्मिक विभेद—को दूर किया जा सकता है। ऐसी समस्याएं अन्ततः राजनीतिक से अधिक आर्थिक और आर्थिक से अधिक सामाजिक सिद्ध होती हैं। श्री नेहरू के नेतृत्व में एक ओर सत्ता अप्रत्यक्ष रूप से कांग्रेस से हटकर पार्लियामेंट और मन्त्रिमण्डल के पास पहुंच जाती है और दूसरी ओर पार्टी के कार्यक्रम से अधिक महत्त्व आर्थिक योजना को तथा आर्थिक कल्याण से अधिक महत्त्व मूलभूत सामाजिक न्याय को दिया जाने लगा है। आज के इस विशाल भारतीय राजनीतिक प्रयोग का उद्देश्य है एक स्वतन्त्र समाज के भीतर एक नवीन आर्थिक और सामाजिक समानता की स्थापना।

धर्म का प्राचीन आदर्श

मनुष्य के दैवत्व और ईश्वर की मानवीयता की प्राचीन और वेदान्ती धारणा ही भारत की सामाजिक समता के उद्गम का स्रोत है। दर्शन ने मानवमात्र के कार्य व्यापारों को हमेशा प्रभावित किया है। सदियों अथवा सहस्राब्दियों से यही होता आ रहा है। भारत में उपनिषदों और वेदान्त के दर्शन (८० –२०० ईसापूर्व) ने जिसमें बुद्ध का वेदान्ती दर्शन (५६३–४८३ ईसापूर्व) भी सम्मिलित है, तथा चीन में कन्फ्यूशियस (५५१–४७६ ईसापूर्व) के दर्शन ने ढाई हजार वर्षों तक क्रमशः भारत और चीन के इतिहास को स्वरूप दिया है। सुकरात प्लेटो और अरस्तू (४००–३२२ ईसापूर्व) के दर्शन का प्रभाव लगभग इसी अवधि स पश्चिमी सभ्यता पर है। इसके अतिरिक्त हीगेल (१७७ –१८३१ ईस्वी) के दर्शन तथा उसकी एक शाखा मार्क्सवाद का पश्चिम पर प्रभाव अभी केवल लगभग एक शताब्दी से है। हीगेल ने अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली प्रस्तुत की जिसके अनुसार द्वन्द्व नियमवाद प्रतिवाद और समन्वय द्वारा अग्रसर होता है। मार्क्स ने अपने उद्देश्यों के लिए हीगेल के दर्शन को स्वीकार किया जिससे समकालीन पश्चिमी संसार में

टोकियो और रोम से सिंगापुर तक सारा संसार छान मारा। उन्होंने १९४३ में रास-बिहारी बोस की सहायता से जापान में एक आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की। सुदूर पूर्व में रहनेवाले लगभग २० लाख भारतीयों ने इस सरकार के प्रति वफादारी की शपथ ली तथा धुरी राष्ट्रों ने इसे मान्यता दी। अंग्रेजों को हटाकर भारत की राजधानी दिल्ली के पुराने लाल किले पर तिरंगा झंडा फहराना इस सरकार का दृढ़ निश्चय था। इसीलिए इसके नारे थे—'जयहिंद' और 'दिल्ली चलो'। अंडमान और निकोबार तथा आजाद हिन्द फौज द्वारा विजित भारतीय प्रदेश (जिसमें कोहिमा मणिपुर और विष्णुपुर, जिनका क्षेत्रफल लगभग १५,००० मील था शामिल थे) पर इस सरकार का शासन था। जापान की पराजय के बाद आजाद हिन्द फौज के प्रमुख अफसरों को कैद करके भारत लाया गया और दिल्ली के लाल किले में उनपर मुकदमा चला। इस मुकदमे से क्रान्तिकारी शक्तियों को तो बल मिला ही साथ ही तीनों सेनाओं के जवानों में भी बेहद असन्तोष और मन मुटाव पैदा हो गया। महात्मा गांधी और उनके सहयोगी कांग्रेस नेताओं को जेल में बन्द कर देने पर हुई १९४२ की अगस्त क्रान्ति आजाद हिन्द फौज के प्रति भारतीय जनता की सहानुभूति १९४५ और १९४६ में बम्बई, कराची और मद्रास के नौसैनिक विद्रोह (इसी बीच बंगाल का भयानक अकाल पड़ा जिसमें ३३ लाख व्यक्तियों को जान से हाथ धोना पड़ा) ने आखिरकार अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर बाध्य कर दिया—और राष्ट्र पिता के नेतृत्व में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने यही नारा तो लगाया था 'अंग्रेजो भारत छोड़ो'।

गणतन्त्रात्मक समाजवाद

अंग्रेजों की सहमति से और रक्तपात के बिना भारत ने अपनी स्वाधीनता १५ अगस्त १९४७ को प्राप्त की। स्वाधीनता के साथ-साथ कुछ अनिवार्य राजनीतिक और आर्थिक समस्याएं भी सामने आईं। देश का विभाजन एक दुर्भाग्य था क्योंकि ऐसा होने से उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी सीमावर्ती प्रदेश असुरक्षित हो गए। सिंधु नदी के पार उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती प्रदेश की कमजोरी अथवा काबुल सिंधु घाटी, पंजाब और काश्मीर पर विदेशी अधिकार ऐसे कारण हैं जिनके बल पर इतिहास में अनेक बार देश का विघटन हुआ है और उसकी सभ्यता की निरन्तरता टूटी है। विभाजन और भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण इसलिए है क्योंकि दोनों पड़ोसियों में जिन्होंने भारतीय इतिहास के दीर्घ उतार चढ़ाव सहित प्रवाह में कंधे से कंधा मिलाकर स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया था परस्पर अनबन है तथा विभाजनोपरान्त लगभग ६० लाख हिन्दू शरणार्थियों के रूप में भारत आए थे। भारत के भीतर, सरदार वल्लभभाई पटेल की दूरदर्शिता और नीतिज्ञता के कारण लगभग ६ देशी रियासतें—जो सामन्तवाद निरंकुशता और सामाजिक प्रति गामिता की गढ़ थीं—भारतीय संघ में मिला ली गईं। फलस्वरूप देश अब जितना विस्तृत और शक्तिशाली हो गया है उतना अनेक साम्राज्यों के काल में न था। रियासती अथवा मध्ययुगीन और आधुनिक अथवा गणतन्त्रात्मक भारत क एकरूप होने से राष्ट्रीय शक्ति और आर्थिक आयोजना और विकास में बहुत सहायता मिलेगी।

गणतन्त्र का संविधान १९५० में लागू किया गया था। इसके उद्देश्य हैं एक धर्म निरपेक्ष राज्य में गरीबी से मुक्ति, जनसामान्य के जीवन-स्तर का सुधार, साम्प्रदायिक एकता और अस्पृश्यता का निवारण। इन उद्देश्यों की पूर्ति केवल गणतन्त्रात्मक समाजवाद द्वारा सम्भव है और गणतन्त्रात्मक समाजवाद का अर्थ है—जमीन के बन्दोबस्त का सुधार जिसमें राज्य और किसानों के बीच कोई मध्यस्थ न हो तथा प्रमुख व बुनियादी उद्योगों तथा नौकरियों का राष्ट्रीयकरण। श्री जवाहरलाल नेहरू इस आन्दोलन के प्रति आस्थावान नेता और इसके व्याख्याता थे। वस्तुतः यही आन्दोलन भारतीय कृषक-गणराज्य का निर्माण करने और भारत की कृषि-सभ्यता के मूल्यों और गुणों को सुरक्षित रखने तथा विकसित करने में समर्थ है। श्री नेहरू की उद्घोषणा थी 'हमारा अन्तिम लक्ष्य है एक वर्गहीन समाज की स्थापना जिसमें किसी भी प्रकार की आर्थिक विषमता और अन्याय न होगा तथा सभी को समान सुविधाएं और अवसर प्राप्त होंगे। मध्यवर्ग के सदस्यों ने ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का निर्माण किया और अन्ततः अंग्रेजों के हाथ से शक्ति छीन ली। अब उनकी सम्पत्ति और महत्त्वाकांक्षा से नहीं वरन् उनकी दूरदर्शिता और आत्मत्याग से ही एक पुराने समाज द्वारा प्रदत्त कठिन समस्याओं—सामन्तवादी तत्त्व जाति-व्यवस्था और धार्मिक विभेद—को दूर किया जा सकता है। ऐसी समस्याएं अन्ततः राजनीतिक से अधिक आर्थिक और आर्थिक से अधिक सामाजिक सिद्ध होती हैं। श्री नेहरू के नेतृत्व में एक ओर सत्ता प्रच्छन्न रूप से कांग्रेस से हटकर पार्लियामेंट और मन्त्रिमण्डल के पास पहुंच जाती है, और दूसरी ओर पार्टी के कार्यक्रम से अधिक महत्त्व आर्थिक योजना को तथा आर्थिक कल्याण से अधिक महत्त्व मूलभूत सामाजिक न्याय को दिया जाने लगा है। आज के इस विशाल भारतीय राजनीतिक प्रयोग का उद्देश्य है एक स्वतन्त्र समाज के भीतर एक नवीन आर्थिक और सामाजिक समानता की स्थापना।

धर्म का प्राचीन आदर्श

मनुष्य के देवत्व और ईश्वर की मानवीयता की प्राचीन और वेदान्ती धारणा ही भारत की सामाजिक समता के उद्देश्य का स्रोत है। दर्शन ने मानवमात्र के कार्य व्यापारों को हमेशा प्रभावित किया है। सदियों बल्कि सहस्राब्दियों से यही होता आ रहा है। भारत में उपनिषदों और वेदान्त के दर्शन (८००-५०० ईसापूर्व) ने जिसमें बुद्ध का वेदान्ती दर्शन (५६३-४८३ ईसापूर्व) भी सम्मिलित है, तथा चीन में कन्फ्यूशियस (५५१-४७९ ईसापूर्व) के दर्शन ने ढाई हजार वर्षों तक क्रमशः भारत और चीन के इतिहास को स्वरूप दिया है। सुकरात प्लेटो और अरस्तू (४७०-३२२ ईसापूर्व) के दर्शन का प्रभाव लगभग इसी अवधि से पश्चिमी सभ्यता पर है। इसके अतिरिक्त, हीगेल (१७७०-१८३१ ईस्वी) के दर्शन तथा उसकी एक शाखा मार्क्सवाद का पश्चिम पर प्रभाव अभी केवल लगभग एक शताब्दी से है। हीगेल ने अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली प्रस्तुत की जिसके अनुसार द्वन्द्व नियमवाद, प्रतिवाद और समन्वय द्वारा अग्रसर होता है। मार्क्स ने अपने उद्देश्यों के लिए हीगेल के दर्शन को स्वीकार किया जिससे समकालीन पश्चिमी संसार में

कालान्तर में साम्यवाद की राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक नीति प्रेरित हुई। भारत में भी मूल वेदान्ती धारणा का रूपान्तरण एक सामाजिक सन्दर्भ में, 'कर्म के कौशल' में हुआ (योगः कर्मसु कौशलम्)। क्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कारण विश्वव्यापी क्रान्तियाँ और युद्ध होंगे? अथवा क्या मानव-मस्तिष्क की वेदान्त अध्यात्म की यथार्थ द्वन्द्वात्मकता—जिसके बल पर विचारों का अन्तर्मन्थन अधिक होता है, उनकी सत्यता और मूल्य की अनुभूति अधिक गहराई से होती है, और फलस्वरूप बोधशक्ति क्रमशः अधिक व्यापक तथा गम्भीर हो जाती है तथा अन्ततः ईश्वर का ज्ञान होने लगता है—मानवता को शान्ति सहयोग और सद्भावना के मार्ग पर ले जाएगी?

आध्यात्मिक समानता पर आधारित धर्म के एक अत्यन्त विलक्षण और प्राचीन सिद्धांत का निरूपण बृहदारण्यक उपनिषद् की 'मधुविद्या' में है। "धर्म जो समस्त ब्रह्माण्ड समाज मानवमात्र और उसके अंग प्रत्यंग का निर्देशन करता है जिसका अभ्यास लोगों द्वारा किया जाता है और जो राजाओं तक को शासित करता है, समस्त जीवों का मधु और समस्त जीव उसके मधु हैं। शाश्वत देदीप्यमान धर्मगत आत्मब्रह्म इसी धर्म से जन्मा है। वह तुम्हारे भीतर है। वह तुम्हारा आत्म है अमर और सम्पूर्ण।

प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में उपस्थित शाश्वत और अनश्वर धर्म ही समय-समय पर समाज के नियमों-उपनियमों का निर्धारण करता है। सामाजिक नियम तो लोकोत्तर-शाश्वत सिद्धान्तों के अस्थायी और नश्वर वस्त्र-मात्र हैं। किन्तु जीवन और समाज में उनकी उपस्थिति के बिना व्यक्ति अथवा समाज को मधु की प्राप्ति नहीं होती। आधुनिक समाज के लिए, जिसका उद्देश्य समानता का ढांचा स्थापित करना है सत्य के रूप में धर्म की धारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह सम्पूर्ण संसार में परिव्याप्त है और उसका नियमन करती है।

बुद्ध पृथ्वी पर जन्म लेनेवाले शायद महानतम मानव तथा भारतीय धर्म और समाज के सर्वोत्कृष्ट उद्धारक और नवीकर्ता थे। उन्होंने 'संयुत्त-निकाय' में कहा है कि "जिस धर्म के उपदेश मैं देता हूं वह एक पुरातन मार्ग पर चलने और किसी पुराने वैभवशाली किन्तु अब ध्वस्त नगर के अन्वेषण और पुनर्निर्माण के समान है।"

इतिहास उस प्राचीनमार्ग विस्मृत नगर तथा ईश्वरके विनष्ट प्रासाद—जिनका उपभोग बीते युग के निवासी और विचारक कर चुके हैं—की खोज तथा वर्तमान पीढ़ी के लिए उनके पुनर्निर्माण (ताकि जीवन अधिक समृद्ध और श्रेष्ठ बन सके) का ही नाम है। इतिहास किसी देश के सर्वव्यापी अनश्वर धर्म तथा अतीत वर्तमान और भविष्य के आरपार उसके एकत्व के पुनरनुसंधान का नाम है। मानव के गुणों का समावेश धर्म में होता है तो वह इसी अस्थायी ऐन्द्रिय संसार का बन जाता है। इतिहास के आरपार और उससे परे वह अनश्वर धर्म है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति देश और मानवमात्र के कर्त्तव्यों और अधिकारों से है। धर्म किसी राष्ट्र के ऐतिहासिक युगों में ही नहीं बरन् संसार के विभिन्न राष्ट्रों में भी सभ्यता के व्यापक सम्मिलित प्रसार द्वारा एकसूत्रता स्थापित करता है।

समापन

देश और धर्म का ऐक्य

अनेकानेक शताब्दियों के दौरान भारत का मूलभूत ऐतिहासिक आधार रहा है देश धर्म है और धर्म देश। जिन युगों में हमारे देश पर विदेशियों के आक्रमण हुए, उन युगों में इस आदर्श पर विशेष ज़ोर दिया गया। यह ऋग्वेदकालीन आर्यों की भारत को एक पुण्यवान देश है। मूलभूत धारणाएं हैं 'भारत' और धर्म एकात्म हैं तथा इतिहास के उतार-चढ़ाव के बावजूद न तो धर्म का नाश होता है और न उसके देश का। इन्हीं धारणाओं के बल पर अनेक शताब्दियों के दौरान राजनीतिक संकट और पराजय के समय में भी देशवासियों का विश्वास कायम रहा है। गुप्तवंश के समृद्धिशाली काल में पौराणिक कथाओं और प्रतिष्ठापनों ने इन धारणाओं को और अधिक बल प्रदान किया। देश का नाम 'भारत' भी एक पौराणिक कथा के आधार पर पड़ा है। भारत पर होनेवाले आक्रमण विशाल हिमखंडों के समान न थे जो प्रत्येक राज्य संस्था और संस्कृति का विनाश कर देते। यही कारण है कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त आक्रमणीय होने के बावजूद हमारे देश में यूरोपीय नमूने की जातीयता और राष्ट्रीयता का विकास नहीं हुआ। कुल मिलाकर आक्रमण और जातियों के स्थानान्तरण जितने स्पष्ट यूरोप के इतिहास में हैं उतने भारत के इतिहास में नहीं।

इतिहास में अनेक बार ऐसे अवसर आए हैं जब कन्धार से कश्मीर और पेशावर से समरकन्द तक का उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश भारत से अलग हो गया है और जब भी ऐसा हुआ है तभी भारत की शान्ति और एकता के लिए संकट आ पड़ा है। इसके विपरीत जब कभी मध्य-एशिया के व्यापार मार्गों पर भारत का नियंत्रण रहा है तब भारतीय संस्कृति धर्म और व्यापार ने मध्य एशिया और चीन को अत्यधिक प्रभावित किया है। पर्वतों और रेगिस्तानों के आरपार फैली इन सड़कों द्वारा ही भारत चीन ईरान और पश्चिमी एशिया के धर्म और कला ने परस्पर अत्यन्त सशक्त ढंग से किन्तु शान्तिपूर्वक एक-दूसरे को प्रभावित किया। इसी दौरान गर्म उपजाऊ देशों में सम्पत्ति और आराम की तलाश करनेवाले सूखे घास के मैदानों के बर्बर निवासियों ने बार-बार आक्रमण भी किए। अकबर के वज़ीर अबुल फ़ज़ल का मत है 'पुराने ज़माने के बुद्धिमान व्यक्ति काबुल और कन्धार को हिन्दुस्तान के सुदृढ़ द्वार मानते थे जिनमें से एक से तुर्किस्तान को रास्ता जाता था और दूसरे से फ़ारस को। इन मार्गों को सुरक्षित रखकर भारत विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकता था तथा उन्हीं के द्वारा भारतीय विदेश

यात्राएं करते थे। भारत पर कब्जा करने के बाद अंग्रेजों ने १८३९ में अलेक्जैण्डर बर्न्स को संधिवार्ता के लिए अफगानिस्तान भेजा और इसके बाद एक सेना लेकर चढ़ाई करके कन्दहार गजनी और काबुल पर १८३८ में अधिकार कर लिया। इसके बाद अफगानिस्तान में विद्रोह हुआ, अंग्रेज सेना को बुरी तरह काबुल से जलालाबाद वापस आना पड़ा, लॉर्ड एलेनबरो ने प्रतिशोध लेने के लिए काबुल में लूटमार की और अन्त में अफगानी 'मधुमक्खियों' के छत्ते को और अधिक न छेड़कर अंग्रेज वापस लौट आए। १८७८–१८८० में दूसरा अफगानयुद्ध हुआ जिसकी समाप्ति केवल इस कारण हुई कि रूसी सेनाएं भारतीय सीमा के पास आ पहुंचीं। इस युद्ध के बाद अंग्रेजों की आक्रामक नीति में परिवर्तन हुआ उन्होंने काबुल घाटी पर अधिकार करने तथा मध्य एशिया को प्रभावित करने का इरादा छोड़ दिया। और इसके बाद ही उन्होंने स्थायित्व और सुरक्षा के विचार से उत्तर-पश्चिमी स्थल-मार्गों को बन्द कर दिया और इस प्रकार देश को शेष एशिया से अलग कर दिया। भारत का राजनीतिक पृथक्करण वह महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है जो भारत के वर्तमान को उसके अतीत से अलग करता है।

एशिया की एकता में भारत का ऐतिहासिक योग

अपने इतिहास के प्रवाह में भारत ने तीन बार एशिया के एक विशाल भाग में स्थायी एकता की स्थापना की। पहली बार ईसा सन् के प्रारम्भ से चौथी शताब्दी ईस्वी तक जब बौद्धधर्म सम्पूर्ण मध्य-एशिया (सरहिन्द) और उत्तरी चीन में फैल गया—गंधार और कन्दहार से लेकर बैक्ट्रिया तक सम्पूर्ण भारतीय-ईरानी सीमावर्ती प्रदेश (यूनानियों के अनुसार 'श्वेत भारत') पहले ही सम्राट अशोक के बौद्ध-धर्मप्रचारकों द्वारा बौद्धधर्म में दीक्षित किए जा चुके थे। दूसरी बार गुप्त-संस्कृति के स्वर्णयुग (लगभग चौथी शताब्दी ईस्वी से आठवीं शताब्दी ईस्वी तक) में, जब महायान बौद्ध-धर्म का प्रसार काश्मीर और गंधार से पश्चिमी एशिया तुर्किस्तान और चीन तक हो गया तथा हिन्दू उपनिवेश और राज्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में सुवर्णद्वीप से कम्बुज तक स्थापित हुए। तीसरी बार जब गौड़ में संस्कृति और कला के तांत्रिक पुनरुत्थान (आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य तक) का प्रसार पालवंश के अन्तर्गत नेपाल तिब्बत बृहत्तर भारत और इंडोनेशिया में हुआ। लगभग दो हजार वर्षों तक भारत ने अपने बौद्ध ब्राह्मण तांत्रिक और सिद्धनाथ धर्मग्रंथों तथा उत्कृष्ट कलाकृतियों द्वारा अपनी नैतिकता आचार-व्यवहार और संस्कृति का शांत एवं शान्तिपूर्ण प्रसार मध्य व दक्षिण-पूर्वी एशिया (सीरिया से कम्बुज और कोरिया से श्रीलंका तक) के अपेक्षाकृत कम उन्नत देशों में किया। यूरोप में ईसाईधर्म की भांति बौद्धधर्म ने कम से कम एक हजार वर्षों तक सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप में एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता कायम रखी और यूरोप में प्रयुक्त लेटिन की भांति सम्पूर्ण बौद्ध संसार में संस्कृत सामान्य भाषा थी। एशिया के विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों—भारत में नालन्दा, विक्रमशील और वलभी बल्ख में नवसंघाराम खोतान में गोमतीविहार, चीन में चाङ-अन लो-याङ और नानकिङ श्रीलंका में अनुराधपुर, सुमात्रा में श्रीविजय तथा स्याम में द्वारावती में शताब्दियों तक एक ही भाषा में

शिक्षा दी जाती रही तथा तमाम पुराणों और धर्मों की व्याख्या की जाती रही। इसी प्रकार भारत में सारनाथ, मथुरा, अजन्ता, अंगार और अमरावती, चीन में युन-कांग और तुन-हुआंग, जापान में होरयूजी, कम्बोडिया में अंगकोरथोम, जावा में बोरोबुदुर, बर्मा में पगान और श्रीलंका में सिगिरिया में सौंदर्य और कला की श्रेष्ठतम कल्पना प्रस्तर पर अंकित है। भारत और दक्षिण पूर्वी एशिया के प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों के टूटने के कारण हैं—पन्द्रहवीं शताब्दी में इस्लामधर्म का व्यापक प्रसार तथा सोलहवीं शताब्दी में भारतीय जहाजरानी को पुर्तगाली शक्तियों का खतरा।

आर्यावर्त की आधारभूत एकता

एशियाई एकता की स्थापना में भारत का ऐतिहासिक योगदान यह था कि उसने अपनी सार्वभौमिकता की पुरातन प्रवृत्ति, सार्वभौम मानव और सार्वभौम समाज की अपनी धार्मिक धारणा तथा सार्वभौम सांस्कृतिक राज्य के अपने राजनीतिक सिद्धान्त का प्रसार अपनी सीमाओं से बाहर किया। इन्हींके बल पर भारत अपनी भूमि पर विभिन्न जातियों और संस्कृतियों को—जिनमें से अनेक शत्रु और विदेशी थीं जैसे यवन, कुषाण, शक, पारसीक और हूण—एकसूत्र में बांध सका था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समन्विति के प्रति आग्रहशील समर्थन से प्रेरित होकर पंडितों ने 'वर्णसंकर' की कल्पना को स्वीकार करके परिष्कृत किया जिसके फलस्वरूप विदेशी म्लेच्छों और देशी आदिवासियों के लिए भी हिन्दूधर्म के द्वार खुल गए। गौतम और आपस्तम्ब (छठी से चौथी शताब्दी ईसापूर्व) ने वर्णसंकर जातियों की सूची बनाई जिसे बौधायन और मनु (लगभग पांचवीं शताब्दी ईस्वी) ने काफी विकसित किया। मनु के व्रात्य और वृषल सम्भवतः हिन्दूधर्म में घुले मिले यवन अथवा पारसीक ही थे। मनु का कथन है 'शूद्र का चौथा वर्ण है, पांचवां वर्ण होता ही नहीं।' गुप्तकाल के पराभव से शूद्रों के साथ-साथ विदेशी जातियों तथा हिन्दूकृत सीमावर्ती जातियों के लोगों को भी मान्यता प्रदान की। पांच शताब्दियों बाद मनु के विख्यात भाष्यकार मेधातिथि का आग्रह है कि हिन्दू जीवन-पद्धति का आधार भारत की भौगोलिक स्थिति नहीं वरन् धर्म मात्र है जो आर्यावर्त की धारणा में अनिवार्य है। उनका कथन है "कोई शक्तिशाली एवं पराक्रमी सम्राट म्लेच्छों के देश को भी विजित कर सकता है, वहां पर चातुर्वर्ण्य स्थापित कर सकता है, म्लेच्छों को आर्यावर्त के चांडालों का स्थान प्रदान कर सकता है और उस देश को भी आर्यावर्त के समान यज्ञोपयुक्त बना सकता है।" अर्थात् आर्यावर्त की एकता का सुदृढ़ आधार है संस्कृति अथवा धर्मानुसार जीवन-पद्धति—'विष्णुपुराण' के अनुसार, 'भोगभूमि' नहीं वरन् 'कर्मभूमि'।

जलवायु, मिट्टी और भौगोलिक परिस्थितियों की विभिन्नता तथा जातियों और लोगों के आपसी झगड़ों के बावजूद भारतवासियों के मस्तिष्क में भारतवर्ष की आधारभूत एकता के प्रति दृढ़ विश्वास है, और इस विश्वास का कारण है—प्राचीन पुराण, धर्मशास्त्र, काव्य, मन्दिर, उत्सव और तीर्थयात्राएं। इस प्रकार भारतवर्ष एक भौगोलिक इकाई मात्र नहीं है। यह एक इतिहासाश्रित सांस्कृतिक संयोजन है। भारतवर्ष के पवित्र नगर, झीलें, नदियां और पर्वत सम्पूर्ण देश में उत्तर में हिमालय से लेकर सुदूर

यात्राएं करते थे।" भारत पर कब्जा करने के बाद अंग्रेजों ने १८११ में अलेक्जेंडर बर्न्स को सन्धिवार्ता के लिए अफगानिस्तान भेजा और इसके बाद एक सेना लेकर चढ़ाई करके कन्दहार, गजनी और काबुल पर १८३८ में अधिकार कर लिया। इसके बाद अफगानिस्तान में विद्रोह हुआ, अंग्रेज सेना को बुरी तरह काबुल से जलालाबाद वापस आना पड़ा। लार्ड एलेनबॉरो ने प्रतिशोध लेने के लिए काबुल में लूटमार की और अन्त में अफगानी 'अधुमक्खियों के छत्ते' को और अधिक न छेड़कर अंग्रेज वापस लौट आए। १८७८–१८८० में दूसरा अफगानयुद्ध हुआ जिसकी समाप्ति केवल इस कारण हुई कि रूसी सेनाएं भारतीय सीमा के पास आ पहुंची। इस युद्ध के बाद अंग्रेजों की आक्रामक नीति में परिवर्तन हुआ। उन्होंने काबुल घाटी पर अधिकार करने तथा मध्य एशिया को प्रभावित करने का इरादा छोड़ दिया। और इसके बाद ही उन्होंने स्थायित्व और सुरक्षा के विचार से उत्तर-पश्चिमी स्थल-मार्गों को बन्द कर दिया और इस प्रकार देश को शेष एशिया से अलग कर दिया। भारत का राजनीतिक पृथक्करण वह महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है जो भारत के वर्तमान को उसके अतीत से अलग करता है।

एशिया की एकता में भारत का ऐतिहासिक योग

अपने इतिहास के प्रवाह में भारत ने तीन बार एशिया के एक विशाल भाग में स्थायी एकता की स्थापना की। पहली बार ईसा सन् के आरम्भ से चौथी शताब्दी ईस्वी तक जब बौद्धधर्म सम्पूर्ण मध्य-एशिया (सरहिन्द) और उत्तरी चीन में फैल गया—गंधार और कन्दहार से लेकर बैक्ट्रिया तक सम्पूर्ण भारतीय-ईरानी सीमावर्ती प्रदेश (यूनानियों के अनुसार 'श्वेत भारत') पहले ही सम्राट अशोक के बौद्ध धर्मप्रचारकों द्वारा बौद्धधर्म में दीक्षित किए जा चुके थे। दूसरी बार गुप्त-संस्कृति के स्वर्णयुग (लगभग चौथी शताब्दी ईस्वी से आठवीं शताब्दी ईस्वी तक) में जब महायान बौद्ध-धर्म का प्रसार जालंधर और गंधार से पश्चिमी एशिया, तुर्किस्तान और चीन तक हो गया तथा हिन्दू उपनिवेश और राज्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में सुवर्णद्वीप से कम्बुज तक स्थापित हुए। तीसरी बार जब गौड़ में संस्कृति और कला के तांत्रिक पुनरुत्थान (आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के अन्त तक) का प्रसार पालवंश के अन्तर्गत नेपाल, तिब्बत, बृहत्तर भारत और इण्डोनेशिया में हुआ। लगभग दो हजार वर्षों तक भारत ने अपने बौद्ध ब्राह्मण तांत्रिक और शिवनाथ धर्मग्रंथों तथा उत्कृष्ट कलाकृतियों द्वारा अपनी नैतिकता आचार-व्यवहार और संस्कृति का मौन एवं शान्तिपूर्ण प्रसार मध्य व दक्षिण-पूर्वी एशिया (सीरिया से कम्बुज और कोरिया से श्रीलंका तक) के अपेक्षाकृत कम उन्नत देशों में किया। यूरोप में ईसाईधर्म की भांति बौद्धधर्म ने कम से कम एक हजार वर्षों तक सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप में एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता कायम रखी और यूरोप में प्रयुक्त लेटिन की भांति सम्पूर्ण बौद्ध संसार में संस्कृत सामान्य भाषा थी। एशिया के विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों—भारत में नालन्दा, विक्रमशील और बलभी, बल्ख में नवसंघाराम, खोतान में गोमतीविहार, चीन में चाक-अन सो-याङ और मानकिङ, श्रीलंका में अनुराधपुर, सुमात्रा में श्रीविजय तथा स्याम में द्वारावती में शताब्दियों तक एक ही भाषा में

मामाएं करते थे।" भारत पर कब्जा करने के बाद अंग्रेजों ने १८३९ में अलेक्जेण्डर बर्न्स को सन्धिवार्ता के लिए अफ़ग़ानिस्तान भेजा और इसके बाद एक सेना लेकर चढ़ाई करके कन्धहार, गज़नी और काबुल पर १८३९ में अधिकार कर लिया। इसके बाद अफ़-ग़ानिस्तान में विद्रोह हुआ, अंग्रेज सेना को बुरी तरह काबुल से जलालाबाद वापस आना पड़ा। लॉर्ड एलेनबॉरो ने प्रतिशोध लेने के लिए काबुल में लूटमार की और अन्त में अफ़-ग़ानी 'महमूदगज़नवियों के छत्र' को और अधिक न छेड़कर अंग्रेज वापस लौट आए। १८७८–१८८० में दूसरा अफ़ग़ानयुद्ध हुआ जिसकी समाप्ति केवल इस कारण हुई कि रूसी सेनाएं भारतीय सीमा के पास आ पहुंचीं। इस युद्ध के बाद अंग्रेजों की आक्रामक नीति में परिवर्तन हुआ। उन्होंने काबुल घाटी पर अधिकार करने तथा मध्य एशिया को प्रभा-वित करने का इरादा छोड़ दिया। और इसके बाद ही उन्होंने स्वामित्व और सुरक्षा के विचार से उत्तर-पश्चिमी स्थल-मार्गों को बन्द कर दिया और इस प्रकार देश को शेष एशिया से अलग कर लिया। भारत का राजनीतिक पृथक्करण वह महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है जो भारत के वर्तमान को उसके अतीत से अलग करता है।

एशिया की एकता में भारत का ऐतिहासिक योग

अपने इतिहास के प्रवाह में भारत ने तीन बार एशिया के एक विशाल भाग में स्थायी एकता की स्थापना की। पहली बार ईसा सन् के आरम्भ से चौथी शताब्दी ईस्वी तक जब बौद्धधर्म सम्पूर्ण मध्य-एशिया (सरहिन्द) और उत्तरी चीन में फैल गया—गंधार और कन्धहार से लेकर बैक्ट्रिया तक सम्पूर्ण भारतीय-ईरानी सीमावर्ती प्रदेश (यूनानियों के अनुसार 'श्वेत भारत') पहले ही सम्राट अशोक के बौद्ध-धर्मप्रचारकों द्वारा बौद्धधर्म में दीक्षित किए जा चुके थे। दूसरी बार गुप्त-संस्कृति के स्वर्णयुग (लगभग चौथी शताब्दी ईस्वी से आठवीं शताब्दी ईस्वी तक) में जब महायान बौद्ध-धर्म का प्रसार जालंधर और गंधार से पश्चिमी एशिया, तुर्किस्तान और चीन तक हो गया तथा हिन्दू उपनिवेश और राज्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में सुवर्णद्वीप से कम्बुज तक स्थापित हुए। तीसरी बार जब गौड़ में संस्कृति और कला के तांत्रिक पुनरुत्थान (आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के अन्त तक) का प्रसार पालवंश के अन्तर्गत नेपाल, तिब्बत, बृहत्तर भारत और इंडोनेशिया में हुआ। लगभग दो हज़ार वर्षों तक भारत ने अपने बौद्ध, ब्राह्मण, तांत्रिक और शिवनाथ धर्मग्रंथों तथा उत्कृष्ट कलाकृतियों द्वारा अपनी नैतिकता, आचार-व्यवहार और संस्कृति का मौन एवं शान्तिपूर्ण प्रसार मध्य व दक्षिण-पूर्वी एशिया (सीरिया से कम्बुज और कोरिया से श्रीलंका तक) के अपेक्षाकृत कम उन्नत देशों में किया। यूरोप में ईसाईधर्म की भांति बौद्धधर्म ने कम से कम एक हज़ार वर्षों तक सम्पूर्ण एशिया महा-द्वीप में एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता कायम रखी और यूरोप में प्रयुक्त लैटिन की भांति सम्पूर्ण बौद्ध संसार में संस्कृत सामान्य भाषा थी। एशिया के विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों—भारत में नालन्दा, विक्रमशील और वलभी, बस्त्र में नवसंघाराम, खोतान में गोमतीविहार, चीन में चाङ-अन, लो-याङ और मानकिङ, श्रीलंका में अनु-राधपुर, सुमात्रा में श्रीविजय तथा स्याम में द्वारावती में शताब्दियों तक एक ही भाषा में

और समन्वय की प्रवृत्ति वैभिन्न्य और तनाव की चुनौती को स्वीकार कर सकी। भारतीय इतिहास के महान रचनात्मक युग तथा निरन्तर अद्वितीय महत्त्वपूर्ण धार्मिक कलात्मक एवं दार्शनिक आन्दोलन इस तथ्य के प्रमाण हैं कि राजनीतिक और जातीय संघर्षों और विरोधों के बीच भी जबकि कोई अन्य संस्कृति विलीन हो जाती भारत ने सदैव सामंजस्य और ऐक्य के ही प्रयास किए हैं। यह विशिष्ट संस्कृति परिस्थिति परम्परा और जातीयता की सम्मिलित शक्तियों का प्रतिफलन है। इसकी निरन्तरता लगभग पांच हजार साल से कायम है—विश्व के इतिहास में अद्वितीय उपलब्धि! भारत की आधार मूल आध्यात्मिक जीवन की तथा विश्वात्मा की एकता और अखंडता की धारणाएं मतों, सम्प्रदायों और धर्मों की सार्वभौमिकता के धार्मिक सिद्धान्त सार्वभौम धर्म की समर्थक सार्वभौम सत्ता की राजनीतिक धारणा तथा सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानने की नैतिक धारणा —ये सब इसी संस्कृति की प्रोजस अभिव्यक्तियां हैं। महान भारतीय पंडित शंकर का कथन है मेरी माता देवी पार्वती है मेरे पिता शिव हैं जिनकी शक्ति को कोई सहन नहीं कर सकता पार्वती और शिव के भक्तों को मैं अपना सगा सम्बन्धी मानता हूं तथा तीनों लोक मेरे अपने देश हैं (स्वदेश: भुवनत्रयम्)।"

भारत में एक विशिष्ट प्रकार के मनुष्यत्व का विकास हुआ है जो अहंवादी और जातीय नहीं वरन् सरल और सार्वभौम है। इस मनुष्यत्व के निर्माण में भारत की मानव वाद और करुणा की प्रवृत्ति के अतिरिक्त 'पुरुष' और 'नारी' के भारतीय मूलादर्शों का बड़ा हाथ है। पुरुष के मूलादर्श हैं—विष्णु शिव बुद्ध बोधिसत्त्व और कृष्ण तथा नारी के मूलादर्श हैं—पार्वती लक्ष्मी और सरस्वती। ये आदर्श भारतीय कला की विभिन्न मूर्तियों और चित्रों में अंकित हैं। भारतीय—हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन—मूर्ति कला की आकृतियां भी लोगों को 'अवतार' की ओर अग्रसर करती हैं जो बार-बार इतिहास का निर्माण, उसमें भलीहाई आशा का संचार, तथा धर्म की महत्ता का पुनःस्थापना करता है। ये सभी विचार और विश्वास वास्तव में विभिन्नताओं से भरे-पूरे देश में एकता और अखंडता की खोज के युग-युगीन प्रयास हैं।

यूनानी रोमक प्रतिष्ठापनों का ईसाईधर्म का प्रसार अथवा ऑगस्टस, शार्लमन और नेपोलियन के साम्राज्य भी यूरोप में वह गहन अन्तर्हित एकता न स्थापित कर सके जो भारत की विशेषता है। यह सभ्यता की एकता जाति और क्षेत्र राष्ट्रीयता अथवा राजनीतिक आधिपत्य की शक्तियों द्वारा स्थापित एकता से कहीं अधिक सक्षम है। मानव समुदाय के निस्सीम विस्तार और आत्मा की अतल गहराइयों की माप तथा दोनों के ऐक्य का समर्थन भारतीय संस्कृति में है देश में प्रचलित दर्शन की विभिन्न प्रणालियों तथा आध्यात्मिक पूजा के अनेक रूपों के पीछे यही एक विचारधारा है। यही भारतीय दर्शन की प्रमुख विषयवस्तु तथा भारत के सामूहिक अस्तित्व का मर्म है।

दुर्बलता और सबलता के स्रोत

भारत तथा संसार की संस्कृति के वर्तमान संकट-काल में यह सन्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारत की स्वाधीनता को मात्र दो बातों से सुरक्षित रखने की आवश्यकता

दक्षिण में सेतुबन्ध तक, फैले हैं। भारत के प्राचीन देवताओं—विष्णु, शिव और माँ देवी—के अत्यधिक प्रसिद्ध मन्दिर सम्पूर्ण देश में तथा लगभग प्रत्येक बड़े गाँव में बिखरे पड़े हैं। भारतीय साहित्य धर्म दर्शन कला संस्कारों तथा सार्वभौम अमश्वर स्मृतिधर्म—जिसकी व्याख्या विश्वविद्यालयों पांडित्यवादी सम्प्रदायों तथा कानूनी अदालतों (अंग्रेजी अदालतों द्वारा भी) द्वारा की गई है—ने आचार-व्यवहार, चरित्र और कानून की केवल एक संहिता केवल एक वर्णाश्रम प्रणाली और केवल एक पांडित्य-परम्परा को कायम रखा है। मुसलमानों और अंग्रेजों का आधिपत्य भी भारतीय संस्कृति की आधारभूत एकता को हिला नहीं सका।

भारत के निवासियों को एकसूत्र में बांधे रखने का काम धर्मसम्मत देश और धर्मसम्मत समाज की वैदिक धारणा के समान एक सार्वभौम अथवा चक्रवर्ती सम्राट के अधीन एकाधिराज्य की राजनीतिक धारणा ने भी किया है। इस राजनीतिक धारणा का उद्भव भी वैदिककाल में ही हुआ था। आर्यावर्त के चक्रवर्ती की धारणा का पुनरुत्थान मौर्य और गुप्तवंश के सम्राटों तथा बाद के युगों में आर्यावर्त पर एकाधिराज्य स्थापित करने के आकांक्षी सभी राजाओं—जैसे यशोवर्मन्, मौखरियों पुष्यभूति और पालवंशों के राजाओं (जिनमें से अनेक ने विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की) प्रतिहार सम्राटों तथा ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों के नवोदित रघुकुल चक्रवर्तियों और साहसिकों (जिन्होंने साहसपूर्वक मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना किया)—सभी ने किया। चक्रवर्ती सम्राट् की धारणा (जैसे ब्राह्मणों में मांधाता और भरत तथा बौद्धों में दलह् नेमि और महासुदस्सन) राजनीतिक मात्र नहीं है वरन् सांस्कृतिक भी है। चक्रवर्ती सम्राट ही उथल-पुथल और विशृंखलता के बीच धर्मराज्य की स्थापना तथा धर्मशास्त्र की मूलभूत संहिता को लागू करता है। भारत का राजनीतिक दृष्टिकोण अनिवार्यतः आध्यात्मिक है। भारत का आदर्श शस्त्रास्त्रों द्वारा एक साम्राज्य की स्थापना करना नहीं वरन् समृद्धि व अनुशासन द्वारा एक सांस्कृतिक राज्य का निर्माण करना है। 'वायुपुराण' में चक्रवर्ती की धारणा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है विष्णु के अंश के रूप में चक्रवर्ती प्रत्येक युग में पैदा होते हैं वे बीते युगों में रहे हैं और आगामी युगों में भी आएंगे भूत वर्तमान और भविष्यत् तीनों युगों में यहां तक कि त्रेतायुग में भी अनेक चक्रवर्ती हुए हैं और होंगे।

इन शासकों की विशिष्टताएं होंगी—शक्ति धर्म सौख्य और सम्पत्ति। ये अबाधित शान्तिपूर्ण वातावरण में सम्पत्ति विपुलता धन महत्त्वाकांक्षा प्रसिद्धि और विजय का भोग करेंगे। फलप्राप्ति में ये ऋषियों से भी आगे बढ़ जाएंगे इनके स्वामित्व की धाक होगी तथा ये समृद्धि एवं अनुशासन की स्थापना करेंगे। और अपनी शक्ति तथा आत्मसंयम में ये देवताओं दानवों और मानवों से कहीं आगे रहेंगे।"

समन्वय की भारतीय प्रवृत्ति

हमारे देश की धरती पर अधिकार करने के आकांक्षी विदेशियों के साथ संघर्षों के दौरान भी भारतीय संस्कृति की विशिष्टता कायम रही इसकी परिपाक, मतमारक

और समन्वय की प्रवृत्ति अभिन्न और संघर्ष की चुनौती को स्वीकार कर सकी। भारतीय इतिहास के महान रचनात्मक युग तथा निरन्तर अतिशीघ्र महत्त्वपूर्ण धार्मिक, कलात्मक एवं दार्शनिक आन्दोलन इस तथ्य के प्रमाण हैं कि राजनीतिक और जातीय संघर्षों और विरोधों के बीच भी जबकि कोई अन्य संस्कृति विलीन हो जाती भारत ने सदैव सामंजस्य और ऐक्य के ही प्रयास किए हैं। यह विशिष्ट संस्कृति परिस्थिति परम्परा और जातीयता की सम्मिलित शक्तियों का प्रतिफलन है। इसकी निरन्तरता लगभग पांच हजार साल से कायम है—विश्व के इतिहास में अद्वितीय उपलब्धि। भारत की आधारभूत आध्यात्मिक जीवन की तथा विश्वात्मा की एकता और अखंडता की धारणाएं मतों सम्प्रदायों और धर्मों की सार्वभौमिकता के धार्मिक सिद्धान्त सार्वभौम धर्म की समर्थक सार्वभौम सत्ता की राजनीतिक धारणा तथा सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानने की नैतिक धारणा —ये सब इसी संस्कृति की ओजस अभिव्यक्तियां हैं। महान भारतीय पंडित शंकर का कथन है मेरी माता देवी पार्वती हैं मेरे पिता शिव हैं जिनकी शक्ति को कोई सहन नहीं कर सकता पार्वती और शिव के भक्तों को मैं अपना सगा सम्बन्धी मानता हूं तथा तीनों लोक मेरे अपने देश हैं (स्वदेशो भुवनत्रयम्)।

भारत में एक विशिष्ट प्रकार के मनुष्यत्व का विकास हुआ है जो अहंवादी और जातीय नहीं वरन् सरल और सार्वभौम है। इस मनुष्यत्व के निर्माण में भारत की मानव भाव और करुणा की प्रवृत्ति के अतिरिक्त 'पुरुष' और 'नारी' के भारतीय मूलादर्शों का बड़ा हाथ है। पुरुष के मूलादर्श हैं—विष्णु, शिव बुद्ध बोधिसत्त्व और कृष्ण तथा नारी के मूलादर्श हैं—पार्वती लक्ष्मी और सरस्वती। ये आदर्श भारतीय कला की विभिन्न मूर्तियों और चित्रों में अंकित हैं। भारतीय—हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन—मूर्ति कला की आकृतियां भी लोगों को 'अवतार' की ओर अग्रसर करती हैं जो बार-बार इतिहास का निर्माण उसमें भलीहाई भाषा का संचार, तथा धर्म की महत्ता का पुनःस्थापना करता है। ये सभी विचार और विश्वास वास्तव में विभिन्नताओं से भरे-पूरे देश में एकता और अखंडता की खोज के युग-युगीन प्रयास हैं।

यूनानी-रोमक प्रतिष्ठापनों का ईसाईधर्म का प्रसार अथवा प्रॉमिस्टस, शार्लमन और नेपोलियन के साम्राज्य भी यूरोप में वह गहन अन्तर्हित एकता न स्थापित कर सके जो भारत की विशेषता है। यह सभ्यता की एकता जाति और क्षेत्र राष्ट्रीयता अथवा राजनीतिक आधिपत्य की शक्तियों द्वारा स्थापित एकता से कहीं अधिक सक्षम है। मानव समुदाय के निस्सीम विस्तार और आत्मा की अतल गहराइयों की माप तथा दोनों के ऐक्य का समर्थन भारतीय संस्कृति में है देश में प्रचलित दर्शन की विभिन्न प्रणालियों तथा आध्यात्मिक पूजा के अनेक रूपों के पीछे यही एक विचारधारा है। यही भारतीय दर्शन की प्रमुख विषयवस्तु तथा भारत के सामूहिक अस्तित्व का मर्म है।

पूर्णसत्ता और सम्पन्नता के स्रोत

भारत तथा संसार की संस्कृति के वर्तमान संकट-काल में यह सन्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारत की स्वाधीनता को आज दो बातों से सुरक्षित रखने की आवश्यकता

है प्रथम प्रतीकवाद, मायावाद और जातिवाद तथा द्वितीय, मध्ययुगीन क्रान्ति की सम्पन्नता द्वारा उत्पन्न नवीन वर्गीय भेद और संघर्ष, महाकाव्यों, धर्मशास्त्रों और पुराणों में सन्निहित भारत के आध्यात्मिक दाय को हम तभी समझ सकते हैं जब हम भारत की ऐतिहासिक निरन्तरता में विराजित अतिप्राचीन धर्म का मर्म समझें। इसी आध्यात्मिक दाय ने शाश्वत धर्म को 'मातृभूमि' की उपासना के रूप में साकार किया तथा उसकी सम्यक् एवं पांडित्यपूर्ण व्याख्याएं प्रस्तुत की गई ताकि शिक्षित और अल्पसाधनयुक्त लोगों और कबीलों के स्वीकरण में आसानी हो। इसीके द्वारा 'सर्वभूत-दया' की नैतिकता 'सर्वमुक्ति' के आध्यात्मिक आदर्श और आर्त अथवा दरिद्रनारायण की पूजा को प्रेरणा मिली। 'महाभारत' में कृष्ण कहते हैं : समझ लो कि धर्म मेरा पहला आध्यात्मिक पत्र है जिसका स्वभाव है समस्त जीवों के प्रति करुणा। इसी रूप में मैं अतीत और वर्तमान के सभी लोकों में रहता हूं, अनेकानेक रूप धारण करता हूं ताकि धर्म की रक्षा हो सके और सत्ता बनी रहे।

ये आस्थाएं ही राजनीतिक और नैतिक शक्ति के उर्वर एवं अक्षुण्ण स्रोत हैं। सार्वभौम मानव तथा प्रत्येक मानव तथा सम्बन्ध में ईश्वर का अस्तित्व (सब-अवतार) की प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक धारणाएं ही नवीन परिस्थितियों में सामान्य मानव के वैभव और सम्मान को सुरक्षित रख सकती हैं, सामाजिक न्याय और समानता तथा समाजवादी नमूने के समाज की स्थापना के आन्दोलनों को प्रेरित और दृढ़तर करती हैं।

वर्तमानकाल में भारतीय संविधान सर्वाधिक समन्वयात्मक राजनीतिक एवं नैतिक कथन-शक्ति है। संविधान के अनुसार, एक संकलन नहीं वरन् संघ की स्थापना की गई है जिसमें एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार तथा सुगठित प्रशासन है। इस प्रकार यह संविधान देश का विघटित होने से रोकता है। संविधान में भारत के सामान्य मानव के कुछ मूल अधिकारों और सुविधाओं को भी सम्मिलित किया गया है—भारतीय राष्ट्रीयता की धार्मिक अन्तर्वस्तु का वह अतिरिक्त तत्त्व अंग्रेजी कानून और प्रशासनिक विधियों तथा फ्रांसीसी, अमरीकी और रूसी क्रान्तियों में मिला है। यह राजनीतिक एकता ही नहीं वरन् समाज-आयोजन का भी एक नया अस्त्र है जो उसकी अन्तर्वस्तुता का निरन्तर विस्तार करेगा तथा आर्थिक और सामाजिक गणतन्त्र के क्षेत्र को व्यापक बनाएगा।

भारतीय सभ्यता जाति, भाषा और विभिन्न क्षेत्रीय आचार-व्यवहारों से परे है तथा इसकी एकता और समग्रता के स्थायित्व और प्राबल्य पर ही भारत का आगामी इतिहास निर्भर है। विभिन्न राज्यों को मिलाकर बना हुआ गणतन्त्र भारत आज फिर पुनर्जन्म लेनेवाला है। केवल राष्ट्रीय वैचारिकता भारतीय सभ्यता की अनिवार्य एकता तथा शताब्दियों के दौरान महत्त्वपूर्ण भारतीय शान्तिपूर्ण और सांस्कृतिक मत के प्रति दृढ़ आस्था के बल पर ही भारत के पांच हजार वर्षों के इतिहास को परिपूर्णता प्राप्त हो सकती है। इस भयानक परमाणु-युग में सभी संस्कृतियों की परख केवल इसी कसौटी पर होगी कि वे न्याय, शान्ति और विश्वव्यापी समाज की सुव्यवस्था की स्थापना में क्या योग देती हैं। इस कसौटी पर भारतीय सभ्यता के मूल्य—अतीत की पीठिका पर समुचित ढंग से प्रस्तुत और निर्धारित करने पर—विश्वव्यापी शान्ति, विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीयता

वाद तथा मानव-जाति के उपयुक्त एक विश्व-सभ्यता की आधारशिला प्रस्तुत कर सकते हैं। गांधीजी ने लिखा था

"मैं अपने हृदय की गहराइयों में अनुभव करता हूं कि रक्तपात से दुनिया थक चुकी है। दुनिया बाहर निकलने का रास्ता खोज रही है और मुझे विश्वास है कि इस भूखी दुनिया को बाहर निकलने का रास्ता शायद हमारा पुरातन देश ही बता सके।"



सहायक ग्रन्थ

१ सामान्य इतिहास

१ कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ़ इंडिया (कैम्ब्रिज भारत का इतिहास) खण्ड १–६
२ हिस्टरी ऐण्ड कल्चर ऑफ़ इंडियन पीपुल (भारतवासियों का इतिहास और उनकी संस्कृति), खण्ड १–५ भारतीय विद्या भवन प्रकाशन
३ रायचौधुरी पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ़ ऐन्शेण्ट इंडिया (प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास)
४ टी० डब्ल्यू० राइस डेविड्स बुद्धिस्ट इंडिया (बौद्ध भारत)
५ डब्ल्यू० डब्ल्यू० टार्न द ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया (बैक्ट्रिया और भारत में यूनानी)
६ राधाकुमुद मुखर्जी चन्द्रगुप्त मौर्य ऐंड हिज टाइम्स (चन्द्रगुप्त मौर्य और उनका काल)
७ राधाकुमुद मुखर्जी अशोक
८ राधाकुमुद मुखर्जी हर्ष
९ राधाकुमुद मुखर्जी गुप्त एम्पायर (गुप्त-साम्राज्य)
१० ए० एस० अल्तेकर स्टेट ऐंड गवर्नमेंट इन ऐन्शेंट इंडिया (प्राचीन भारत में राज्य और सरकार)
११ काशीप्रसाद जायसवाल हिन्दू पॉलिटी (हिन्दू शासनतन्त्र)
१२ बेनीप्रसाद द स्टेट इन एन्शेंट इंडिया (प्राचीन भारत में राज्य)
१३ बेनीप्रसाद ए थ्योरी ऑफ गवर्नमेंट इन ऐन्शेंट इंडिया (प्राचीन भारत में सरकार)
१४ राधाकुमुद मुखर्जी लोकल गवर्नमेंट इन ऐन्शेण्ट इंडिया (प्राचीन भारत में स्थानीय प्रशासन)
१५ आर० श्याम शास्त्री कौटिल्याज अर्थशास्त्र (कौटलीय अर्थशास्त्र)
१६ एच० जी० रॉलिन्सन इंडिया ए शॉर्ट कल्चरल हिस्टरी (भारत का संक्षिप्त सांस्कृतिक इतिहास)
१७ के० आर० कानूनगो शेरशाह
१८ के० आर० कानूनगो दारा शिकोह
१९ एस० लैनपूल मेडीवल इंडिया (मध्यकालीन भारत)

२० मोरलैण्ड इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर (अकबर की मृत्यु के समय भारत)
२१ मोरलैण्ड फ्रॉम अकबर टु औरंगजेब (अकबर से औरंगजेब तक)
२२ एन० के० सिन्हा राइज ऑफ द सिख पॉवर (सिखों की शक्ति का उदय)
२३ एन० के० सिन्हा राइज ऑफ द पेशवाज (पेशवाओं का उदय)
२४ यदुनाथ सरकार फॉल ऑफ द मुगल एम्पायर (मुगल-साम्राज्य का पतन)
२५ आर्थर कनिंघम हिस्टरी ऑफ द सिक्स (सिखों का इतिहास)
२६ एन० एल० दे ज्योग्रैफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐन्शेंट इंडिया (प्राचीन भारत का भौगोलिक शब्दकोष)
२७ एन० एल० दे ऐन्शेंट ज्योग्रैफी ऑफ इंडिया (भारत का प्राचीन भूगोल)
२८ पेरिप्लस ऑफ द एरीथ्रियन सी (एरीथ्रियन सागर का पेरिप्लस)

२ प्राग् इतिहास

१ एस० पिगट प्रिहिस्टॉरिक इंडिया (प्रागैतिहासिक भारत)
२ ई० मैके अर्ली इंडस सिविलिजेशन (प्रारम्भिक सिंधु-सभ्यता)
३ जे० मार्शल मोहनजोदारो ऐण्ड द इंडस सिविलिजेशन (मोहनजोदड़ो तथा सिंधु-सभ्यता) ३ खण्ड
४ एम० एस० वत्स एक्सकैवेशन्स ऐट हड़प्पा (हड़प्पा में उत्खनन)
५ आर० ई० एम० ह्वीलर द इंडस सिविलिजेशन (सिंधु-सभ्यता)
६ आर० ई० एम० ह्वीलर फ़ाइव थाउजैण्ड इयर्स ऑफ़ पाकिस्तान (पाकिस्तान के पाँच हजार वर्ष)
७ ई० मैके चान्हु-दारो (चान्हु दड़ो)
८ ई० मैके फ़र्दर एक्सकैवेशन्स एट मोहनजोदारो (मोहनजोदड़ो में अतिरिक्त उत्खनन)

३ ब्राह्मणधर्म

१ ए० बी० कीथ द रैलिजन ऐंड फिलासफ़ी ऑफ़ द वेदाज ऐंड द उपनिषद्स (वेदों और उपनिषदों के धर्म और दर्शन)
२ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द उपनिषद्स (उपनिषद्)
३ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़ (हिन्दू जीवनादर्श)
४ एल० डी० बार्नेट द हार्ट ऑफ़ हिन्दुइज्म (हिन्दूधर्म का सत्त्व)
५ मैक्समूलर (सम्पादित) द सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट (पूर्व के पवित्र ग्रन्थ), खण्ड २ १४ और २५
६ सर चार्ल्स एलियट हिन्दुइज्म ऐंड बुद्धिज्म (हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म), ३ खण्ड
७ आर० जी० भंडारकर वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रैलिजस सिस्टम्स (वैष्णव-धर्म शैवधर्म तथा गौण धार्मिक सम्प्रदाय)
८ जे० एन० बैनर्जी डेवलपमेंट ऑफ़ हिन्दू इकनॉग्राफ़ी (हिन्दू मूर्तिकलाशास्त्र का विकास)

९ टी० ए० जी० राव एलीमेंट्स ऑफ़ इंडियन इकोनोग्राफी (भारतीय मूर्तिकला शास्त्र के मूलतत्त्व)
१० एस० डी० बार्नेट एंटिक्विटीज ऑफ़ इंडिया (भारत के पुरावशेष)
११ पी० एस० मार्शल इंडिया इन द वैदिक एज (वेदकालीन भारत)
१२ ए० सी० दास ऋग्वेदिक इंडिया (ऋग्वेदकालीन भारत)
१३ ए० सी० बोस द कॉल ऑफ़ द वेदाज (वेदों की पुकार)
१४ ए० ए० मैकडॉनेल वेदिक माइथॉलोजी (वैदिक पुराणविद्या)
१५ ई० डब्ल्यू० हॉपकिन्स एपिक माइथॉलोजी (महाकाव्यों की पुराणविद्या)
१६ राधाकुमुद मुखर्जी हिन्दू सिविलिज़ेशन (हिन्दू सभ्यता)

४ बौद्धधर्म

१ टी० डब्ल्यू० राइस डेविड्स बुद्धिज्म इट्स हिस्टरी ऐण्ड लिटरेचर (बौद्धधर्म उसका इतिहास और साहित्य)
२ ई० जे० टॉमस हिस्टरी ऑफ़ बुद्धिस्ट थॉट (बौद्धदर्शन का इतिहास)
३ एफ़० एस० बुडवड सम सेयिंग्स ऑफ़ द बुद्ध (बुद्ध के कुछ विचार)
४ डी० एम० डब्मा सीलोन लेक्चर्स (श्रीलंका के भाषण)
५ ए० के० कुमारस्वामी बुद्ध ऐण्ड द गॉस्पेल ऑफ़ बुद्धिज्म (बुद्ध तथा बौद्धधर्म)
६ कर्न मैनुअल ऑफ़ इंडियन बुद्धिज्म (भारतीय बौद्धधर्म का गुटका)
७ जे तकाकुसु द इसेन्शियल्स ऑफ़ बुद्धिस्ट फ़िलॉसफ़ी (बौद्धदर्शन के मूलतत्त्व)
८ काश्यप द अभिधम्म फ़िलासफ़ी (अभिधम्मदर्शन)
९ एस० बील सी-यू-की—बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ़ द वेस्टर्न वर्ल्ड (सी—यू—की—पश्चिमी दुनिया के बौद्ध रिकार्ड)
१० टी० वाटर्स ऑन युआन च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया (भारत में युआन च्वांग की यात्राएं)
११ एलियट हिन्दुइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म (हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म) ३ भाग
१२ ए० बी० कीथ बुद्धिस्ट फ़िलासफ़ी इन इंडिया ऐण्ड सीलोन (भारत और श्रीलंका में बौद्धदर्शन)
१३ बी सी० लॉ कन्सेप्ट्स ऑफ़ बुद्धिज्म (बौद्धधर्म की धारणाएं)
१४ बी० सी० लॉ (सम्पादित) बुद्धिस्टिक स्टडीज (बौद्ध अध्ययन)
१५ सी० ए० एफ़० राइस डेविड्स बुद्धिज्म (बौद्धधर्म)
१६ सी० ए० एफ़० राइस डेविड्स ए मैनुअल ऑफ़ बुद्धिस्ट साइकॉलोजी (बौद्ध मनोविज्ञान का गुटका)
१७ एन० दत्त अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म (प्रारम्भिक वैरागी बौद्धधर्म)
१८ आर० किमूरा हिस्टरी ऑफ़ अर्ली बुद्धिस्ट स्कूल्स (प्रारम्भिक बौद्ध सम्प्रदायों का इतिहास)
१९ डब्ल्यू० डब्ल्यू० रॉकहिल लाइफ़ ऑफ़ द बुद्ध (बुद्ध का जीवनचरित)

२० जे० जी० जेनिंग्स द वेदान्तिक बुद्धिज्म ऑफ द बुद्ध (बुद्ध का वेदान्ती बौद्धधर्म)

५ महायान बौद्धधर्म

१ ई० बी० कॉवेल बुद्धिस्ट महायान सूत्राज सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट (बौद्ध महायान-सूत्र पूर्व के पवित्र ग्रंथ) खंड १०
२ एच० कर्न सद्धर्मपुंडरीक सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट (सद्धर्म-पुण्डरीक पूर्व के पवित्र ग्रंथ) खंड २१
३ डी० टी० सुजूकी आउटलाइन्स ऑफ द महायान बुद्धिज्म (महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा)
४ डी० टी० सुजूकी द लंकावतारसूत्र (लंकावतारसूत्र)
५ बिमेट्रिस लैन सुजूकी महायान बुद्धिज्म (महायान बौद्धधर्म)
६ मूसेट इन द फुटस्टेप्स ऑफ द बुद्ध (बुद्ध के चरणचिह्नों पर)
७ मॉर्गन (सम्पादित) द पाथ ऑफ द बुद्ध (बुद्धमार्ग)
८ भट्टाचार्य द इंडियन बुद्धिस्ट इकोनॉग्राफी (भारतीय बौद्ध मूर्तिकलाशास्त्र)
९ डब्ल्यू० स्टीफेन्स लीजेन्ड्स ऑफ इंडियन बुद्धिज्म (भारतीय बौद्धधर्म की कथाएं)
१० पी० वी० बापट (सम्पादित) 2,500 इयर्स ऑफ बुद्धिज्म (बौद्धधर्म के २५०० वर्ष)
११ एन० दत्त ऐस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म (महायान बौद्धधर्म के पक्ष)
१२ एस० सी० दास इंडियन पंडित्स इन द लैंड ऑफ द स्नो (हिम-देश में भारतीय पंडित)
१३ जे० तकाकुसु ईत्सिङ ए रिकॉर्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रिलिजन ऐज प्रैक्टिस्ड इन इंडिया ऐण्ड द मलय आर्किपैलागो (ईत्सिङ भारत और मलय द्वीपसमूह में प्रचलित बौद्ध-धर्म का विवरण)
१४ ए० गेटी द गॉड्स ऑफ नार्दर्न बुद्धिज्म (उत्तरी बौद्धधर्म के देवता)
१५ विंटरनित्ज़ हिस्टरी ऑफ इंडियन लिटरेचर (भारतीय साहित्य का इतिहास) भाग २

६ तांत्रिकधर्म

१ ऐवलॉन द ग्रेट लिबरेशन (महानिर्वाणतंत्र)
२ ऐवलॉन गार्लैण्ड ऑफ लैटर्स (मंत्रशास्त्र में वर्णमाला अध्ययन)
३ ऐवलॉन द वर्ल्ड ऐज पॉवर (शक्ति के रूप में संसार)
४ ऐवलॉन प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्र (तन्त्र के सिद्धान्त) २ भाग
५ एस० बी० दासगुप्त ऐन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म (तांत्रिक बौद्धधर्म की भूमिका)
६ एस० शास्त्री शक्ति
७ स्वेंघर 5 (युगानद्ध तांत्रिक जीवनादर्श)

८. पी० सी० बागची स्टडीज़ इन द तन्त्राज़ (तंत्रों का अध्ययन)
९. पेन द शाक्ताज़ ऑफ़ बंगाल (बंगाल के शाक्त)
१० एम० आर० शास्त्री (सम्पादित) अभिनव तंत्र-सार
११ एस० बी० दासगुप्त ऑब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स (अप्रचलित धार्मिक सम्प्रदाय)

७. भक्ति-आन्दोलन

१ जे० ई० कार्पेन्टर थीइज़्म इन मेडीवल इंडिया (मध्ययुगीन भारत में ईश्वरवाद)
२ बी० कुमारप्पा द हिन्दू कन्सेप्शन ऑफ़ डीटी ऐज़ कल्मिनेटिंग इन रामानुज (रामानुज में उत्कर्षप्राप्त इष्टदेव की हिन्दू धारणा)
३ निकल मैकनिकल इंडियन थीइज़्म (भारतीय ईश्वरवाद)
४ ऑटो इंडियाज़ रिलिजन ऑफ़ ग्रेस (भारत का भक्तिधर्म)
५ राधाकुमुद मुकर्जी द थ्योरी ऐंड आर्ट ऑफ़ मिस्टिसिज़्म (रहस्यवाद सिद्धान्त और कला)
६ आर० जी० भंडारकर वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स (वैष्णवधर्म, शैवधर्म तथा गौण धार्मिक सम्प्रदाय)
७. डी० एम० मल्लिक फ़िलासफ़ी ऑफ़ वैष्णव रिलिजन (वैष्णवधर्म का दर्शन)
८ फार्कुहर आउटलाइन ऑफ़ रिलिजस लिटरेचर ऑफ़ इंडिया (भारत के धार्मिक साहित्य की रूपरेखा)
९. आयंगर अर्ली हिस्टरी ऑफ़ वैष्णविज़्म इन साउथ इंडिया (दक्षिणभारत में प्रारम्भिक वैष्णवधर्म का इतिहास)
१० एस० के० दे अर्ली हिस्टरी ऑफ़ वैष्णव फ़ेथ ऐण्ड मूवमेंट इन बंगाल (बंगाल में प्रारम्भिक वैष्णवधर्म तथा आन्दोलन का इतिहास)
११ राय चौधुरी मैटीरियल्स फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ द अर्ली हिस्टरी ऑफ़ द वैष्णव सेक्ट (वैष्णवधर्म के प्रारम्भिक इतिहास के अध्ययनार्थ सामग्री)
१२ बी० के० गोस्वामी भक्तिकल्ट इन ऐन्शेण्ट इंडिया (प्राचीन भारत में भक्ति-सम्प्रदाय)
१३ विवेकानन्द भक्तियोग
१४ रवीन्द्रनाथ ठाकुर वन हंड्रेड पोएम्स ऑफ़ कबीर (कबीर के सौ पद)
१५. एम० एम० बोस पोस्ट-चैतन्य सहजीय कल्ट ऑफ़ बंगाल (बंगाल का चैतन्योत्तर सहज-सम्प्रदाय)
१६ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल निर्गुण पोएट्री इन हिन्दी लिटरेचर (हिन्दी साहित्य में निर्गुणकाव्य)
१७ के० एम० सेन मेडीवल मिस्टिसिज़्म इन इंडिया (भारत में मध्यकालीन रहस्यवाद)
१८ रानाडे मिस्टिसिज़्म इन महाराष्ट्र (महाराष्ट्र में रहस्यवाद)
१९ जे० एस० एम० हूपर हिम्स ऑफ़ द आलवर्स (आलवार संतों के भजन)

२० राधाकमल मुकर्जी द मार्च ऑफ द ऑटम मून (हेमन्ती चन्द्रमाओं का स्वामी)

८ भारतीय संस्कृति का प्रसार

१ आर० सी० मजूमदार ऐन्शेण्ट इंडियन कॉलोनीज इन द फ़ार ईस्ट (सुदूरपूर्व में प्राचीन भारतीय उपनिवेश) २ भाग
२ एच० जी० क्वू० वेल्स द मैकिंग ऑफ़ ग्रेटर इंडिया (बृहत्तर भारत का निर्माण)
३ आ० सी ले द कल्चर ऑफ़ साउथ ईस्ट एशिया (दक्षिण-पूर्वी एशिया की संस्कृति)
४ बी० आर चटर्जी इंडियन कल्चरल इन्फ्लुएंस इन कम्बोडिया (कम्बोडिया में भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव)
५ जी० सी० कोएडीज ले एताव इंदूसि 'इंदोचीन एत द' इंदोनेसी
६ राधाकुमुद मुखर्जी हिस्टरी ऑफ़ इंडियन शिपिंग (भारतीय नौपरिवहन का इतिहास)
७ ए० के० कुमारस्वामी हिस्टरी ऑफ़ इंडियन ऐण्ड इंडोनेशियन आर्ट (भारतीय और इंडोनेशियाई कला का इतिहास)
८ एल आर रे ब्राह्मनिकल गॉड्स इन बर्मा (बर्मा में ब्राह्मण देवता)
९ जे० फ़० वॉगेल बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया सीलोन ऐण्ड जावा (भारत श्रीलंका और जावा में बौद्धकला)
१० सेस्तेमा मॉन्यूमेंटस जावा (महान जावा)
११ एन० जे० क्रॉम द लाइफ़ ऑफ़ बुद्ध ऑन द स्तूप ऑफ़ बोरोबुदुर (बोरोबुदुर के स्तूप पर बुद्ध का जीवनचरित)
१२ डब्ल्यू० एच० शॉफ़ पेरिप्लस ऑफ़ द एरीथ्रियन सी (एरीथ्रियन सागर का पेरिप्लस)
१३ ई० एच० वार्मिंगटन कॉमर्स बिट्वीन रोमन एम्पायर ऐण्ड इण्डिया (रोमन साम्राज्य तथा भारत के बीच व्यापार)
१४ एच० जी० रॉलिन्सन इण्टरकोर्स बिट्वीन इण्डिया ऐण्ड द वेस्टर्न वर्ल्ड (भारत और पश्चिमी संसार का सम्बन्ध)
१५ जी० ई० जेरिनी रिसर्चेज़ ऑन टॉलेमीज ज्योग्रैफ़ी (टालेमी कृत भूगोल पर खोजें)
१६ एम० एन० मजूमदार शास्त्री ऐन्शेण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टालेमी (टालेमी के अनुसार प्राचीन भारत)
१७ एच० ज़िमर द आर्ट ऑफ़ इण्डियन एशिया (भारतीय एशिया की कला)
१८ पी० सी० बागची इण्डिया ऐण्ड चाइना (भारत और चीन)
१९ फ़ुङ् यू-लान द स्पिरिट ऑफ़ चाइनीज फ़िलासफ़ी (चीनी दर्शन की आत्मा)
२० पी० सी० बागची ल कानोन बुद्धीक एन चीने
२१ ल्युई ची ए शॉर्ट हिस्टरी ऑफ़ चाइनीज सिविलिज़ेशन (चीनी सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास)
२२ एफ़० डब्ल्यू० टॉमस इण्डियनिज्म ऐण्ड इट्स एक्सपंशन (भारतीयता और उसका प्रसार)

२३ आर० सी० मजूमदार ऐन्शेन्ट इण्डियन कोलोनाइजेशन इन साउथ ईस्ट एशिया (दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्राचीन भारतीय उपनिवेशीकरण)
२४ ए० जे० बी० केम्पस कल्चरल रिलेशन्स बिटवीन इण्डिया ऐण्ड जावा (भारत और जावा के सांस्कृतिक सम्बन्ध)
२५ बी० सी० मैंडिस द अर्ली हिस्टरी ऑफ सीलोन (सीलंका का आदि-इतिहास)
२६ एच० डब्ल्यू० कॉडरिंग्टन ए शॉर्ट हिस्टरी ऑफ सीलोन (सीलंका का संक्षिप्त इतिहास)
२७ वी० ए० स्मिथ ए हिस्टरी ऑफ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन (भारत और सीलंका की ललित कला का इतिहास)
२८ एन० आर० र थेरवाद बुद्धिज्म इन बर्मा (बर्मा में थेरवाद बौद्धधर्म)
२९ बी सी० लॉ सासन वंश (पवित्र बौद्ध-ग्रन्थमाला)
३० एम० एच० बोडे पाली लिटरेचर इन बर्मा (बर्मा में पाली साहित्य) आर० ए० एस०
३१ जी० पी० मललसेकर पाली लिटरेचर इन सीलोन (सीलंका में पाली-साहित्य) आर० ए० एस०

९ कला का इतिहास

१ ए० के० कुमारस्वामी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनीशियन आर्ट (भारतीय और इण्डोनेशियाई कला का इतिहास)
२ ए० के० कुमारस्वामी द मिरर ऑफ जेस्चर (अभिनयदर्पण)
३ ए० के० कुमारस्वामी द डान्स ऑफ शिव (शिव का ताण्डव)
४ ए० के० कुमारस्वामी द यक्षाज (यक्ष) २ भाग
५ वी० ए० स्मिथ हिस्ट्री ऑफ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन (भारत और सीलंका की ललित कला का इतिहास)
६ एच० ज़िमर मिथ्स ऐण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलिजेशन (भारतीय कला और सभ्यता में कल्पना और प्रतीक)
७ ई० बी० हैवेल आइडियल्स ऑफ इण्डियन आर्ट (भारतीय कला के आदर्श)
८ ई बी० हैवेल इण्डियन स्कल्पचर ऐण्ड पेंटिंग (भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला)
९ पर्सी ब्राउन इण्डियन आर्किटेक्चर (भारतीय वास्तुकला) २ भाग
१० एस काम्रोश अर्ली इण्डियन स्कल्पचर (आदिभारतीय मूर्तिकला) २ भाग
११ स्टेला क्रामरीश इण्डियन स्कल्पचर (भारतीय मूर्तिकला)
१२ स्टेला क्रामरीश द हिन्दू टेम्पिल्स (हिन्दू मन्दिर)
१३ बी रोलैण्ड द आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया (भारत की कला और वास्तु)
१४ ओ० सी० गांगुली साउथ इण्डियन ब्रॉन्ज़ (दक्षिण भारतीय कांस्य प्रतिमाएं)
१५ ओ० सी० गांगुली राजपूत पेंटिंग्स (राजपूत चित्रकला)

१६ ओ० सी० गांगुली रागाज ऐण्ड रागिनीज (राग और रागिनी)
१७ एन० सी० मेहता स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग (भारतीय चित्रकला के परिशीलन)
१८ मुल्कराज आनन्द हिन्दू व्यू ऑफ़ आर्ट (हिन्दू कलादर्श)
१९ बर्जेस केव टैम्पिल्स ऑफ़ इण्डिया (भारत के गुफा मन्दिर)
२० फ़र्ग्युसन केव टैम्पिल्स ऑफ़ इण्डिया (भारत के गुफा मन्दिर)
२१ कामरीश ए सर्वे ऑफ़ पेंटिंग इन द डेकन (दक्षिण की चित्रकला का सर्वेक्षण)
२२ जी० यजदानी तथा अन्य अजन्ता ३ भाग
२३ ग्रनेसाकी बुद्धिस्ट आर्ट (बौद्धकला)
२४ एच० जिमर द आर्ट ऑफ़ इण्डियन एशिया (भारतीय एशिया की कला)
२५. ग्रूसेट सिविलिजेशन्स ऑफ़ द ईस्ट (पूर्व की सभ्यताएं), २ भाग
२६ के० द बी० कॉडिंग्टन ऐन्शेण्ट इण्डिया (प्राचीन भारत)
२७ बी० एम० बरुआ भारहुत ३ भाग
२८ फूशर और मार्शल द मॉन्यूमेण्ट्स ऑफ़ साँची (साँची के स्मारक) ३ भाग
२९ स्त्रीगॉवस्की तथा अन्य द इन्फ्लुएन्स ऑफ़ इण्डियन आर्ट (भारतीय कला का प्रभाव)

१० साहित्य और दर्शन

१ एम० विंटरनिट्ज़ हिस्टरी ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर (भारतीय साहित्य का इतिहास)
२ ए० बी० कीथ हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर (संस्कृत साहित्य का इतिहास)
३ ए० बी० कीथ संस्कृत ड्रामा (संस्कृत नाटक)
४ ए० बी० कीथ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (प्राचीन संस्कृत साहित्य)
५. ए० ए० मैक्डॉनल हिस्टरी ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर (संस्कृत साहित्य का इतिहास)
६ एस० एम० दासगुप्त और एस० के० दे हिस्टरी ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर (संस्कृत साहित्य का इतिहास)
७ एस० एन० दासगुप्त हिस्टरी ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी (भारतीय दर्शन का इतिहास) ४ भाग
८ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् इण्डियन फ़िलासफ़ी (भारतीय दर्शन) २ भाग
९ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (सम्पादित) हिस्टरी ऑफ़ फ़िलासफ़ी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न (पूर्वी और पश्चिमी दर्शन का इतिहास) भाग १
१० राधाकुमुद मुकर्जी मेन एण्ड थॉट इन ऐन्शण्ट इण्डिया (प्राचीन भारत में मानव और दर्शन)
११ बी० सी० लॉ हिस्टरी ऑफ़ पाली लिटरेचर (पाली-साहित्य का इतिहास)
१२ मूर (सम्पादित) एसज इन ईस्ट-वेस्ट फ़िलासफ़ी (पूर्व और पश्चिम के दर्शन पर निबन्ध)
१३ रेने गेनन इण्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ़ द हिन्दू डॉक्ट्रीन्स (हिन्दू सिद्धान्तों के

अध्ययन की भूमिका)
१४ एच॰ भट्टाचार्य (सम्पादित) द कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया (भारत का सांस्कृतिक दाय), भाग ३ (दूसरा संस्करण)
१५ एच॰ एच॰ विल्सन थियेटर ऑफ़ द हिन्दूज (हिन्दू नाटक)
१६ बी॰ बी॰ दत्त और ए॰ एन॰ सिंह हिस्टरी ऑफ़ हिन्दू मैथमेटिक्स (हिन्दू गणित का इतिहास)
१७ बी॰ एन॰ सील पॉजिटिव साइंसेज ऑफ़ द ऐंशेन्ट हिन्दूज (प्राचीन हिन्दू विज्ञान)
१८ विनयकुमार सरकार हिन्दू एचीवमेंट्स इन एक्जैक्ट साइंस (विज्ञान की हिन्दू उपलब्धियां)
१९ डी॰ सी॰ सेन वैष्णव लिटरेचर ऑफ़ मेडीवल बंगाल (मध्यकालीन बंगाल का वैष्णव-साहित्य)
२० पी॰ के॰ आचार्य ग्लोरीज ऑफ़ इंडिया (भारत के गौरव)
२१ डी॰ सी॰ सेन हिस्टरी ऑफ़ बंगाली लिटरेचर ऐण्ड लैंग्युएज (बंगला साहित्य तथा भाषा का इतिहास)
२२ जी॰ ग्रियर्सन मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान (भारत की आधुनिक देशीय भाषाओं का साहित्य)
२३ फ़ार्कुहर आउटलाइन ऑफ़ द रिलीजस लिटरेचर ऑफ़ इंडिया (भारत के धार्मिक साहित्य की रूपरेखा)
२४ मैकालिफ़ सिख रिलीजन इट्स गुरुज सेक्रेड राइटिंग्स ऐंड ऑथर्स (सिख धर्म गुरु पवित्र ग्रंथ तथा रचयिता)
२५ एस॰ के॰ दे हिस्टरी ऑफ़ बंगाली लिटरेचर इन द नाइंटीन्थ सेंचुरी (उन्नीसवीं शताब्दी के बंगला साहित्य का इतिहास)

११ मध्य और मुगल काल

१ के॰ एम॰ अशरफ़ लाइफ़ ऐंड द कंडीशन्स ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ हिन्दुस्तान (हिन्दुस्तान के लोगों का जीवन और उनकी परिस्थितियां), १२००–१५५० ईस्वी
२ ई॰ सी॰ सचाऊ (अनुवाद) अल-बेरूनीज इंडिया (अल-बरूनी का भारत)
३ एच॰ जी॰ रैवर्टी (अनुवाद) तबकात-ए-नासिरी
४ अबुल फ़ज़ल आइना-ए-अकबरी (अनुवाद)
५ अबुल फ़ज़ल अकबरनामा (अनुवाद)
६ ख़फ़ी खां मुंतख़ाब-उल-लुबाब
७ टैवर्नियर ट्रैवेल्स इन इंडिया (भारत भ्रमण)
८ बर्नियर ट्रैवेल्स इन द मुग़ल एम्पायर (मुगल साम्राज्य में यात्राएं)
९ द लाएत द इम्पेरियो माग्नी मोगोली सिवे इंडिया वेरा कोमेन्तारियस एक्स वारी ओक्तोरिबस कोंगेस्तस (कैलकटा रिव्यू अक्तूबर १८७०, जनवरी १८७१ जुलाई, १८७१, और इंडियन ऐंटिक्वेरी नवम्बर १९१४)

१० सर आर० टम्पिल (सम्पादित) ट्रैवेल्स ऑफ पीटर मंडी इन यूरोप ऐंड एशिया (यूरोप और एशिया में पीटर मंडी की यात्राएं) १६०८–१६६७
११ मानूची स्तोरिया दो मोगोर (१६११ १७०८)
१२ चन्द्रभान चहार चुमदन
१३ गुलाम हुसैन सियार-उल-मुतखरीन
१४ बर्नीर ट्रैव पिलग्रम्स (उसकी यात्राएं)
१५ गुलाम हुसैन सलीम रियाज-उस-सलातीन
१६ सुजान राय खुलासात उत-तवारीख
१७ आर० सीवेल ए फॉरगॉटेन एम्पायर (एक विस्मृत साम्राज्य)
१८ राधाकुमुद मुकर्जी इकॉनमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया (भारत का आर्थिक इतिहास), १६००–१८००
१९ बाबरनामा
२० एच० जी० रेवर्टी (अनुवाद) नोट्स ऑन अफ़गानिस्तान (अफ़गानिस्तान पर टिप्पणियां)
२१ एच० एम० एलियट और जे० डॉसन हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स (भारत का इतिहास भारतीय इतिहासकारों के मुख से) खंड १ और २
२२ एस० बिन्यन अकबर

१२ उन्नीसवीं शताब्दी का पुनर्जागरण

१ सी० एफ० ऐंड्र्यू इंडियन रिनायसां (भारतीय पुनर्जागरण)
२ ए० के० कुमारस्वामी एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म (राष्ट्रीय वैचारिकता पर निबन्ध)
३ रवीन्द्रनाथ ठाकुर द रैलिजन ऑफ मैन (मानव धर्म)
४ ए० यूसुफ अली कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया (भारत का सांस्कृतिक इतिहास)
५ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् वैचारिक जीवनादर्श
६ महादेव गोविन्द रानडे रिलिजस ऐंड सोशल रिफ़ॉर्म (धार्मिक और सामाजिक सुधार)
७ फर्क्हर मॉडर्न रिलीजस मूवमेंट्स इन इंडिया (भारत के आधुनिक धार्मिक आन्दोलन)
८ आर० रोलँ प्राफेट्स ऑफ द न्यू इंडिया (नये भारत के मसीहा)
९ एन चटर्जी राममोहन का जीवनचरित (बंगला में)
१० आर० चटर्जी राममोहन रे ऐंड मॉडर्न इंडिया (राममोहन राय और आधुनिक भारत)
११ सी० बन्द्योपाध्याय विद्यासागर का जीवन चरित (बंगला में)

१२ अरविन्द घोष द लाइफ़ डिवाइन (दैवी जीवन)
१३ स्वामी निखिलानन्द द गॉस्पेल ऑफ़ श्रीरामकृष्ण (श्रीरामकृष्ण का सन्देश)
१४ एल० एस० एस० ओ० मैली मॉडर्न इंडिया ऐंड द वेस्ट (आधुनिक भारत और पश्चिम)
१५ डंकरबुक कंटेम्परेरी इंडियन थॉट (समसामयिक भारतीय दर्शन)

१३ सामाजिक और राजनीतिक इतिहास

१ राधाकुमुद मुकर्जी हिन्दू सिविलिजेशन (हिन्दू सभ्यता)
२ मैक्समूलर इंडिया व्हाट कैन इट टीच अस ? (भारत हमें क्या सिखा सकता है ?)
३ पी० मैसन आवर्सेल ऐंशेन्ट इंडिया ऐंड इंडियन सिविलिज़ेशन (प्राचीन भारत और भारतीय सभ्यता)
४ हिस्टरी ऐंड कल्चर ऑफ़ इण्डियन पीपुल (भारत-निवासियों का इतिहास और उनकी संस्कृति) भारतीय विद्याभवन के प्रकाशन
५ पी० वी० केन हिस्टरी ऑफ़ धर्मशास्त्र (धर्मशास्त्र का इतिहास) ३ भाग
६ राधाकुमुद मुकर्जी ऐंशेंट इण्डियन एजूकेशन (प्राचीन भारतीय शिक्षा)
७ ए० एस० अल्तेकर द पोज़ीशन ऑफ़ वीमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन (हिन्दू सभ्यता में स्त्रियों की स्थिति)
८ पी० एन० बनर्जी हिन्दू सोशल इन्स्टीट्यूशन्स (हिन्दू सामाजिक संस्थाएं)
९ एन० बनर्जी इकनौमिक लाइफ़ इन ऐंशेंट इण्डिया (प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन)
१० ए० बोस सोशल ऐंड रूरल इकनौमी ऑफ़ नार्दर्न इण्डिया (उत्तरभारत की सामाजिक और ग्रामीण अर्थव्यवस्था) २ भाग
११ राधाकुमुद मुकर्जी द इकनौमिक हिस्टरी ऑफ़ इण्डिया (भारत का आर्थिक इतिहास) १६००–१८०० ईसवी
१२ राधाकमल मुकर्जी द लैंड प्रॉब्लम्स ऑफ़ इण्डिया (भारत की भूमि-सम्बन्धी समस्याएं)
१३ राधाकमल मुकर्जी द इण्डियन स्कीम ऑफ़ लाइफ़ (भारतीय जीवन-पद्धति)
१४ घोषाल हिन्दू रैवेन्यू सिस्टम (हिन्दू भूमिकर-व्यवस्था)
१५ घोषाल एग्रेरियन सिस्टम ऑफ़ ऐंशेंट इण्डिया (प्राचीन भारत की भूमि व्यवस्था)
१६ राधाकुमुद मुकर्जी लोकल गवर्नमेंट इन ऐंशेंट इण्डिया (प्राचीन भारत में स्थानीय शासन)
१७ आर० सी० मजूमदार कॉरपोरेट लाइफ़ इन ऐंशेंट इण्डिया (प्राचीन भारत में सामुदायिक जीवन)
१८ बी० के० सरकार पॉलिटिकल बैकग्राउंड ऑफ़ हिन्दू सोशियोलोजी (हिन्दू समाजशास्त्र की निश्चित पृष्ठभूमि)
१९ आर० फ़िक सोशल ऑर्गनाइज़ेशन इन नॉर्थ-ईस्ट इण्डिया (उत्तर पूर्वी भारत में सामाजिक संगठन)

भारतीय सभ्यता की समय-सारणी

भारत में सभ्यता का उदय (लगभग ३०००–१०००)

२८०० ईसापूर्व	अस्मर घाटी में प्राप्त सिंधु घाटी की सिलिंडर मुहरें तथा मधुन घाटी में प्राप्त स्टियटाइट का बर्तन।
२७००	किश में प्राप्त सिंधु घाटी की मुहरें।
२८००–२५००	मोहनजोदड़ो में प्राप्त सुमेर-बाबुली अभिलेखयुक्त मिट्टी का बर्तन।
	सिंधु घाटी की मुहरें जिनपर पशुओं के स्वामी शिव-पशुपति का चित्र खुदा है। मिट्टी की पकाई हुई मूर्तियां जिनसे 'महान माता' की पूजा का संकेत मिलता है।

वैदिक संस्कृति (लगभग १५००–८००)

२०००–१०००	सप्त-सरस्वती में आर्यों का आगमन
लगभग १३७५	एशिया माइनर में ऋग्वेद के चार देवताओं की पूजा।
	सप्त-सरस्वती में भरत
	ऋग्वेद की ऋचाएं और ऋषि
लगभग १०००	महाभारत
	कृष्ण
	जनक प्रवहण जैवलि याज्ञवल्क्य
	कपिल
लगभग ८१७	पार्श्वनाथ
	वैदिक ब्राह्मण और आरण्यक

दर्शन का काल वेदान्त बौद्धधर्म और जैनधर्म (लगभग ६००–४००)

लगभग ६६०–५२०	'उपनिषद्'
५९९–५२७	महावीर वर्द्धमान

	आजीविक सम्प्रदाय के संस्थापक मस्करी गोसाल। यह सम्प्रदाय कम से कम तेरहवीं शताब्दी तक जीवित रहा।
५६३–४८३	बुद्ध
लगभग छठी शताब्दी	वाल्मीकि
लगभग ५००	'गृह्यसूत्र' 'धर्मसूत्र' और 'शुल्वसूत्र'
४८३	राजगृह में सर्वप्रथम बौद्धसभा
लगभग ४५०	पाणिनि
४००	'रामायण' और 'महाभारत' (तथा अपने वर्तमानरूप में 'भगवद्गीता')। भरतों के (भारती) भाषा और संस्कृति के साथ भारत का सम्बन्ध जोड़ना।
	भागवतधर्म और शैवधर्म का उदय।
३८३	वैशाली में द्वितीय बौद्ध सभा।

मौर्य-पुनर्जागरण तथा प्रथम भारतीय साम्राज्य (लगभग ३२२–१५०)

३२२–१८४	मौर्य-साम्राज्य
	कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र'
	दासों की स्वतन्त्रता। आर्यत्व के नामों पर जोर। पांच हीन जातियों में वर्ण का विभाजन।
	बौद्ध संन्यासवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया।
	वर्णाश्रमधर्म की पुनर्स्थापना।
लगभग तीसरी से दूसरी शताब्दी तक	वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र'
लगभग ३००	पाटलिपुत्र में प्रथम जैन सभा
लगभग २७३–२३२	अशोक तथा सीरिया, मिस्र, मकेदोनिया आदि पश्चिमी देशों तथा नेपाल, श्रीलंका, सुवर्णभूमि आदि पूर्वी देशों को भेजे गए आध्यात्मिक विजय के मिशन। श्रीलंका में संघमित्रा द्वारा बोधिवृक्ष की एक जड़ का आरोपण। अशोक के स्तंभ तथा शिलाभिलेख।
	मौर्य-साम्राज्य की कला के उदाहरण सारनाथ के अशोकस्तंभ सिंह परगहा, रामपुरवा का बैल परगहा।
	लोककला के उदाहरण दीदारगंज में प्राप्त विशाल यक्षी, धौलि में चट्टान पर तराशा गया हाथी।

चौथी से तीसरी शताब्दी तक	उत्तर-पश्चिम में खरोष्ठि वर्णमाला का प्रचलन।
तीसरी शताब्दी	हेमवन्त, काबुल, आमू और सीता नदियों के काँठों में भारतीय संस्कृति का प्रसार। सीस्तान और काबुल 'श्वेत भारत' के नाम से ख्यात।
तीसरी से पहली शताब्दी तक	सांची का स्तूप जिसमें बौद्ध प्रतीकों को रिलीफ के रूप में प्रस्तुत किया गया तथा बौद्धकथाओं को अंकित किया गया।

उत्तर-पश्चिम में शकों और यवनों का आगमन
(लगभग २०० ईसापूर्व से ईसा सन् के आरंभ तक)

तीसरी से पहली शताब्दी तक	गांधार और बाख्त्र में बैक्ट्रियाई यूनानी, उनका भारतीयकरण।
३१ ईसापूर्व से ७० ईस्वी तक	पश्चिमी भारत में शकों का आधिपत्य। भारतीय-शक मूर्तिकला का मथुरा में प्रादुर्भाव। बुद्ध की मूर्तियों का स्वरूप अनिवार्यतः शक हो गया।

शुंग और सातवाहन वंशों के अन्तर्गत ब्राह्मण-पुनरुत्थान
(लगभग १५० से ईसा सन् के आरंभ तक)

लगभग १८०–१५०	यवनों की पुष्यमित्र द्वारा पराजय और पुष्यमित्र के दो अश्वमेध यज्ञ।
लगभग १५०	पतंजलिकृत 'महाभाष्य'। 'कंसवध' और 'बालिबंध' नामक नाटकों का जिक्र जिनसे पशुबलि रहित और पंच महायज्ञों की व्यवस्था करनेवाले कृष्ण-भागवतधर्म की लोकप्रियता स्पष्ट मालूम पड़ती है।
लगभग १५०	भारहुत और बोधगया में बौद्ध मूर्तिकला।
लगभग १२५	आमू नदी के काँठे में स्थित यू चि में चीनी राजदूत चाङ् क्येन का आगमन।
१२०	यूडोक्सस द्वारा मिस्र से भारत की सर्वप्रथम सीधी समुद्र-यात्रा।
लगभग ११५	बौद्धधर्म में दीक्षित यूनानी हेलियोडोरस द्वारा विदिशा में गरुड़ ध्वज की स्थापना।
लगभग १००	'मिलिन्दपञ्ह'। यवन, हिन्दू और बौद्ध दार्शनिकों और व्यापारियों का मिलन-स्थल शाकल।
पहली शताब्दी ईसापूर्व	मनु का 'धर्मशास्त्र'।
८९ से ४० ईसापूर्व	श्रीलंका के वट्टगामनि अभयसेन में पाली धर्मग्रंथों का लेखन।

लगभग ६०	खोतान में बौद्धधर्म का प्रवेश।
५०	राजा खारवेल द्वारा कलिंग में जैनधर्म का पुनरुत्थान और मथुरा के भारतीय-यूनानियों पर उसकी विजय।
लगभग ४४ से २९	सिंहल में तमिल राजाओं का शासन।
लगभग २६ से २०	दक्षिणभारत का राजदूत सम्राट आगस्टस के दरबार में।
२ ईसापूर्व	यू-ची शासकों द्वारा चीन के सम्राट को बौद्ध धर्मग्रंथों और मूर्तियों की भेंट।
पहली शताब्दी ईसापूर्व से सातवीं शताब्दी ईस्वी	अजंता की मूर्तिकला और चित्रकला। यह वास्तव में एक राष्ट्रीय कला-सम्प्रदाय था जिसके प्रतीकों और शैली का प्रयोग दक्षिण और पूर्वी एशिया में शताब्दियों तक होता रहा।
४५ ईस्वी	हिप्पालस द्वारा अरब सागर के मानसून की खोज।

एशियाई एकता का पहला युग एशिया महाद्वीप पर बौद्धधर्म का प्रसार
(लगभग ६० ईसापूर्व से १०० ईस्वी तक)

लगभग ६५ ईसापूर्व	धर्मरत्न और मातंग द्वारा चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश। चीन में प्रथम बौद्ध मठ चांगन में श्वेत अश्वमठ की स्थापना।
७५ ईसापूर्व	पश्चिमी भारत के राजा अजिशक द्वारा जावा का उपनिवेशीकरण।
लगभग ८५	कनिष्क के शासनकाल (लगभग ७८–१०१) में कुंडलवन विहार में महायान का प्रारंभ। कनिष्क ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया। अपनी राजधानी पुरुषपुर में एक विहार तथा अवशेषों की प्रतिष्ठा के लिए एक सुन्दर मीनार बनवाई। अश्वघोष धर्मत्रात वसुमित्र पार्श्व आर्यदेव कुमारलब्ध चरक नागार्जुन संघरक्ष और एजिसिलाओस।
पहली शताब्दी ईस्वी	नागार्जुन का माध्यमिक सम्प्रदाय।
पहली शताब्दी से दूसरी शताब्दी ईस्वी तक	कोरोमंडल तट पर अरिकमेडु एक प्रमुख व्यापारिक स्थान। भूमध्यसागरीय देशों के साथ व्यापार। मुज़िरिस बन्दरगाह पर आगस्टस के मन्दिर का निर्माण। कावेरीपट्टिनम् पर यवन बस्तियां तथा मोती और सुपारी का रोमक साम्राज्य के लिए निर्यात (लगभग ८०–१०० में एरिथ्रियन सागर के पेरिप्लस द्वारा वर्णित)।

७१ ईसापूर्व से २१८ ईस्वी तक	दक्षिण में समुद्र-समीपस्थ सातवाहन साम्राज्य और उसके महोदय। यज्ञश्री सातकर्णि के सिक्कों में दो मस्तूलों वाले जहाजों की अनुकृति है जिससे उसकी नाविक शक्ति का आभास होता है।
	बर्मा के थाटोन में बौद्धधर्म का प्रवेश। आन्ध्र के लेखों से यह तथ्य प्रमाणित होता है।
पहली शताब्दी ईसापूर्व से सातवीं शताब्दी ईस्वी	पल्लवों का समुद्र-समीपस्थ साम्राज्य तथा महोदय। उन्होंने पड़ोसियों के लगातार दबाव के कारण प्रारम्भ से ही बृहत्तर भारत और इण्डोनेशिया में उपनिवेशीकरण की सुनियोजित नीति को अपनाया।
पहली शताब्दी ईस्वी	कौण्डिन्य द्वारा कम्बुज में हिन्दू उपनिवेश की स्थापना।
दूसरी शताब्दी	श्री-मार द्वारा स्थापित चम्पा में हिन्दू उपनिवेश वो-चान्ह में प्राप्त एक प्राचीनतम संस्कृत अभिलेख, जो एक प्रारम्भिक दक्षिणभारतीय लिपि में है।
	मंगवेषु और उनके पुत्र भगदत्त द्वारा मलय प्रायद्वीप में स्थापित हिन्दू उपनिवेश।
	देववर्मन द्वारा पश्चिमी जावा में हिन्दू उपनिवेश की स्थापना।
पहली से दूसरी शताब्दी तक	अमरावती की कला तथा बर्मा स्याम जावा और सुमात्रा की औपनिवेशिक कला पर उसका प्रभाव।
	मथुरा विदिशा और अमरावती की कला।
पहली अथवा दूसरी शताब्दी	गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा'। इसमें समुद्री साहसिकों के व्यापार तथा साहसिक कार्यों की कहानियां हैं, जिनमें इन साहसी पुरुषों की द्वीपान्तर भारत (कटाह कर्पूर तथा सुवर्ण द्वीपों) की यात्राएं भी शामिल हैं।
पहली से सातवीं शताब्दी तक	गंधार की भारतीय-यूनानी कला। बामियां बैक्ट्रिया, खोतान, मिस्र रूस और तुर्किस्तान तक इस कला का विस्तार।
दूसरी शताब्दी	'ललितविस्तर'।
दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी	'सद्धर्मपुण्डरीक' तथा आर्यशूरकृत 'जातकमाला'।
२५० ईस्वी	खोतान स्थित गोमती-विहार के भारतीय भिक्षुओं के निर्देशन में चीनी भिक्षु चू शि-हिङ द्वारा बौद्धधर्म ग्रन्थों का संकलन।
२६५–३१६	दिव्यावदान तथा 'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र' के चीनी अनुवाद।
दूसरी से तीसरी शताब्दी तक	गंधार वास्तुकला का मौलिक युग।

गुप्त संस्कृति का स्वर्णयुग

तीसरी से चौथी शताब्दी तक	बमियाम में बुद्ध की विशाल मूर्ति (१२०–१७५ फुट ऊंची)। यह मूर्ति हिन्दूकुश तथा कोह-ए-बाबा की घाटी से होकर भारत को आनेवाले मार्ग के पास थी। इसी मूर्ति से प्रेरणा ग्रहण करके युन-काङ तथा लुङ-मेन (चीन) तथा नारा (जापान) में बुद्ध की विशाल मूर्तियां बनाई गईं।

एशियाई एकता का दूसरा युग

३००	'योगसूत्रों पर 'व्यास-भाष्य'।

द्वीपान्तर भारत में उपनिवेश और राज्य
(१००–८०० ईस्वी)

	'मीमांसा पर 'शबर-भाष्य'।
लगभग ३००–३५०	असंग और वसुबन्धु तथा योगाचार की स्थापना।
३५०–४००	'ब्रह्मसूत्र'
तीसरी अथवा चौथी शताब्दी	ईश्वर कृष्णकृत 'सांख्य-कारिका'
चौथी शताब्दी	एक कलिंग राजकुमारी बुद्ध के विख्यात दन्त-अवशेष को द्वीपान्तर से सिंहल ले गई।
	चम्पा का उपनिवेशीकरण। इसका संकेत हमें एक शिवलिंग की स्थापना के सम्बन्ध में भद्रवर्मन के संस्कृत अभिलेख से मिलता है।
	बोर्नियो का उपनिवेशीकरण। इसका संकेत हमें कुटेई के अभिलेख से मिलता है जिसमें एक यूप की स्थापना तथा गोदान का जिक्र है।
३४४–४१२	चीनी बौद्धधर्म के महान नेता कुमारजीव तथा चीन की राजधानी चाङ्-आन में उनका मिशन (४०१–४१२)। वहां पर उन्होंने लगभग १०६ बौद्धग्रन्थों का अनुवाद किया और चीन में महायान के प्रसारार्थ किसी भी अन्य भिक्षु विद्वान से अधिक योग दिया।
४१२–४३४	महाथेर बुद्धघोष की श्रीलंका और बर्मा यात्राएं।
३२०–५३५	महान गुप्त-साम्राज्य। अभिलेखों और साहित्य में निर्देश है कि इस साम्राज्य का विस्तार उत्तरभारत वक्ष तक भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश तथा भारत महासागर के द्वीपों तक था। समुद्रगुप्त के दरबार में श्रीलंका के सम्राट मेघवर्ण

	का राजदूत था। (लगभग ३६०)।
लगभग ४५५	भारत पर हूणों का आक्रमण। हूणों पर स्कन्दगुप्त की चिर स्मरणीय विजय तथा उसके द्वारा 'विक्रमादित्य' उपाधि की धारणा।
३६०–४००	शकस्थान में सासानियों के शासन की समाप्ति (लगभग ३८०–४००)।
४००–४४५	कालिदास की कृतियां जिनके द्वारा प्राचीन संस्कृत के स्वर्ण युग का आविर्भाव हुआ।
४००	कम्बुज पर (शायद पल्लववंश के ही) श्रुतवर्मा का शासन। अभिलेखों से विदित है कि वहां शैव वैष्णव और बौद्ध तीनों धर्म साथ-साथ फूल फल रहे थे।
४१४–४५४	गुप्त सम्राटों द्वारा प्रदत्त धन से *नालन्दा विश्वविद्यालय* की स्थापना।
४७५	मैत्रेक राजाओं द्वारा वलभी विश्वविद्यालय की स्थापना।
पांचवीं शताब्दी	सागर-पार के महोद्यम जिनका संकेत उत्तरी मलय के चार अभिलेखों से मिलता है इन अभिलेखों में रक्तमृत्तिक (बंगाल) के महानाविक बुद्धगुप्त का नाम है तथा उसके दानों का विवरण है।
	चीन में प्राचीन भारतीय धर्मप्रचारक।
४१४–४२१	'मध्यभारत' से धर्मक्षेम की चीन-यात्रा।
४२०	श्रीलंका से संघवर्मा की चीन-यात्रा।
४२६	बुद्धभद्र की नानकिङ यात्रा और उनका 'अवतंसकसूत्र' का अनुवाद।
४३१–४३७	कश्मीर के भिक्षुक राजा गुणवर्मन् ने श्रीलंका में अध्ययन और जावा में बौद्धधर्म के उपदेश देने (लगभग ४२१) के पश्चात् नानकिङ की यात्रा की।
४३१–४३४	बौद्ध भिक्षुणियों के दल श्रीलंका से चीन गए।
४३५–४४३	गुणभद्र ने भारत से चीन की यात्रा की और वहां लंकावतार-सूत्र का अनुवाद किया।
पांचवीं शताब्दी	६१ चीनी यात्रियों की भारत यात्रा।
	फाह्यान (३९९–४१४)।
४७६–४९९	प्रसिद्ध गणितज्ञ आर्यभट्ट।
पांचवीं से सातवीं शताब्दी तक	बौद्ध और ब्राह्मण कला की समृद्धि। मथुरा सारनाथ और अजन्ता में उत्कृष्ट बौद्ध तथा देवगढ़ उदयगिरि और ऐहोल

	में ब्राह्मण-कलाकृतियां।
पांचवीं शताब्दी	श्रीलंका के सिगिरिया (सिंहगिरि) के राजप्रासाद में भित्ति चित्रों पर अजन्ता की शैली और उसके मोटिफों का प्रभाव।
पांचवीं से दसवीं शताब्दी तक	वेई और तांग युगों के दौरान चीन में युन-कांग (३९८–४९४) लुङ्-मेन (४९४ के बाद) तथा तुन-हुआङ के गुफा-मन्दिरों में बौद्धकला पर गांधार और अजन्ता शैलियों का प्रभाव।
३२८	कोरिया में बौद्धधर्म का प्रवेश।
५३३	यशोधर्मन ने हूणों को जिनके नेता मिहिरगुल थे अन्तिम रूप से पराजित किया।
५३८	जापान में बौद्धधर्म का प्रवेश।
६०४	जापान में राष्ट्रीय धर्म के रूप में बौद्धधर्म को मान्यता।
६००–६५०	तिब्बत के राजा स्रोङ्-त्सान गाम-पो द्वारा उत्तरभारत पर आक्रमण। कश्मीर होकर तिब्बत में भारतीय वर्णमाला और लिपि का प्रवेश तथा प्रथम बौद्ध मन्दिरों का निर्माण।
६०६–६४७	हर्ष शिलादित्य तथा महायान बौद्धधर्म का पुनरुत्थान।
६४१	चीन में हर्ष का राजदूत।
६४३–६५७	वाङ्-ह्वेन-त्से के तीन भारतीय मिशन।
६८४	सुमात्रा (पालेमबांग) में महायान बौद्धधर्म का प्रवेश। अभिलेख द्वारा निर्दिष्ट।
सातवीं शताब्दी	५६ चीनी यात्रियों की भारत-यात्रा।
लगभग सातवीं शताब्दी	'कारिका' के रचयिता तथा शंकर के आध्यात्मिक पितामह गौड़पाद।
६३०–६४३	भारत में ह्वेनसांग
६७१–६९५	श्रीविजय और नालन्दा में ई-त्सिङ
छठी से आठवीं शताब्दी तक	पौराणिक हिन्दूधर्म तथा तांत्रिक धर्मों के प्रभाव के कारण बादामी एलोरा और एलीफेंटा में क्लासिकी और बारोक मध्ययुगीन ब्राह्मण-कला।
सातवीं शताब्दी	पल्लवों के काल में मामल्लपुरम् के एकाश्म-शिला-मन्दिर।

एशियाई एकता का तीसरा युग

७२९–११०७	महान पाल-साम्राज्य।

संस्कृति और कला का तांत्रिक पुनर्जागरण तथा नेपाल तिब्बत बृहत्तर भारत और इण्डोनीशिया में धर्म प्रसारकाल (७००–१२००)।

...वीं से दसवीं शताब्दियों तक	मूर्तिकला की पाल और सेन शैलियां और नेपाल तिब्बत बर्मा स्याम सुमात्रा तथा जावा की कला पर उनका प्रभाव। पहाड़पुर (विक्रमपुर) मुर्शिदाबाद और चौबीस परगना में उत्कृष्ट कृतियां।
	अजन्ता और एलोरा की परम्पराओं के समान एक प्रांजल किंतु ओजस्वी चित्रकला-सम्प्रदाय। नवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक की ताड़पत्र पर प्रज्ञापारमिता पांडुलिपियों में चित्रित अनेक वज्रयान देवताओं के चित्रों से यह बात स्पष्ट होती है।
...०–१०००	भुवनेश्वर की कला और वास्तु।
...१–७६२	तिब्बत के लिए शान्तरक्षित का मिशन तथा स्याम-या में प्रथम बौद्धमठ की स्थापना। *शान्तरक्षित के सहयोगी कमल* शील और पद्मसंभव (७४७)।
	शान्तरक्षित के उत्तराधिकारी शिष्यों और उपदेशकों की तिब्बती सूची पद्मवज्र अनंगवज्र इन्द्रभूति लक्ष्मींकरा लीलावज्र दारिक सहजयोगिनी चिन्ता, और डोम्बी हेरुक।
...८	बंगाल से बौद्ध तांत्रिक धर्म का जावा में प्रवेश। कुमारघोष द्वारा स्थापित कलसम मन्दिर में आर्यतारा को समर्पित अभिलेख में इसका संकेत है।
...८–८२८	शंकर, भारत पर उनकी दार्शनिक दिग्विजय तथा उनके चार धार्मिक मठों की स्थापना।
...२	कम्बोडिया में चारों तांत्रिक ग्रन्थों सहित देवराज (चतुर्मुख *शिवलिंग*) *के रहस्यवादी सम्प्रदाय का प्रवेश*। इसका जिक्र सिसोफान अभिलेख में है। जयवर्मन द्वितीय द्वारा देवराज मन्दिर का निर्माण।

राजपूत-पुनर्जागरण (लगभग ८००–११००)

...वीं से आठवीं शताब्दी तक	जातियों के अन्तर्मिश्रण से पवार परिहार, चौहान तथा सोलंकी नामक अग्निकुल राजपूतों का उदय।
...५–१०१८	कन्नौज के प्रतिहारों का साम्राज्य।
...००	अभिनवगुप्त।
...१८–१०५५	धारा के भोज।

११०६–१११८	नवद्वीप के लक्ष्मणसेन
११५३–११६४	अजमेर और कन्नौज के विग्रहराज चतुर्थ चहमान।
लगभग ११७०	जयदेवकृत 'गीतगोविन्द'
लगभग १२००	'पृथ्वीराजविजय'।
९५०–१०५०	चन्देल राजपूतों के प्रभुत्व में खजुराहो और महोबा की कला और वस्तु।

उत्तर के सिद्धाचार्यों और नाथगुरुओं का युग
(लगभग ९००–१२००)

लगभग ९००–१२००	नाथ-सम्प्रदाय के अधिष्ठाता मत्स्येन्द्रनाथ अथवा लुईपाद (दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)।
	गोरखनाथ (दसवीं शताब्दी) कृष्णपाद तैलिकपाद नरोप और सरहपाद।
लगभग ९५०	चीनी भिक्षु चे-यी बोधगया आए। इसका जिक्र सात बुद्ध प्रदर्शित करनेवाले एक प्रस्तर-खण्ड पर खुदे अभिलेख में है।
आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक	मगध और गौड़ में महान बौद्ध संघाराम नालन्दा विक्रमशिला सोमपुर ओदान्तपुरी जगद्दल पंडुभूमि वैकुटक देवीकोट विक्रमपुरी पण्डित सन्नगर, फुल्लहरि और पट्टिकेरक। ये वज्रयान और सहजयान के केन्द्र थे जिन्होंने उत्तर में नेपाल और तिब्बत तथा दक्षिण में बृहत्तर भारत और इण्डोनेशिया के ज्ञान और संस्कृति को प्रभावित किया।
लगभग ९५०–	प्राचीन बंगला चर्यापद।
१०४२–१०५४	बंगाल के पंडित और विक्रमशिला संघाराम के मठाधीश दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में महायान का प्रचार किया।
१ १८–११२२	तिब्बत के अध्यात्मवादी तथा कवि मिल-रेप जिनका मत बुद्ध-सिद्धान्त सहज के ही समान है।
दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक	सम्पूर्ण पूर्वी भारत में उमालिंगन की सहज-मूर्ति।

दक्षिण के अध्यात्मवादियों का युग (लगभग ६००–१०००)

लगभग ६००–१०००	रामानन्द रामानुज परम्परा के अग्रणी दक्षिणभारत के संत आलवार और नायनार (लगभग सातवीं से नवीं शताब्दी तक)।
१०००	नाथमुनि द्वारा 'प्रबन्ध' का संकलन।

संस्कृति और कला का तांत्रिक पुनर्जागरण तथा नेपाल
तिब्बत बृहत्तर भारत और इण्डोनीशिया में
धर्म-प्रचारकार्य (७००–१२००)।

आठवीं से दसवीं शताब्दियों तक	मूर्तिकला की पाल और सेन शैलियां, और नेपाल तिब्ब बर्मा स्याम सुमात्रा तथा जावा की कला पर उनका प्रभाव पहाड़पुर (विक्रमपुर) मुर्शिदाबाद और चौबीस परगना उत्कृष्ट कृतियां।
	अजन्ता और एलोरा की परम्पराओं के समान एक प्राणवान वि ओजस्वी चित्रकला-सम्प्रदाय। नवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी अन्त तक की ताड़पत्र पर प्रज्ञापारमिता पांडुलिपियों में चि अनेक वज्रयान देवताओं के चित्रों से यह बात स्पष्ट होती है
७५०–१०००	भुवनेश्वर की कला और वास्तु।
७०६–७१२	तिब्बत के लिए शान्तरक्षित का मिशन तथा स्याम-स्रा प्रथम बौद्धमठ की स्थापना। शान्तरक्षित के सहयोगी कमल शील और पद्मसंभव (७४७)।
	शान्तरक्षित के उत्तराधिकारी शिष्यों और उपदेशकों तिब्बती सूची पद्मवज्र अनंगवज्र इन्द्रभूति सकनीकर लीलावज्र तारिक सहजयोगिनी चिन्ता, और डोम्बी हेरुक
७७८	बंगाल से बौद्ध तांत्रिक धर्म का जावा में प्रवेश। कुमारघोष द्वा स्थापित कलसन मन्दिर में आर्यतारा को समर्पित अभिले में इसका संकेत है।
७८८–८२८	शंकर भारत पर उनकी दार्शनिक दिग्विजय तथा उनके धा धार्मिक मठों की स्थापना।
८०२	कम्बोडिया में चारों तांत्रिक ग्रन्थों सहित देवराज (चतुर्मु शिवलिंग) के रहस्यवादी सम्प्रदाय का प्रवेश। इसका विव तिसोफ्राम अभिलेख में है। जयवर्मन द्वितीय द्वारा देवराज मन्दिर का निर्माण।

राजपूत-पुनर्जागरण (लगभग ८००–११००)

सातवीं से आठवीं शताब्दी तक	जातियों के अन्तर्मिश्रण से पवार परिहार चौहान तथा सोलं नामक अग्निकुल राजपूतों का उदय।
७२५–१०१८	कन्नौज के प्रतिहारों का साम्राज्य।
१०००	अभिनवगुप्त।
१०१८–१०५५	धारा के भोज।

११०६–११५८	नवद्वीप के लक्ष्मणसेन
११५१–११६४	अजमेर और कन्नौज के विग्रहराज चतुर्थ चहमान।
लगभग ११७०	जयदेवकृत 'गीतगोविन्द'
लगभग १२००	'पृथ्वीराजविजय'।
९५०–१०५०	चंदेल राजपूतों के प्रभुत्व में खजुराहो और महोबा की कला और वस्तु।

उत्तर के सिद्धाचार्यों और नाथपुरुषों का युग
(लगभग ९००–१२००)

लगभग ९००–१२००	नाथ-सम्प्रदाय के अधिष्ठाता मत्स्येन्द्रनाथ अथवा लुईपाद (दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)।
	गोरखनाथ (दसवीं शताब्दी), कृष्णपाद तैलिकपाद नरोप और सरहपाद।
लगभग ९५०	चीनी भिक्षु चे-यी बोधगया आए। इसका जिक्र सात बुद्ध प्रदर्शित करनेवाले एक प्रस्तर-खण्ड पर खुदे अभिलेख में है।
आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक	मगध और गौड़ में महान बौद्ध संघाराम नालन्दा विक्रमशिला सोमपुर ओदन्तपुरी जगद्दल पंडुभूमि, वैकुण्ठक देवी कोट विक्रमपुरी पण्डित सन्नगर फुल्लहरि और पट्टिकेरक। ये वज्रयान और सहजयान के केन्द्र थे जिन्होंने उत्तर में नेपाल और तिब्बत तथा दक्षिण में बृहत्तर भारत और इण्डोनेशिया के ज्ञान और संस्कृति को प्रभावित किया।
लगभग ९५०–	प्राचीन बंगला चर्यापद।
१०४२–१०५१	बंगाल के पंडित और विक्रमशिला संघाराम के मठाधीश दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में महायान का प्रचार किया।
१०३८–११२२	तिब्बत के अध्यात्मवादी तथा कवि मिलरेपा जिनका मत बुद्ध-सिद्धान्त सहज के ही समान है।
दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक	सम्पूर्ण पूर्वी भारत में समालिंगन की सहज-मूर्ति।

दक्षिण के अध्यात्मवादियों का युग (लगभग ६००–१०००)

लगभग ६००–१०००	रामानन्द रामानुज परम्परा के अनुसार दक्षिणभारत के संत आडियार और आलवार (लगभग सातवीं से नवीं शताब्दी तक)।
१०००	नाथमुनि द्वारा 'प्रबन्ध' का संकलन।

लगभग ६००–१०००	सम्पूर्ण भारत में भक्ति-आन्दोलन के आदिस्रोत 'श्रीमद् भागवतम्' का कांचीपुरम् में प्रणयन।
ग्यारहवीं शताब्दी	चोलों का समुद्र-समीपस्थ साम्राज्य। सुमात्रा और जावा के बौद्धों ने नेगापटम् में बस्तियाँ बसाईं। राजराज चोल (९८५–१०१५) ने दो बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया जिनमें पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक विदेशी यात्री आते रहे। तंजौर जिले में सुगमुग के चीनी सिक्कों सेलेदिन आदि की खोज जिससे चीन के साथ व्यापार का प्रमाण मिलता है।
२०१२–१०१५	राजेन्द्र चोल द्वारा मलय, स्याम और सुमात्रा पर विजय। धनपालकृत 'तिलकमंजरी' (ग्यारहवीं शताब्दी) में भारत से इंडोनेशिया की एक समुद्री यात्रा का विशद वर्णन है।
१०१७–११३७	रामानुज द्वारा विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन।
११६५	निम्बार्क द्वारा द्वैत और अद्वैत का समन्वय।
११९९–१२००	बिहार और बंगाल के बौद्धसंघारामों का विनाश।
११९७–१२७६	द्वैत और अनेकेश्वरवाद के समर्थक तथा शंकर के विरोधी माधव।
७३२–१२५०	श्रीविजय का बौद्ध शैलेन्द्र-साम्राज्य तथा तांत्रिक साहित्य धर्म और कला के विकास में उसका योग। एक नालन्दा अभिलेख (८४) के अनुसार शैलेन्द्रवंश के सम्राट् बलपुत्रदेव ने मगध के सम्राट् को लिखा था कि वे (मगध-सम्राट्) उनकी (बलपुत्रदेव) की ओर से पाँच गाँव खरीदकर नालन्दा विश्वविद्यालय को भेंट कर दें जिनकी आय से विदेशी विद्यार्थियों के लिए एक संघाराम चलाया जा सके। एक चीनी लेखक चाऊ जुकुआ (१२४८–१२५८) ने लिखा है कि श्रीलंका श्रीविजय-साम्राज्य के अधीन राज्य था।
७१५–८२५	बोरोबुदुर में विशाल स्तूप तथा प्रम्बनम का सहस्र मंदिर। कला का चरम उत्कर्ष।
८००–१२२०	हिन्दूकृत कम्बोडियाई संस्कृति शीर्षस्थ।
८८९–१२००	अंगकोर थोम (नगरधाम) के विशाल मन्दिर। यशोधरपुर में यशोवर्मन् (८८९–९१०) द्वारा प्रथम राजधानी की स्थापना। जयवर्मन सप्तम (११८१–१२०१) द्वारा दूसरी नवीन राजधानी की स्थापना। बेयन तथा उसके पचास मन्दिर केन्द्र में थे और मन्दिर-पर्वत था। विशाल 'बारोक' शैली में सार्वजनिक वास्तु एवं मूर्तिकला जो हिन्दू और बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदाय की

	अभिन्नता के अनुरूप थी।
८४७–१२८८	पगान के सहस्र पैगोडा जिनसे पाल और सेन वंशों के काल में हिन्दू और बौद्ध मूर्तिकला के और अधिक विकास का पता चलता है।
१२५८–१२९२	जावा में सिंगसरि का अन्तिम हिन्दू राजा तथा तंत्रवाद का समर्थक—कृतनगर।
१२९४–१४७८	जावा में मजपहित का राज्य। भारतीय महाकाव्यों के जावाई प्रतिरूप तैयार।
१३१५	श-ला-प द्वारा चीनी भाषा में बौद्धधर्मग्रंथों का संकलन। चीन में किसी भारतीय भिक्षु द्वारा यह अन्तिम संकलनाओं में से एक था।
१३६५	एक जावाई ग्रंथ में लिखा है कि कर्नाटक और गौड़ से बहुसंख्यक लोग जावा की राजधानी में आ बसे थे।
१४४२	उत्तरी बर्मा में प्राप्त अभिलेख जिसमें मत्स्येन्द्रनाथ-सम्प्रदाय के एक भक्त के बौद्ध मठ को भेंट किए जाने की बात मिलती है।
१४७८	जावा पर मुसलमानों की विजय।
१३३६–१५६५	विजयनगर-साम्राज्य।

हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच के पुल : भक्ति और सूफी आन्दोलन (१४००–१८००)

१२९९–१४१०	भक्ति-आन्दोलन के नेता रामानन्द।
१४४०–१५१८	कबीर।
१४४६	महमदाबाद के शाह मूसा सूफी।
१४६९–१५३८	नानक।
१४८१–१५३३	'भागवत' के अनुसार वल्लभाचार्य ने भक्ति को श्रेणियों में विभाजित किया।
१४७३–१४८०	मालाधर वसु द्वारा 'भागवत' का बंगला अनुवाद।
१४८५–१५३८	बंगाल के वैष्णवधर्म के संस्थापक कृष्णभक्ति में तन्मय चैतन्य।
लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी	जीव गोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण ने बंगाल के वैष्णवधर्म के धर्मशास्त्र और दर्शन का विकास किया।
१४९८–१५४६	मीराबाई।
१४९४	जायसी सूफी।
१५३२–१६२३	'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास।

१५७२	शेख सलीम चिश्ती।
१५४४–१६००	दादू।
१५६३–१६२४	सरहिन्द के शेख अहमद सूफी।
१५४८–१५९९	एकनाथ।

मुगल सांस्कृतिक पुनरुत्थान, लगभग १६००–१७००

१५५१	दिल्ली के मखदूम हक सूफी।
१५८२	अकबर 'दीन-ए-इलाही'।
सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक	मुगल और राजपूत चित्रकला की कलमें।
१५९३–१६०३	बंगाल में मुकुन्दराम का सर्वहारा काव्य
१६००	ईस्ट इंडिया कम्पनी के एजेण्टों का व्यापारियों के रूप में आगमन तथा मुगलों के साथ व्यापार की आज्ञा मांगना।
१६०४	सिक्खों के ग्रन्थ साहिब का संकलन।
लगभग १६५०	दाराशिकोह कृत 'मजमा उल-बेहरीन'। दारा के एक गुरु कवीन्द्राचार्य। पंढरपुर के सन्त।
१६०८–१६४९	तुकाराम।
१६०८–१६८१	रामदास समर्थ।
१६७०–१७२८	श्रीधर रामविजय।

हिन्दू-पुनरुत्थान (१६००–१८००)

१६२७–१६८०	शिवाजी तथा हिन्दू पुनरुत्थान।
१६७४	छत्रपति शिवाजी का राज्याभिषेक।
१६६६–१७०८	सिक्खों का आध्यात्मिक और राजनीतिक आन्दोलन गुरु गोविन्द, योद्धा और कवि।
१७८०–१८३९	पंजाब के महाराजा रणजीतसिंह
१५४२–१६७१	रोहतक के शाह मलूक सूफी।
१६६८–१७२५	यारी साहिब सूफी।
१६८०–१७५८	बुल्ला शाह सूफी।
१६९३–१७६८	केशवदास सूफी।
जन्म १६६५	सतनामी सम्प्रदाय के जन्मदाता तथा 'ज्ञानप्रकाश' के रचयिता जगजीवन दास।
१७००–१७५०	प्राणनाथ।

१७०३–१७५१	अलवर के चरणदास।
१७००–१७८०	बिहार के दरिया साहिब।
१७१८	बंगाल के रामप्रसाद सेन।
लगभग १७००–१७९९	गादिमा के मोतीचन्द।
१७१७–१७७८	रोहतक के गरीबदास।
१७१९–१७९८	रामचरण।
१७८०–	जेतलपुर के सहजानन्द स्वामी।
१७८७–१८२५	पल्टूदास।
१७७१–	देवराज।
१७७३	रेग्यूलेटिंग एक्ट जिसके अनुसार अंगरेज़ों का दर्जा व्यापारियों से बदलकर शासकों का हो गया।

भारतीय अंगरेज़ी पुनर्जागरण (१८००–१९५०)

१७७४–१८३३	सर्वप्रथम आधुनिक भारतीय—राम मोहनराय।
१७७८	श्रीरामपुर के मिशनरियों द्वारा बंगाल मुद्रण का आरम्भ।
१७८१	कलकत्ता में मदरसा की स्थापना।
१७८२	बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना।
१७९४	विलियम जोन्स द्वारा 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की स्थापना।
१८००	फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना।
१८०२	शिशुहत्या का उन्मूलन।
१८१३	व्यापार पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार की समाप्ति।
१८१७	डेविड हेयर द्वारा हिन्दू कालेज की स्थापना।
१८२७–१८८३	आर्यसमाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती।
१८२९	सतीप्रथा का उन्मूलन।
१८३३	व्यापारी संस्था के रूप में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त। उच्च पदों पर भारतीयों को नौकर रखने की नीति को सिद्धांत घोषित किया गया।
१८३४	कलकत्ता में मेडिकल कालेज की स्थापना।
१८३४	मैकाले की शिक्षा-नीति।
१८३ –१८९४	आधुनिक भारतीय कथासाहित्य के जनक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय।

१८३४–१८८६	रामकृष्ण।
१८३८–१८८४	केशवचन्द्रसेनकृत 'नवविधान'।
१८४८–१९२५	सुरेन्द्रनाथ बनर्जी।
१८४९	कलकत्ता में महिलाओं के लिए बेथ्यून स्कूल की स्थापना।
१८५७	यूनिवर्सिटी विधेयक।
१८५७	क्रान्ति।
१८५८	महारानी विक्टोरिया की घोषणा।
१८६१	इंडियन पीनल कोड का प्रवेश।
१८६१–१९४१	रवीन्द्रनाथ ठाकुर।
१८६३–१९०२	विवेकानन्द।
१८ ७	प्रार्थना-समाज।
१८६९–१९४८	मोहनदास करमचन्द गांधी।
१८७६	इंडियन एसोसियेशन।
१८७८	भारतीय भाषा प्रेस विधेयक।
१८८१	भारतीय फैक्टरी विधेयक।
१८८५	सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना।
१८९१	एज ऑफ कन्सेन्ट विधेयक।
१९०६	राष्ट्रीय शिक्षा समिति बंगाल।
	भारतीय कला सम्प्रदाय अवनीन्द्रनाथ ठाकुर।
	क्रांतिकारी आन्दोलन सुभाषचन्द्र बोस (१८९७–१९४५)।
१९२०–१९ ४	गांधीजी द्वारा संगठित असहयोग आन्दोलन।
१९४७	दो राष्ट्रों—भारत और पाकिस्तान में भारत का विभाजन।
१९५०	भारतीय गणतन्त्र की स्थापना।
	भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद।
	भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू।
१९५१–१९६१	प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजना।
१९६२	डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भारत के द्वितीय राष्ट्रपति।
१९६४	श्री लालबहादुर शास्त्री भारत के तृतीय प्रधानमन्त्री

●

अनुक्रमणिका